शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त शोध पत्रिका

शोध अंक 62/5 अप्रैल-जून 2023 400.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 0124-4076565, 09557746346
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा
डॉ० मीना अग्रवाल
ए-402, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

दिल्ली एन०सी०आर०
डॉ० अनुभूति
सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल
07838090732

प्रबंध संपादक
डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
डॉ० शंकर क्षेम
डॉ० प्रमोद सागर

उपसंपादक
डॉ० अशोककुमार
09557746346
डॉ० कनुप्रिया प्रचण्डिया

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ० अनुभूति

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

आजीवन (दस वर्ष): छह हजार रुपए
वार्षिक शुल्क : एक हजार रुपए
यह प्रति : चार सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ॰ सुधा ओम ढींगरा, 101, Guymon Court, MorrisVille, NC-27560 USA
डॉ॰ सुरेशचंद्र शुक्ल, अध्यक्ष इंडो-नार्वेजियन सूचना एवं सांस्कृतिक मंच
प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰ विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰) 462038
डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार फेज-1, दिल्ली 110052
प्रो॰ अशोक चक्रधर, जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली
श्री अनिल शर्मा जोशी, उपाध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ पूरनचंद टंडन, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ॰ एस॰के॰ पवार, प्रोफेसर व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ 580003 (कर्नाटक)
प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व आचार्य हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा
प्रो॰ बाबूराम, अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, चौ॰ बंशीलाल विश्वविद्यालय, भिवानी (हरियाणा)
डॉ॰ राजेंद्र मिश्र, 14/4 स्नेहलता गंज, इंदौर 452003 (म॰प्र॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष हिंदी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
प्रो॰ आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ॰ हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
प्रो॰ अर्जुन चव्हाण, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा॰)
डॉ॰ माया टाक, पूर्व प्रोफ़ेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ अनिलकुमार जैन, पूर्व प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ डॉ॰ सदानंद भौसले, अध्यक्ष हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महा॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ अवनिजेश अवस्थी, हिंदी विभाग, पी॰जी॰ डी॰ए॰वी॰ कालेज, नेहरू नगर, नई दिल्ली
डॉ॰ अरुणकुमार भगत, अध्यक्ष, मीडिया अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी
प्रो॰ मंजुला राणा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर
प्रो॰ हनुमानप्रसाद शुक्ल, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ मुकेश गर्ग, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो॰ जितेंद्र वत्स, प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ॰ माला मिश्रा, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, अदिति कालेज (दिल्ली विश्व॰), बवाना
डॉ॰ दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
डॉ॰ शहाबुद्दीन शेख़, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा॰, औरंगाबाद (महा॰)
डॉ॰ महेशचंद्र, पूर्व एसोसिएट प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ॰प्र॰)
श्री राकेशकुमार दुबे, पत्रकारिता और जनसंचार विभाग, उड़ीसा केंद्रीय विश्वविद्यालय, कोरापुट (उड़ीसा)
डॉ॰ महेश दिवाकर, अध्यक्ष, अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य एवं कला मंच, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)
डॉ॰ प्रणव शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, उपाधि महाविद्यालय, पीलीभीत 262001 उ॰प्र॰
डॉ॰ राखी उपाध्याय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, डी॰ए॰वी॰ कॉलेज, देहरादून 248001 (उत्तराखंड)

 ISSN 0975-735X

गुरु नानकदेव

अँधेरी रात। बादल डरावनी गड़गड़ाहट के साथ गरज रहे थे। बीच-बीच में बिजली की कौंध उठती थी। पूरा गाँव नींद में निमग्न था।

लेकिन नानक रात देर तक जागते रहे और गाते रहे।

रात आधी से ज़्यादा बीत गई। नानक के कमरे का दीपक जल रहा था। गीत का स्वर वातावरण के शोर में खो जाता था। लेकिन गीत था कि रुकता न था।

द्वार पर नानक की माँ ने दस्तक दी और कहा, 'बेटे, अब सो भी जाओ! रात कितनी बीत गई है।'

नानक रुके। तभी पपीहे ने रात के अँधेरे में ज़ोर से कहा, 'पीउ पीउ।'

नानक ने माँ से कहा, 'माँ, अभी तो यह पपीहा भी चुप नहीं हुआ। यह तो अब तक अपने प्यारे को पुकार रहा है। मैं कैसे चुप हो जाऊँ?'

माँ चुपचाप सुन रही थी। क्या कहे अपने पुत्र से!

नानक बोले, 'मैं, इस पपीहे से मेरी होड़ लगी है। जब तक यह गाता रहेगा, तब तक मैं भी अपने प्रिय को पुकारता रहूँगा और देखो माँ, इसका प्यारा तो इसके कितने पास है, कहीं पास में ही छिपा हुआ। मेरा प्रिय तो बहुत दूर है। मैं तो कई जन्मों तक भी गाता रहूँगा, तब भी उसके पास नहीं पहुँच पाऊँगा।'

नानक ने फिर से गाना आरंभ कर दिया।

धीरे-धीरे उनका मन फिर प्रियतम में लीन हो गया।

कौन हैं ये नानक!

क्या केवल सिक्ख धर्म के संस्थापक!

नहीं, मानव-धर्म के उत्थापक।

क्या वे केवल मानव-मात्र एक गुरु थे। पाँच सौ वर्ष पूर्व उन्होंने जिन पावन उपदेशों का प्रकाश जन-जन को दिया, उससे आज भी पूरी मानवता आलोकित है।

गुरु नानक का जन्म 15 अप्रैल 1469 ई॰ (वैशाख सुदी 3, संवत् 1526 वि॰) में तलवंडी नामक स्थान में हुआ था। सुविधा की दृष्टि से गुरु नानकदेव की जन्मतिथि कार्तिक पूर्णिमा को मनाई जाती है। सिक्ख तलवंडी को 'ननकाना साहब' भी कहते हैं। तलवंडी लाहौर (पाकिस्तान) ज़िले में लाहौर से 30 मील दक्षिण-पश्चिम में है।

नानक के जन्म के समय वह स्थान, जहाँ पर नानक का जन्म हुआ था, अलौकिक ज्योति से भर उठा। शिशु के मस्तक के आस-पास तेज़ आभा फैली हुई थी।

जन्म लेते समय नवजात शिशु रोता है, किंतु शिशु नानक के चेहरे पर मुस्कान थी।

पिता कालूचंद्र बेदी को यह अद्‌भुत समाचार घर की सेविका ने दिया। वे आश्चर्य से भर

उठे। उन्होंने सेविका से कहा कि ऐसा कैसे हो सकता है!

जिसने भी इस विलक्षण बालक के विषय में सुना, वह आश्चर्य से भर गया।

गाँव के पुरोहित पंडित हरदयाल को समझते देर न लगी कि इसमें ज़रूर भगवान् का कोई रहस्य है।

पुत्री के बाद घर में पुत्र का आगमन हुआ था। इसलिए माता-पिता अत्यधिक आनंदित थे। उन्होंने ग़रीबों को भरपेट भोजन कराया, कपड़े वितरित किए। कई दिनों तक घर में पूजा-पाठ चलता रहा।

ज्योतिषी ने बताया कि यह बालक बड़ा भाग्यवान् है। अपने प्रताप से यह एक दिन जन-जन के हृदयों पर राज करेगा। लोग इसके चरणों में सिर झुकाकर स्वयं को धन्य मानेंगे। हर धर्म और जाति के व्यक्ति इसका सम्मान करेंगे और इसका नाम परम आदर से लेंगे।

विद्यालय में

नानक सात वर्ष के हुए। पिता ने सोचा कि पुत्र को विद्यालय में भेज दिया जाए। उन्हें गोपाल नाम के अध्यापक के पास भेज दिया गया। विद्यालय जाकर नानक ने पहला प्रश्न किया, 'आप जो पढ़ा रहे हैं, उसे पढ़कर क्या मैं परमात्मा को जान लूँगा?'

प्रश्न सुनकर अध्यापक चौंक गया। उसे इस गंभीर प्रश्न की उम्मीद न थी।

अध्यापक ने सोचा भी न था कि एक बालक ऐसा प्रश्न भी कर सकता है। उसने आश्चर्य से पूछा, 'परमात्मा को!'

नानक ने 'हाँ' में सिर हिलाया।

अध्यापक ने उत्तर दिया, 'नहीं, बहुत कुछ जान लोगे, लेकिन परमात्मा को नहीं जान सकोगे।'

नानक ने कहा, 'मुझे वही तरीका बताएँ, जिससे मैं परमात्मा को समझ सकूँ। बहुत कुछ जानकर क्या करेंगे! उस एक को जानने से सब-कुछ जान लिया जाता है।' नानक ने फिर पूछा, 'क्या तुमने उस एक को जान लिया है?'

अध्यापक कोई उत्तर नहीं दे सका। वह नानक के घर पहुँचा गया। उसने नानक के पिता से कहा, 'क्षमा करें। इस बच्चे को हम कुछ सिखा न सकेंगे। यह पहले से ही सीखा हुआ है। यह अवतारी है। इससे हम कुछ सीख लें, वही उचित है।'

भैंस चराते हुए

विद्यालय की दीवारें नानक को बाँधकर न रख सकीं। गुरु द्वारा दिया हुआ पाठ उन्हें नीरस प्रतीत हुआ। वैराग्य की भावना उनमें बचपन से ही थी। पिता ने पुत्र की इस दशा को देखा तो वे चिंतित हो उठे। उन्होंने सोचा कि उनका पुत्र पागल तो नहीं हो गया है? उनके मन में अनेक प्रकार की आशंकाएँ पैदा हो गईं। आख़िरकार उन्होंने पुत्र को बुलाया और कहा, 'देखो, कुछ न बने तो कम-से-कम जानवरों को जंगल में ले जाकर चरा लाओ। यह तो ऐसा काम है, जिसे मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी कर सकता है।'

नानक ने सिर झुकाकर आज्ञा स्वीकार कर ली। दूसरे दिन वे गाय-भैंसों को लेकर जंगल की ओर निकल गए। गाय-भैंस चरने लगीं और वह आँखें बंद करके अपनी मस्ती में लीन हो गए।

परिणाम जो होना था, वही हुआ। गाय-भैंस पास के खेत में घुस गईं और उन्होंने खेत को चर डाला। सारा खेत साफ़ कर दिया। खेत का मालिक भागा हुआ आया। वह नानक से बोला, 'यह

 ISSN 0975-735X

तुमने क्या करा दिया है? मेरी फ़सल के पैसे भरने पड़ेंगे। मेरी पूरी फ़सल नष्ट हो गई।'

नानक ने आँखें खोलीं और कहा, 'तू घबरा मत। उसके ही जानवर हैं और उसका ही खेत है। उसने ही चरवाया है।'

खेत के मालिक ने समझा, अजीब पागल से पाला पड़ा है। वह बोला, 'चुप रह। बकवास मत कर। मैं बरबाद हो गया और तू न जाने क्या बोल रहा है?'

वह भागा हुआ गया। उसने नानक के बाप को पकड़ा और गाँव के मुखिया के पास ले गया। गाँव का मुखिया नानक का भक्त था। उनकी वास्तविकता को अच्छी तरह जानता था। उसने कहा, 'नानक से भी पूछ लेना चाहिए कि क्या हुआ?'

नानक को बुलाया गया। अपनी चिर-परिचित मुस्कान के साथ उन्होंने कहा, 'सब उसकी मर्जी से हो रहा है। उसी ने जानवर भेजे हैं। उसी ने फ़सल उगाई। उसने एक बार उगाई तो वह हज़ार बार भी उगा सकता है। इसमें घबराने की क्या बात है? मुझे नहीं लगता कि कोई नुकसान हुआ है।'

उस आदमी ने कहा, 'मैं तो सीधा खेत से आ रहा हूँ। मेरा सारा खेत बरबाद पड़ा है। यह लड़का कह रहा है कि कोई नुकसान नहीं हुआ। चलिए, आप भी देख लीजिए।'

सबने खेत पर जाने का निश्चय किया। नानक अब भी मुस्करा रहे थे।

सब खेत पर पहुँचे। खेत का मालिक आँखें फाड़कर अपने खेत को देख रहा था। उसका खेत तो पहले की ही तरह लहलहा रहा था। पहले से भी और घना।

सबने उसकी ओर देखा। उसने नानक की ओर देखा। नानक ने स्वाभाविक मुस्कान के साथ ऊपर की ओर देखा। सब परमात्मा की मर्जी से होता है।

विषधर की छाया

एक दिन की बात है। बालक नानक हर रोज़ की तरह भैंसें चराने के लिए जंगल में पहुँचे। भैंसें चरने लगीं और वे अपने ध्यान में लीन हो गए।

दोपहर चढ़ आई। सूरज तप रहा था। वे खुले में ही लेट गए।

सूरज की तेज़ रोशनी सीधे बालक नानक के चेहरे पर पड़ रही थी।

तभी अचानक एक साँप आया और बालक नानक के चेहरे पर फन फैलाकर खड़ा हो गया। सूरज की तेज़ रोशनी अब नानक के चेहरे पर नहीं पड़ रही थी। वे फन की छाया में देर तक सोते रहे।

तभी वहाँ से जमींदार रायबुलार निकले। उन्होंने इस अनोखे दृश्य को देखा। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। रायबुलार ने मन-ही-मन नानक को प्रणाम किया। तब तक वहाँ कई लोग एकत्र हो गए थे। साँप ने भीड़ देखी तो वह वहीं किसी बिल में घुस गया।

इस घटना की स्मृति में उस स्थान पर गुरुद्वारा माल जी साहब निर्मित है।

जनेऊ का विरोध

अंधविश्वासों ने भारतीय समाज को हमेशा से अपने जाल में फाँस रखा है। 500 वर्ष पहले भी अंधविश्वास जन-जन में व्याप्त थे। आडंबरों ने व्यवहार का रूप ग्रहण कर लिया था। धार्मिक कट्टरता बढ़ रही थी। धर्म और भगवान का डर दिखाकर पंडितजन सामान्य जनता को ठगते रहते थे।

नानक का मत था कि ईश्वर की आराधना के लिए सच्चे मन से उसके नाम का स्मरण पर्याप्त है। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि धर्म के नाम पर चलने वाले पाखंडों को ख़त्म करेंगे।

और उन्हें ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हुआ।

नानक का जनेऊ संस्कार होनेवाला था। धूमधाम से सारा आयोजन किया गया था।

भीड़ एकत्र थी। ढोल-तासा बज रहा था। महिलाएँ गीत गा रही थीं। पंडित ने मंत्र पढ़ा और वह नानक के गले में जनेऊ का धागा डालने लगा। नानक ने टोका, 'रुको। इस जनेऊ के डालने से क्या होगा?'

जिसने भी सुना वह स्तंभित रह गया। यह कैसी अशिष्टता है!

पंडित ने बताया, 'इस जनेऊ को डालने से तुम द्विज हो जाओगे।'

नानक ने पूछा, 'द्विज का क्या अर्थ है?'

पंडित ने कहा, 'द्विज का अर्थ है, जिसका दूसरा जन्म हुआ हो।'

नानक ने तर्क दिया, 'क्या इस सूत को डालने से दूसरा जन्म हो जाएगा? क्या मैं नया हो जाऊँगा? क्या पुराना मर जाएगा और नए का जन्म हो जाएगा? अगर ऐसा हो सकता है तो मैं जनेऊ डालने को तैयार हूँ।'

पंडित के पास तो कोई उत्तर नहीं था।

नानक ने फिर पूछा, 'अगर यह जनेऊ टूट गया तो?'

पंडित ने कहा, 'बाज़ार में और मिलते हैं। इसको फेंक देना, दूसरा ले लेना।'

नानक बोल उठे, 'तो फिर इसे रहने दो। जो ख़ुद ही टूट जाता है, जो बाज़ार में बिकता है, जो दो पैसे में मिल जाता है, उससे उस परमात्मा की खोज क्या होगी!'

मुझे जिस जनेऊ की आवश्यकता है, उसके लिए दया की कपास हो, संतोष का सूत हो, संयम की गाँठ हो, सत्य की पूरन हो। यही जीवन के लिए आध्यात्मिक जनेऊ है। हे पंडित, यदि इस प्रकार का जनेऊ तुम्हारे पास हो तो मेरे गले में पहना दो। यह जनेऊ न टूटता है, न इसमें मैल लगती है, न यह जलता है और न खोता ही है–

दरआ कपाह संतोखु सूतु जतु गढ़ी सतु वटु।
ऐहु जनेऊ जीअ का हई त पांडे घतु।
ना एहु तुटै न मलु लगै ना एहु न जाइ।

खेती ही करो

नानक के पिता सोचते थे कि नानक आलसी और निकम्मा है। वह न कुछ काम करता है, न कुछ कमाता है। सारे दिन बेकार घूमता रहता है या ख़ाली बैठा रहता है। पिता को उनके भविष्य की भी चिंता थी।

कुछ नहीं सूझा तो एक दिन नानक से कहा, 'बेटा, तुम खेती सँभालो। मैं जुताई-बुआई के सामान का इंतजाम किए देता हूँ।'

इस पर नानक ने उत्तर दिया, 'पिताजी, आप जिस खेती की बात कर रहे हैं, उसे तो मैं झूठा काम मानता हूँ।'

'फिर कैसी खेती करोगे?' पिता ने पूछा।

'सच्ची खेती-बारी।' नानक ने कहा।

पिता ने कहा, 'मैं समझा नहीं। सच्ची खेती-बारी से तुम्हारा क्या मतलब है?'

ऐसी खेती-बारी जिसकी फ़सल हमेशा काम आए।' नानक ने विनम्रता के साथ कहा।

पिता ने पूछा, 'तो फिर ऐसी फ़सल कैसे बोओगे?'

 ISSN 0975-735X

नानक का उत्तर था, 'मन को हलवाहा, शुभकर्मों को कृषि, श्रम को पानी तथा शरीर को खेत बनाना चाहिए। नाम को बीज तथा संतोष को अपना भाग्य बनाना चाहिए। नम्रता को ही रक्षक बाड़ बनाने पर भावपूर्ण कार्य करने से जो बीज जमेगा, उससे ही घर-बार संपन्न होगा–

मनु हाली किरसाणी करमी सरमु पानी तनु खेतु।
नाम बीजु संतोखु सुहागा रखु गरीबी वेसु।
भाऊ करम करि जमसी के घर भागठ देखु।

ख़रा सौदा

बहुत सोच-समझकर पिता ने नानक को किसी व्यापार में लगाने का निश्चय किया। उनके लिए एक दुकान खुलवा दी गई।

एक दिन पिता ने नानक को बुलाया और कहा, 'ये लो बीस रुपए। लाहौर चले जाओ और दुकान के लिए कुछ सौदा ख़रीदकर ले आओ।

नानक ने रुपए ले लिए और पिता से पूछा, 'पिताजी, कैसा सौदा लाऊँ?'

पिता ने कहा, 'खरा सौदा होना चाहिए, जिससे हमें फ़ायदा हो।'

'जैसी आपकी आज्ञा।' नानक ने नम्रता से उत्तर दिया।

वे सौदा खरीदने के लिए लाहौर के लिए चल दिए। वे रास्ते में सोचते जाते थे कि कौनसा खरा सौदा लाया जाए, जिससे अधिक फायदा मिले। रास्ते में एक जंगल पड़ता था। वहाँ कुछ साधुओं ने डेरा जमा रखा था। नानक रुके। उन्होंने साधुओं को प्रणाम किया।

साधु कई दिन से भूखे थे। उनके पास खाने का कोई प्रबंध नहीं था। साधुओं ने नानक को सामने खड़े देखा तो बोले, 'बच्चा, हम कई दिनों से भूखे हैं। कुछ दाना-पानी का इंतजाम कर दो। भूखों को भोजन कराने में बहुत लाभ होता है।'

नानक तो लाभ कमाने के लिए ही निकले थे। उन्हें पिता की बात याद आई। बेटा, ऐसा सौदा करना, जिसमें अधिक लाभ हो। फिर यह तो अधिक लाभ का ही सौदा है।

नानक ने साधुओं की बात सुनी और बोले, 'चलिए, गाँव की ओर चलते हैं। वहीं आपके लिए भोजन का प्रबंध हो जाएगा।'

साधुओं ने पेट-भर भोजन किया। तृप्त होकर वे नानक को आशीर्वाद देने लगे। साधुओं को तृप्त देखकर नानक फूले न समाए। उन्हें लगा कि जिस ख़रे सौदे के लिए वे घर से निकले थे, वह तो हो गया। अब लाहौर जाना व्यर्थ था।

नानक ख़ाली हाथ घर लौट आए। पुत्र को इतनी जल्दी लौटकर आया देखकर पिता ने पूछा, 'तुम कौनसा सौदा ख़रीदकर लाए हो?'

'बहुत बड़े लाभ का सौदा।' नानक ने कहा।

'हम भी तो देखें।' पिता को उत्सुकता थी कि पुत्र ऐसा क्या सौदा ख़रीदकर लाया है।

नानक ने सारी बात विस्तार से बताई तो पिता क्रोध से भर उठे। उन्हें बीस रुपए ख़र्च होने का इतना दुख नहीं था। उन्हें दु:ख था तो केवल इस बात का कि नानक को सुधारने का यह तरीक़ा भी व्यर्थ हो गया।

क्या नानक पागल है

यह जगत् बड़ा विचित्र है। इसमें किसी भी प्रकार धन कमाने वाला अक्लमंद माना जाता है। धन को परोपकार में लगा देने वाला पागल समझा जाता है। नानक भी तो ऐसा ही कर रहे थे। पिता

को आशंका हुई–क्या नानक पागल तो नहीं हो गए?

एक दिन पिता ने किसी बड़े वैद्य को बुलवाया और बेटे की चिकित्सा का अनुरोध किया। वैद्यराज नानक की बाँह पकड़कर नब्ज टटोलने लगे। नानक मन-ही-मन मुस्करा रहे थे। उनकी दृष्टि में तो सबसे बड़ा और सच्चा वैद्य एक ही था–ईश्वर। भला यह वैद्य क्या जाने कि उन्हें क्या बीमारी है!

नानक ने वैद्य का हाथ हटाया और कहा, 'आप मेरे किस रोग को खोज रहे हैं। मेरे शरीर में तो कोई पीड़ा नहीं है। हाँ, मेरे हृदय में अवश्य कसक उठती है और उसकी कोई दवा आपके पास नहीं है। इस बात का उल्लेख करते हुए गुरु नानकदेव बोले–

वैदु बुलाइआ वैदगी पकड़ि ढंडोले बांह।
भोला वैद्य न जाणई करक कलेजे मांह।

अर्थात् वैद्य इलाज करने के लिए बुलाया गया। वह बाँह पकड़कर रोग ढूँढ़ता है किंतु भोला वैद्य नहीं जानता कि मेरे हृदय में करक (दर्द) है।

वैद्य उनका मुँह ताकने लगा। पिता चुप थे। उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि वे क्या करें?

तभी किसी ने सुझाव दिया, 'कुछ दिनों के लिए नानक को बाहर भेज दीजिए। शायद घूम-फिरकर मन को चैन मिले।

मोदीख़ाने की नौकरी

नानक के बहनोई जैराम सुलतानपुर के नवाब के दीवान थे। नानक को वहाँ शाही भंडार की देखरेख का काम मिल गया। उन्हें वहाँ का मोदी बना दिया गया। उनका काम था ग्राहकों को सामान तौलकर देना। वे पूरी लगन से काम में लग गए।

रोज़ की तरह वे एक दिन अनाज तौल रहे थे। अनाज तराज़ू में भरते और ग्राहक के पात्र में डाल देते। एक, दो, तीन, दस, ग्यारह, बारह, फिर पहुँचे तेरह। पंजाबी में तेरह को 'तेरा' ही बोलते हैं।

फिर तो वे 'तेरा' पर ही रुक गए। वे तौलते गए, किंतु संख्या 'तेरा' से आगे नहीं बढ़ी। अनाज भरते, तराज़ू में डालते और कहते 'तेरा'। लोग समझे कि नानक पागल हो गए हैं।

लोगों ने उन्हें रोकना चाहा, परंतु वे तो किसी और ही लोक में थे। कहे जाते थे 'तेरा'। कुछ देर बाद उनकी समाधि भंग हुई। उन्हें प्रतीत हुआ कि 'तेरा' पर सब समाप्त हो गया। यही तो मंज़िल है। इसे ही तो वे पाना चाहते थे।

मरघट में ध्यानमुद्रा

फिर एक रात नानक घर छोड़कर चले गए। किसी को पता नहीं था कि वे कहाँ हैं? उनकी खोज आरंभ हुई साधुओं की संगत में, मंदिरों में। जहाँ भी संभावना थी, वहीं पर उन्हें खोजा गया। पर वे कहीं नहीं मिले। तब किसी ने कहा, 'मैंने उन्हें मरघट की तरफ़ जाते हुए देखा है।'

किसी को विश्वास नहीं हुआ। विश्वास हो भी तो कैसे? मरघट पर तो कोई अपनी मर्जी से जाता नहीं। लेकिन जब वे कहीं न मिले तो लोग मरघट पर पहुँचे। नानक ने तो वहीं धूनी जमा रखी थी। घर के लोगों ने समझाया, 'पागल हो गए हो? घर-द्वार छोड़कर क्या कर रहे हो यहाँ? यह मरघट है। पता है तुम्हें?'

नानक बोले, 'जो यहाँ आ गया, वह कभी नहीं मरता और जिसे तुम घर कहते हो, वहाँ जो

 ISSN 0975-735X

भी है, वह आज नहीं तो कल मरेगा। फिर जब एक दिन यहाँ आना ही है तो चार आदमियों के कंधों पर चढ़कर क्या आना? मैं तो ख़ुद ही चला आया।'

नानक के सत्य को काटने वाला वहाँ कोई भी नहीं था। फिर भी परिचितों ने उन्हें समझाया और घर ले आए।

लेकिन नानक वैसे आदमी न रहे, जैसे थे। कुछ था जो उनके भीतर मर गया था और उनके मन में इसी नए का जन्म हो गया था।

सत्यलोक की यात्रा

रात बीत रही थी। अभी अँधेरा समाप्त नहीं हुआ था। चारों ओर सन्नाटा था। नानक अपने साथी मरदाना के साथ नदी के तट पर बैठे थे। वे अचानक उठे और अपने वस्त्र उतार दिए। बिना कुछ कहे नदी में उतर गए।

मरदाना पूछता ही रहा, 'क्या करते हो? रात ठंडी है, अँधेरा है।' किंतु नानक ने जैसे कुछ नहीं सुना। वे दूर नदी में चले गए। मरदाना पीछे-पीछे गया। नानक ने डुबकी लगाई। मरदाना सोचता था कि कुछ देर में बाहर आ जाएँगे, पर वे बाहर नहीं आए। दस-पाँच मिनट तो मरदाना ने राह देखी। फिर वह चिल्लाने लगा। किनारे पर ही दौड़ने लगा कि 'कहाँ हो? आवाज़ दो।' पर नानक की कोई ख़बर नहीं मिली। वह भागा-भागा गाँव गया। अभी तक पूरा गाँव सो रहा था। गाँववालों ने मरदाना की चीख़-पुकार सुनी। भीड़ एकत्र हो गई। नानक तो सबको प्यारे थे। उनकी उपस्थिति में सबको प्रसन्नता होती थी। सारा गाँव रोने लगा। लोग दौड़कर नदी पर पहुँचे। सारी नदी खोज डाली। लेकिन नानक का कोई पता न चला। सारा गाँव शोक में डूब गया।

तीन दिन बीत गए। लोगों ने स्वीकार कर लिया कि नानक डूब गए, बह गए। किसी खाई-खड्ड में उलझ गए। घर के लोगों ने भी समझ लिया कि अब लौटने का कोई उपाय नहीं रहा। रोने के अतिरिक्त अब उनके पास रह ही क्या गया था। सब उदास बैठे थे, शोक में, वेदना में। तभी एक आदमी दौड़ता हुआ आया। वह हाँफ रहा था। उसकी साँस फूल रही थी।

'क्या हुआ?' किसी ने पूछा।

'नानक! नानक ज़िंदा हैं। मैंने देखा उन्हें। अभी। नदी के किनारे पर एक पेड़ के नीचे समाधि में बैठे हैं।' उसने अपनी प्रसन्नता के आवेश में कहा।

पहले तो लोगों को उसकी बात पर विश्वास ही नहीं हुआ। किंतु समाचार तो आनंददायक था। लोग फिर से नदी की ओर दौड़ पड़े। बहन नानकी और बहनोई जैराम उनके पीछे-पीछे थे। रास्ते में जिसने भी सुना, वह वहीं से नदी की तरफ़ लौट पड़ा।

कुछ ही देर में नानकजी के चारों ओर भीड़ लग गई। लोग हैरान थे। नानक अपनी समाधि में लीन। उन्हें पता ही नहीं था कि इतनी भीड़ उनके पास आकर खड़ी हो गई है।

अचानक नानक ने आँखें खोलीं। अपने चारों ओर इतने लोगों को खड़े हुए देखा। प्रत्येक व्यक्ति की आँखों में ख़ुशी के आँसू थे। सबके मन में एक ही जिज्ञासा थी—कहाँ रहे तीन दिन तक!

अब वे समझ गए थे कि नानक कोई साधारण मानव नहीं हैं। नानक मुस्कराए। बोले—

एक ओंकार सतिनाम करता पुरुखु निरभउ निरवैरु
अकाल मूरति अजूनि सैभं गुरु प्रसादि।

अर्थात् वह एक है, ओंकार स्वरूप है, वह सत्य नाम वाला है, करतार है, आदिपुरुष है, भय से रहित तथा वैर से रहित है, वह तीनों काल से रहित स्वरूप वाला है। वह अयोनि और स्वयंभू

है और गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।

सारा गाँव उनके चरणों में बैठ गया। सबके मन में एक ही प्यास थी। ईश्वर का अमृतरस उन्हें भी पीने को मिले। नानक ने अमृतरस सबको बाँट दिया। इतना पिलाया वह रस कि सब तृप्त हो गए। उन्होंने जपुजी का मंत्र दिया। उन्होंने बताया–

आदि सचु जुगादि सचु
है भी सचु नानक होसी भी सचु।

वेई नदी भी पवित्र हो गई। इस नदी के किनारे पर, जहाँ नानक ने दुबारा प्रकट होकर दर्शन दिए थे, गुरुद्वारा संतघाट बना हुआ है।

गृह-त्याग का संकल्प

नानक का विवाह संवत् 1544 की 24 जेठ को हो गया था। तब वे 18 वर्ष के थे। उनकी पत्नी का नाम सुलक्षणा था। वे मूलचंद खत्री की सुकन्या थीं। विवाह के बाद नानक के घर दो पुत्रों का जन्म हुआ। पहले पुत्र श्रीचंद ने भाद्रपद सुदी 9 संवत् 1551 को जन्म लिया तथा दूसरे पुत्र श्री लक्ष्मीदास 19 फाल्गुन संवत् 1953 में पैदा हुए।

गृहस्थ में रहते हुए भी नानक संन्यासी ही बने रहे। प्राय: वे समाधि में लीन रहते।

धीरे-धीरे उन्होंने अनुभव किया कि सीमित क्षेत्र में रहकर वे भूले-भटके लोगों का उद्धार नहीं कर सकते। अपने महान् कार्य के लिए उन्हें दर-दर जाना चाहिए। दर-दर की खाक छाने बिना ईश्वर से सच्चा मिलाप नहीं हो सकता। उन्होंने गृहस्थ को त्यागने का संकल्प लिया। उनके निर्णय की सूचना तलवंडी पहुँची। सास-ससुर को भी पता चला कि नानक वैराग्य धारण कर रहे हैं। समाचार मिलते ही सब सुल्तानपुर पहुँच गए।

नानक तो घर-संसार त्यागकर लोककल्याण के पथ पर निकलने को तैयार बैठे थे।

माता-पिता ने पुत्र को समझाया। सास-ससुर ने भी उन्हें रोकने का प्रयास किया। पत्नी ने आँसू भरे नेत्रों से निवेदन किया। पर नानक अपने निर्णय पर अटल रहे। उन्होंने विनम्रता के साथ उत्तर दिया, 'मेरा प्रभु चाहता है कि मैं उसका सच्चा स्वरूप जन-जन तक पहुँचाऊँ। मेरा निवेदन है कि मुझे इस मार्ग पर जाने से मत रोकिए।'

सबने समझ लिया कि नानक को उनकी राह से डिगाना संभव नहीं है। वे जिस साधना-मार्ग को ग्रहण कर रहे हैं, उसी से उनका और सबका कल्याण संभव है।

लोककल्याण की दिशा में

गुरु नानक ने संन्यास लिया था लोककल्याण के लिए। उनका उद्देश्य था समाज को आडंबरों और व्यर्थ की माया-मोह से मुक्त कराना। वे समझ गए थे कि जन-जन को ईश्वर-प्राप्ति का सच्चा मार्ग दिखाना आवश्यक है। उन्हें विश्वास था कि लोककल्याण के अपने महान् कार्य में वे कभी असफल नहीं हो सकते।

उनका समाज तरह-तरह के आडंबरों से भरा हुआ था; धर्मांधता का बोलबाला था। पंडित-मौलवी भोली-भाली जनता की भावनाओं की आड़ लेकर उन्हें मनमाने ढंग से लूट रहे थे।

किंतु नानक के पास ईमानदारी थी, सच्चाई थी और बाँटने को प्यार था। उन्होंने भ्रमण का मार्ग अपनाया। स्थान-स्थान पर जाकर उन्होंने भ्रष्ट मान्यताओं से मुक्त होने का उपदेश दिया। लोग दूर-दूर से उनके विचार सुनने आते।

जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ रही थी, वैसे-वैसे पंडितों और मौलवियों की नींद हराम

 ISSN 0975-735X

हो रही थी। किंतु जनता को एक ऐसा मसीहा मिल गया था, जो उनके दुखों को जानता था; दुखों में उनका सहायक था।

नानक के साथ एक और व्यक्ति भी था। वह था मरदाना–एक मिरासी मुसलमान। वह रबाब बजाता तो ऐसा कि लोग झूम उठते। नानक जी जगह-जगह रुककर भजन गाते थे और मरदाना रबाब बजाता था।

इन दोनों का साथ आजीवन रहा।

नानक की वाणी में ग़ज़ब का ओज था, उपदेश में आकर्षण था, विचारों में सहजता थी और स्वर में मधुरता थी। उनकी बात सुननेवालों पर जादू-सा हो जाता था।

उनकी लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी।

मुसलमान के घर आतिथ्य

जो ज्ञानी है, उसके लिए संप्रदाय की सीमा नहीं होती। नानक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण थे।

अपनी यात्रा में नानक एक मुसलमान नवाब के घर मेहमान थे। नानक को क्या हिंदू और क्या मुसलमान!

नवाब ने नानक से कहा, 'आप कहते हैं कि न कोई हिंदू और न कोई मुसलमान। यदि यह सच है तो आप हमारे साथ नमाज पढ़ने चलिए। आज शुक्रवार है। हम मस्ज़िद में जाएँगे।'

नानक ने सुना। वे राज़ी हो गए किंतु शर्त रखी, 'अगर तुम पढ़ोगे तो हम भी पढ़ेंगे।'

नवाब ने कहा, 'यह भी कोई शर्त हुई? हम तो नमाज पढ़ने जा ही रहे हैं।'

पूरा गाँव इकट्ठा हो गया। हिंदुओं में शोर मच गया। नानक हिंदू होकर नमाज पढ़ेंगे। लोगों ने समझा कि वे अपना धर्म बदलने जा रहे हैं।

किंतु नानक अपनी बात पर दृढ़ थे।

नमाज पढ़ी गई। नवाब सिजदे में झुक गया, किंतु नानक वैसे ही खड़े रहे। नवाब ने बार-बार देखा कि नानक न तो झुके, न नमाज पढ़ी, बस खड़े हैं। वह बहुत नाराज़ हुआ। जल्दी-जल्दी नमाज पूरी की, क्योंकि क्रोध में कौन नमाज पढ़ सकता है।

दूसरे लोग भी नमाज पूरी करके नानक को भला-बुरा कहने लगे, 'तुम धोखेबाज़ हो। कैसे साधु, कैसे संत! तुमने वचन दिया नमाज पढ़ने का, लेकिन पूरा नहीं किया।'

नानक ने कहा, 'वचन दिया था लेकिन मेरी शर्त आप भूल गए। मैंने कहा था कि अगर आप नमाज पढ़ेंगे तो मैं पढ़ूँगा। जब आपने ही नहीं पढ़ी नमाज तो मैं कैसे पढ़ूँगा?'

नवाब बोला, 'क्या कह रहे हो? होश में भी हो तुम? इतने लोग थे साथ में। सब गवाह हैं कि हम नमाज पढ़ रहे थे।'

नानक ने उत्तर दिया, 'मैं इनकी गवाही नहीं मानता। मैं तो आपको देख रहा था कि आपके भीतर क्या चल रहा है? आप तो काबुल में घोड़े ख़रीद रहे थे।'

नवाब थोड़ा हैरान हुआ। वह घोड़े ही तो ख़रीद रहा था। उसी दिन सुबह उसका बढ़िया घोड़ा मर गया था। वह उसी की पीड़ा से ग्रस्त था। वह यही सोच रहा था कि कैसे काबुल जाऊँ और किस प्रकार बढ़िया घोड़ा ख़रीदूँ?

नानक ने फिर कहा, 'और यह तुम्हारा मौलवी जो नमाज पढ़वा रहा था, खेत में खड़ा हुआ अपनी फ़सल काट रहा था।'

मौलवी ने स्वीकार किया, 'बात तो सच है। फ़सल पक गई है और उसी की चिंता मन पर

सवार है।'

अब नानक बोले, 'अब तुम ही बताओ, जब तुमने नमाज नहीं पढ़ी तो मैं कैसे तुम्हारा साथ दूँ?'

पाप की रोटी में ग़रीब का ख़ून है

गुरु नानक जगह-जगह उपदेश देते हुए एक गाँव में पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने उपदेश दिया। नानक की मधुर वाणी से प्रभावित होकर दो व्यक्ति उनके पास पहुँचे और भोजन के लिए निमंत्रित किया। उनमें से एक गाँव का जमींदार था और दूसरा निर्धन लुहार लालू।

गुरु सोच में पड़ गए कि किसके घर जाएँ। आख़िर में उन्होंने निर्धन लुहार लालू के घर भोजन करने का निर्णय किया। यह तो जमींदार का घोर अपमान था। वह कैसे सहन कर सकता था कि कोई उसका निमंत्रण ठुकरा दे।

जमींदार बोला, 'मेरे महल में जाकर, मेरे शुद्धतम भोजन को खाने से इंकार करते हो और इस लुहार की रोटी खाने की स्वीकृति देते हो। ऐसा क्यों?'

नानक मुस्कराए। दोनों को प्यार से देखा। बोले, 'अब तुम ज़िद करते हो तो कहता हूँ। तुम अपना भोजन ले आओ। और लालू, तुम भी घर जाओ और अपनी रोटी ले आओ। जो खाना स्वादिष्ट होगा, उसे ही खाएँगे।'

जमींदार ने जल्दी-जल्दी स्वादिष्ट भोजन तैयार करवाया। उधर लालू लुहार घर गया। उस समय घर में केवल मक्की का आटा था। उसने उसी की दो रोटियाँ बनवाईं।

दोनों भोजन लेकर नानक जी के पास पहुँचे और उसे नानक जी के चरणों में रख दिया। नानक जी ने दोनों द्वारा लाए गए खाने पर दृष्टि डाली। ईश्वर का नाम लिया और लालू द्वारा लाई गई मक्की की रोटी खाने लगे।

जमींदार को इससे बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला, 'गुरुदेव, यह क्या? मैं तो आपके लिए इतने स्वादिष्ट पकवान बनवाकर लाया था, किंतु आपने तो मक्की के आटे की रूखी रोटी खा ली। आपने ही तो कहा था कि जो भी खाना स्वादिष्ट होगा, मैं वही खाऊँगा।'

'वही तो खाया है भाई।' नानक जी ने कहा।

'वह कैसे?' जमींदार बोला।

इस पर नानक जी ने एक हाथ में लालू द्वारा लाए गए रोटी के टुकड़े लिए और उन्हें निचोड़ दिया। उसमें से दूध की धारा बहने लगी। फिर जमींदार द्वारा लाए गए भोजन को उठाया और उसे भी निचोड़ दिया। लोगों ने देखा कि उसमें से ख़ून की धारा फूट पड़ी।

गुरु नानक बोले, 'तुम ब्राह्मणों से भोजन बनवाओ, एक-एक गेहूँ को साफ़ कराओ, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। तुम्हारा जीवन शोषण, बेईमानी, चोरी और झूठ का है। तुम्हारी हर चीज़ में ख़ून छिपा है। लालू अपने गाढ़े पसीने से कमाता है और उसी में से थोड़ा-बहुत निकालकर साधु-संतों की सेवा में लगा देता है, इसीलिए इसकी रूखी रोटी से दूध टपक रहा है। अब तुम्हीं बताओ कि ख़ून की रोटी स्वादिष्ट होती है या दूध की?'

खेत सींच रहा हूँ

भ्रमण करते हुए एक बार गुरु नानक हरिद्वार आए। पितृपक्ष चल रहा था। नानक ने देखा कि कितने ही व्यक्ति गंगा में खड़े होकर पूर्व दिशा की ओर जल चढ़ा रहे हैं। उन्हें बड़ी जिज्ञासा हुई कि ये सब कर क्या रहे हैं?

 ISSN 0975-735X

उन्होंने वहीं खड़े एक व्यक्ति से पूछा, 'ये लोग किसे जल चढ़ा रहे हैं?'

वह बोला, 'पितृपक्ष है। हम लोग अपने पितरों की आत्मा की शांति के लिए उन्हें जल चढ़ा रहे हैं।'

'क्या इस तरह से जल उन तक पहुँच जाएगा?' नानक जी ने पूछा।

उस व्यक्ति ने नानक को इस तरह देखा, जैसे कोई किसी पागल को देखता है। फिर बोला, 'तुम भी चढ़ाकर देख लो ना।'

नानक जी गंगा में उतरे। पश्चिम की ओर मुँह किया और अपने लोटे से जल्दी-जल्दी से जल उड़ेलने लगे। लोगों ने आश्चर्य से देखा। पूछा, 'अरे, आप पश्चिम दिशा में जल क्यों चढ़ा रहे हो?'

'बात यह है कि पश्चिम की ओर मेरे खेत हैं। वे सूख रहे हैं। मैं उन्हें पानी दे रहा हूँ।' नानक जी ने सीधा-सा उत्तर दिया।

उनकी बात सुनकर लोग हँसने लगे। एक व्यक्ति बोला, 'कितनी दूर हैं तुम्हारे खेत?'

'यही, कोई दो सौ मील दूर।'

'तुम पागल हो, इतनी दूर खेतों में तुम्हारा भेजा पानी कैसे पहुँच सकता है।' किसी ने कहा।

'क्यों नहीं पहुँच सकता? अच्छा बताओ, तुम्हारे पुरखे कितनी दूर हैं?' नानक ने पूछा।

'वे तो अनंत दूरी पर हैं।' लोगों ने कहा।

नानक ने कहा, 'जब तुम्हारा चढ़ाया जल अनंत दूरी तक पहुँच सकता है तो दो सौ मील का फ़ासला तो बहुत कम है। यदि जल तुम्हारे पुरखों तक पहुँच जाएगा तो हमारे खेत तक भी पहुँच जाएगा।'

पाप तरै संगति कुल तारै

उन दिनों गुरु नानकदेव पूर्वी भारत की यात्रा पर थे। अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाते हुए उन्होंने एक गाँव में डेरा डाला। मरदाना भी उनके साथ था। उन दोनों को अपने गाँव में आया देखकर वहाँ के लोग अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों का आदर-सत्कार किया। कई दिनों तक गुरु के उपदेश सुने।

एक दिन गुरु ने वहाँ से विदा ली। गाँव के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध उनके पास आकर एकत्र हो गए। चलते समय गुरु ने उनकी ओर देखा और कहा, 'इस गाँव में रहने वाले उजड़ जाएँ।'

इसी यात्रा में वे एक अन्य गाँव में पहुँचे। वहाँ के व्यक्तियों में न श्रद्धा थी, न भक्ति। उन्होंने सत्कार के स्थान पर दोनों का उपहास किया। यहाँ तक कि किसी ने उनसे पानी तक को नहीं पूछा। गुरु नानक और मरदाना वहाँ से जल्दी ही विदा हो गए। जाते-जाते गुरु ने उस गाँव के व्यक्तियों को आशीर्वाद दिया, 'ये सब यहीं बसते रहें।'

बड़ी विचित्र बात थी। गुरु के इस आशीर्वाद से मरदाना को भी आश्चर्य हुआ। उसने गुरु के रहस्यपूर्ण वचनों का अर्थ नहीं समझा। बोला, 'गुरुदेव, मेरी एक शंका है। कृपया इसका समाधान कीजिए।'

'क्या बात है मरदाने?' गुरु ने पूछा।

'यही कि जिस गाँव के लोगों ने आपका आदर-सत्कार नहीं किया, आपके उपदेशों को ध्यान से न सुना, उन्हें आपने वहीं बसे रहने का आशीर्वाद दे दिया। इसका कारण क्या है?' मरदाना इतना कहकर सिर झुकाए खड़ा रहा।

गुरु नानक ने मरदाना की बात सुनी, मुस्कराए और बोले, 'मरदाने, ये बात तो बड़ी सीधी-सी है। जो अच्छे लोग हैं, जिनमें सेवाभाव भरा हुआ है, उन्हें एक जगह पर नहीं, हर जगह पर रहना चाहिए। वे स्वयं भी तर जाएँगे और सत्संगति से दूसरों का भी उद्धार करेंगे। लेकिन जो बुरे हैं, जो दूसरों की सेवा करने के स्थान पर स्वार्थ में डूबे रहते हैं, ऐसे लोगों को एक ही स्थान पर रहना चाहिए। यदि ऐसे लोग फैल जाएँगे तो अपने आचरण से दूसरों को भी भ्रष्ट कर देंगे।

लाहौर की ओर

पूर्वी भारत की अपनी सफल यात्रा के बाद नानक जी ने अपने 'देस' लौटने का निश्चय किया। इस बीच अनेक स्थानों पर अनेक सूफ़ी और साधकों से उनकी भेंट हुई। प्रेम और समर्पण के अपने संदेश को प्रसारित करते हुए नानक जी ने लाहौर की ओर प्रस्थान किया।

रास्ते में वे हसन अब्दाल नामक स्थान पर रुके। यहाँ पर एक छोटी पहाड़ी पर बली कंधारी नाम का एक फ़क़ीर रहता था। मरदाना ने गुरु नानक से कहा, 'गुरु जी, ज़ोर की प्यास लगी है। देखें, कहीं पानी मिल जाए।'

गुरु नानक ने इधर-उधर देखा और बोले, 'मरदाने, नीचे तो पानी दिखाई नहीं देता। ऊपर पहाड़ी पर एक चश्मा है। वहाँ पर एक फ़क़ीर रहता है। जाओ, उससे पानी माँगो।'

मरदाना ने फ़क़ीर की कुटिया के पास पहुँचकर आवाज लगाई, 'फ़क़ीर जी, पानी मिलेगा?'

बली कंधारी बाहर आया और क्रोध करता हुआ बोला, 'कौन है तू?'

'मैं मरदाना हूँ। मुझे बड़े ज़ोर की प्यास लगी है। पानी पिलाएँगे?'

'नहीं है, यहाँ पानी। भागो यहाँ से।'

मरदाना निराश होकर लौट आया।

'क्यों मरदाने, पानी मिला?' गुरु ने पूछा।

यह फ़क़ीर तो बड़ा क्रोधी है। उसने पानी भी नहीं पिलाया। नाराज़ भी हुआ।' मरदाने ने उत्तर दिया।

'कोई बात नहीं। मैं जैसा कहता हूँ, वैसा करो। वह सामने चट्टान देखते हो। जाओ, उसे उठाओ।' नानक जी ने मरदाने से कहा। मरदाना ने ज़ोर लगाकर पत्थर उठाया। वह ख़ुशी से नाचने लगा। चिल्लाते हुए बोला, 'गुरुजी, पानी।'

पत्थर के नीचे स्वच्छ पानी का स्रोत निकल आया था। मरदाने ने देखा कि जैसे-जैसे उस स्थान पर पानी बढ़ रहा था, वैसे-वैसे पहाड़ी का चश्मा सूखता जा रहा था। बली कंधारी ने भी अपने चश्मे को सूखते हुए देखा तो क्रोध से पागल हो उठा। क्रोध के आवेश में उसने एक पत्थर गुरु नानक की ओर लुढ़का दिया।

गुरु नानक ने पत्थर को आते हुए देखा। वे पास आए और पत्थर को हाथ से रोक दिया। यह वही स्थान है, जहाँ प्रसिद्ध गुरुद्वारा पंजा साहब बना हुआ है। यह गुरुद्वारा अब पाकिस्तान में है।

मक्का की यात्रा

गुरु नानक ने भारत के लगभग सभी तीर्थ-स्थलों की यात्रा की। अब उन्होंने मुस्लिम तीर्थस्थल मक्का की यात्रा करने का निश्चय किया।

लंबी यात्रा करके अन्य हाजियों के साथ जब वे मक्का पहुँचे तो बहुत थक गए थे। पैरों में छाले उभर आए थे। रात भी गहरी हो गई थी। शरीर थककर चूर हो गया था। आराम करने के लिए

 ISSN 0975-735X

वे लेट गए। उनके पैर उसी तरफ़ थे, जिस तरफ़ पवित्र काबा था। हज करने के लिए आने वाला कोई भी यात्री इस तरफ़ पैर करके नहीं सोता।

एक मुल्ला वहाँ आया। उसने एक हज-यात्री को काबे की ओर पैर करके सोते हुए देखा। उसे बड़ा क्रोध आया। चीख़कर बोला, 'तुम कैसे आदमी हो? हज करने आए हो और यह भी पता नहीं कि ख़ुदा के घर की तरफ़ पैर करके सोना ग़लत काम है।'

गुरु नानक ने बड़ी शांति के साथ उसकी ओर देखा और बोले, 'अरे भाई, जिस ओर ख़ुदा का घर न हो, उस तरफ़ पैर कर दो। मैं बहुत थक गया हूँ।'

मुल्ला ने क्रोध भरी निगाह से नानक को देखा और उनके पैर घसीटकर दूसरी तरफ़ कर दिए। किंतु मुल्ला के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने देखा कि जिस तरफ़ उसने नानक जी के पैर किए थे, काबा उसी तरफ़ दिखाई दे रहा था। उसने फिर पैर घुमाए तो काबा भी उसी ओर घूमता दिखाई दिया।

नानक जी वहाँ से मदीना, बगदाद और अफ़गानिस्तान की यात्रा करते हुए भारत लौट आए।

जब बाबर ने क्षमा माँगी

इस बीच बाबर ने भारत पर आक्रमण किया था। नानक जी उन दिनों सैदपुर में थे।

सिपाहियों ने शहर पर हमला बोल दिया। घर-बाज़ार लूट लिए गए। हिंसा का तांडव किया गया। जो बच गया, उसे क़ैद कर लिया गया।

बाबर के सैनिकों ने गुरु नानक और मरदाना को भी पकड़ लिया। दूसरे क़ैदियों की तरह इन दोनों को भी काम पर लगा दिया गया। जब अन्य क़ैदी रोते-बिलखते रहते, उस समय भी गुरु नानक और मरदाना आराम से काम करते रहते और ईश्वर के भजन गाते रहते।

धीरे-धीरे यह समाचार बाबर के पास पहुँचा। बाबर को बताया गया कि एक अनूठा क़ैदी है। वह परेशानियों में भी मस्त रहता है। जेल में भी गाता रहता है। उसे क़ैद नहीं किया जा सकता। उसका मन तो पूरी तरह आज़ाद है।

बाबर को जिज्ञासा हुई, ऐसे क़ैदी से मिला जाए।

आदेश दिया गया, 'उसे हमारे सामने हाज़िर करो। हम उससे मिलना चाहते हैं।'

नानक जी ने कहा, 'हम क्यों मिलने जाएँ?'

बाबर स्वयं कारागृह में आया। नानक जी के प्रकाश-पुंज के सम्मुख उसकी गर्दन झुक गई। उनसे क्षमा माँगते हुए बाबर ने कहा, 'माफ़ कीजिए। मेरे सिपाहियों ने आपको नाहक दुख पहुँचाया है। मैं शर्मिंदा हूँ। आप आज़ाद हैं।'

गुरु नानक बोले, 'एक मैं ही नहीं हूँ, जिस पर तुम्हारे सिपाहियों ने जुल्म किया है। जब तक क़ैद किए गए सभी लोगों को नहीं छोड़ा जाता, मैं आज़ाद होकर क्या करूँगा?'

बाबर की आज्ञा से सारे क़ैदी मुक्त कर दिए गए। वह नानक जी को आदर-सहित अपने आवास पर लाया और उनके सामने बहुमूल्य पदार्थों एवं शराब को प्रस्तुत किया।

नानक हँसे। बोले, 'मैं तो परमात्मा की शराब पी चुका। अब इस शराब से मुझे नशा न चढ़ेगा। बाबर, कितना अच्छा हो कि तुम भी मेरी शराब पीयो।'

ऊह हंस अकेला जाइ

गुरु नानक एकेश्वरवादी थे। वे एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे का स्मरण उचित नहीं समझते थे।

दूजा काहे सिमरिए, जन्मे ते मर जाय।
एक सिमरो नानका, जो जल-थल रहिआ समाय।

उन्होंने नाम-स्मरण को महत्त्व दिया। उनके अनुसार जिसने इस संसार में आकर नाम-स्मरण नहीं किया, उस जैसा दुर्भागी कोई नहीं है–'नाम अराधन ना मिलै नानक हीन करम।'

ईश्वर के यहाँ जाति-पाति का विचार महत्त्वहीन है। जो भी उसे सच्चे मन से स्मरण करेगा, वही उसे पाएगा। साहब के दीदार को सच्चे इश्क़ की ज़रूरत है। नानक ने कहा है :

खत्री ब्राह्मण सूद बैस, जाति पूछि न देई दाति।
नानक भागैं पाइयै, त्रिह पहरे पिछली राति।

नानक ने हिंदू-मुसलमान के भेद को स्वीकार नहीं किया। उनका मत था कि सभी एक ईश्वर के पुत्र हैं। फिर भेद-भाव कैसा? एक काज़ी द्वारा यह पूछने पर कि 'आप हिंदू हैं या मुसलमान' नानक जी ने कहा था–

हिंदू कहों तो मारिये, मुसलमान भी नाहिं।
पाँच तत्त्व का पूतला, नानक मेरा नाम।

उन्होंने मोह-माया, धन-वैभव को निरर्थक मानते हुए कहा कि सबको इस संसार से अकेले ही जाना है, जिन्हें तू अपना समझे बैठा है, वे सभी अंत समय में तुझसे अलग हो जाएँगे।

मित्रां दोस्त माल धन, छडिड चले अति भाइ।
संगी न कोई नानका, ऊह हंस अकेला जाइ।

और यह हंस 70 वर्ष की साधना के पश्चात् सन् 1539 में परम ज्योति में विलीन हो गया।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

समीक्षा समिति

प्रो॰ हरिमोहन, कुलपति, जे॰एस॰विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद (फिरोजाबाद) उ॰प्र॰
प्रो॰ खेमसिंह डहेरिया, कुलपति, अटलबिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल (म॰प्र॰)
प्रो॰ आदित्य प्रचंडिया, पूर्व प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग, आगरा (उ॰प्र॰)
प्रो॰ नंदकुमार पांडेय, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज॰)
प्रो॰ हरिमोहन बुधौलिया, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म॰प्र॰)
प्रो॰ शंभुनाथ तिवारी, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)
प्रो॰ चंद्रकांत मिसाल, अध्यक्ष हिंदी विभाग, एस॰एन॰डी॰टी॰ महिला विद्यापीठ, पुणे (महा॰)
डॉ॰ संजीवकुमार, लेखक एवं साहित्यकार, नोएडा (उ॰प्र॰)
डॉ॰ शशिप्रभा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ॰प्र॰)

 ISSN 0975-735X

अनुक्रम

आचार्य केशवदास के काव्य शास्त्रीय विशिष्टालंकार वर्णन में श्रीराम/ **अशेष उपाध्याय** 20

मधु कांकरिया के कथासाहित्य में नारी चेतना/ **स्नेह लता** 26

प्रगतिवाद के अहाते से गुजरती मुंशी प्रेमचंद की कहानियाँ/ **डॉ॰ श्याम मनोहर पांडेय** 33

सेठ गोविंद दास के नाटकों की प्रासंगिकता/ **डॉ॰ ऐश्वर्या झा** 37

समाज में मानवीय संबंधों को बढ़ावा देने के संदर्भ में सोशल मीडिया का उदय एवं दुरुपयोग/ **डॉ॰ एहतशामुद्धीन अंसारी, डॉ॰ अर्शी अंसारी** 41

खेलत गेंद गिरे यमुना में : कथा विश्लेषण/ **रश्मि** 49

नियतिवाद : दार्शनिक समीक्षा/ **दीपक कुमार** 55

'डार्क हॉर्स' उपन्यास एवं भारतीय प्रसासनिक सेवा अभ्यर्थियों के संघर्ष के आयाम/ **राजेश्री** 60

दादू व कबीर की रचनाधर्मिता में सामाजिक व मानवीय तथ्य का तुलनात्मक विवेचन/ **हेमलता सैनी** 66

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना/ **डॉ॰ गरिमा डिमरी** 71

लक्ष्मीकांत वर्मा के उपान्यासों में चित्रित नारी/**डॉ॰ श्रीनिवास मूर्ति के** 77

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में विद्रोही पात्र/ **डॉ॰ जयरामन पी॰एन॰** 82

अस्सी-पूर्व की हिंदी कहानियों में अभिव्यक्त निम्नवर्गीय नारी-संघर्ष/ **डॉ॰ जोयिस टॉम** 88

मदारी उपन्यास में धार्मिक जीवन/ **कमलेश** 93

रामचरितमानस और मानव मूल्य/ **कुलदीप कौर (डॉ॰)** 97

प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'तीसरी ताली' में किन्नर समाज/ **डॉ॰ कुलदीप** 102

भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी' नाटक का प्रोक्तीय विश्लेषण/ **मनजिंदर कौर** 107

राजस्थान के संस्कार गीतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन/ **मीनाक्षी शर्मा** 113

'बौनी होती परछाई' कहानी-संग्रह में नारी के विविध रूप/ **पिंकी देवी, डॉ॰ कृष्णा जून** 119

अनन्य रामभक्त रेवरेंड फादर कामिल बुल्के/ **डॉ॰ निरुपम शर्मा** 124

अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में अभिव्यक्त सांस्कृतिक प्रेम/ **डॉ॰ प्रतीची मालवीय** 128

लोकनाट्य एवं शिष्टनाट्य पर नवजागरण का प्रभाव (छत्तीसगढ़ के संदर्भ में) **डॉ॰ राजेन्द्र कुमार वर्मा** 134

बहुमुखी प्रतिभा की धनी महादेवी वर्मा : एक विश्लेषण/ **डॉ॰ रीना थामस** 139
मोहन राकेश के उपन्यासों नारी के विविध रूप/ **राजलक्ष्मी जायसवाल** 143
समकालीन हिंदी कविताओं में भूमंडलीकरण
('रुकती नहीं है नदी' के विशेष संदर्भ में)/ **डॉ॰ रंजित एम॰** 147
तुलसीदास और चंददास के काव्यों में नवधा भक्ति/ **डॉ॰ रोहिणी पंडियन** 151
कुसुम अंसल के उपन्यास 'उदास आँखें' में निहित अकेलापन व अजनबीपन/
श्रीमती रोसमीना कुजूर, डॉ॰ गिरिजा शंकर गौतम 159
'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में चित्रित संघर्ष के विविध पक्ष/
डॉ॰ सपना शर्मा, पायल 164
अदम गोंडवी की कविता 'चमारों की गली' में दलित चेतना/
शगुन, प्रो॰ सुचित्रा मलिक 170
प्रेमचंद की कहानियों में मध्यमवर्गीय परिवार की स्थिति/
सुमलक अपुम, डॉ॰ शिवम चतुर्वेदी 177
सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य/ **डॉ॰ सुनीता** 181
डॉ॰ दामोदर खड़से की कहानियों में व्यक्त वैयक्तिक चेतना/
स्वाति पाल, डॉ॰ पी॰ व्ही॰ कोटमे 185
उषा यादव के कहानी-संग्रह 'वह एक पल' में वृद्ध उपेक्षा/
पूनम सिवाच, डॉ॰ आशा सहारण 189
जिंदा मुहावरे उपन्यास में देश विभाजन की त्रासदी/
स्वालियाबेग आर॰ कोप्पल, प्रो॰ श्रीमती राजु एस॰ बागलकोट 194
संवेदनात्मक कहानियों की रचनाकार मालती जोशी : एक पाठ/ **डॉ॰ सिंधु एस॰एल॰** 197
'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में चित्रित बाल मनोविज्ञान/ **डॉ॰ अनिता रानी** 203
मानुष हौं तो वही 'रसखान' बसों, ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन :
कृष्णभक्त कवि रसखान / **डॉ॰ अवधेश कुमार** 208
शंकर शैलेंद्र की कविताओं में सामाजिक विषमता का स्वरूप/
लक्ष्मण कुमार पंकज 214
हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता के प्रतिमान/ **डॉ॰ दीपक कुमारी** 219
साहित्यिक इतिहास और सामाजिक इतिहास का संबंध/ **अंजु बाला** 224
हिंदी कहानियाँ और विकलांगों की समस्याएँ/ **डॉ॰ पुनीत कुमार, छाया** 234
'दीवार में एक खिड़की रहती थी' का भाषा वैशिष्ट्य :
कथा कहन की नवीन शैली/ **रवि कुमार पाण्डेय, प्रो॰ सुचित्रा मलिक** 239
महिला आत्मकथाओं में यथार्थ की प्रासंगिकता/ **डॉ॰ राम किशोर यादव** 244
अमरकांत की कहानियों में सामाजिक समस्याएँ/ **सुदेश कुमारी** 249
कश्मीरी पंडित : कल, आज और कल/ **राहुल कुमार यादव, डॉ॰ रश्मि कुमारी** 252
उषाकिरण खान के कथासाहित्य में लोकजीवन की सामाजिक समस्याएँ/
अल्का कुमारी, प्रो॰ सुचित्रा मलिक 256
कार्यशील महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का अध्ययन :

जिला हजारीबाग (झारखंड) के विशेष संदर्भ में/ **पुष्पा कुमारी, डॉ॰ राज कुमार** 262
राजस्थान री विरासत : लोकसंस्कृति/ **डॉ॰ वीणा छंगाणी, अम्बालाल चौधरी** 268
जित खैंचे तित जाऊँ/ **डॉ॰ अंजली जोसफ** 271
प्रवासी साहित्यकारों का हिंदी साहित्य में अवदान/ **धर्मवीर** 276
हिंदी साहित्य में गीतिनाट्य परंपरा का वैशिष्ट्य/ **दिलीप कुमार** 283
रहीम का काव्य और उसकी प्रासंगिकता/ **डॉ॰ इबरार खान** 289
हिंदी भाषा व साहित्य के प्रचार-प्रसार में
हिंदी की साहित्यिक ई-पत्रिकाओं का योगदान/ **जूही त्रिपाठी** 294
हरियाणा प्रदेश के जंगम संप्रदाय के गीत संगीत में
सामाजिक संबंध एवं भावनाएँ/ **ज्योति** 300
गीतांजलि श्री के उपन्यास 'रेत-समाधि' में अभिव्यक्त स्त्री-संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व/
डॉ॰ प्रभात रंजन, मनोज खूँटे 303
कलचुरीकालीन अभिलेखों में साहित्य के विभिन्न आयाम/
प्रीतम, डॉ॰ आशारानी दाश 309
हिंदी कल, आज और कल/ **डॉ॰ पूनम अग्रवाल** 316
मुक्तिबोध की कविता अँधेरे में : संवेदना के विविध आयाम/ **डॉ॰ प्रीति राय** 324
रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना/
सरला माधव प्रसाद तिवारी, डॉ॰ दीपिका जैन 330
डॉ॰ माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' की रचनाओं में मानवीय मूल्य/
डॉ॰ (श्रीमती) कल्याणी जैन, श्रीमती संगीता शर्मा 334
समसामयिक परिप्रेक्ष्य में चंद्रकांता के उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' की प्रासंगिकता/
शमीना टी॰, डॉ॰ शोभना कोक्काडन 342
मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथासाहित्य में शिक्षा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य/ **सुनीता रानी** 346
किन्नर का शब्दकोशीय अर्थ और परिभाषिक स्वरूप/ **डॉ॰ विजय कुमार पटीर** 352
विष्णु प्रभाकर के कथासाहित्य में पारिवारिक संबंधों का चित्रण/ **डॉ॰ विजयदीप सिंह** 358
नीत्शे और सार्त्र के दर्शन का तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन :
अस्तित्ववाद के परिप्रेक्ष्य में/ **पूजा** 362

आचार्य केशवदास के काव्य शास्त्रीय विशिष्टालंकार वर्णन में श्रीराम

अशेष उपाध्याय, पूर्व छात्र
बरेली कॉलेज, प्रि॰ पी-एच॰डी॰
कोर्स वर्क, जे॰एस॰ हिंदू कॉलेज, अमरोहा

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से कविता एवं काव्य-सृजन कला निपुण कविजनों के समझने की वस्तु है। आचार्य केशवदास ने इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए बालक-बालिकाओं अर्थात् जन सामान्य के समझने की वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने के लिए 'कविप्रिया' की रचना की है। सुवर्ण रूपी शुभवर्णों एवं बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत कंठमाला के समान कविता ही कविगणों के कंठ में सुशोभित होनी चाहिए। दूषण सहित कवित्तों के दूषण निवारण के लिए ही उनके द्वारा 'कविप्रिया' में प्रस्तुत किए गए अलंकार वर्णन अथवा अलंकार संबंधी विविध विचारों का उद्देश्य उस कविता का प्रवर्त्तन है, जिसके द्वारा रीति काव्य धारा का शुभारंभ हुआ। इसमें उन्होंने अपने आराध्य श्रीराम के स्वरूप को भी उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त किया है। विशिष्टालंकार वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार के उदाहरण में स्वाभाविक चमत्कारशील सुरुचि संपन्न श्रीराम की बाल-लीला का वर्णन उनके द्वारा इस प्रकार किया है–

पीरी पीरी पट की पिछौरी कटि केसोदास
पीरी पीरी पागैं पग पीरिये पनहियाँ।
बड़े-बड़े मोतिन की माला बड़े-बड़े नैन,
भृकुटी कुटिल नान्हीं-नान्हीं बघनहियाँ।
बोलनि, चलनि, मृदु हँसनि चिलैनि चारु,
देखत ही बनै पै न कहत बनै हियाँ।
सरजू के तीर-तीर खेलैं चारों रघुवीर,
हाथ द्वै द्वै तीर राती राती रातियै धनुहियाँ।[1]

आचार्य कवि ने स्वभावोक्ति को ही 'जाति' के विशिष्ट लक्षणों को श्रीराम एवं उनके भाइयों के सौंदर्य वर्णन द्वारा आलंकारिक महत्त्व प्रदान किया है। धर्म, आकृति, वेश, धनुष-बाण-क्रीड़ा, मृदुल हास्य तथा सुंदर चितवन इसका मुख्य कारण हैं। 'हेतु' का अर्थ है–साध्य का साधक कारण। अलंकार के रूप में इसके साधक कारण को ही कार्य स्वीकार किया जाता है। 'कविप्रिया' में इसके सभाव हेतु और अभाव हेतु नामक दो भेद किए गए हैं। इनमें अभाव हेतु में श्रीराम का संदर्भ इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है–

जान्यो न मैं मद् जोवन को उतर्‌यो कब काम को काम गयो ई।
छाँड्यो न चाहत जीव कलेबर जीव कलेबर छाँड़ि दयो ई।
आवति जाति जरा दिन लीलति, रूप जरा सब लीलि लयोई।

 ISSN 0975-735X

'केसव' राम ररौ न ररौ अन साधे ही साधन सिद्ध भयो ई।।[2]

उपर्युक्त उदाहरण में 'राम नाम जप' के लिए सिद्धावस्था की प्राप्ति हेतु श्रवण, मनन, आसन, प्राणायाम इत्यादि के समान ग्रहण करते हुए जरा अर्थात् वृद्धावस्था की शारीरिक स्थिति की निर्बलता को इस साधना के रूप में ग्रहण किया है। यहाँ पर शारीरिक शक्ति के अभाव ने 'राम नाम जप' के अभाव को भाव में परिवर्तित कर दिया है। इसमें निहित वृद्धावस्था का व्यंग्य भी अवलोकनीय है। जहाँ शब्दों में विरोध का आभास होता हो और अर्थ के वैशिष्ट्य से श्लिष्टार्थ के द्वारा इसका निराकरण हो जाए, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। केशवदास जी ने राजा राम की अद्‌भुत गति के वर्णन में इसका प्रयोग किया है।

परम पुरुष कुपुरुष-संग सोभिजत,
दिन दानसील पै कुदान ही सों रति है।
सूर कुल-कलस पै राहु को रहत सुख,
साधु कहें साधु, परदार प्रिय अति है।
अकर कहावत धनुष धरे देखियत,
परम कृपाल पै कृपान कर पति है।
विद्यमान लोचन द्वै, हीन बाम लोचन सु,
केसोदास राजाराम अद्‌भुत गति है।[3]

इसमें 'कुपुरुष' अर्थात् बुरे मनुष्य और पृथ्वी के मनुष्य उपसर्ग के रूप में 'कु' का अर्थ है–बुरा अथवा कुत्सित तथा स्त्रीलिंग संज्ञा के रूप मे इसका अर्थ है–पृथ्वी। 'कुदान' में इसी प्रकार दो अर्थ निकलते हैं–बुरा या कुत्सित दान एवं पृथ्वी का दान। 'राहु' के भी दो अर्थ हैं–राहुग्रह और मार्ग। 'परदार प्रिय' का एक अर्थ है-परस्त्री से प्रेम और सर्वोत्तम स्त्री लक्ष्मी को प्रिय रूप में स्वीकार भगवान विष्णु। कृपान कर के दो अर्थ हैं–हाथ में कृपाण धारण करने वाले तथा कृपा नहीं करने वाले। 'हीन बाम लोचन' के दो अर्थ निकलते हैं–बाम नेत्र विहीन एवं कुलटा स्त्री से विहीन। 'अकर' अर्थात् बिना हाथ के होने पर भी दुष्ट विनाशक धनुष धारण करने वाले श्रीराम की अद्‌भुत चरित्र के वर्णन के लिए किए गए उपर्युक्त श्लिष्ट विरोधाभासी शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि विष्णु के अवतार श्रीराम परम पुरुष होते हुए भी पृथ्वीलोक के मनुष्य तथा निम्नकोटि के वानर-भालुओं के साथ रहते हुए सदैव याचकों को दान देने के साथ-साथ पृथ्वी दान ही उन्हें प्रिय है। सूर्यकुल के कलश के रूप में भी राहु को सुख प्रदान करके उत्तम मार्गों के निर्माण में संलग्न रहते हैं। इनका साधुतापूर्ण आचरण सर्वप्रसिद्ध है फिर भी वे परदार प्रिय अर्थात् लक्ष्मी के पति के रूप में पृथ्वीलोक की अन्य स्त्रियों के लिए पूज्य भक्ति-भावना का प्रतिमान हैं। शत्रुओं का कृपाण से कृपा विहीन स्थिति में संहार करते हुए दोनों नेत्रों से युक्त सुदर्शन रूप में वाम लोचना कुलटा से सदैव अलग रहते हैं। उत्प्रेक्षा अलंकार में एक वस्तु में दूसरी वस्तु की भावना या संभावना की जाती है–

हर को धनुष तोरी, लंक तोरि रावन को
बंस तोरि तोरैं जैसे वृद्ध बंस बात हैं।
सत्रुन के सेल सूल फूल-तूल सहै राम
सुनि 'केसोराई' सौंहिये हहरात हैं।
कामसर हूँ तें तिक्ष तारे तरूनीन हू के

लागि लागि उचटि परत ऐसे गात हैं।
मेरे जान जानकी तू जानति है जान कछू
देखत ही तेरे नैन मैन से ह्वै जात हैं।[4]

श्रीराम तन और मन से अत्यंत कठोर हैं। इन पर शत्रुओं के तीक्ष्ण प्रहारों का पुष्प जैसा प्रभाव होता है। उन्होंने शिव का धनुष तोड़ने के उपरांत रावण का समूल नाश पुराने बाँस के समान करके सभी को आश्चर्य चकित कर दिया है। कामदेव के वाणों से भी तीक्ष्ण कटाक्ष से युक्त सुंदर स्त्रियाँ उनके समक्ष प्रभावहीन हो जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सीता का सौंदर्य मानो जादू के रूप में उनके इस कठोर रूप को मोम बनाने में समर्थ हो गया है। यहाँ पर सीता के सौंदर्य को जादू के रूप में ग्रहण करके उत्प्रेक्षा अलंकार की संभावना की गई है। 'जान' का जादू 'मैन' का अर्थ मोम है। 'जान' शब्द का प्रयोग अन्य अर्थ में संभावना या विचार होने के कारण 'यमक' का उपयोग कवि की चमत्कार पूर्ण काव्य कला का परिचायक है। इसमें 'जान' उत्प्रेक्षा का वाचक भी है। निम्नलिखित कवित्त में इस अलंकार के उदाहरणार्थ श्रीराम से संबंधित 'चंद्रकलंक' प्रकरण प्रस्तुत किया गया है–

अंक न, ससंक न, पयोधि हू को पंक न सु–
अंजन न रंजित रजनि निज नारी को।
नाहिनै झलक झलकति तम पान की, न
छिति छाँह छाई, छल नाहीं सुखकारी को।
'केसव' कृपानिधान देखियै विराजमान,
मानियै प्रमान राय बैन बनचारी को।
लागति है जादू कंठ झाग दिग्पालन के,
मेरे जान सोई कृतु कीरति हिहारी की।[5]

इसमें बनचारी का अर्थ हनुमान जी है। यह उनके द्वारा अपने स्वामी श्रीराम को बताया गया है कि दिग्गज एवं इंद्र, वरुण, कुबेर इत्यादि के द्वारा अभिव्यक्त आपका यश-गान संभवत: चंद्रमा के लिए ईर्ष्याजनित दुख बन गया है। इसी का संकेत उसमें निहित श्यामलता से प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि में, इसे श्याम अंक, मृगांक सागर की पंक अर्थात् कीचड़ निज स्त्री के काजल का रंग पृथ्वी की छाया, छिद्र अर्थात्-दोष और विषपान के कारण शंकर के नीले कंठ के समान उसके अंधकार के पान का श्यामल प्रतीक भी नहीं है। इसमें तत्कालीन राजाओं की आंतरिक ईर्ष्या का संदर्भ भी 'चंद्र कलंक' के माध्यम से स्पष्ट हो गया है। गणना अलंकार में कवि ने एक से दस तक संख्या की वस्तुओं का वर्णन किया है। इसमें 'द्विवर्णन' में उन्होंने 'राम' का कथन लव और कुश नामक दो पुत्रों के पिता के रूप में किया है।[6] दस वर्णन में रावण के सिरों के साथ श्रीराम के दस अवतारों की गणना हुई है।[7] कवि के अनुसार माता-पिता, गुरु, देव, मुनि आदि जो कुछ सुखपूर्वक कहते हैं, उसको 'आशिष अलंकार' कहा जाता है–

मलयमिलित बास, कुंकुमकलित, जुह,
जावक कुसुम-नख पूजित, ललित कर।
जरित जराय की जंजीर बीच नील मनि,
लागि रहे लोकन के नैन मानों मनहर।
चित चिरु सोहौ रामचंद्र के चरन युग,

 ISSN 0975-735X

केसोदास दीवो करें आशिष अशेष नर।
हय पर, गय पर, पालिक सु पीठ पर,
अरि उर पर अवनीपन के सीस पर।[8]

सुगंधित कुंकुम से सुसज्जित महावर रंजित नखों से युक्त पुष्पों से पूजित नीलम-जड़ित पग भूषणों से सुशोभित श्रीराम के सुंदर चरण प्रजाजनों के नेत्रों के समान प्रतीत होते हैं। इनकी यह परम मंगल कारक आशिष कामना है कि उनके ये चरण हाथी, घोड़ा, पालकी, आसन, शत्रुओं के हृदय तथा राजाओं के शीश पर अनंतकाल तक विराजमान रहें। श्लेष अलंकार बुद्धि समर्थ लोगों के लिए है। इसमें एक शब्द अथवा पद के दो, तीन अथवा इससे अधिक अर्थों का समावेश होता है। 'चतुरर्थ' या चार अर्थ के कवित्त में राजाराम, ब्रज राम, परसुराम और अमरसिंह का वर्णन है। राजा राम अर्थात् श्रीराम को दानवारि इंद्र को राक्षसों का संहार करने के कारण सुखदायक थे। उन्होंने राजा जनक की पुत्री के विवाह की प्रतिज्ञा भंग की यातना को शिव-धुनष पर प्रत्यंचा कर्षित करके सभी को अपने सुंदर स्वरूप से विमोहित कर दिया था। श्रीराम मनुष्यों और देवताओं के संहारक रावण, खर एवं दूषण के विनाशक, नाग धारण करने वाले शिव को प्रिय मानने वाले, लोकमाता लक्ष्मी के लिए सुखदायक हैं। इनके सहोदर भ्राता इनके सदैव सहायक रहे हैं–

दानवारि सुखद, जनक जातनानुसारि,
करषत धनुगुन सरस सुहाए हैं।
नरदेव क्षयकर करम हरन, खर,
दूषन के दूषन सु 'केसोदास' गाए हैं।
नागधर प्रिय मानि, लोकमाता सुखदानि,
सोदर सहायक नवल गुन भाए हैं।
ऐसे राजा राम, ब्रजराम के परसुराम,
केधों अमरसिंह मेरे उर भाए हैं।[9]

'पंच अर्थ' श्लेष में भी श्रीराम का वर्णन हुआ है। इसमें शिव, शुक्र, सनकादि परमंहस की मनोवृत्ति से परिपूर्ण संगीत प्रिय तथा देवताओं का मित्र बताया गया है। वे रावण के संहारकर्त्ता के रूप में परम प्रसिद्ध युद्ध प्रिय 'रामनाथ' हैं। राम नाम के साथ चंद्र की पदवी संलग्न होने के कारण रामचंद्र नाम से विख्यात अतिशय लक्ष्मी संपन्न श्रेष्ठ पत्नी सीता के प्रिय हैं।[10] ऊर्जा अलंकार में सहायता के निरंतर घटने पर भी वीर पुरुषों द्वारा अहंकार का प्रदर्शन किया जाता है। श्री रघुनाथ (श्रीराम) के संदर्भ में रावण का यह कथन उदाहरणार्थ पठनीय है–

को बपुरा जो मिल्यो है विभीषन है कुलदूषन जीवैगो कौ लौं,
कुंभकरन मर्‌यौ मधवारियु तौ रे कहा न डरौं जम सौ लौं।
श्री रघुनाथ के गातनि सुंदरि जानहि तूं कुसलात्न तौ लौं,
साल सबै दिगपालन कौं कर रावन के करवाल हैं जौ लौं।।[11]

केशवदास जी ने नवरसों को रसवत् अलंकार के रूप में काव्य शास्त्र का अंग स्वीकार किया है। इनमें श्रीराम का संदर्भ, 'रौद्र रसवत्', भयानक रसवत् और अद्‌भुत रसवत् में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसमें भक्त प्रहलाद, द्रोपदी वस्त्र हरण राजा परीक्षित की माता के गर्भ में रक्षा और गजेंद्र मोक्ष का वर्णन करके श्रीराम के द्वारा विभिन्न अवतारों में किए गए अद्‌भुत कार्यों का स्मरण किया गया है–

आशीविष, सिंधुविष, पावक सों नातो कछू,
हुतो प्रहलाद सों, पिता को प्रेम टूटो है।
द्रौपदी की देह में खुशी ही कहा दुस्सासन,
खरोई खिसानो खैंचि बसन न खूटो है।
पेट में परीक्षित की पारथ बचाई मीचु,
जब सबही को बल विधिबान लूटो है।
केसव अनाथन को नाथ जौ न रघुनाथ,
हाथी कहा हाथ के हथ्यार करि छूटो है।।"[12]

'व्यधिकरणोक्ति' अलंकार में किसी और के गुण अथवा दोष की अभिव्यक्ति किसी और या अन्य में करके चमत्कार प्रदर्शन किया जाता है। इसके लिए श्रीराम का उदाहरण देकर बताया गया है कि राजभार, लाजभार, भूमिभार, दानभार, मानभार, भोग भार, प्रनभार आदि के भार यद्यपि उनके सिर पर सुशोभित हैं परंतु ईर्ष्या और भय इत्यादि के कारण उत्पन्न दुख के भार से शत्रुओं के सिर विदीर्ण होते रहते हैं।[13] जो कार्य अनेक प्रयासों से संभव होता प्रतीत न हो परंतु दैवयोग संपन्न हो जाए, तब वहाँ समाहित अलंकार होता है। इसके प्रमाण हेतु कवि ने 'रामचंद्रिका' का यह उदाहरण प्रस्तुत किया है–

साहहु दीपनि के अवनीयति हारि रहे जिस मैं जब जाने।
बीस बिसे ब्रत भंग भयो सु कहौ अब केसव को धनु ताने।
सोक की आगि लगी परिपूरन आह गए धन स्याम बिहाने।
जानकी के जनकादिक के सब फूलि उठे तरु पुन्य पुराने।[14]

इसमें राजा जनक के धनुष यज्ञ में राजाओं की धनुष पर प्रत्यंचा नहीं चढ़ाने की पीड़ा से व्यथित राजा जनक को सांत्वना देने के लिए दैवयोग से श्रीराम का आगमन और शिव धनुष भंजन समाहित अलंकार के अंतर्गत है। 'कवि प्रिया में चित्रालंकार' को विचित्र प्रतिभासंपन्न उच्चकोटि के प्रतिष्ठित कवियों को डुबाने वाले समुद्र के रूप में बताया गया है। इनको अत्यंत प्रेम के साथ विद्वता, बुद्धि बल एवं विवेक से परिपूर्ण चित्त से चित्रालंकार की रचना करनी चाहिए। इनके वर्णन में निर्धारित काव्यशास्त्रीय नियमों के सदुपयोग पूर्वक अनुपालन द्वारा अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना चाहिए। इसमें श्रीराम का संदर्भ सप्ताक्षर 'अ', 'क', 'घ', 'ब', 'म', 'र', 'स' वर्ण दोहा में सीता की आराधना के द्वारा राम को वश में करने के प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है।[15] 'सर्वतोभद्र'[16] और 'कमल बंध'[17] में भी इसी प्रकार का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। मंत्रीगतिबंध' का उदाहरण भी यहाँ अवलोकनीय है–

राम कहौ नर जानि हिये मृत लाज सवै धरि मौन जनावत।
नाम गहौ उर मानि किए कृत काज तवै करि तौन बतावत।
काम दहौ हर आनि हिये बृत राज जबै भरि भौन अनावत।
याम बहौ बर पानि पिये घृत आज अबै हरि क्यों न मनावत।[18]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य केशवदास ने विशिष्टालंकार वर्णन के द्वारा अपनी भक्ति एवं सामाजिक आस्था के अनुकूल श्रीराम को अलंकारों की चमत्कारशील परंपरा के नए रूप में काव्यशास्त्रीय शिक्षा के प्रति लोक रुचि जाग्रत करने के लिए यथास्थान प्रयुक्त किया है। भक्तिकाल के अन्तिम छोर पर अग्रसर नये युग के प्रवर्त्तन में उनकी ऐतिहासिक भूमिका का यह

 ISSN 0975-735X

बुद्धि विलास अविस्मरणीय है। काव्य शास्त्रीय ज्ञान की गरिमा तथा विद्याविलास के श्रम की सार्थकता के लिए यह परवर्त्ती कवियों के लिए भी वर्ण प्रयोग, हीनक्रम, देश विरोध एवं लोक न्याय के लिए अनुकरणीय है। राजसभा में सम्मान और आचार्यत्व के महिमा विस्तार के लिए श्रीराम का महत्त्व सर्व-विदित है। 'कवि प्रिया' की लोकप्रियता और प्रयोगधर्मिता इसका प्रमाण है।

संदर्भ

1. केशवदास, कवि प्रिया, केशव ग्रंथावली, संपादक, विश्वनाथ प्रसाद मिश्रा, हिंदुस्थानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, छंद संख्या-9/9, पृ॰ 148
2. वही, छंद सं॰, 9/17, पृ॰ 150
3. वही, छंद सं॰, 9/20, पृ॰ 150, 151
4. वही, छंद सं॰, 9/31, पृ॰ 153,
5. वही, छंद सं॰, 9/32, पृ॰ 153
6. वही, छंद सं॰, 11/7, पृ॰ 161
7. वही, छंद सं॰, 11/21, पृ॰ 162
8. वही, छंद सं॰, 11/25, पृ॰ 163
9. वही, छंद सं॰, 11/32, पृ॰ 165
10. वही, छंद सं॰, 11/33, पृ॰ 165
11. वही, छंद सं॰, 11/52, पृ॰ 169
12. वही, छंद सं॰, 11/61, पृ॰ 171
13. वही, छंद सं॰, 12/10, पृ॰ 177
14. वही, छंद सं॰, 13/3, पृ॰ 182
15. वही, छंद सं॰ 16/34, पृ॰ 222
16. वही, छंद सं॰ 16/78, पृ॰ 227
17. वही, छंद सं॰ 16/80, पृ॰ 227
18. वही, छंद सं॰ 16/86, पृ॰ 228

अशेष उपाध्याय
द्वाराश्रीमती रजनीउपाध्याय
197/199 **डॉक्टरकॉलोनी**
सिविल लाइन, बरेली 243001
asheshupadhyaya@gmil.com

मधु कांकरिया के कथासाहित्य में नारी चेतना

स्नेह लता (विद्या वाचस्पति शोधार्थी)
हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

'न शोभयन्ते दन्ता:, केशा:, नख, नरो' अर्थात् 'दाँत, केश, नख और नारी अपनी जगह से गिरे कि फिर शोभित नहीं होते। महाभारत के वनपर्व में कहा गया है कि जैसे कुत्ते द्वारा चाटे गए घी का यज्ञ में व्यवहार नहीं होता, उसी तरह परहस्तगता नारी भी पति के भोग के लायक नहीं बचती।'[1] धर्म सदा ही स्त्री को पुरुषों के पराधीन बनाता रहा है। उसके अधिकार, सम्मान, कल्याण सब पुरुषों पर निर्भर करते हैं। इस समाज में पुरुष कई स्त्रियों के साथ संबंध बना सकता है, परंतु स्त्री यदि किसी दुराचारी पुरुष के षड्यंत्र का शिकार भी हो जाती है, तो समाज द्वारा उसे त्याग दिया जाता है। यह स्त्री के विरुद्ध कैसा षड्यंत्र है? उसके साथ समाज द्वारा इतना पक्षपात क्यों किया जाता है? सदियों से स्त्री को पुरुष की संपत्ति के रूप में देखा जाता है केवल स्त्री के सतीत्व को प्रधानता दी जाती है। उसके अन्य चारित्रिक गुणों को नकार दिया जाता है; जो स्त्री अपने सतीत्व की रक्षा नहीं कर पाती उसे पथभ्रष्टा, कुलटा, दूषिता, कुलनाशनी आदि नामों से अपमानित किया जाता है। परंतु स्त्री को अब इस विधान को बदलना होगा। उसे अपने अधिकारों के प्रति सचेत होना होगा, क्योंकि अधिकार व सम्मान कभी भिक्षा में नहीं मिलते; उसके लिए संघर्ष करना पड़ता है स्त्री को शिक्षित व स्वावलंबी बनना होगा।

मधु कांकरिया एक संवेदनशील साहित्यकार हैं। उनका साहित्य नारी-मन की पीड़ा व बंधनों से टकराती स्त्री का जीवंत चित्रण है। उनका साहित्य नारी की चिरपरिचित मनोदशा और उसमें आए परिवर्तनों की सहज-सरल अभिव्यक्ति है। मधु कांकरिया के अनुसार स्त्री सृजनहार की सुकोमल कल्पना है। सामाजिक प्रताड़ना, शोषण, अनाचार ने उसे इन जड़ परंपराओं को तोड़ने के लिए विद्रोही बना दिया है। वर्तमान जीवन की परिस्थितियों से रुबरू होते वक्त उसे जीवन के अनेक मोड़ों से गुजरना पड़ रहा है, कई बार जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को छोड़कर अकेले ही जीवन के रथ को खींचना पड़ता है। मधु कांकरिया का जीवन इसका जीता-जागता उदाहरण है। वह एक ऐसी संघर्षशील स्त्री है, जिसने जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं को छोड़कर जीवन को शोषित, पीड़ित, वंचितों के लिए समर्पित कर दिया। ऐसे में उनके साहित्य में स्त्री की सुकोमल व परंपरागत छवि के बदले उसके विद्रोही तेवर की अभिव्यक्ति है।

सृष्टि की सृजना में नारी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतवर्ष में नारी को देवी, माँ, सहचरी, अर्धांगिनी, जीवन-संगिनी आदि सम्मानपूर्ण संबोधन दिए हैं परंतु पुरुष प्रधान समाज में नारी को कभी समानता का अधिकार नहीं दिया। 'पहली बार स्त्री को पता चला है कि देवी होने के जिस अभिमान से वह मरी जा रही थी, वह दरअसल उसकी महानता का आख्यान नहीं, मर्दों द्वारा सदियों से बनाया गया ऐसा विचार भर था, जिसमें कभी पूजकर, तो कभी पीटकर अपनी सत्ता कायम कर रखी थी।'[2]

 ISSN 0975-735X

सदियों से स्त्री के शोषण का कुचक्र चल रहा है। पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था पुरुषों को प्रथम श्रेणी में प्रतिष्ठित कर संपूर्ण अधिकार व सम्मान का अधिकारी बनाती है, वही स्त्री को दोयम दर्जे में रखकर उसे उसके अधिकारों से वंचित करती है। हमारी सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की कोई पहचान ही नहीं है, सदियों से उसे पुरुषों की पहचान पर आश्रित रहना पड़ा है। प्रसिद्ध साहित्यकार राजेंद्र यादव ने कहा भी है कि 'मूलत: इस समाज में स्त्री की न अपनी कोई जाति है, न नाम और न अपनी इच्छा, हर जाति या नस्ल ने एक-दूसरे की स्त्रियों को लूटा है, छीना है या अपनाया है। वह आजन्म किसी की बेटी, किसी की पत्नी और किसी की माँ के रूप में जानी जाती है। उसी से उसके पद और प्रतिष्ठा बनते हैं, यहाँ तक कि पर्दे के नाम पर उसका चेहरा भी उससे छीन लिया गया है। वह सिर्फ एक बेनाम, बेचेहरा और बेपहचान औरत है।'[3]

स्त्री करुणा, दया, त्याग, समर्पण और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति है, फिर भी स्त्री को सामाजिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। पुरुषों द्वारा सदा ही उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं। स्त्री के जीवन में शिक्षा के प्रवेश ने उसके विचारात्मक दृष्टिकोण को विस्तृत क्षितिज प्रदान कर दिया है। आज स्त्री विद्रोही तेवर के साथ समाज के सम्मुख खड़ी है। स्त्री शिक्षा, स्त्री स्वावलंबन तथा नारी अस्मिता ने स्त्री में वैवाहिक जीवन के प्रति विद्रोह पैदा किया है। मधु कांकरिया के उपन्यास 'खुले गगन के लाल सितारे' में पारसी अपने विवाह विच्छेद से दुखी होकर जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण करना चाहती है। उसकी बहन मणि पारसी को समझाते हुए कहती है कि 'महेंद्र ने तुम्हें त्याग दिया तो इसका मतलब यह नहीं कि तुम संसार को ही त्याग दो, शादी ही जीवन की अंतिम उपलब्धि नहीं।'[4]

मधु कांकरिया का उपन्यास 'सलाम आखिरी' नारी उत्पीड़न का खुला दस्तावेज है। भूत, भविष्य और वर्तमान में नारी शोषण के तरीके बदले हैं परंतु शोषण निरंतर जारी है। शारीरिक व मानसिक घात-प्रतिघात से जूझती नारी का सजीव चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री क्रय-विक्रय की वस्तु बन गई है जिसमें ग्राहक अपनी इच्छानुसार किसी को भी खरीद सकता है तथा उपभोग के बाद त्याग सकता है। मधु कांकरिया पुरुषों की इस मानसिकता के विषय में लिखती है कि 'स्त्री किसी के लिए यूज एंड थ्रो, किसी के लिए उगालदान, किसी के लिए टाइम पास, किसी के लिए चूसा और थूका मार्का च्युंगम, तो किसी के लिए गिनी पिग थी।'[5]

मधु कांकरिया पुरुष सत्तात्मक समाज की उस सामंती सोच को उद्घाटित करने का प्रयास करती हैं जो स्त्री को देवी बनाकर मंदिर में तो प्रतिस्थापित करती है परंतु अधिकार प्रदान कर पुरुष के बराबर खड़े होने का विरोध करती है। सामंती समाज स्त्री को वस्तु से अधिक कुछ नहीं समझता। उसकी सोच स्त्री की देह तक ही सीमित है। समाज के पालनहार, धर्म के ठेकेदार व सत्ता के उत्तराधिकारियों ने स्त्री को केवल सेवक की भूमिका में अपनाया है-'पुरुष-प्रधान समाज में पुरुष अभी तक औरत के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारता हुआ उसे अपनी इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र मानता आया है। अत: ज्यों-ज्यों महिलाओं के अधिकारों और क्षमताओं में बढ़ोतरी होगी, त्यों-त्यों पुरुषों का अहं दुर्बल होगा और वह नारी की समानता तथा स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करेगा। यह मानसिक परिवर्तन जितना जल्दी और सहज ढंग से होगा, भारतीय समाज के लिए वह उतना ही हितकर होगा।'[6]

मधु कांकरिया स्त्री-स्वावलंबन पर जोर देती हैं। वह पुरुषों पर आश्रित रहने का विरोध करती हैं। स्त्रियों ने अपने आपको घर की चारदीवारों में कैद कर लिया है, घर को ही संपूर्ण संसार

मानकर अपने-आपको बंधनों में जकड़ लिया है। उसके जीवन की धुरी पुरुष सत्ता के चारों ओर ही चक्कर लगाती रहती है, स्त्री को केवल पुरुष के साथ ही देखा गया। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को नगण्य समझा है, उसके निर्णय सदा ही पुरुष लेता रहा है। स्त्री के सिर पर आदर्शों का मुकुट सजा है और पैरों में परंपराओं की बेड़ियाँ। महादेवी वर्मा स्त्री की इस प्रकार की मानसिकता को देखते हुए कहती है कि 'भारतीय नारी भी जिस दिन अपने संपूर्ण प्राणवेग से जाग सके, उस दिन उसकी गति रोकना किसी के लिए संभव नहीं। उसके अधिकारों के संबंध में यह सत्य है कि वह भिक्षावृत्ति से न मिले हैं, न मिलेंगे क्योंकि उसकी स्थिति आदान-प्रदान योग्य वस्तुओं से भिन्न है।'[7]

मधु कांकरिया स्त्रियों के साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण का स्वागत करती हैं। उनका मानना है कि स्त्री चाहे लेखक हो, संन्यासी हो, कलाकार हो, राजनेता हो या सुगृहणी, उसे समाज में अपना मुकाम बनाने के लिए विद्रोह करना पड़ता है। अब तक पुरुष स्त्री के जीवन के जिन अनकहे-अनसुने पहलुओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहा। उसे स्त्री लेखिकाओं ने अपनी कलम से लिपिबद्ध किया, पितृसत्ता के बंधनों से स्त्री मुक्ति के नवीन आयामों को स्वर दिया। मधु कांकरिया आर्थिक स्वावलंबन को जीने की पहली शर्त मानती है। स्त्री अस्तित्व की पहचान के लिए उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए। मधु जी का साहित्य नारी के अपने 'स्व' की पहचान का दस्तावेज है। जीवन की समस्याओं के बीच वह टूटकर बिखर नहीं जाती। अपने 'स्व' के अस्तित्व की स्थापना ही उसका परम लक्ष्य है। तसलीम नसरीन स्त्री के आर्थिक स्वावलंबन के विषय में कहती है कि 'जिस दिन यह समाज स्त्री-शरीर का नहीं, शरीर के अंग-प्रत्यंग का नहीं, स्त्री की मेधा और श्रम का मूल्य देना सीख जाएगा, सिर्फ उसी दिन स्त्री मनुष्य के रूप मे स्वीकृत होगी।'[8]

धर्म के सृजनहार, पालनहार हमेशा ही पुरुष रहे हैं। पुरुष सदा ही स्त्री की प्रचंड शक्ति से भयभीत रहा है। साधारण पुरुष ही नहीं धर्मग्रंथों के रचयिता, ऋषि, मुनि, महात्मा, परम धर्मात्मा पुरुष व संतों आदि ने अपने साहित्य व धर्मग्रंथों आदि में स्त्री को माया, महाठगिनी, त्रियाचरित्र, कुलटा, साधना मार्ग की बाधा, काम की जननी बताते हुए पुरुष वर्ग को सचेत रहने के लिए कहा है। पुरुषों के सम्मुख सबसे बड़ी प्रतिद्वंदी स्त्री रही है। जिससे हारना उसके पौरुष के लिए सदा असहनीय रहा है। अत: साम-दाम-दंड-भेद से स्त्री पर आधिपत्य स्थापित करने में पुरुष सदा ही अपना पुरुषार्थ समझता है। धर्म जहाँ मानव मुक्ति का पथ रहा है वहीं स्त्रियों के लिए पैरों की बेडियाँ बन गया। धर्म के नाम पर स्त्रियों का शोषण हर युग में होता रहा है। धर्म के नाम पर कभी स्त्री को अग्नि में समर्पित कर दिया जाता है, तो कभी मंदिरों में दान दे दिया जाता है। पुरुष बड़ी चतुराई से स्त्री-शोषण के नवीन आयामों का सृजन करता रहा है।

मधु कांकरिया लिखती है कि 'स्त्रियों पर होने वाले सभी अन्यायों को धर्म की चादर से ढाप दिया गया क्योंकि जहाँ धर्म है वहाँ सब-कुछ वरेण्य है चाहे वह सती-प्रथा हो, बहु-पत्नी प्रथा हो या देवदासी प्रथा।'[9]

भारतीय समाज में संस्कारों को प्रधानता दी गई है। भारतीय संस्कारों में स्त्रियों के लिए कठोर नियमों का निर्माण किया गया है। सामाजिक मान्यताओं में नारी के सतीत्व पर बहुत बल दिया गया है। यदि किसी कारण स्त्री अपने सतीत्व की रक्षा नहीं कर पाती तो फिर उसकी मुक्ति का कोई रास्ता नहीं बचता। प्राय: जिन समाजों में यौन-संबंधी मानक कठोर व दोहरे होते हैं उसमें यौन-संबंधी इन मानदंडों का उल्लंघन करने पर स्त्रियों के साथ कठोर व्यवहार किया जाता है। हमारे यहाँ के सारे विधान, सारे वेद, सारे पुराण, सारे नियम तो पुरुषों द्वारा ही रचे गए हैं इसलिए

इनसे न्याय की आशा ही नहीं की जा सकती। मधु कांकारिया स्त्री को धोखे, छल, बलात्कार, धार्मिक-पाखंड व अपहरण द्वारा वेश्या-जीवन की दलदल में धकेल देने के खिलाफ है। वह इस व्यवहार की कड़ी आलोचना करते हुए समाज को प्रश्नों के कटघरे में खड़ा कर उसकी सोई चेतना को झकझोर देने का प्रयास करती है।

मधु कांकरिया पाश्चात्य देशों से स्त्री के प्रति करुणामयी व्यवहार की आशा नहीं करती क्योंकि वह मानती है वे इतने भावना प्रधान देश नहीं। परंतु भारत के विषय में उनकी मान्यता है कि 'यह देश! चारों वेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण एवं अर्थशास्त्र की रचना करने वाला, नैतिक एवं मानवीय प्रेम के सर्वोच्च धरातल पर खड़े कबीर, विद्यापति, सूर, तुलसी, कालिदास, तानसेन एवं भवभूति को जन्म देने वाला यह देश! लोगों के हृदय में रस और आत्मा में चैतन्य उड़ेलनेवाला यह देश! उसी देश में बच्चियों को इस प्रकार संपूर्ण अप्राकृतिक ढंग से बच्ची से औरत बनाया जा रहा है! पुरुषों के भोग के लिए तैयार किया जा रहा है! क्या कल के इतिहासकार लिखेंगे भारतीयों की इस बेशर्मी को या इसे भी फास्ट फारवर्ड कर दिया जाएगा? कौन दंड देगा समय के इन अपराजय शैतानों को? हिंदुस्तानियों की इस लज्जाहीनता को? ठंडे पड़ चुके उनके खून को! जंग खाई आत्मा को? आजादी की स्वर्ण जयंती के अवसर पर जो इतिहास पढ़ा था उसमें, उसमें तो सिर्फ इस देश की उपलब्धियों का ही जिक्र था... कौन आगे आकर तोड़े नपुंसकता के इस धनुष को?'[10]

संस्कृति और परंपराओं की दुहाई देने वाले देश में अपनी 'जन्मदात्री' को ही कोख में मार डाला जाता है। बेटी को कन्या, देवी, शक्ति का प्रतिरूप मान हर मांगलिक अवसर पर पूजन करने वाली संस्कृति कन्या को धरती पर आने ही नहीं देना चाहती क्योंकि बेटी को पराया धन मानने वालों ने उसे कभी हृदय से अपना माना ही नहीं। बेटी के जन्म लेते ही उसे यही सिखाया व समझाया जाता है कि वह पराए घर की अमानत है। उसके हँसने, बोलने, चलने, फिरने, देखने तक पर अनेक पाबंदियाँ लगा दी जाती हैं। हमारी जड़ परंपराओं में कभी उसे जन्म लेते ही पानी में डुबोकर, कभी रेत की पोटली से दम घोटकर, कभी जहर देकर, तो कभी जिंदा ही धरती को समर्पित कर दिया जाता है। आजकल लिंग परीक्षण की नवीन तकनीकों के चलते उसे गर्भ में ही समाप्त कर दिया जाता है।

मधु कांकरिया भ्रूण हत्या को समाज पर लगे कलंक की तरह मानती हैं। यदि स्त्री आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर होती है तो उसके कोख में पल रहे भ्रूण पर भी पुरुष का अधिकार होता है, उसके जीवन-मरण का निर्णय वही लेता है। मधु कांकरिया द्वारा रचित 'पॉलिथिन में पृथ्वी' कहानी की नायिका अपने पति से अपने गर्भवती होने की बात छुपा लेती है। पाँच महीने बाद जब उसके पति को पता चलता है तो वह उस पर गर्भपात करवाने का दबाव बनाता है। 'सोनोग्राफी करवा लेते हैं। यदि लड़का हुआ तो तुम्हारी किस्मत पर यदि लड़की हुई तो गर्भपात। यदि तुमने इस पर भी अपनी जिद रखी तो सोच लो मैं... मैं... इसकी परवरिश के लिए धेला भी नहीं दूँगा...और तो और मैं उसे देखने तक नहीं आऊँगा क्योंकि वह सिर्फ तुम्हारी मर्जी से ही होगी, इस कारण उसकी जिम्मेदारी तुम्हारी और सिर्फ तुम्हारी होगी। एक शाम मैंने जानबूझकर अंकुरित चने की सब्जी बनाई, मैं जानती थी कि अपने जैन संस्कारों के चलते अश्विन कभी भी अंकुरित चनों को उबालने नहीं देता था। वह कहता था 'इसमें लाइफ है'। जैसे ही थाली में उसने अंकुरित उबले चने देखे, उसने थाली फेंक दी 'कैसे संस्कार वाली लड़की हो तुम? कितनी बार बताया तुम्हें कि अंकुरित

चनो में जान होती है कैसी पापिन हो तुम कि अंकुरित चने को ही उबाल दिया।' मैं फूट पड़ी–वाह! क्या धर्म! अंकुरित कोख को उजाड़ते जिन्हें लाज नहीं आती वे अंकुरित चने की वकालत कर रहे हैं।'[11]

मधु कांकरिया विवाह संस्था का पूरी तरह निषेध तो नहीं करती लेकिन उनके कथा साहित्य में अधिकांश विवाहित जोड़े आदर्श पति-पत्नी के नहीं है स उनके अनुसार स्त्री जितनी आत्मनिर्भर होगी, अधिकार संपन्न होगी, उतना ही वह वैवाहिक प्रतिबंधों को अस्वीकार करेगी क्योंकि सामाजिक विकास के साथ वह पुरुषों से समान अधिकार व सम्मान की चाहत रखेगी। पुरुष सत्ता, कभी भी स्त्री को बराबरी के पायदान पर देखना नहीं चाहती। परिवार की आर्थिक उन्नति में समान भागीदारी, परिवार चलाना, संतानोत्पत्ति के साथ उस संतान का भरण-पोषण यदि सभी कार्यों में स्त्री की समान भागीदारी है तो परिवार में उसका स्तर भी पुरुषों के बराबर का होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता। समाज कभी भी स्त्री को पुरुषों के समान प्रतिष्ठा व सम्मान नहीं देता। आर्थिक रूप से संपन्न स्त्री पुरुष का साथ चाहती है, एक दोस्त चाहती है, परंतु वैवाहिक जीवन में उसका शासन व अंकुश नहीं स्वीकारती। अपने कथासाहित्य में उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया है। दांपत्य प्रेम की भावना परिवार में दोनों की स्वतंत्र सत्ता, समानता व दोस्ती की भावना से उपजेगी। वर्तमान में वैवाहिक संस्थाओं का टूटना परिवार में कलह आदि पति-पत्नी द्वारा अपनी-अपनी सर्वोच्चता की प्रतिष्ठापना है। आधुनिक नारी को पति सहयोगी, मित्र, प्रेमी के रूप में चाहिए शासनकर्ता के रूप में नहीं।

भारतीय संविधान स्त्री व पुरुषों को समानता का अधिकार देता है। संविधान में पैतृक संपत्ति पर बेटियों को समान अधिकार प्रदान किया गया है लेकिन समाज बेटी को पैतृक संपत्ति में हिस्सेदार बनाने के खिलाफ रहा है। समाज को भी यह देखने की आदत नहीं कि स्त्री संपत्ति में अपनी अधिकारों की माँग करें। जो स्त्रियाँ पिता की संपत्ति में अपने अधिकारों की माँग करती हैं उन्हें दुष्ट समझा जाता है। स्त्री का विवाह कर माता-पिता, भाई अपने कर्त्तव्यों से मुक्ति चाहते हैं। यदि बेटी अविवाहित रहना चाहे तो उसे विवाह के लिए मजबूर किया जाता है। उसे पुत्र के समान सम्मान व अधिकार नहीं दिया जाता। 'खुले गगन के लाल सितारे' उपन्यास की नायिका मणि विवाह नहीं करना चाहती। मणि की माँ व भाई उसे विवाह को लेकर निरंतर ताने देते हैं–'बेटी पराया धन, दूसरों की अमानत, मरे न माथा छोड़ें, ठीक से रहो वरना... की शब्दावली का प्रयोग होने लगा तो पहली मर्तबा स्वयं को शरणार्थी की सी मानसिकता से ऊपर उठा, अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उसने वह माकूल जवाब दिया 'मैं यहाँ न आपके रहमो-करम पर हूँ न अम्मा कें संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार है... किसी भी अविवाहित पुत्री को अपने पिता के घर आजीवन रहने का। हिंदू कोड बिल ने हिंदुस्तानी नारी को संसार भर में सर्वाधिक अधिकार दिए हैं, यह अलग बात है कि यहाँ की महिलाएँ खुद अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत नहीं, रही बात शादी की तो इस दायित्व से मैं आप दोनों को मुक्त करती हूँ...।'[12]

स्त्री जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत तक पग-पग पर यौन उत्पीड़न की शिकार होती है। स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है न घरों में, न दफ्तरों में, न सड़कों पर, न ही धार्मिक मठों में, न जंगलों में। मधु कांकरिया के कथासाहित्य में स्त्री पात्र अपने परिवेश में जीवन की जद्दोजहद से टकराते, अपनी अस्मिता की लड़ाई को लड़ते हुए लहूलुहान होते तो कभी उस लड़ाई में विजय हासिल करते दिखाई पड़ते हैं। 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में संघमित्रा के दफ्तर में काम करने वाला मि॰ मेहता

उसके साथ अश्लील हरकत करता है। संघमित्रा इसकी शिकायत अपने बॉस से करती है, बॉस उसे ही समझाते हैं कि 'रिलैक्स मिस मित्रा एतना टची मोत बनो। इत्ता-सा बात का इतना लफड़ा मौत बनाओ, तुम्हें अभी बहोत आगे बोढ़ना है। वेदना से तर शब्दों में जवाब दिया उसने–हाँ सर, इतनी सी ही तो बात है एक अदना-सी स्टाफ की अदना सी इज्जत। अपराध तो सिर्फ बलात्कारी और हत्यारे ही करते हैं। इन चमचमाते अफसरों की ये सूक्ष्म कमीनी हरकतें अपराध थोड़े ही हैं। ये इनका चारित्रिक पतन नहीं, हल्का-फुल्का दिल बहलाव है और हमें इसका आदी हो जाना चाहिए। इसलिए जिस अपमान ने मुझे हिला डाला, आपको एक हिचकी तक नहीं आई...क्योंकि आधुनिकता की इस चकाचौंध ने आपको इतना मोटा देखने का अभ्यस्त बना डाला है कि नारी स्वाभिमान और सम्मान की ये बारीक हरकतें आप लोगों को दिखाई ही नहीं पड़ती। अपमान की यह रोटी मुझसे तो नहीं निगली जाएगी जब तक धरती का वह गंदा धब्बा मुझसे माफी नहीं माँग लेता मैं यहाँ काम नहीं कर पाऊँगी... न्याय का सूरज अगर उगाना होगा तो आसमान की ओर छलांग मारने की चोट भी खानी ही पड़ेगी।'[13]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्त्री के पक्ष में चाहे कितने ही विमर्श खड़े हो जाएँ, कितने ही स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री समानता के नारे लगा लिए जाएँ, जब तक स्त्री स्वयं अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं होगी उसकी मुक्ति संभव नहीं। समाज में स्थान व सम्मान पाने के लिए उसे शिक्षित हो अपने-आपको आर्थिक रूप से मजबूत करना होगा। उसे संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों को समझना होगा, स्त्री को अपने दायित्वों व कर्त्तव्यों के साथ अपने अधिकारों को भी समझना होगा, स्त्री को स्वाबलंबी बनना होगा, पुरुषों पर निर्भरता को समाप्त करना होगा, स्त्री को अपने मन में अधिकार व सम्मान की अग्नि को प्रज्वलित करना होगा। अधिकार कभी भी दूसरों द्वारा प्रदान नहीं किए जाते उन्हें संघर्ष करके प्राप्त किया जाता है। स्त्री को स्त्री के प्रति ईर्ष्या नहीं, बल्कि सहयोग के भाव उत्पन्न करने होंगें उसे पुरुष सत्ता व धर्म सत्ता के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना होगा। इस समाज में जो अपना कल्याण नहीं कर सकता वह कभी भी सम्मान का अधिकारी नहीं बन सकता। स्त्री को अपने कठिन परिश्रम व उच्च जिजीविषा से सामाजिक परिवर्तन का आह्वान करना होगा।

संदर्भ

1. मधु कांकरिया, सलाम आखरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2016, पृ॰ 136
2. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्श समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृ॰ 24
3. राजेंद्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001, पृ॰ 227
4. मधु कांकरिया, खुले गगन के लाल सितारे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2017, पृ॰ 133
5. मधु कांकरिया, सलाम आखिरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2016, पृ॰ 41
6. कल्पना वर्मा, महिला लेखन के संदर्भ में, स्त्री विमर्श : विविध पहलू, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009, पृ॰ 256
7. महादेवी वर्मा,शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ॰ 97
8. तसलीम नसरीन, औरत के हक में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 99
9. मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवर्ती 2010, पृ॰ 140

10. मधु कांकरिया, सलाम आखरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2016, पृ॰ 115
11. मधु कांकरिया, कहानी संग्रह: दस प्रतिनिधि कहानियाँ, पॉलिथीन में पृथ्वी, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पृ॰ 142-143
12. मधु कांकरिया, खुले गगन के लाल सितारे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2017, पृ॰ 157
13. मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवर्ती, 2010, पृ॰ 158-159

स्नेह लता पुत्री श्री धन सिंह
प्लाट नंबर 32, **सिद्धार्थ विहार,**
60 **फीट रोड, अलवर, (राजस्थान)** 301001
मो॰ 861956470, 9717740655
sneh1984niranakri@gmail.com

प्रगतिवाद के अहाते से गुजरती मुंशी प्रेमचंद की कहानियाँ

डॉ॰ श्याम मनोहर पाण्डेय
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, सेहमों, बस्ती (उ॰प्र॰)

जनवादी साहित्य प्रगतिशील साहित्य की विचारधारा का पोषक रहा है। वह आम व्यक्ति के जीवन-संदर्भों को रेखांकित करता है। समाज की चिंता करने वाला साहित्यकार अपने समय के यथार्थ एवं उसकी प्रवृत्ति को रचना का कथ्य बनाता है जिससे समाज में सृजनशीलता के गुण अपने प्रगतिगामी रूप में हमारे सामने उपस्थित हो सकें; क्योंकि साहित्य मानव-जीवन से संपृक्त है। वह आज तथा आने वाली पीढ़ी को जीवन जीने की प्रेरणा देता है।

साहित्यकार समाज का सबसे ज्यादा संवेदनशील व्यक्ति है। वह अपने आस-पास की स्थिति-परिस्थिति और अंतर्विरोधों को देखकर न केवल बेचैन होता है; बल्कि मन की विकलता को साहित्य में जगह भी देता है। वह एक प्रहरी की भाँति समाज की अच्छाई और बुराई में फर्क करके समाज को सही दिशा देने का काम भी करता है। अभौतिकीय तत्त्वों से उत्पन्न समस्याओं की खोज साहित्यकार (प्रगतिवादी रचनाकार) भौतिकी रूप में करने का प्रयास करता है; क्योंकि प्रगतिशील साहित्य मार्क्सवादी-दर्शन से अनुप्राणित है। वह किसी समस्या को समझने और उसके निदान के लिए धर्म को माध्यम न बनाकर; बल्कि वैज्ञानिक-चेतना को बनाता है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी रचनाएँ तर्क और वैज्ञानिक तत्त्वों को माध्यम बनाकर आगे बढ़ी हैं– 'प्रगतिवाद ने हिंदी समीक्षा को व्यक्तिनिष्ठ, भाववादी, पूर्वग्रह तथा जड़ता से मुक्त करके उसके स्थान पर स्वस्थ वैज्ञानिक, बोधगम्य, वस्तुनिष्ठ और जन-कल्याणकारी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति की प्रतिष्ठा की।'[1]

प्रगतिशील कहानीकार व्यक्ति की समानता का हिमायती है। वह अपनी कहानियों में वर्ग-विहीन समाज की संकल्पना को लेकर आगे बढ़ता है। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामंतवादी सोच से पीड़ित आम व्यक्ति के जीवन का यथार्थ चित्रण उनकी कहानियों में मिलता है। प्रगतिवादी रचनाकार यह मानता है कि जनता की अज्ञानता और असंगठनशीलता ही उसकी शोषण का प्रमुख कारण है। उसे अपनी मुक्ति के लिए शिक्षित एवं संगठित होने की जरूरत है।

प्रगतिशील कहानियाँ वर्ग-विहीन एक ऐसे समाज को रेखांकित करती हैं, जहाँ धर्म के आधार पर कोई छोटा या बड़ा नहीं है। उत्पादन के प्रत्येक साधनों पर सबका समान अधिकार होने से समाज में समानता के रूप दिखाई पड़ेंगे। यहाँ व्यक्ति किसी देवत्त्व गुणों से पूर्ण नहीं है; बल्कि वह सामान्य नर-नारी के रूप में चित्रित किया गया है। रामधारीसिंह 'दिनकर' ने इसी बात को अपनी कविता 'जनतंत्र का जन्म' में सरलता के साथ चित्रित किया है–

आरती लिए तू किसे ढूँढता है मूरख
मंदिरों राज-प्रसादों में, तहखानों में?

देवता कहीं सड़कों पर मिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।[2]

प्रगतिशील कहानीकार स्वामी-सेवक के भाव को दरकिनार करके समानता पर बल देता है। जो व्यवस्था किसी समाज और समय में बोझ के समान लगने लगे तो उसे ढोना ठीक नहीं है। उसे बदलने से ही समाज की स्थिति और परिस्थिति में परिवर्तन होगा। इसके लिए व्यक्ति को प्रगतिशील विचारधारा को ग्रहण करना ही होगा। डॉ॰ सुधाकर गोकाककर 'मार्क्सवाद और हिंदी कहानी' में लिखते हैं कि 'कहानियाँ समाजवादी समाज के लक्ष्य की दिशा में एक कदम के रूप में जनता के जनवाद को हासिल करने के लिए शासक-वर्गों के खिलाफ अपने संघर्ष में मजदूरों, किसानों, मेहनतकश जनता के सभी तबकों और प्रगतिशील जनवादी शक्तियों का मार्ग-दर्शन करती हैं।'[3]

आधुनिक भारत के विकास की संकल्पना, समानता एवं भाईचारे के विकास के रूप में की गई थी। ऐसा भारत जिसमें सभी धर्मों, जातियों, वर्गों एवं समुदायों में समानता के गुण निहित हो; किंतु ऐसा संभव हो न सका। आधुनिक भारत में पूँजीपतियों के नेतृत्व में शासन की व्यवस्था पल-बढ़ रही है। शासन पूँजीवादी व्यवस्था को बढ़ाने के लिए विदेशी पूँजी को प्रश्रय देती है। प्रगतिशील कहानीकार इस छद्म-वर्गीय लोगों को आधार बनाकर कहानियाँ लिखता है। प्रगतिशील रचनाकार साहित्य को जनता का साहित्य बताता है। प्रगतिशील लेखकों ने आवाज लगाई कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य जनता को संघर्ष के लिए शक्ति देना तथा उस संघर्ष में विजय प्राप्त करके मुक्त होने के मार्ग को दिखाना है।'[4] यही कारण है कि प्रगतिशील रचनाकारों ने साहित्यिक-धर्म के एक नए स्वरूप को जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद, यशपाल, नागार्जुन भैरवप्रसाद गुप्त, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, भीष्म साहनी, शेखर जोशी और अमरकांत आदि रचनाकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से आम व्यक्ति के यथार्थ का चित्रण किया है।

प्रेमचंद आम व्यक्ति के कथाकार हैं। उनकी पूरी रचना व्यक्ति-पीड़ा के आस-पास घूमती हुई नजर आती है। सामंती एवं महाजनी व्यवस्था में पिस रही जनता का यथार्थ उनकी कहानियों का उप-जीव्य विषय बना है। 'पूस की रात' और 'कफन' आदि उनकी इस संदर्भ में उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। इन कहानियों में प्रेमचंद अपने आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से पूरी तरह कट कर यथार्थ के धरातल पर खड़े दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचंद की 'कफन' कहानी व्यक्ति की संरचना के यथार्थ को ही प्रस्तुत नहीं करती; बल्कि पूरे हिंदी कहानी की रचना-विधान को ही बदलकर रख देती है। कहानी ग्रामीण-परिवेश को आधार बनाकर लिखी गई है, जिसमें आर्थिक-शोषण की शिकार बुधिया की मृत्यु हो जाती है। वह भी तब जब बुधिया प्रसव-पीड़ा से जूझ रही है। 'झोपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अंदर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। ...जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, गाँव अंधकारमय हो गया था।'[5]

आर्थिक-विपन्नता घीसू, माधव और बुधिया के बीच के रागात्मक संबंधों को न केवल कमजोर करती है; बल्कि आहत भी करती है। कहानी में घीसू और माधव कई दिनों से भूखे हैं। वे कहीं से आलू चुराकर लाए हुए हैं जिसे आग में भून रहे हैं। उसी समय बुधिया प्रसव-पीड़ा से घर के अंदर कराह रही है। इधर बाप-बेटे दोनों एक-दूसरे को यह कहते हैं जाकर अंदर देख लो वह प्रसव-पीड़ा से कराह रही है। दोनों अलग-अलग समस्या बताकर अंदर बुधिया को देखने नहीं

 ISSN 0975-735X

जाते। वजह साफ था कि उस समय उन दोनों के लिए अपनी भूख मिटाना पहली प्राथमिकता थी। 'माधव को भय था कि वह कोठरी में गया तो भी घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा।'[6] कहानी में पति-पत्नी का रागात्मक संबंध भूख के आगे कमजोर पड़ जाता है। भूख के आगे व्यक्ति सारे संबंधों को कैसे ताख पर रखकर पाशविक वृत्तियों को धारण कर लेता है—घीसू और माधव इसके उदाहरण हैं।

कहानी में गाँव वाले चंदा करके दोनों को कफन लाने के लिए पैसे देते हैं, लेकिन यह दोनों कफन तो लाते नहीं बावजूद इसके शराब, मिठाई और भरपेट भोजन करने के बाद बुधिया को पुण्यात्मा बताते हैं। वह मरकर भी इन दोनों की भूख और प्यास को मिटा दी थी। स्पष्ट है कि कहानी में रागात्मक संबंधों की जगह अर्थ केंद्र में है, जिसकी वजह से कहानी में संबंध सिर्फ नाम-मात्र के रह गए हैं।

प्रेमचंद की दूसरी कहानी है—'पूस की रात', जिसमें निष्क्रियता में भी एक नयापन दिखाई पड़ता है। इस कहानी में भी आर्थिक-विपन्नता का चित्रण किया गया है। पूस की ठंड से बचने के लिए जो पैसे हल्कू ने रखे थे वह भी सहना को देकर किसी तरह कर्ज से पीछा छुड़ाता है—कर्ज से गला छुड़ाने के चक्कर में वह भूल जाता है कि खेत में कंबल के बिना पूस की रात काटना मुमकिन नहीं है। वह भविष्य की चिंता छोड़कर वर्तमान में उसे साहूकार की गाली न सुननी पड़े इसलिए वह पैसा सहना को दे देता है। 'बला से जाड़ों में मरेंगे, बला तो सिर से चली जाएगी।'[7] हल्कू जुझारू प्रवृत्ति वाला व्यक्ति है। उसमें समझौते का स्वर नहीं है; बल्कि विद्रोह का स्वर है। वह कहता है—'यह खेती का मजा है! और एक भगवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाए तो गरमी से घबड़ाकर भागे। मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ, कंबल। मजाल है, जाड़े का गुजर हो जाए। तकदीर की खूबी है! मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें।'[8]

प्रेमचंद ने यह व्यथा सिर्फ हल्कू की ही नहीं बताई है; बल्कि हल्कू के बहाने समस्त किसानों की समाजार्थिक-स्थिति को दर्शाने की कोशिश की है। हल्कू शोषणकारी-व्यवस्था के प्रति विद्रोह करना चाहता है, पर कर नहीं पाता। वजह साफ है कि वह जिस वर्ग का है उसमें संगठन का अभाव है; इसलिए वह मौन विद्रोह करता है। 'जबरा अपना गले फाड़े डालता था, नील गायें खेत का सफाया किए डाल डालती थीं और हल्कू गरम राख के पास शांत बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भाँति उसे चारों तरफ जकड़ रखा था।'[9]

प्रेमचंद ने इस कहानी में हल्कू और जबरा (कुत्ता) के बीच हमदर्दी को रेखांकित करने की कोशिश की है। जबरा प्रेमचंद की इस कहानी का अविस्मरणीय प्राणी-चरित्र है। पूस की सर्द भरी रात में हल्कू को जब कोई उपाय दिखाई नहीं दिया तो वह जबरा का सहारा लेता है। वह कुत्ते की दुर्गंध से बेखबर उसे अपनी गोद में सुलाकर ठंड से बचने का जतन करता है। जबरा शायद यह समझ रहा था कि स्वर्ग अगर कहीं है तो यही हैं और हल्कू की पवित्र आत्मा उस जानवर के भेद को मिटा देती है।

पूस की रात कहानी सिर्फ एक किसान के जीवन की त्रासदपूर्ण कहानी नहीं है; बल्कि समस्त किसानों के दर्द को बयान करती है। हल्कू अपनी माली स्थिति से वाकिफ है, बावजूद इसके कि वह व्यवस्था से लाचार है। व्यवस्था के खिलाफ उसमें संगठित होने की क्षमता नहीं है। ...पूस की ठंड को दूर करने के लिए उसके पास कोई साधन नहीं है। वह मेहनतकश है, पर काम या मुनाफे पर उसका अपना कोई अधिकार नहीं है। अधिकार किसी दूसरे व्यक्ति का है, जो न तो

काम करता है और न ही खेत-खलिहान में पसीना बहाता है। वह जीवन-भर सुखी है। गर्मी-ठंडी और बरसात को काटने के सारे साधन उनके पास है। अर्थात् समाज दो भागों में विभाजित है–एक सुविधासंपन्न स्वार्थ भोगी है और दूसरा साधनहीन मूक और स्वप्नदर्शी।

प्रेमचंद जानते हैं कि आर्थिक-विषमता को दूर किए बिना समाज में सामाजिक समानता का आना संभव नहीं है। पर साधनहीन व्यक्ति के पास इस व्यवस्था को बदलने के लिए कोई दूसरा विकल्प नहीं है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में ज्यादातर पात्र खुद अपना प्रतिरोध करते हुए नजर आते हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ नामवर सिंह, आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ॰ 25
2. https://apnacoolschool.com/wp-content/uploads/2021/03/10-hindi-ch-4.pdf
3. डॉ॰ सुधाकर गोकाककर, मार्क्सवाद और हिंदी कहानी, पृ॰ 28
4. डॉ॰ रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मापदंड, पृ॰ 63
5. कुमार कृष्ण (सं॰) प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ॰ 85
6. वही, पृ॰ 86
7. डॉ॰ विजय लक्ष्मी (सं॰) कहानी एकादशी, पृ॰ 35
8. उपर्युक्त, पृ॰ 39
9. उपर्युक्त पृ॰ 39

 ISSN 0975-735X

सेठ गोविंद दास के नाटकों की प्रासंगिकता

डॉ॰ ऐश्वर्या झा, असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्य और साहित्यकार कालातीत होता है। साहित्य की उपादेयता और प्रासंगिकता ही उसे कालातीत बनाती है। साहित्य की हर विधा तत्कालीन युगीन परिवेश, प्रसंग, स्थितियों से यथार्थ का चित्रण करता है। किसी भी युग में चित्रित हुए तथ्य मात्र उस युग का ही नहीं बल्कि भूत, वर्तमान और भविष्य का प्रतिनिधित्व करने वाला होता है। अत: साहित्य में व्यक्त हर तथ्य युगों से परे मार्गदर्शक होता है। साहित्यकार अपने युगीन परिवेश सामाजिक-राजनीतिक, सांस्कृतिक पहलुओं के साथ जुड़ा होता है इसलिए उसका साहित्य सर्वकालिक प्रासंगिक होता है। नाटककार सेठ गोविंददास का कृतित्व इस संदर्भ में सर्वथा सटीक प्रमाणित होता है। एक ओर इन्होंने सामाजिक जीवन की समस्याओं से प्रभावित होकर सामाजिक समस्यामूलक नाटक एवं एकांकी लिखे हैं तो दूसरी ओर इतिहास पुराण की आधुनिक युग जीवन के संदर्भ में व्याख्या की है। कर्त्तव्य, कर्ण, शशि गुप्त, शेरशाह, अशोक, विजयवेलि, कुलीनता, पतित सुमन, प्रकाश, प्रलय और सृष्टि, सिंहलद्वीप आदि अन्य अनेक नाटकों की रचना कर सेठ गोविंददास ने लेखक के रूप में अपनी भूमिका को सार्थक किया है। अपने नाटकों के प्रणयन में स्व जागरण के प्रति निष्ठा भाव एवं अगाध राष्ट्रीय भावना ही प्रबल रहीहै। राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति, स्त्री अस्मिता की पहचान, सांस्कृतिक जागरण जैसे प्रासंगिक मूल्यों को लेकर ही सेठ जी ने 'हर्ष' नाटक की रचना की। हर्ष का उद्देश्य राष्ट्र का उत्थान है। वह स्वयं को देश सेवा में समर्पित कर देना चाहता है। हर्ष नाटक में उन्होंने तत्कालीन युग का यथार्थ चित्र अंकित किया है। ऐतिहासिक होते हुए भी नाटक अपने समय से कहीं आगे का नाटक है। हर्ष राजा होकर भी प्रजातंत्र की प्रणाली पर राज्य शासन चलाता है। हर्ष का कथन है, 'मैं अपने को राज्य का संरक्षक मात्र मानना चाहता हूँ और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर। मैं अपने और अपने वंश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं मानना चाहता।'[1] स्त्री विमर्श भी इनके नाटकों के कथानक का आधार है। हर्ष नाटक में हर्ष राज्यश्री को शासन देकर समाज और राजनीति में स्त्री की सहभागिता को स्वीकारता है। नाटक में एक विधवा स्त्री को राज करने दिया जाता है और हर्ष उसका मांडलिक बन जाता है, 'मैं राज-काज में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने की परिपाटी चलाना चाहता हूँ। यदि पुरुष सिंहासनसीन हो सकते हैं तो स्त्रियाँ भी, विधवाएँ भी।'[2] स्त्री के सम्मान की रक्षा का स्वर भी नाटकों में दिखाई देता है। विधवा नारी के त्यागमय जीवन को लेखक ने समाज के लिए शुभ और मंगलमय माना है। 'उनका शुभ तथा मंगलकारी अवसरों पर उपस्थित होना अशुभ अमंगल? कृतघ्नता की सीमा होती है विधवाओं के प्रति समाज का यह निंदनीय व्यवहार, उनका यह नीच तिरस्कार-ओह असहनीय है।'[3] स्त्री के प्रति यह सोच अपने समय से कहीं आगे थी जहाँ सेठ जी विधवाओं के प्रति अपनी मानसिकता को बदलने की बात करते हैं।

सांप्रदायिक सद्भाव एवं हिंदू-मुस्लिम के भेद को समाप्त करने की दृष्टि से 'शेरशाह' अत्यंत महत्त्वपूर्ण नाटक है। राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने के लिए, स्वयं को सिर्फ 'भारतीय' मानने के लिए सांप्रदायिक सद्भावना हर युग में आवश्यक रही है। शेरशाह का जीवन, व्यक्तित्व देश को समर्पित है। नाटक में ब्रह्मादित्य को संबोधित करता शेरशाह भारतवर्ष के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित करता है। 'मैं हूँ हिंदू, इसी मुल्क में पैदा हुआ, यहीं की आबोहवा में पला, यहीं की मिट्टी से बना और इसी मिट्टी में मिलूँगा। यहाँ से बाहर देखने के लिए के लिए मेरे पास कुछ नहीं। हिंदुस्तान ही मेरे लिए सब कुछ है। यहाँ के रहने वाले चाहे वे किसी भी मजहबी मिल्लत के हों ,मेरे भाई बिरादर हैं।'[4] यह संवाद क्या किसी युग में अप्रासंगिक हो सकते हैं? सेठ गोविंददास जैसा नाटककार ही ऐसे चरित्र और संवाद की रचना कर सकता है जिसे किसी सीमा में बाँधा नहीं जा सकता।

राष्ट्र के नवनिर्माण और सांस्कृतिक उत्थान का स्वप्न तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक मनुष्य मनुष्य को समान दृष्टि से नहीं देखेगा। लेखक ने समानता की इस भावना को अपने नाटकों के माध्यम से दिखाया है। सेठ जी ने न सिर्फ अपने युग जीवन में व्याप्त विकृतियों, कुरीतियों को गहराई से समझा था बल्कि उन्होंने प्रासंगिक विषयों को लेकर नाटकों की रचना की। सेठ जी गांधीवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। राष्ट्र के नवनिर्माण और सांस्कृतिक उत्थान का सपना तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक सभी मनुष्य बराबर नहीं होंगे। यह बात सेठ जी भली-भाँति समझते थे। इस कारण उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था नाम पर होने वाले अमानवीय कृत्य का अपने नाटकों द्वारा विरोध किया। 'कर्ण' नाटक इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने नाटक के 'निवेदन' में स्पष्ट किया है 'कर्ण का जो प्रभाव बाल्यावस्था में मेरे मन पर पड़ा, वह अधिक गहरा होता गया और महाभारत के इस पारायण में कर्ण के चरित्र की जिस बात ने मेरे मन पर सबसे अधिक असर डाला वह थी उसकी लगातार द्वंद्वात्मक भावनाएँ तथा विकृतियाँ।'[5] सेठ जी की दृष्टि ने कर्ण के चरित्र के द्वारा युगानुकूल जीवन दृष्टि को प्रस्तुत करने के साथ साथ अपने प्रासंगिक युगातीत दृष्टि का भी परिचय दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था के नाम पर महाभारतकाल से ही नई प्रतिभाओं का शोषण होता रहा है जो किसी भी स्वस्थ समाज का परिचायक नहीं हो सकता। जाति व्यवस्था के नाम पर जो प्रताड़ना कर्ण भोगता है उसका लेखक ने समाज को संदेश देने में सशक्त प्रयोग किया है। युगानुकूल जीवन दृष्टि के अनुसार सेठ जी ने कर्ण नाटक की रचना की। कर्ण के चरित्र को नाटककार ने विपरीत परिस्थितियों में डालकर जीवंत बनाया है। अपने कुल का परिचय देने की उसे आवश्यकता महसूस नहीं होती है क्योंकि वीर का परिचय उसकी वीरता से होता है, वह स्वयं अपना परिचय बनाता है न कि जन्म से–'मुझे अपने कुल का परिचय देने की आवश्यकता ही नहीं, वह मेरे हाथ में नहीं। मेरे हाथ में है मेरा पौरुष तथा मेरा पौरुष ही मेरा सच्चा परिचय है। यदि वर्ण और वंश का महत्त्व है, तो वह तो भूतकाल को महत्त्व देना हुआ। अर्जुन को यदि अपने अतीत काल का गर्व है तो मुझे है वर्तमान एवं भविष्य का। मैं अपना वंश बनाऊँगा, मैं अपना वर्ण बनाऊँगा। आचार्य, मैं अपने पूर्वजों के कारण प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित नहीं होना चाहता, मेरे वंशज मेरे कारण यशस्वी होंगे।'[6] वर्तमान में जो जीता है, भविष्य तो अपने आप उसका होगा ही, यह संदेश कर्ण के व्यक्तित्व द्वारा सेठ जी ने अपने युग के प्रत्येक पौरुष संपन्न नवयुवक के प्राणों में फूँका है। आज के समय में भी यह संवाद समसामयिक है जहाँ मनुष्य मात्र अपने कार्यों से पहचाना जाना चाहिए न कि अपनी जाति या धर्म से।

 ISSN 0975-735X

सेठ गोविंददास के नाटकों की कथाएँ ,चरित्र भावनाएँ सभी में विविधता है और वे काल और समय की सीमा से परे हैं। 'विकास' नाटक संभवत: हिंदी का पहला स्वप्न नाटक है। इस नाटक में लेखक ने अपने कौशल से सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आधुनिककाल तक की कथा की प्रस्तुति की है। नाटक में यह प्रश्न उठाया गया है कि विकास के नाम पर यह विश्व उन्नति के पथ पर जा रहा है या सब-कुछ चक्र के समान घूम रहा है? नाटक में बुद्ध, अशोक, ईसा, गांधीजी जैसे चरित्रों को पुन: कल्पित किया गया है। प्राचीन कथाओं, युद्धों की विभीषिकाओं को दिखाकर विकास के यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। स्वयं लेखक ने इसे नाटक के स्थान पर नाटकीय संवाद कहा था। नाटक विकास की सार्थकता को तलाशता है।

शैशव को अति क्लांत कर, चढ़ विकास सोपान,
ज्ञान उच्चतम शिखर को प्रकृति नित्य गतिमान, गान में क्यों रोदन का भान?
अहो, यह प्रकृति बाल-छविवान![7]

'विश्व प्रेम' सेठ गोविंददास जी का पहला नाटक है। 1916 में लिखा गया यह नाटक उस समय लिखा गया जब समस्या-नाटक का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। इस नाटक में विश्व प्रेम और व्यक्ति प्रेम के अंतर और दोनों में विश्व प्रेम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। व्यक्ति प्रेम या विश्व प्रेम मानव मन की स्थाई समस्या है। नाटक के पात्र मोहन और रूपवती कथा में स्वांत: सुख से आगे बढ़कर सर्वजन हिताय की भावना तक पहुँचते हैं। दोनों भौतिक सुख सुविधाओं को त्याग कर सृष्टि को 'वसुधैव कुटुंबकम' के रूप में मान समस्त सृष्टि से प्रेम करते हुए सेवा कार्य में जुट जाते हैं।

इक्कीसवीं सदी में जब विश्व महामारी और युद्ध की विभीषिका को झेल रहा है ,यह नाटक आज भी विश्व प्रेम, विश्व शांति का संदेश दे रहा है। 'महत्त्व किसे' नाटक में त्याग और धन के संघर्ष को दिखाया गया है। नाटक का नायक कर्मचंद धनाढ्य युवक है जो अपना सर्वस्व आंदोलन में लगा देता है। जो लोग पहले उसकी चाटुकारिता में लगे रहते थे निर्धन होने पर उसके निंदक बन जाते हैं। उसकी पत्नी सत्यभामा हमेशा धन को महत्त्व देती है। वह कई हथकंडे कर पुन: धन कमा लेती है। वह इस विचारधारा का समर्थन करती है कि महत्त्व संपन्नता का होता है। त्याग से जिस दरिद्रता का वरण किया जाता है उसका नहीं। पुन: धनवान होने पर वह यही प्रश्न कर्मचंद से करती है और कहती है कि महत्त्व संपन्नता को है। कर्मचंद इसे नहीं मानता। नाटक का अंत तो इसी प्रश्न से होता है कि महत्त्व किसे। किंतु कर्मचंद का यह संवाद समाज को सीख देता है कि आदर्श हमेशा ऊँचे ही होते हैं। 'ध्यान रखना वे आदर्श जो ऊँचे हैं, पहुँच के परे होने पर भी ऊँचे ही रहेंगे, पर वे बातें जो नीची हैं हाथ में आ जाने पर भी नीची ही रहेंगी।'[8] इसी प्रकार 'संतोष कहाँ' नाटक संतोष की प्राप्ति की समस्या को दर्शाता है। संतोष को पाने के लिए नाटक का नायक मंशाराम जीवन की विभिन्न धाराओं में बहता है। आज के अति भौतिकतावादी समय में सब की जिंदगी भागते दौड़ते बीत रही है किंतु संतोष की प्राप्ति नहीं हो रही है। इस संदर्भ में यह नाटक प्रासंगिक है। 'कुलीनता' नाटक की पृष्ठभूमि अवश्य बारहवीं सदी की है किंतु उसमें उठाए गए प्रश्न हर युग में दिखाई देते हैं। नाटक में यदुराय गोंड अकुलीन होने के कारण कुलीन विजयदेव से तिरस्कार झेलते हैं और देश से निकल दिए जाते हैं। यदुराय की वीरता विजयदेव को अपनी पुत्री से उसका विवाह करने को विवश कर देती है। देशभक्त यदुराय को तथाकथित अकुलीन मानकर कुलीन वर्ग जो मानसिक पीड़ा उसे देता है उसका प्रत्युत्तर तीक्ष्ण शब्दों में रेवा सुंदरी देते हुए कहती है, 'देशभक्त मनुष्य

प्रकृति देवी का सपूत होता है जिसे तुम अकुलीन (यदुराय को)कहते हो, उसने उसी देश को स्वतंत्र करने का बीड़ा उठाया है जिसे तुमने विदेशियों के हाथों बेच दिया।'[9]

सेठ गोविंददास प्रसाद युग के अत्यंत सबल नाटककार हैं। एक ओर इन्होंने सामाजिक समस्याओं को आधार बनाकर सामाजिक समस्यामूलक नाटक लिखे हैं तो दूसरी ओर ऐतिहासिक-पौराणिक मिथकों को आधार बनाकर उनकी आधुनिक युग जीवन के संदर्भ में व्याख्या की है। राष्ट्रीय भावना के उद्‌बोधन के लिए उन्होंने इतिहास-पुराण का आश्रय लिया। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में एक राजनेता और साहित्यकार की दोनों भूमिकाएँ सफलतापूर्वक निभाई हैं। 'अपने ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु के चयन में वे विशेष जागरूक रहे हैं। अतीत को वर्तमान का पोषक एवं संवर्द्धक बन जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। ...सेठ जी ने भारतीय जीवन के दो बड़े भागों को पूरी निष्ठा के साथ जिया है। (1) स्वतंत्रता पूर्व स्वाधीनता की प्रबल भावना के साथ सक्रिय राजनीतिक एवं साहित्यिक जीवन साधना (2) स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय एकता को जीवंत रखने की युगीन भावना।'[10]

राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक मूल्यों, अखंड भारत का स्वप्न, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य, क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्रहित के भाव को पुष्ट करने के लिए उन्होंने भारत के स्वर्णिम अतीत को कथ्य बनाया। सेठजी भारतीय समन्वयवादी संस्कृति का उद्‌घोष करते हैं, ऐसे नाटक आज के वातावरण में भी एक सीख देते दिखाई देते हैं। इनकी प्रासंगिकता स्वत: सिद्ध है। सजग कलाकार युग परिवेश एवं समय के प्रभाव से खुद को अछूता नहीं रह सकता और ऐसा साहित्यकार युगों से परे होता है। सेठ गोविंददास ऐसे ही नाटककार थे जिन्होंने समकालीन परिदृश्य को तो ध्यान में रखा जिससे उनके नाटक समय की सीमा को पार कर सर्वथा प्रसांगिक हो गए।

संदर्भ

1. सेठ गोविंददास, हर्ष, महाकौशल साहित्य मंदिर, जबलपुर, 1992, पृ॰ 72
2. वही, पृ॰ 48
3. वही, पृ॰ 79
4. सेठ गोविंददास, शेरशाह, रामनारायण लाल बुक सेलर, इलाहाबाद, पृ॰ 8
5. सेठ गोविंददास, कर्ण, विद्या मंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, 2003, पृ॰ 3
6. वही, पृ॰ 9
7. सेठ गोविंददास, विकास, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग, 1998, पृ॰ 10
8. नाटककार सेठ गोविंददास, डॉ॰ प्रकाश शर्मा, साहित्य समारोह, 1972, पृ॰ 64
9. सेठ गोविंददास, कुलीनता, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, 1941, पृ॰ 93
10. प्रो॰ रमेश गौतम, हिंदी नाटक : मिथक और यथार्थ, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ॰ 329

Dr. Aishwarya Jha
193, Gangotri Apartment
F Block,Vikaspuri, Delhi 110018
Mob. 9810407023
aishwarya @ss.du.ac.in

समाज में मानवीय संबंधों को बढ़ावा देने के संदर्भ में सोशल मीडिया का उदय एवं दुरुपयोग

डॉ॰ एहतशामुद्धीन अंसारी
असिस्टेंट प्रोफेसर एंड हेड ऑफ डिर्पाटमेंट
कालेज ऑफ लॉ, आई॰आई॰एम॰टी॰ विश्वविद्यालय, मेरठ
डॉ॰ अर्शी अंसारी, एम॰ए॰ (राजनीति शास्त्र)

प्रस्तावना–अपनी स्थापना के बाद से मानव ने अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने और दूसरों को प्राप्त करने के लिए साधन बनाने की कोशिश की है। अपने विकास के प्रारंभिक चरण में मानव ने संचार के असभ्य साधनों का निर्माण किया और समय बीतने के साथ नियमित रूप से और लगातार उन्हें अपने साथी प्राणियों के प्रति आसान दृष्टिकोण के लिए परिवर्तित किया। सोशल मीडिया का निर्माण उनके परिश्रमी प्रयासों की परिणति है। मनुष्य के निरंतर और लगातार प्रयासों के परिणाम स्वरूप जनसंचार की वर्तमान व्यवस्था और सोशल मीडिया के तौर-तरीके एक अद्‌भुत उपलब्धि है। सोशल मीडिया एक मूल्यवान खोज है जिसने वैश्विक स्तर पर व्यक्तियों के बीच बातचीत और संचार की प्रक्रिया को बदल दिया है। आजकल, सोशल मीडिया मानव जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और व्यावसायिक घटकों सहित सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणाली के कई पहलुओं को प्रभावित कर रहा है। इस लेख में हम वैज्ञानिक सोच और तर्कसंगत दृष्टिकोण पर आधारित समाज को विकसित करने के लिए सोशल मीडिया के महत्त्व का वर्णन करने का प्रयास करेंगे। हम 21 सदीं के अस्तित्व में आई प्रमुख सामाजिक नेटवर्किंग साइटों के विकास पर ध्यान केंद्रित रखेंगे। इस लेख में हमें सोशल मीडिया की विभिन्न विशेषताओं के ऐतिहासिक विकास की जाँच करनी है। पिछले दशकों में सोशल मीडिया की अवधारणा, पैटर्न और सीमा पर चर्चा इस अध्ययन के दायरे में होगी। इस लेख में हम कई सामाजिक नेटवर्किंग साइटों के उद्‌भव की प्रक्रिया की जाँच करेंगे जिन्होंने शिक्षा, संगीत, खेल, सिनेमा और विभिन्न क्षेत्रों में असहमति रखने वाले लोगों के साथ संचार और बातचीत को आसान बनाने में उपयोगी भूमिका निभाई। सोशल मीडिया ने व्यापारिक लेन-देन और वाणिज्यिक विज्ञापनों के संचालन से व्यापार और व्यवसाय के माहौल को भी प्रभावित किया। इसलिए हम सोशल मीडिया के तौर-तरीकों के माध्यम से उत्पादों की स्वीकार्यता की गति पर एक नजर डालेंगे। सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन के विशेष संदर्भ में बच्चों और किशोरों के समाजीकरण पर सोशल मीडिया के प्रभाव का पता लगाना इस लेख के दायरे में होगा। क्या सोशल मीडिया सामाजिक एकता का प्रसार कर रहा है या कलह और संघर्ष का स्रोत है? हम इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास करेंगे। सोशल मीडिया के प्रचलन के कारण मानव समाज का नैतिक ताना-बाना कि सहादत कब बदल रहा है या गिर रहा है? यह सवाल परंपरा वादियों के दिमाग को परेशान कर

रहा है और इस तरह मानव व्यक्तित्व के विकास और सर्वोपरि विकास में सोशल मीडिया की भूमिका का आकलन करने की जरूरत है।

सोशल मीडिया का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य सोशल मीडिया डिवाइस मानव जाति के पिछले इतिहास में नाम मात्र के प्रतीत होते हैं। हम पिछले दशकों के दौरान इसके विकास का पता लगा सकते हैं क्योंकि यह उन लोगों के हितों को ध्यान में रखकर किया गया है। जो लोग कहीं अन्यथा व्यस्त हैं। यद्यपि सोशल मीडिया, सोशल नेटवर्क साइट्स और मानव जीवन का कंप्यूटरीकरण मानवीय संबंधों के संतुलन समीकरणों के विकास के लिए तुलनात्मक रूप से नई तकनीकें हैं, फिर भी हम जानते हैं कि सामाजिक संचार की धारणा पहले अलग-अलग उम्र के लोगों के लिए अच्छी तरह से जानी जाती थी। अपने विकास के शुरुआती चरणों में सोशल मीडिया की शुरुआत कंप्यूटर से नहीं हुई थी। हमने सोचा था कि टेलीग्राफिक सिस्टम लंबी दूरी पर संदेश भेजने और प्राप्त करने का पुराना तंत्र था। यह वर्ष 1792 था जब टेलीग्राफ की खोज हुई थी। सोशल मीडिया के ऐतिहासिक विकास ने यह स्पष्ट कर दिया कि 1800 के दौरान रेडियो और टेलीफोन सामाजिक संपर्क के लिए उपयोग किए जाने वाले महत्त्वपूर्ण उपकरण थे। यद्यपि टेलीफोन और रेडियो प्रसारण और स्वागत का एक स्रोत था, पुरानी पीढ़ी के मुकाबले, युवा, उद्यमी, पेशेवर और अन्य लोग सोशल नेटवर्क साइटों से आकर्षित हुए हैं और उनमें से कई ने इसे अपने दैनिक कामकाज की अनिवार्य विशेषता बना लिया है। 1990 के दौरान कई सोशल नेटवर्किंग साइट्स बनाई गईं। इन सोशल साइट्स के माध्यम से इच्छुक व्यक्ति सार्वजनिक नीति की वकालत के लिए बातचीत कर सकते हैं। इसके अलावा ब्लॉगिंग सेवाओं जैसे ब्लॉगर और एपिनियंस का उदय हुआ। हमने पाया कि संभवत: पहली स्पष्ट सोशल नेटवर्क साइट 1997 में लॉन्च की गई थी। उस समय सामान्य लोग जो सोशल नेटवर्क साइटों का उपयोग करने में रुचि रखते थे, अजनबियों से मिलने के पक्ष में नहीं थे। व्यापारियों, उद्योगपतियों और संगठन के वर्ग ने वाणिज्यिक और आधिकारिक संचार को बनाए रखने के लिए एक स्थायी उपकरण के रूप में अपनाया। 2000 का युग कई सामाजिक नेटवर्किंग साइटों के उद्‌भव का गवाह बना। '1997 से 2001 तक, कई सामुदायिक उपकरणों ने प्रोफाइल के विभिन्न संयोजनों और सार्वजनिक रूप से व्यक्त मित्रों का समर्थन करना शुरू किया। फेसबुक 2004 में मार्क जुकर बर्ग द्वारा अस्तित्व में आया था जिसका मिशन अलग-अलग पृष्ठभूमि वाले लोगों को एक साथ लाना और बातचीत को प्रोत्साहित करना था। जब हम सोशल नेटवर्क साइट के ऐतिहासिक विकास को देखते हैं तो हमें सार्वजनिक सोशल मीडिया और सोशल नेटवर्किंग साइटों की निजी प्रणालियों के कामकाज का सामना करना पड़ता है, मुख्य रूप से सुरक्षा चिंताओं के कारण, उद्यम में सोशल मीडिया को लागू करने के लिए एक अधिक सामान्य दृष्टिकोण घरेलू कार्यान्वयन के माध्यम से होता है। ऐसे ओपन सोर्स या प्रोपर्टी राइट्स सिस्टम द्वारा किया जा सकता है, या एक निजी आधार पर लागू किया जा सकता है, अर्थात् सॉफ्टवेयर एक सेवा के रूपमें '(सास)। यह कंपनी इंटरनेट पर स्थापित किया जा सकता था। 2005 में यू-ट्यूब बनाया गया था, जो वीडियो साझा करने वाली वेबसाइट थी, जो उपयोग कर्ताओं द्वारा उत्पन्न वीडियो सामग्री को देखने और साझा करने के द्वारा राष्ट्रीय सीमाओं से परे संपर्क बनाने की सुविधा प्रदान करती थी। ट्विटर सोशल मीडिया का दूसरा रूप है जिसे 2006 में माइक्रो ब्लॉगिंग के माध्यम से उपयोगकर्ता को जानकारी देने के लिए बनाया गया था। इसका काम एक मोबाइल फोन, एमपी 3 प्लेयर और इंस्टेंट मैसेंजर के फंक्शन को मिलाना है। व्हाट्सएप एक अन्य सोशल नेटवर्क साइट

है जो 2009 में सतह पर आई थी, जिसे जेनकूम और ब्रायन एक्टन ने पेश किया था। यह एक तेज संदेश वाहक है जो डिवाइस के उपयोगकर्ताओं को त्वरित संदेशों का संचार करता है। उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि यद्यपि सोशल मीडिया हाल ही में विकसित एक प्रक्रिया है, फिर भी इसने तेजी से यात्रा की है और डिजिटल मीडिया का उपयोग करने वाले आधुनिक संचार उपकरणों के रूप में थोड़े समय में उन्नति की लंबी दूरी तय की है।

सोशल मीडिया की अवधारणा

सोशल मीडिया की धारणा समाज की सूचना, ज्ञान, विचारों, नैतिक और कर्मकांडों को साझा करने के लिए एक दूसरे से और कई व्यक्तियों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए एक माध्यम के रूप में उपयोग किए जाने वाले वाहन की भावना को व्यक्त करती है। सोशल मीडिया के अर्थ के साथ-साथ हम खुद को सोशल नेटवर्क साइट्स और सोशल नेटवर्किंग के अर्थ से परिचित कराने का प्रस्ताव करते हैं। इसके अलावा हम सोशल मीडिया के संरचनात्मक और कार्यात्मक पहलुओं को देखेंगे। आधुनिक सोशल मीडिया, जैसा कि आज के परिदृश्य में उपयोग किया जाता है, पारंपरिक संचार तकनीकों से अलग है। सोशल मीडिया में इलेक्ट्रॉनिक संचार के रूप शामिल हैं। ये सोशल नेट वर्किंग और इंटरैक्शन के लिए वेबसाइटों के रूप में मौजूद हैं। इन इलेक्ट्रॉनिक मशीनों का उपयोग जानकारी, विचार, व्यक्तिगत संदेश और अन्य सामग्री साझा करने के लिए ऑनलाइन समुदाय बनाने के लिए किया जाता है।

सोशल मीडिया के कार्य में, जीवन के हर क्षेत्र में उत्पादक संबंधों की खेती भी है, चाहे वह बच्चे हों, किशोर हों, छात्र हों, शिक्षाविद हों, राजनेता हों, शासकवर्ग, बुजुर्ग आदि। लोग विदेश में रहने वाले, अपने अनुकूलन के दौरान और अपने घरेलू देशों से संबंध बनाए रखने के लिए मेजबान संस्कृति में अधिक एकीकृत होने के लिए नए सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं। सोशल मीडिया को दो-तरफा सड़क के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो उपयोग कर्ताओं को संवाद करने की क्षमता देता है। इस का मतलब है कि सोशल मीडिया संचार का एक साधन है। सोशल मीडिया को व्यापक कास्टिंग के लिए एक रणनीति और एक आउटलेट कहा जा सकता है। सोशल मीडिया की अवधारणा तब और स्पष्ट हो जाती है जब इसकी तुलना सोशल नेटवर्क साइट और सोशल नेटवर्किंग से की जाती है। यह तुलनात्मक अध्ययन शिमोन एडोसोमवान, सीतलक्ष्मी परकासन एट अल द्वारा किया गया है। उनके लेख में सोशल मीडिया का इतिहास और व्यवसाय पर इसका प्रभाव शीर्षक से।

उनकी खोज यह है कि सोशल नेटवर्किंग वाक्यांश का सामना किए बिना सोशल मीडिया का अध्ययन करना मुश्किल है। सोशल मीडिया अभी भी एक ऐसा मीडिया है जिसका उपयोग मुख्य रूप से व्यापक दर्शकों के साथ सूचना प्रसारित करने या साझा करने के लिए किया जाता है, जब कि सोशल नेटवर्किंग एक उपकरण और दूसरे के साथ जुड़ने की उपयोगिता है। यह जुड़ाव का एक कार्य है क्योंकि सामान्य हित वाले लोग एक साथ जुड़ते हैं और समुदाय के माध्यम से संबंध बनाते हैं। कोहेन को उनके बयान को प्रामाणिक बनाने के लिए उपर्युक्त लेख के लेखक द्वारा उद्धृत किया गया था। वास्तव में सोशल मीडिया संचार चैनल की एक प्रणाली मात्र है। दूसरी ओर यह एक तरफा संचार है, सोशल नेटवर्किंग दो तरफा संचार है, जहाँ बातचीत के केंद्र में है, और जिसके माध्यम से रिश्ते विकसित होते हैं। कई दिग्गजों को देखने के बाद इन लेखकों का मानना हैं कि समय पर प्रतिक्रियाएँ और पूछना और बताना तथ्य सोशल नेटवर्क और सोशल मीडिया के

बीच असमानता है। सोशल मीडिया कड़ी मेहनत है, और इसमें समय लगता है जिसमें आप व्यक्तिगत बातचीत को स्वचालित नहीं कर सकते जब कि सोशल नेटवर्किंग उपयोग कर्ता और लोगों के बीच सीधा संचार है जिससे वह जुड़ना चाहता है। इस तथ्य के बावजूद कि सोशल नेटवर्किंग में लोग ब्लॉग लिख सकते हैं या कुछ भी चर्चा कर सकते हैं सोशल मीडिया उपयोग कर्ताओं को व्यक्तिगत या व्यावसायिक लाभ के लिए टिप्पणियों में हेरफेर करने, त्रुटियों को ठीक करने या अन्य डेटा की अनुमति नहीं देता है।'

सोशल मीडिया के प्रतिमान और रूप

सोशल मीडिया का उपयोग नाटकीय रूप से बढ़ गया है, जिससे अरबों लोग उनकी अनिवार्य आवश्यकता बन गए हैं। वे विभिन्न साइटों के माध्यम से एक-दूसरे तक पहुँचते हैं। ये सोशल नेटवर्क साइट्स सामाजिक समर्थन प्रदान करने वाले लोगों के एक बड़े और अक्सर विषम नेटवर्क के साथ संबंधों के प्रबंधन के लिए महत्त्वपूर्ण उपकरण बन गए हैं। इस लेख के इस भाग में विभिन्न प्रकार के सोशल मीडिया जैसे सोशल नेटवर्किंग, सोशल नेटवर्क साइट्स, एंटरप्राइज सोशल मीडिया आदि पर चर्चा की गई है। हम सोशल मीडिया की प्रक्रिया को बेहतर ढंग से समझने के लिए कई उपकरणों और तकनीकों का चित्रमय वर्णन भी प्रस्तुत करेंगे। टेलीग्राफ, रेडियो, टेलीफोन और टेलीविजन के युग से गुजरने के बाद, सोशल मीडिया ने लोगों के बीच बातचीत और आपसी समझ विकसित करने के लिए और विकसित और चौंका देने वाले उपकरण बनाए हैं। इसके लिए उपयोग कर्ताओं को एक प्राकृतिक भाषा का उपयोग करके कमांड टाइप करने की आवश्यकता होती है। उपयोगकर्ता सॉफ्टवेयर अपलोड करने और डाउनलोड करने के लिए सिस्टम में लॉगइन करते हैं, समाचार पढ़ते हैं या दूसरों के साथ संदेशों का आदान-प्रदान करते हैं। इनबुलेटिन बोर्डों का उपयोग टेलीफोन लाइन के माध्यम से विनिमय के माध्यम से किया जाता था। यूजनेट पर उपयोग कर्ता लेख या समाचार पोस्ट करने में सक्षम थे। इस प्रणाली में बीबीएस के विपरीत एक केंद्रीय सर्वर या समर्पित प्रशासक नहीं था। इसके माध्यम से समाचार फीड के माध्यम से विभिन्न सर्वरों को संदेश भेजे जाते हैं। वेल एक अन्य उपकरण है जिसकी स्थापना 1980 के दशक के दौरान की गई थी। इसका पूर्ण रूप संपूर्ण पृथ्वी इलेक्ट्रॉनिक लिंक है और वह है जो अपनी अवधारणा और स्थापना के बाद से निरंतर और संचालन कर रहा है। इस क्षेत्र में अगला विकास सूचना और विनिमय के लिए जनरल इलेक्ट्रिक नेटवर्क का था। यह एक ऑनलाइन सेवा प्रदान करता है। इसे कंप्यूटर सेवा के लिए पूरा माना गया है। 1986 में शुरू की गई सूची सेवा की स्थापना द्वारा इलेक्ट्रॉनिक ईमेलिंग की शुरुआत की गई थी। सॉफ्टवेयर प्रेषक को एक ईमेल को एक से अधिक को संबोधित करने की अनुमति देता है, एकल संचार ने समूह संचार को रास्ता दिया। इसे आई आर सी के रूप में ज्ञात रिलेचैट के माध्यम से समझा गया था। इसका डायमेंशन रियल टाइम चैट है। इसका उपयोग इंटरनेट टेक्स्ट मैसेजिंग के रूप में किया जाता है लेकिन निजी संदेश भी भेजे जा सकते हैं। 1990 का दशक कई सोशल नेटवर्किंग साइट्स जैसे सिक्स डिग्रीज, ब्लैकप्लैनेट, एशियन एवेन्यू और मूवऑन के निर्माण का गवाह बना। इन उपकरणों के माध्यम से लोग सार्वजनिक नीति समर्थन के लिए भी बातचीत कर सकते हैं। सन् 2000 में सोशल मीडिया को इस वर्ष लॉन्च की गइ कई सोशल नेटवर्किंग साइट्स से लैस किया गया है, जिसमें लूनरस्टॉर्म, सिक्सडिग्री, बायवर्ड, रेज और विकिमीडिया शामिल हैं। सोशल मीडिया की इन विशेषताओं के विकास के माध्यम से केंद्रबिंदु पता चलता है कि सोशल मीडिया को परिभाषित करना कठिन है।

 ISSN 0975-735X

सोशल मीडिया के विभिन्न पैटर्न के इस विवरण से पता चलता है कि सोशल मीडिया एक रणनीति और आउटलेट है और सोशल नेटवर्किंग लोगों को एक साथ इकट्ठा करने का एक तंत्र है।

एक सक्रिय समाज में सोशल मीडिया की भूमिका

व्यक्तिवादी सामाजिक व्यवस्था के इस युग में सोशल मीडिया द्वारा कई और विभिन्न भूमिकाएँ निभाई गई हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्व के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार के समाज प्रचलित हैं। एक बंद समाज में जहाँ परंपरा और कर्मकांड सामाजिक नियंत्रण के उपकरण हैं, सोशल मीडिया की भूमिका सामाजिक जीवन, आदतों और चाल-चलन में आधुनिकता का परिचय देना है। एक खुले समाज में सोशल मीडिया धार्मिक सिद्धांतों पर आधारित अंधविश्वासों और तर्कहीन भक्ति के खिलाफ काम करने वाली तर्कवादी एजेंसी की भूमिका निभाता है। एक जन समाज में सोशल मीडिया सामाजिक विघटन और रूढ़िवादिता की ताकतों को हराता है और उदारवाद और मानवतावाद को मजबूत करता है। एक औद्योगिक सामाजिक ताने-बाने और सक्रिय समाज में, सोशल मीडिया उत्पादन और संपत्ति संबंधों के आधार पर एक वर्ग के सामान्य हित को बढ़ावा देने के लिए है। आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में सोशल मीडिया उदार समाजों के गठन में निहित मानवाधिकारों को सुरक्षात्मक छत्र प्रदान करता है।

यहाँ हम पुरुषों और महिलाओं सहित शिशुओं, किशोरों, वयस्कों और बुजुर्गों के जीवन से संबंधित सोशल मीडिया की भूमिका की जाँच करने का प्रस्ताव करते हैं, जिसका अर्थ है कि परिवारों पर सोशल मीडिया का प्रभाव सोशल मीडिया शिशुओं और किशोरों को नियमित गतिविधि के बिना उन से जुड़ने के लिए आकर्षित कर रहा है। यह बच्चों के व्यक्तित्व के सर्वोपरि विकास में तकनीकी कौशल और सामाजिकता को बढ़ाने का एक साधन बन गया है। बच्चे का ग्रहणशील मन और अनुकरणीय व्यवहार स्व-नियमन की सीमित क्षमता और साथियों के दबाव के प्रतिसंवेदन शीलता को दर्शाता है। ऐसे में सोशल मीडिया उन्हें कुछ विचलन के जोखिम में डाल सकता है। प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में बताया जाता है कि बच्चे अवांछित चीजें सीख रहे हैं जो उन्हें अपराध, आचरण, अपराध और अपराध की ओर ले जाती हैं। कभी-कभी ऑफ लाइन व्यवहार की अक्सर ऑनलाइन अभिव्यक्तियाँ होती हैं जो बच्चे को आपराधिक प्रवण क्षेत्रों की ओर ले जाती हैं। लगातार बदलते इंटरनेट परिदृश्य बच्चों से संबंधित समस्याएँ पैदा करते हैं जो इंटरनेट की लत और समवर्ती नींद की कमी सहित जागरूकता के योग्य हैं। इसके अलावा, शैक्षणिक कौशल के विकास में सोशल मीडिया महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। सोशल मीडिया कार्यक्रम छात्रों को असाइनमेंट के बारे में सहयोग करने और विचारों का आदान-प्रदान करने के लिए कक्षा के बाहर इकट्ठा होने की अनुमति देते हैं। आजकल, स्कूल सफलतापूर्वक ब्लॉग को एक शिक्षण उपकरण के रूप में उपयोग करते हैं–लिखित अभिव्यक्ति और रचनात्मकता में कौशल को सुदृढ़ करने से नवीन दिमाग का मार्ग प्रशस्त होता है।

सोशल मीडिया दुनिया के विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों से संबंधित ज्ञान और सूचनाओं की नकल और प्रसार के माध्यम से समाजीकरण का एक बुनियादी तरीका है। सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े लोग सोशल मीडिया के माध्यम से परस्पर संवाद कर रहे हैं और अपने गलत सामाजिक संस्कारों और रीति-रिवाजों को छोड़कर नवीन सामाजिक प्रथाओं और नए विचारों को अपनाने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। सोशल मीडिया सांस्कृतिक अनुकूलन को बढ़ावा दे रहा है। सामाजिक परंपराएँ और आधुनिकता एक-दूसरे को

प्रभावित करने और अजनबियों की दुनिया में सामाजिक-सांस्कृतिक समायोजन के प्रति एक सिंथेटिक दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं।

सोशल मीडिया का उपयोग बदमाशों और धर्मांधों द्वारा भी किया जाता है। ऐसे तत्त्व असहिष्णुता को बढ़ावा देने के लिए कलह और नफरत फैलाने के लिए सोशल नेटवर्किंग का इस्तेमाल करते हैं। वे अन्य समुदायों के सांस्कृतिक मूल्यों और मानक संरचना के बारे में अपमानजनक टिप्पणियाँ अपलोड करते हैं। ये तत्त्व आहत करने वाली सामग्री अपलोड करते हैं जो हिंसक विरोध की पड़ताल करती है और अनुकूलन, सामंजस्य, एकजुटता और अपनेपन की भावना को कम करती है और नष्ट करती है। समाज में विभाजनकारी तत्त्व अवांछित सामग्री अपलोड करके और सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काने के लिए ईमेल संदेश भेजकर समाज को विभाजित करने के लिए सोशल नेटवर्क साइट का उपयोग करते हैं। यह भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर संविधान के अनुच्छेद 19(1) (एफ) द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार के नाम पर किया गया है। कुछ तत्त्वों ने अपने नापाक राष्ट्र-विरोधी और समाज-विरोधी लेखन को जहरीले हमलों से ढक दिया और ऐसे धार्मिक पैगंबरों के प्रति अनादर दिखाने वाले धार्मिक पैगंबरों के कार्टून को केरिकेचर किया। सोशल मीडिया का उपयोग धोखेबाजों द्वारा अपनी व्यापारिक संभावनाओं को बढ़ावा देने के लिए भी किया जाता है। भ्रामक विज्ञापन, व्यापारिक संगठनों के प्रॉस्पेक्टस में गलत बयानी और संभावित ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी का खेल, ऐसे सभी और अन्य धोखाधड़ी वाले ईमेल और संदेश सोशल नेटवर्किंग साइटों पर अपलोड किए गए हैं।

सोशल मीडिया के दुरुपयोग के विरुद्ध विधिकतंत्र

यह देखा गया है कि समाज में सांप्रदायिक, छद्म राष्ट्रवादियों के अंध राष्ट्रवादी और राष्ट्रवादी तत्त्वों ने व्यक्ति को प्रदान करने के लिए संवैधानिक सुरक्षा उपायों का दुरुपयोग किया। इंडियन पैनल कोड सबसे पुराना कानूनी ढाँचा है। इसमें उन लोगों से निपटने के लिए कानूनी प्रावधान थे जो अपनी असामाजिक गतिविधियों के विरोध में जहरीली नफरत फैलाते हैं और हिंसक कृत्यों को प्रेरित करते हैं। भारतीय दंड संहिता की धारा 124 ए में राज्य और उचित रूप से गठित सरकार के खिलाफ हिंसक आवाज और हथियार उठाने के लिए उकसाने वाले देशद्रोही बयानों या लेखन पर अंकुश लगाने का कानून है। सोशल नेटवर्क साइटों पर आपत्तिजनक विचार पोस्ट करने के लिए अधिकांश मामलों में पुलिस ने भारतीय दंड संहिता की धारा 153 को लागू किया है। धारा 153 और 153 ए में उस व्यक्ति के खिलाफ मामला दर्ज करने का प्रावधान है जो लिखित या मौखिक रूप से वाणिज्यिक दंगे भड़काने या समुदायों के बीच सांप्रदायिक तनाव भड़काने वाला बयान देता है। धारा 294 ए उन लोगों के लिए सजा का प्रावधान करती है जो अपने भाषण या कृत्यों के माध्यम से लोगों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं। धारा 500 राज्य को कुछ लोगों की मान हानि के उद्देश्य से सोशल मीडिया का उपयोग करने वाले व्यक्तियों के खिलाफ कार्रवाई करने का अधिकार देती है। यदि कोई व्यक्ति सोशल नेटवर्क साइट पर ऐसी जानकारी अपलोड करता है या संदेश भेजता है जो समाज में डराने और आतंक की भावना पैदा करता है या किसी को किसी के खिलाफ हिंसक कार्य करने के लिए उकसाता है, तो ऐसे कृत्यों को भारतीय दंड संहिता की धारा 505 के तहत दंडनीय आपराधिक कृत्य माना जाता है। भारतीय दंड संहिता की धारा 506 के तहत आपराधिक धमकी भी एक दंडनीय अपराध है। सोशल मीडिया द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं का उपयोग करने वाली सांप्रदायिक और विभाजनकारी ताकतों की आपराधिक प्रवृत्ति

 ISSN 0975-735X

और व्यवहार पर अंकुश लगाने के लिए इन कानूनी प्रावधानों में तेज धार है। सोशल मीडिया के दुरुपयोग को रोकने के लिए मौजूदा कानूनी ढाँचे के अलावा, भारत सरकार ने सूचना और प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 नामक एक और कानून बनाया, जिसे 2008 में संशोधित किया गया और फरवरी 2009 में अधिसूचित किया गया। इस कानून में उपयोग को विनियमित करने के लिए कई प्रावधान हैं। भारत में सोशल मीडिया की। लेकिन संशोधित अधिनियम में दो सबसे अधिक विवादित खंड थे। संशोधित आई॰टी॰ अधिनियम, 2000 की धारा 66-ए ने सरकार को कंप्यूटर या किसी अन्य संचार उपकरण के माध्यम से अत्यंत आपत्तिजनक या खतरनाक संदेश भेजने वाले किसी भी व्यक्ति को बुक करने की अनुमति दी है और उसे 3 तक की अवधि के लिए जेल भेजा जा सकता है। साल, अगर दोषी ठहराया गया। फिर से आई॰टी॰ की धारा 69-ए। अधिनियम केंद्र सरकार को अधिकार देता है कि वह इंटरनेट साइट को ब्लॉक करने के लिए निर्देश जारी कर सकती है। यहाँ, हमें यह बताना होगा कि नागरिकों को अभी भी वेबसाइटों और सोशल नेटवर्क साइटों पर टिप्पणी पोस्ट करते समय सावधान रहने की आवश्यकता है क्योंकि धारा 66-ए के समान प्रावधान भारतीय दंड संहिता की धाराओं में मौजूद है।

उपसंहार–अंत में, यह कहा जा सकता है कि सोशल मीडिया व्यक्ति, समूह, व्यावसायिक संगठनों और कार्यस्थलों की एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है। यह समाजीकरण और सांस्कृतिक अनुकूलन का एक उपकरण है। ई-कॉमर्स व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा दे रहा है। कुछ उपद्रवी लोग अपनी नापाक गतिविधियों को बनाए रखने के लिए सोशल मीडिया का दुरुपयोग करते हैं जो सामाजिक व्यवधान का कारण बनता है। यहाँ तक कि आतंकवादी भी अपने मतलब के लिए सोशल नेटवर्किंग का दुरुपयोग कर रहे हैं। कुछ बेईमान व्यापारी अपने उत्पादों और बिक्री योग्य वस्तुओं की स्वीकार्यता प्राप्त करने के लिए संभावित ग्राहकों को धोखा देने के लिए सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं। यहाँ हम निष्कर्ष निकालते हैं कि सोशल मीडिया का कोई दोष नहीं है। यह उपयोगकर्ताओं पर निर्भर करता है कि वे इसे अपने हित और समाज के हितों के लिए उपयोगी या हानिकारक बनाते हैं।

संदर्भ

1. शिमोन एडोसमवान, सीतालक्ष्मी कलांगोट प्रकाशन, सोशल मीडिया का इतिहास और व्यवसाय पर इसका प्रभाव, द जर्नल ऑफ एप्लाइड मैनेजमेंट एंड एंटरप्रेन्योरशिप, 2011
2. रेबेका सॉयर्स, इंटरकल्चरल एडाप्टेशन पर न्यू सोशल मीडिया का प्रभाव, पॉल एम॰ लियोनार्डी, एंटरप्राइज सोशल मीडिया: परिभाषा, इतिहास और संगठनों में सामाजिक प्रौद्योगिकियों के अध्ययन के लिए संभावनाएँ।
3. डेविस एंड सिंगर, उद्यम में एक विकी उदाहरण: पॉल एम॰ लियोनार्डी द्वारा उद्धृत अवसर, चिंताएँ और वास्तविकता
4. स्टेनफील्ड चार्ल्स और अन्य, 'ऑनलाइन सोशल नेटवर्क साइट्स और सोशल कैपिटल की अवधारणा
5. अमित चौधरी और धनंजय महापात्रा, टाइम्स ऑफ इंडिया, 25 मार्च, 2015 (दिल्ली संस्करण)
6. एम॰एस॰ चौहान, 2003, अपराध शास्त्र एवं आपराधिक प्रशासन, सेंट्रल लॉ एजेंसी, कानूनी पुस्तक-विक्रेता एवं प्रकाशक 30-डी/11, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद, उ॰प्र॰
7. दुर्गादास बसु, 2005, भारत का संविधान-एक परिचय, प्रकाशक: बाधवा एंड कंपनी, एडमिनिस्ट्रेटिव ऑफिस, डी॰डी॰ 13, कालकाजी एक्स, नेहरू प्लेस के सामने, नई दिल्ली

8. योगेश कुमार, 2019, महिला अधिकार : सिद्धांत एवं व्यवहार, शारदा अग्रवाल व मंजू जौहरी (संपा) मानवाधिकार जेंडर एवं पर्यावरण, वाइवा बुक्स, दिल्ली
9. प्रकाश नारायण नाटाणी, 2002, महिला जागृति और कानून प्रकाशक: प्रेमचंद्र बाकलीवाल, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 807 व्यास बिल्डिंग, चौड़ा रास्ता, जयपुर (राज॰)
10. पी॰डी॰ पाठक, शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 2012
11. डॉ॰ मुरलीधर चतुर्वेदी, दंड प्रक्रिया संहिता, इलाहाबाद लॉ एजेंसी पब्लिकेशन्स विधि पुस्तक, प्रकाशक 10, सर पी॰सी॰ वनर्जी रोड इलाहाबाद (उ॰प्र॰)
12. सुरेंद्र सहाय श्रीवास्तव, अपराध शास्त्र, दंड शास्त्र एवं पीड़ित शास्त्र, हरिथा ग्राफिक्स् 1.1.561, एंड 562, गाँधीनगर, गोलकुंडा 'एक्स' रोड, हैदराबाद
13. एम॰एस॰ चौहान, 2003, अपराधशास्त्र एवं आपराधिक प्रशासन, सेंट्रल लॉ एजेंसी कानूनी पुस्तक-विक्रेता एवं प्रकाशन, 30-डी/11, मोती नेहरू रोड, इलाहाबाद (उ॰प्र॰)
14. जयनारायण पांडेय, भारत का संविधान, सेंट्रल लॉ एजेंसी कानूनी पुस्तक-विक्रेता एवं प्रकाशन 30-डी/11, मोती नेहरू रोड, इलाहाबाद (उ॰प्र॰)
15. डॉ॰ एन॰वी॰ परांजपे, भारतीय दंड संहिता, यूनिवर्सल बुक ट्रेडर्स 80, गोखले मार्केट, तीस हजारी कोर्ट के सामने, दिल्ली-110054
16. एस॰पी॰ गुप्ता, नारी एवं बाल विधि, इलाहाबाद लॉ एजेंसी पब्लिकेशन्स विधि पुस्तक, प्रकाशक 10, सर पी॰सी॰ वनर्जी रोड इलाहाबाद (उ॰प्र॰)
17. रतनलाल एंड धीरजलाल, द लॉ ऑफ एविडेंस, एज अमेंडेड बाय द क्रिमिनल लॉ (अमेंडेमेंट) एक्ट, 2013, लेसिज नेसिज

 ISSN 0975-735X

खेलत गेंद गिरे यमुना में : कथा विश्लेषण

रश्मि

उषा किरण खान द्वारा लिखित कहानी-संग्रह 'खेलत गेंद गिरे यमुना में' उनकी नवीनतम रचना है। इस कहानी-संग्रह के विषय सूची में आठवें अध्याय की कहानी है 'खेलत गेंद गिरी यमुना में' यह कहानी विकट स्त्री संघर्षों की दारुण गाथा है। यह कहानी लेखिका की नजरों में इतनी महत्त्वपूर्ण रचना है कि उषा किरण खान की इस कृति का नाम भी इस कथा के शीर्षक से बनाया गया है। यह हम कह सकते हैं कि यह कहानी इस संग्रह की प्रतिनिधि रचना है या टाइटल कहानी है। इस कहानी की नायिका है सुरबाला, जो कथानक के केंद्र में है। वह एक पढ़ने-लिखने वाली लड़की है, जो पितृसत्तात्मक समाज का विशेष दबाव तब झेलती है, जब ससुराल जाती है। हालाँकि जन्म से ही किसी बालिका को भारतीय समाज में दोयम दर्जा दिया जाता है, पर वह विशेष रूप से पारिवारिक दबाव तब झेलती है, जब उसका विवाह होता है। यह कहानी स्त्री की इसी दारुण कथा यात्रा को चित्रित करती है। साथ-ही-साथ यह कहानी ब्राह्मणवादी समाज में पुरुष महत्त्वाकांक्षा की बलि चढ़ती नारी की आह को भी दर्ज करती है। कहानी का शीर्षक कृष्ण और कालिया नाग के प्रसंग की ओर भी इशारा करता है, जिसमें प्रतीकात्मक रूप से कृष्ण का गेंद क्रिकेट जैसा कोई खेल खेलने के क्रम में यमुना के विषैले पानी में गिर जाता है। यहाँ 'गेंद' के प्रतीक में स्त्री का जीवन है।

'खेलत गेंद गिरे यमुना में' कहानी की कथावस्तु में केंद्र में सुरबाला नामक स्त्री है। लेखिका कथा के प्रारंभ में ही उसको पढ़ने-लिखने के प्रति गंभीर लड़की के रूप में चिह्नित करती है। कहानी के अनुसार 'सुरबाला परिश्रमी पढ़ाकू लड़की थी घर के काम में भी प्रवीण थी।'[1] किंतु उसके बी॰एड॰ की पढ़ाई के क्रम में ही उसका विवाह प्रभंजन सिंह के बेटे निरंजन से तय हो जाता है। तमाम परिवारिक वृतांतों को बताने के क्रम में लेखिका दोनों पक्षों के परिवारों का परिचय देते हुए कथानक को आगे बढ़ाती हैं। लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि सुरबाला के मायके वालों के बनिस्पत उसके ससुराल पक्ष के लोग कम पढ़े-लिखे हैं। दोनों परिवारों के सामाजिक-आर्थिक स्थिति को लेखिका ने लगभग समानांतर रूप से स्पेस देकर आगे बढ़ाया है। लेखिका निरंजन के आचार-विचार व्यवहार और महत्त्वाकांक्षा को चिह्नित करती है। पहली बार 'सुरबाला को निरंजन ने कॉलेज के स्टेज पर गाते देखा सुना था। गेहुँए रंग की, गठीले बदन की सुरबाला इसे पसंद आ गई थी। बाद में पता चला कि सजातीय है। अपने साथी-संगी के द्वारा जनकप्रसाद के यहाँ चर्चा करवा दी।'[2] इस प्रकार निरंजन के मनोनुकूल उसकी शादी सुरबाला जैसी पढ़ी-लिखी लड़की से हो जाती है। कथावस्तु में इनके विवाह के पूर्व की घटनाओं को भी रचनाकार ने जगह दी है। यह विवाह शैक्षिक रूप से विलोम कहा जा सकता है, पर आर्थिक और सामाजिक दखल के मामले में अनुलोम कहा जा सकता है। हिंदू शास्त्र आमतौर पर अनुलोम विवाह की आज्ञा देते हैं और शास्त्र आदि के आधार पर आर्थिक संपन्नता का मापदंड ही ऊँच-नीच के स्टेटस को परिभाषित करता है। पुरुषवादी समाज में स्त्रियों की शिक्षा को वैसे भी तरजीह नहीं देता है। इसकी झलक हमें कहानी

में निरंजन द्वारा सुरबाला को चुनाव में बतौर उम्मीदवार खड़े किए जाने के प्रसंग में दीखता है। निरंजन को न तो उसके शिक्षित महिला होने से फर्क पड़ता है और न ही वह उसके शिक्षिका होने के पेशे का सम्मान करता है।

'मैं राजनीति में नहीं जाने वाली। आपने मेरा नाम क्यों दिया?' सुरबाला ने कड़े शब्दों में कहा।

'तुम कहाँ राजनीति कर रही हो। वह तुम्हारे बस की बात है भी नहीं। तुम एक छवि हो, साफ-सुथरी गुरु जी की छवि, मानो निरंजन के चेहरे पर एक बेदाग मुखौटा।'

'मुझे नहीं बनना आपका मुखौटा।'

'बनना तो पड़ेगा।'

'जबरन बना लेंगे? मैं यहाँ से चली जाऊँगी।'–निर्णय सुनाया।

'बदजुबान बदजात तुम जाओगी कहाँ और कैसे? मेरे चंगुल से कोई बच पाया है क्या...? महतो की राह चली जाओगी समझी।'–निरंजन की आँखों में खून उतर आया उसने सुरबाला की चोटी पकड़कर खींचा और धरती पर पटक दिया। लात-घूँसों की बरसात करने लगा। सुरबाला अचेत हो गई।

'अरे छोड़िए महाराज, भाभी को मार डालेंगे क्या?'–इतनी देर से पीटते देखकर राजेश ठाकुर ने आगे बढ़कर खींच लिया।

'देखते नहीं इस भीखमंगी गुरुआइन का गुरुर...?'[13]

इस घटना से स्त्री पर हो रहे अत्याचार को साफ देख सकते हैं।

इसके बाद निरंजन के मन मुताबिक सुरबाला चुनाव में खड़ी होती है और जीत जाती है। वह जीतने के साथ मंत्री भी बन जाती है। फिर लेखिका यह चिह्नित करती हैं कि 'कैबिनेट तक निरंजन उसके पीछे रहता। घर के दफ्तर में निरंजन विराजमान रहता। सुरबाला मात्र हस्ताक्षर करती मुख्यमंत्री के साथ।'[14] सुरबाला न चाहते हुए भी निरंजन का मुखौटा थी। सुरबाला राजनीति के गलियारों की चमक-दमक और भागमभाग के बीच भी गंभीर और अकेली होती है। जो अकसर चुप साधे बैठी रहती है। उसकी चुप्पी और एकांतिकता को नोटिस करते हुए उषा किरण कहती हैं, 'अकसर सजग स्त्रियाँ घरों में प्रताड़ित होती हैं।'[15] सुरबाला न केवल एक सजग स्त्री थी, बल्कि वह एक शिक्षिका भी थी। उसके भीतर राजनीतिक लोगों की तरह छल और चालाकी के बीज मौजूद नहीं थे। वह अंदर-ही-अंदर इन विरोधियों से अकेले लड़ रही थी, जिसका बाहरी दुनिया में कोई साझीदार नहीं था। अपने-आपसे न्याय न कर पाने की मजबूरी से वह चुप साधे रहती है।

कथा जब समाप्त होने पर होती है तब और भी त्रासद स्थिति में सुरबाला घसीट ली जाती है। कहानी का कथा पट तेजी से बदलता है। लेखिका निरंजन द्वारा ही पाठक और सुरबाला को एक साथ सूचना देती है–'उस दिन जब निरंजन और राजेश ठाकुर जघन्य अपराध में पकड़े जाने वाले थे। सुरबाला अपने कक्ष में सो रही थी। अचानक हाँफता हुआ निरंजन आया सुरबाला हक्की-बक्की होकर उसके घबराहट और हड़बड़ी देख रही थी–घूर क्या रही हो मैं फरार हो रहा हूँ। मेरे बारे में मुँह खोला तो तुम्हारे भाई और उसके बच्चों को काटकर गंडक में बहा दूँगा।'[16] कहानी के इस मोड़ पर पाठक एक कहावत 'खेत खाए गधा है, मार खाए जुलाहा' की तर्ज पर सुरबाला को सलाखों के पीछे जाता देखता है। लेखिका इस घटना को कथा के अंत में दर्ज करते हुए लिखती हैं– 'अखबारों में, टीवी-रेडियो में, सड़कों पर आंदोलन-सा छिड़ गया था। सुरबाला बिना किसी कसूर

 ISSN 0975-735X

के जेल चली गई। बीमार, अशक्त, टूटी हुई सुरबाला क्या कहे।'[7]

यह कहानी पितृसत्ता के चंगुल में फँसते औरत की दुखद गाथा है। जहाँ सुरबाला को अपना पति ही उसे गालियाँ देता है। मारता-पीटता है और अपने जुर्म का भागीदार भी अपनी पत्नी (सुरबाला) को बना देता है। एक महिला घर की देहरी लाँघकर जेल चली जाती है और उसका पति उसे चौराहे पर शर्मसार करके भाग जाता है। इस प्रकार इस कहानी की समाप्ति होती है।

स्त्री जीवन के संघर्षों का अध्ययन

'खेलत गेंद गिरे यमुना में' कहानी एक असफल दांपत्य की कहानी है, जिसमें निरंजन और उसकी पत्नी सुरबाला के वैवाहिक जीवन की कथा है। सुरबाला इस कहानी की नायिका है जिसके बारे में लेखिका बताती हैं कि वह एक पढ़े-लिखे माता-पिता की परिश्रमी पढ़ाकू लड़की थी। उसे घर के काम में निपुणता हासिल होने के साथ-साथ बागवानी का भी शौक है। वह बी॰ए॰ की पढ़ाई के बाद बी॰एड॰ कर रही है। इस रूप में देखें तो सुरबाला पूरी तरह सक्रिय लड़की है। शादी के पहले उसके जीवन का संघर्ष आत्मनिर्भर बनने के लिए है, पर शादी के बाद उसका जीवन संघर्ष पुरुषवादी महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए जबरन अनुगामिनी बनाए जाने की त्रासद कथा कहती है। वह स्वायत्तता की प्राप्ति के लिए शिक्षा ग्रहण करती है पर उसे ब्याह के बाद पति की गुलामी कबूल नहीं पड़ती है। सुरबाला को निरंजन का मुखौटा बनना पड़ता है। एक पत्नी के रूप में उसे शिक्षित होने का गर्व होता है, पर उसका दुर्भाग्य है कि उसे एक शिक्षा विरोधी पति का साथ मिलता है जिस की नजरों में पत्नी की शिक्षा कोई अहमियत नहीं रखती है। कथा के अंत में तो अप्रत्याशित घटना घटित होती है। जुर्म पति करता है और सजा पत्नी को मिलती है।

उपर्युक्त विरोधाभास को झेलने वाली सुरबाला ऐसे में क्या नायिका कही जा सकती है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। कहानी की नायिका होने का अर्थ है–शुभ फलागम की प्राप्ति, पर सुरबाला का जीवन शुभ विवाह के बाद विनाश की यात्रा पर चल पड़ता है। हालाँकि सुरबाला के ससुर स्वभावत: बहुत अच्छे इंसान हैं। उन्हें सुरबाला हर तरह से बहू रूप में पसंद है। उन्होंने पहले ही कह दिया था–'शादी तय हो चुकी है। आप लोग आशीर्वाद देकर चले आइए। फालतू गपशप नहीं। वे लोग पढ़े लिखे हैं। ...हम सब अपने घर का संस्कार बदलना चाहते हैं।'[8] यह अजीब बात है कि जिस लड़की को इसलिए लाया जाता है कि घर का संस्कार बदला जा सके, पर होता है इसका पूरा उल्टा। जो लड़की पीढ़ियों का संस्कार बदलने के लिए लाई जाती है, उसके साथ मारपीट और गाली-गलौज की जाती है। उसे पति के भ्रष्टाचार की सजा मिलती है। जघन्य अपराध को पति अंजाम देता है और पत्नी जेल की सजा काटने के लिए मजबूर हो जाती है। सुरबाला भरे-पूरे घर को ठीक से व्यवस्थित करने आती है, पर बदले में उसे अपने ही जीवन की अव्यवस्था नसीब होती है।

सुरबाला शादी के बाद जैसे ही हनीमून के लिए दार्जिलिंग जाती है, वहीं निरंजन का दोस्त राजेश ठाकुर आ धमकता है। लेखिका एक पत्नी की प्रथम पीड़ा को चिह्नित करते हुए लिखती हैं– '...निरंजन और सुरबाला का टिकट दार्जिलिंग के लिए कट गया। होटल बुक हो गया। सुरबाला के मन में भी हजार सपने थे। एक दिन बाद ही राजेश ठाकुर आ धमका था। फिर तो दौर चल पड़ा शराब और सुंदरी का। सुरबाला को पिया अधाया आधा-अधूरा निरंजन मिलने लगा। वह अकसर होटल की खिड़कियों से वादियों को निहारती रहती। हफ्ते भर की मौज-मस्ती के बाद यह घर लौटे। निरंजन वैसा ही ताजगी भरा और सुरबाला बुझी-बुझी-सी।'[9] इस संदर्भ से एक नई नवेली पत्नी की

मानसिक तनाव की पराकाष्ठा को समझा जा सकता है। सुरबाला निरंजन के लिए एक पत्नी से अधिक राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए केवल एक साधन भर बनकर रह जाती है। उषा किरण लिखती हैं–'निरंजन ने सुरबाला को एम०ए०, बी०एड० करने दिया। हाईस्कूल में नौकरी तक करने दिया। समाज के सामने उसकी छवि लिबरल पति की थी। यह सीधे-सीधे अगड़ी जाति के समकक्ष पहुँचने का साधन था। सुरबाला अपने पति को अच्छी तरह पहचान गई थी।'[10]

गुट्टन महतो की हत्या के बाद जब हत्या का आरोप निरंजन पर लगता है और वह जेल चला जाता है तब उसके पिता यह दुख बर्दाश्त नहीं कर पाते हैं एवं चल बसते हैं। पिता के जाने के बाद अब घर में भी उसे कोई रोक-टोक नहीं होता है। पत्नी के रूप में सुरबाला यह सब झेलती रहती है। घर के भीतर राजनीति का चौसर बिछ जाता है लेखिका बताती हैं–'अब सुरा और सुंदरी के लिए घर में भी रोकने वाला कोई नहीं था। नशे में सुरबाला को छेड़ने लगता है तो वह छिटककर दूर चली जाती। निरंजन गालियाँ देने लगता। सुरबाला नागदह में रह रही है। पूरा दह ही विषैले नाग से अँटा पड़ा है।'[11] इस नागदह में सुरबाला तमाम शारीरिक-मानसिक आघात झेलते-झेलते बीमार हो जाती है। अपने मामा जी को बताते हुए वह कहती है–'मामा जी डायबिटीज और ब्लडप्रेशर से परेशान हूँ।'[12] इसके बावजूद कथानक जब समाप्ति की ओर होता है, तब नायिका का तनाव व्यथा के चरण पर पहुँच जाता है। उसे बिना अपनी मर्जी के राजनीति में जाना होता है। पति का मुखौटा बनना उसे पसंद नहीं है। वह कहती भी है–'मुझे नहीं बनना आप का मुखौटा।'[13] पर उसका पति उसके नकार को सुनकर ही 'लात घूसों की बरसात करने लगा.. सुरबाला अचेत हो गई।'[14] हालाँकि ऐसा नहीं है कि वह अपनी बात नहीं रखती है। एनजीओ प्रकरण का प्रसंग हो अथवा अन्य कई स्थानों पर वह अपने मन का करती भी है, पर जब उसके ऊपर हिंसक प्रहार होने लगे, तब वह हथियार डाल देती है।

चरित्र योजना और चरित्रांकन विधि

कथा 'खेलत गेंद गिरे यमुना में' इस संग्रह की शीर्षक कहानी है। कहानी के इस छोटे से कथानक में चरित्रों का प्रकटीकरण सपाट है। कहानी भी वर्णनात्मक शैली में आगे बढ़ती है। इसके कथा में मूलत: तीन भाग हैं। पहली बार कहानी में सुरबाला के ब्याह की घटना दर्ज है। जिसके साथ ही उसके पारिवारिक पृष्ठभूमि को लेखिका सामने लाती है। फिर प्रभंजन सिंह और उनके बेटे निरंजन सिंह की कहानी सामने आती है। प्रभंजन सिंह आढ़त चलाते हैं और उनका बेटा राजनीति की चालें सीखते हुए सामने आता है। निरंजन का किरदार कई रंगों का है। वह एक महत्त्वाकांक्षी युवा है, एक बेटा भी है, एक दोस्त भी है और सबसे अंत में सुरबाला का पति है। शादी के बाद दोनों को दो बच्चे भी होते हैं। उन बच्चों के पिता के रूप में निरंजन का एक और चित्र सामने आता है जिसमें निरंजन अपने ही बच्चों के प्रति बेपरवाह दिखाई देता है। पत्नी को किसी तरह तरजीह नहीं देता है। उधर सुरबाला बिल्कुल उलट बेहद जिम्मेदार स्त्री है जो कथा की नायिका कही जा सकती है।

जब हम सुरबाला को नायिका के रूप में देखने की कोशिश करते हैं तो सवाल उठता है कि क्या उसे फलागम प्राप्त होता है...? कथा में देखते हैं कि वह तो अपने त्रासद जीवन संघर्ष से मुक्ति की भी आशा किसी से नहीं रख रही है। ऐसे में भला कहें कैसे कहें कि वह कथानायिका है..? आमतौर पर नायकत्व को लेकर जो भारतीय धारणा है, उसे लेखिका सुरबाला के चरित्र चित्रण से तोड़ती है। लेखिका जिस रूप में सुरबाला जैसी पढ़ी-लिखी लड़की को मर्दवादी विचारधारा की

धारणा वालों के बीच में संघर्ष करते हुए आरेखित करती है, वह पुरुषप्रधान घरों की महिलाओं की सामान्यत: एकरूप जैसी पीड़ा है। इस कहानी में जिस प्रकार सुरबाला को उसके पति द्वारा स्वयं उसे ही कम करके हर समय आँका जाता है, वह स्त्री अस्मिता को चुनौती भी देता है। साथ ही लेखिका सुरबाला के चित्र के माध्यम से यह सवाल उठाती है कि यदि पुरुष की महत्त्वाकांक्षा को पुष्ट करने के लिए स्त्री अपनी अस्मितामूलक चेतना का होम करने के लिए तैयार रहें तो क्या पुरुष को उसकी अस्मिता बनाए रखने के लिए फिक्रमंद नहीं होना चाहिए?

निरंजन के चित्र में एक सामंती अभिजात्य व्यक्तिव का जो रूप सामने आता है, उसे देखकर हम भारतीय पुरुष प्रधान परिवारों की स्थिति का अंदाजा लगा सकते हैं। ऐसे परिवारों में समानता और लोकतांत्रिक भावबोध को लगातार तौहीन होते देखा जा सकता है। हालाँकि प्रभंजन सिंह में ऐसी महत्त्वाकांक्षा कम दिखाई देती है सुरबाला के पिता जनकसिंह भी ऐसे निष्ठुर नहीं हैं।

भारतीय परिवार में बेटी को नकारने के पीछे का कारण दहेज और बहू उत्पीड़न का बिंब है जो यहाँ नजर नहीं आ रहा है किंतु हम देखते हैं कि ससुराल पक्ष द्वारा बेटी के उत्पीड़न के मामलों में अधिकता के कारण ही लोग बेटी पैदा करना नहीं चाहते हैं और इसी वजह से शहरों और गाँवों में स्त्री पुरुष के लैंगिक अनुपात में संतोषजनक समानता नहीं देखी जाती है। इस कथा से कथित रूप से सभ्य कहे जाने वाले समाज को पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया गया है।

इस कथा के चरित्रांकन की प्रविधि पर प्रकाश डालें तो कथा के शीर्षक 'खेलत गेंद गिरे यमुना में' वाक्यांश है यह प्रकट हो रहा है कि इस कहानी की नायिका सुरबाला का जीवन मानो उस गेंद जैसे प्रतीक जैसा है जो पितृसत्ता जैसे यमुना के विषैले जल में गिर पड़ती है–'सुरबाला नागदाह में रह रही है पूरा दह ही विषैले नाग से अटा पड़ा था। ... कोई नाग नथैया करने वाला नहीं दिख रहा था। बेबस-सी जहर अपने अंदर उतरता देख रही थी।'[15] इस संदर्भ द्वारा कथा के शीर्षक से नायिका के जीवन संघर्ष को लेखिका जिस तरह प्रतीकात्मकता के साथ जोड़ती है, वह बहुत रोचक है। सही मायने में यह शीर्षक संपूर्ण कथा के बीज को अपने भीतर समेटे है। लेखिका सुरबाला के चरित्र को आधार बनाकर भारतीय स्त्रियों की पीड़ा को रेखांकित करती है कि महिलाओं का जीवन ससुराल और मायके के बीच गेंद की तरह होता है। एक पाले में जब वह मायके में होती है तो समझा जाता है कि बेटी पराया धन होती है और दूसरे पाले में जब वह ससुराल जाती है तब पराए घर की बेटी कही जाती है। महादेवी वर्मा शायद ऐसी ही परिस्थिति के कारण लिखती हैं–

विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

–मैं नीर भरी दुख की बदली

निष्कर्ष–'खेलत गेंद गिरे यमुना में' नामक कहानी उषा किरण खान की नवीनतम कहानी है। इस कहानी के पाठ के उपरांत हमें ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के जड़ में जाने की प्रेरणा मिलती है। हमारे मन में यह प्रश्न उभरता है कि आखिर कोई अपनी ही पत्नी के प्रति इतना निष्ठुर और क्रूर कैसे हो सकता है? तलाश में पाते हैं कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में इसके बीज मौजूद हैं। वातस्यायन के इस ग्रंथ में नायिका के रूप में कन्या, पुनर्भू (रखैल जैसी), विधवा और परस्त्री का

जिक्र है, किंतु विवाह संस्कार के बाद सहधर्मिणी अपनी पत्नी को वहाँ नायिका की श्रेणी में नहीं रखा गया है। पारिवारिक जीवन और यौन-क्रिया में पत्नी का नायिका न होना और उसके अलावा अन्य चार प्रकार की बाहरी स्त्रियों को नायिका माना जाना अपने आपमें ही दुर्भाग्यपूर्ण है। दुर्भाग्य की इस त्रासदी का शिकार धर्मपत्नी सुरबाला है। परकीया नायिकाओं को शास्त्रीय रूप से इतना समर्थन प्राप्त है कि निरंजन सुरबाला के सामने घर में ही सुरा-सुंदरी के साथ अय्याशी करता है और घर की महिलाएँ मूकदर्शक बनी रह जाती हैं। 'मनुस्मृति' जैसे ग्रंथ स्त्रियों को शुद्र की कोटि में रखने की इजाजत देते हैं और शूद्रों की तरह ही स्त्रियों पर अत्याचार की इजाजत देते हैं। शायद इसीलिए सुरबाला नागदह में तड़पती रह जाती है और कोई बाँसुरी वाला उसके उद्धार के लिए दिखाई नहीं देता है।

संदर्भ

1. उषा किरण खान, खेलत गेंद गिरे यमुना में, कथा-संग्रह : खेलत गेंद गिरे यमुना में, पृष्ठ 66
2. वही, पृ॰ 66-67
3. वही, पृ॰ 74
4. वही, पृ॰ 74-75
5. वही, पृ॰ 75
6. वही, पृ॰ 75
7. वही, पृ॰ 75
8. वही, पृ॰ 69
9. वही, पृ॰ 71
10. वही, पृ॰ 71
11. वही, पृ॰ 73
12. वही, पृ॰ 73
13. वही, पृ॰ 74
14. वही, पृ॰ 74
15. वही, पृ॰ 73

द्वारा श्री ज्ञानप्रकाश
ठाकुरबाड़ी टोला
ग्राम+पोस्ट-गंगासराय
थाना-बड़हिया
जिला-लखीसराय 811302 **बिहार**
मो॰ 80021 74025
rk6664819@gmail.com

ISSN 0975-735X

नियतिवाद : दार्शनिक समीक्षा

दीपक कुमार, शोध छात्र
(आई॰सी॰पी॰आर॰जे॰आर॰एफ॰), दर्शनशास्त्र विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रस्तावना–संकल्प की स्वतंत्रता पारंपरिक रूप से किसी पसंद और कार्यों को नियंत्रित करने की शक्ति के रूप में माना गया है। संकल्प की स्वतंत्रता मनुष्यों को विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न विकल्पों में से किसी भी विकल्प को स्वतंत्र होकर चुनने की क्षमता प्रदान करती है। ह्यूम कहते हैं कि 'यदि आपके पास कुछ स्वैच्छिक कार्य हैं जिसमें आपकी इच्छा की भूमिका है, तो आपके पास संकल्प की स्वतंत्रता है।' संकल्प की स्वतंत्रता पाश्चात्य दर्शन के प्रत्येक समय में अपनी महत्ता को बनाए रखती है। संकल्प की स्वतंत्रता पर पाश्चात्य दर्शन के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों जैसे–प्लेटों, अरस्तू, आगस्टाइन, एक्वीनास, डेकार्ट और कांट आदि के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो अपनी इच्छा के अनुरूप जब मनुष्य विभिन्न विकल्पों में से किसी भी एक विकल्प को चुनता है तो इसे ही संकल्प की स्वतंत्रता कहा जाता है।

उदाहरण स्वरूप मैं अपने कमरे में लेटा हुआ हूँ, अचानक में उठता हूँ और अपनी कुर्सी पर बैठकर पढ़ने लगता हूँ। यहाँ मेरे पास कई विकल्प थे, जैसे–मैं बाहर घूमने जा सकता था, मैं किसी से बात कर सकता था, पर मैंने पढ़ने का विकल्प चुना। यह मेरी संकल्प की स्वतंत्रता है।

नियतिवाद वह सिद्धांत है जो संकल्प की स्वतंत्रता को एक सिरे से पूरी तरह नकारता है। नियतिवाद शब्द का आशय है–पहले से ही निर्धारित। नियतिवाद सिद्धांत सभी घटनाओं, यहाँ तक कि मनुष्य के चयन करने की क्षमता को भी पहले से मौजूद कारण के रूप में पूर्व निर्धारित मानता है। नियतिवाद के अनुसार प्रत्येक भौतिक घटना पूर्णत: प्राकृतिक नियम के साथ-साथ पूर्व की घटनाओं के कारण पर आधारित है। उदाहरण के लिए हम पानी पीते हैं। हम पानी क्यों पीते हैं? क्योंकि हमें प्यास लगती है। हमें प्यास क्यों लगती है? क्योंकि हमारे शरीर को पानी की आवश्यकता होती है। हमारे शरीर को पानी की आवश्यकता क्यों होती? क्योंकि यह प्राकृतिक नियम पर आधारित है कि मनुष्य के शरीर में 70 प्रतिशत पानी की मात्रा को बरकरार रखना है। यहाँ प्रत्येक कार्य पिछले किसी कारण पर आधारित है।

संकल्प की स्वतंत्रता एवं नियतिवाद के संदर्भ में बहुत सारे सिद्धांत दिए गए हैं। संकल्प की स्वतंत्रता एवं नियतिवाद एक-दूसरे के विपरीत हैं अर्थात् यदि संकल्प की स्वतंत्रता होगी तो नियतिवाद का सिद्धांत अपने-आप ढह जाएगा और यदि नियतिवाद सत्य हो तो संकल्प की स्वतंत्रता का सिद्धांत स्वत: असद्धि हो जाएगा।

प्रस्तुत शोध पत्र में हमने नियतिवाद के विरुद्ध संकल्प की स्वतंत्रता को प्रख्यायित करने का प्रयास किया है। संकल्प की स्वतंत्रता के विरोध में कई सारे सिद्धांत दिए गए हैं, जिनमें 'नियतिवाद' और 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। इस शोधपत्र में इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों का

खंडन करके संकल्प की स्वतंत्रता को प्रख्यायित करने का प्रयत्न है। हम सबसे पहले नियतिवादी तर्कों का खंडन करेंगे तत्पश्चात् वैज्ञानिक तर्कों का।

संकल्प स्वतंत्रता के विरुद्ध नियतिवादी तर्क

नियतिवाद में कई तरह के नियतिवादी तर्क हैं, जो कि इस प्रकार हैं–

1. **संकल्प की स्वतंत्रता के विरुद्ध प्राचीन (मान्य) तर्क**–यह बहुत ही पुराना कल्पना पर आधारित तर्क है कि संकल्प की स्वतंत्रता के विरुद्ध जो ये मानता है कि नियतिवाद सत्य है। यदि नियतिवाद सत्य है तो 2011 में जो जापान में सुनामी आई थी वह 13 मिलियन साल पहले ही तय हो गया था, ठीक बिग बैंक की घटना के तुरंत बाद। यद्यपि यदि नियतिवाद सत्य है तो आज तक हमने जो भी किया था आगे जो भी करेंगे, सब कुछ 13 बिलियन साल पहले ही तय हो चुका है।

उदाहरण के लिए यदि हम कॉफी शॉप पर बैठे हैं और यह तय करने की कोशिश कर रहे हैं कि हम चाय पियेंगे या कॉफी, आप कल्पना कीजिए कि जैसे ही कोई व्यक्ति आपका ऑर्डर लेने आता है आप चाय आर्डर करते हैं। क्या यह आपके संकल्प की स्वतंत्रता की रक्षा करता है? पर यदि नियतिवाद सत्य है तो आपके चाय का ऑर्डर पूर्णत: पिछली घटनाओं पर आधारित है। इसलिए यदि नियतिवाद सत्य है तो यह आपके जन्म के पहले ही तय हो गया था कि आप कॉफी आर्डर करेंगे या चाय। यदि यह सत्य है तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपने जो चाय ऑर्डर किया है वह आपका स्वतंत्र संकल्प नहीं था। यही बात आपके प्रत्येक निर्णय पर लागू होती है जिसे आपने कभी भी लिया हो।

यह तर्क पूरी तरह से कल्पना पर ही आधारित है। इसलिए इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यह तर्क केवल कल्पना करता है कि हमारे पास संकल्प की स्वतंत्रता नहीं है।

इस तर्क की प्रासंगिकता बहुत ज्यादा नहीं रही। इसके पश्चात् संकल्प की स्वतंत्रता के विरुद्ध एक बेहतर तर्क आता है जिसे 'यादृच्छिक नियतिवाद' के नाम से जाना जाता है।

2. **यादृच्छिक नियतिवाद**–संकल्प की स्वतंत्रता के विरुद्ध यह पहला तर्क है जो यह मानता है कि यदि नियतिवाद सत्य न भी हो, तब भी हमारे पास संकल्प की स्वतंत्रता नहीं है। इसके लिए हम ऊपर दिए गए उदाहरण को पुन: देखने का प्रयास करते हैं। इस उदाहरण से दो संभावनाएँ निकलकर आती हैं–

(अ) आपका चयन पूर्व की घटनाओं के कारण था।

(ब) आपका चयन पूर्व की घटनाओं के कारण नहीं था।

समस्या यह है कि ये दोनों संभावनाएँ संकल्प की स्वतंत्रता के साथ असंगति रखती हैं। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि जो पहली संभावना है वह संकल्प की स्वतंत्रता के साथ अंसगत है, क्योंकि पहली संभावना में हमारा चयन पूर्व की किसी घटना के फलस्वरूप हुआ है। अर्थात् यहाँ हमारी संकल्प की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अब हम दूसरी संभावना की बात पर आते हैं जोकि 'हमारा चयन पूर्व के किसी घटना के कारण नहीं था। इस संभावना में आपका चयन पूर्व की घटना पर आधारित नहीं है। यहाँ भी आपका ऑर्डर एक नेचुरल घटना पर आधारित है जोकि आपके दिमाग में घटित हुआ है। ऐसा होना किसी ने चाहा नहीं, बस यह हो गया। आपका न्यूरॉन्स कॉफी के लिए भी घटित हो सकता था, परंतु यह घटित हुआ चाय के लिए। न्यूरॉन्स इस रूप में घटित होता है कि आपने चाय का ऑर्डर कर देते हैं।

 ISSN 0975-735X

पर रुकिए, यदि आप कह रहे हैं कि आपका यह निर्णय बस ऐसे ही हो गया तो आपके कहने का आशय यह है कि यह यादृच्छिक रूप से हो गया। यदि यह यादृच्छिक रूप से हुआ है तो भी यह संकल्प की स्वतंत्रता के साथ असंगत हो जाता है। एक मिनट के लिए सोचें कि यदि आपका निर्णय आपके मस्तिष्क में अचानक ही उभरकर आता है और आप कॉफी की जगह चाय का ऑर्डर करते हैं, फिर यह आपके संकल्प की स्वतंत्रता कैसे हुई? यहाँ यह स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है कि यदि आपका निर्णय यादृच्छिक रूप से आपके मस्तिष्क में घटित होता है, यदि यह अचानक ही आपके मस्तिष्क में उभरकर आता है तो हमारे पास संकल्प की स्वतंत्रता नहीं है।

संकल्प की स्वतंत्रता के विरुद्ध यह तर्क बहुत ही मजबूती के साथ उठ खड़ा हुआ। यहाँ केवल दो ही संभावनाएँ बनती हैं, पहली यह कि हमारा निर्णय पूर्व की किसी घटना के कारण है और दूसरा यह कि हमारा निर्णय पूर्व की किसी घटना के कारण नहीं था। ये दोनों की संभावनाएँ संकल्प की स्वतंत्रता की संभावना को नकारती हैं।

यदि हम इस यादृच्छिक तर्क को ध्यान से देखें तो हमें इसका आधा तर्क सही लगता है। जब यह कहता है कि हमारा निर्णय पूर्व की किसी घटना के कारण हुआ है, तो यहाँ तक यह सही है। लेकिन यदि हम दूसरे भाग को देखें, जब यह कहता है कि कॉफी न पीकर चाय पीने का निर्णय बस स्वत: घटित हो जाता है, लेकिन यह स्वत: घटित होने वाला निर्णय आपका स्वतंत्र संकल्प नहीं है। ऐसा सही प्रतीत नहीं होता है। यदि हम सोचें कि आपको कॉफी के स्थान पर चाय लेने का निर्णय किसी कारण पर आधारित नहीं था। साधारणत: इसका यह अर्थ कतई नहीं हो जाता कि यह निर्णय आपका नहीं है और इसका आशय यह भी नहीं है कि यह निर्णय आपके संकल्प की स्वतंत्रता से नहीं लिया गया है।

हम एक कल्पना करते हैं कि जिस समय मैं कॉफी के स्थान पर चाय का आर्डर कर रहा था, ठीक उसी समय एक न्यूरोसाइंटिस्ट की टीम मेरे दिमाग को स्केन कर रही थी, मेरे निर्णय के कारण का पता लगाने के लिए। इसके बाद कोई मुझसे पूछें कि उन न्यूरोसाइंटिस्ट को कारण के रूप में क्या मिला, जिससे कि मैंने काफी के स्थान पर चाय आर्डर किया? मैं कहूँगा कि मेरे ऐसे निर्णय के कारण के रूप में उनको कुछ नहीं मिला। उन्होंने पाया कि चाय पीने की इच्छा मेरे ऐसे निर्णय लेने का कारण बनी। अब आसानी से यह कहा जा सकता है कि मैंने स्वतंत्र रूप से काफी के स्थान पर चाय का आर्डर किया। पुन: कुछ लोग ये कह सकते हैं कि ऐसा होना आपने नहीं चुना था तो फिर यह किसने किया? ऐसा आपने किया नहीं फिर भी यह स्वत: हो गया, तब भी आप तो नहीं ही हैं इस घटना के पीछे।

यदि आप मनुष्य के भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सत्य मानें तो हमारे जो चेतन निर्णय हैं वे एक न्यूरल घटना हैं। तो जब आप कॉफी के स्थान पर चाय का आर्डर देने का निर्णय ले रहे थे तब आपके दिमाग में एक न्यूरल घटना घटित हुई। यानी यह एक न्यूरल घटना है। फिर भी यह एक चैतन्यपूर्ण निर्णय है। क्योंकि चाय पीने वाली घटना को आप ही चयन कर रहे थे। संक्षेप में कहें तो यह चैतन्यपूर्ण निर्णय आपका ही है। यदि हम स्वैच्छिक निर्णय लेते हैं, तब जब हम ऐसे निर्णय लेते हैं और ऐसा ही करने के लिए कोई कारण नहीं होता जैसा हम करते हैं, तो यह हमारे संकल्प की स्वतंत्रता का ही परिणाम है।

3. **हाइनस सिद्धांत**–यह तर्क जे॰ डी॰ हाइनस के अध्ययन पर आधारित है। यह संकल्प की स्वतंत्रता के विरुद्ध सबसे मजबूत तर्क हो सकता है। जे॰डी॰ हाइनस एक प्रयोग करते हैं। वे एक

व्यक्ति के एक हाथ में लाल बटन तथा दूसरे हाथ में एक हरा बटन देते हैं और उस व्यक्ति से कहते हैं कि जब मैं सवाल पूछूँगा तो तुम उन दोनों बटन में से कोई एक बटन दबा देना। इलेक्ट्रोइंसेफलाग्राम (EEG-Electroencenphologram) के स्थान पर कार्यात्मक चुंबकीय अनुवाद इमेजिंग (FMRI-Functional Magnatic Resonance Imaging) तकनीक का प्रयोग करते हैं और जे॰डी॰ हाइनस दिमाग की अवचेतन गतिविधि पाते हैं जो बटन दबाए जाने से 7.10 सेकेंड पहले यह बताता है कि यह व्यक्ति कौन सा बटन दबाएगा। यह एक तरह से भविष्यवाणी है।

यह बहुत ही आश्चर्यचकित कर देने वाली बात है। यदि आप किसी दो विकल्पों में से एक विकल्प चयनित करने वाले हैं तो यदि कोई व्यक्ति आपके दिमाग को देख रहा है तो वह व्यक्ति आपके चयन करने से 7 सेकेंड पहले ही बता सकता है कि आप कौन सा विकल्प चुनने वाले हैं। आप क्या करने जा रहे हैं, यह आपके निर्णय लेने के पहले ही तय हो चुका है। यदि यह सत्य है तो संकल्प की स्वतंत्रता के कोई मायने नहीं रह जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपके पास संकल्प की स्वतंत्रता है ही नहीं।

जे॰डी॰ हाइनस ने जो प्रयोग किया अवचेतन मस्तिष्क के लिए, जो कि बहुत ही शानदार नहीं रहा। यह भविष्यवाणी करने में कि व्यक्ति कौन-सा बटन दबाएगा। यह केवल 10 प्रतिशत ही ज्यादा सही रहा है, अनुमान लगाने की तुलना में। मान लेते हैं कि हम किसी व्यक्ति को यह कहते हैं कि आप अनुमान लगाइए कि वह व्यक्ति जिसके हाथों में बटन है वह कौन सा बटन दबाएगा। तो वह व्यक्ति अनुमान लगाएगा कि वह व्यक्ति दाएँ हाथ का बटन दबाएगा या बाएँ हाथ का बटन दबाएगा। यानी उसकी बात सही होने के 50-50 प्रतिशत की प्रामाणिकता है और हाइनस का अध्ययन 50-50 प्रतिशत की प्राणिकता से मात्र 10 प्रतिशत ही अधिक सटीक है अर्थात् 60 प्रतिशत सटीकता के साथ उसका अध्ययन यह बता सकता है कि व्यक्ति कौन सा बटन दबाएगा। पर यह शत-प्रतिशत सटीकता से कहीं दूर है। यदि हम इनकी बात मान भी लें तो इससे यह साबित नहीं होता कि हमारे पास संकल्प की स्वतंत्रता नहीं है। क्योंकि इसमें 40 प्रतिशत की सटीकता की कमी है।

यह हो गई प्रायिकता की बात। अब हम एक उदाहरण और देख सकते हैं। इसमें जे॰डी॰ हाइनस ने व्यक्ति को केवल दो ही बटन दिए थे जिसमें दोनों में से किसी भी बटन को दबाने की प्रायिकता 50.50 प्रतिशत ही है। अब हम एक व्यक्ति के ऊपर पुनः यही प्रयोग करेंगे लेकिन इस बार हम उसके हाथ में कोई बटन नहीं देंगे। बल्कि हम उसे कोई एक विषय देंगे और उस विषय पर उस व्यक्ति से कुछ लिखने को कहेंगे। अब यदि हम यहाँ भी (FMRI) का प्रयोग करें तो क्या जे॰डी॰ हाइनस अब भी 7.10 सेकेंड पहले यह बात कह सकते हैं कि वह व्यक्ति कौन-कौन से शब्दों का चयन करेगा। अभी तक ऐसी कोई भी शोध नहीं हुआ है जो इस बात को प्रमाणित करता हो। अतः संकल्प की स्वतंत्रता जापानी प्रासंगिकता को बरकरार रखती है।

निष्कर्ष–उपर्युक्त विवचनों के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि तमाम आरोप-प्रत्यारोप के बावजूद संकल्प की स्वतंत्रता अपनी प्रासंगिकता को बनाए रखने में सफल रही है। वर्तमान समय में विज्ञान से ज्यादा विश्वसनीय कोई और क्षेत्र नहीं है। विज्ञान ही है जो हमें सबसे ज्यादा सटीक जानकारी देने में सक्षम है, पर संकल्प की स्वतंत्रता पर विज्ञान भी जो अक्षेप लगाता है उसे पूरा कर पाने में सफल नहीं हो पाता है। यदि हम संकल्प की स्वतंत्रता के सिद्धांत का नैतिकता के स्तर पर मूल्यांकन करें तो यह मानव तथा समाज दोनों के लिए अत्यधिक वांछनीय हो जाता है। यदि हम

 ISSN 0975-735X

नियतिवाद के सिद्धांत को स्वीकार करें, जो ये कहता है कि हमारा कोई भी कार्य स्वतंत्र संकल्प का कार्य नहीं है बल्कि पूर्व घटना के किसी कारण स्वरूप है। इसको मानने से अपने कार्यों के परिणामों के प्रति हमारा दायित्वबोध समाप्त हो जायेगा। जिससे मनुष्य तथा समाज दोनों ही अतातायी हो जाएँगे। जिसके परिणामस्वरूप न तो मनुष्य ही और न ही समाज ज्यादा लंबे समय तक खुद को बचाए रख पाएँगे। यदि हम संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति या समाज अपने द्वारा किए गए कार्यों से उत्पन्न होने वाले परिणामों के प्रति दायित्वबोध से बँधे होंगे। इस कारण व्यक्ति और समाज दोनों लंबे समय तक खुद का विकास करकेअपने अस्तित्व को बचाए रख पाएँगे। अत: हम कह सकते हैं कि संकल्प की स्वतंत्रता मनुष्य एवं समाज दोनों के लिए अपनी वांछनीयता को प्रख्यापित करने में सफल रहता है।

संदर्भ

1. Bartell, B.B., Brandav, A., Jasanoff, A., (2016), *Molecular fMRI. J. Neuroscience,* P. 36
2. Bode, S., Begler C., Soon, C.S., Haynes, J.D., (2012), The Neural Encoding of Guesses in the Human Brain, Neuroimage, P. 59
3. Nahmias, E., (2014), Is Free Will an Illusion? Confronting Challenges from the Morden Mind Sciences. In W. Sinnott Armsterong (ed.) Moral Psychology Val. 4: Freedom and Responsibility., MT Press, P. 1-25
4. Berofsky, Bernard (ed.), (1966), Free Will and Determinism, New York and London.
5. Balaguer, Mark., Free Will, (2014), The MIT Press Essential Knowledge Series., P. 1-3, 12, 15-21, 22-24, 101-103.
6. Harris, S., (2012), Free Will, New York, Free Press, P. 18-21, 30-35.
7. Haris, James., (2012), Free Will in A. Bailey and D.U'Brien (ed.), The Continuum companion to Hume, London & New York: continuum.
8. Haynes, J.D., https://kwww.informationphilosopher.com/solutions/scientists/haynes/
9. htttps://en.wikipedia.org/wiki/Determinism
10. htttps://plato.stanford.edu/entries/determinism-causal/
11. htttps://plato.stanford.edu/entries/freewill/
12. https://iep.utm.edu/freewill/

532/468, Banarsai Tola,
Aliganj, Lucknow-226024
Mob. 9696119012, 7376085406
dk3937562@gmail.com

'डार्क हॉर्स' उपन्यास एवं भारतीय प्रसासनिक सेवा अभ्यर्थियों के संघर्ष के आयाम

राजेश्री, शोधार्थी, हिंदी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

एक उपन्यासकार के चिंतन पर शिक्षा, मातृभाषा, परवरिश एवं सामाजिक परिवेश का गहरा प्रभाव होता है जिसकी झलक उसके कृतित्व में देखने को मिलती है। डार्क हॉर्स उपन्यास में भी इसे बखूबी रूप में देखा जा सकता है। यह हर एक प्रशासनिक सेवा अभ्यर्थी को अपने संघर्ष का अहसास करवाने में कामयाबी हासिल करती है जिसमें युवाओं के प्रशासनिक पदों के प्रति आकर्षण, अंतिम रूप से चयनित होने तक झेले जाने वाले संघर्ष, परिवार एवं समाज की अपेक्षाओं और इन अपेक्षाओं पर खरा उतरने हेतु उन पर बने सामाजिक दबाव, आर्थिक मजबूरियों, शिक्षा के माध्यम, विषय चयन, कोचिंग संस्थानों के गोरखधंधों, प्रेम-प्रसंगों एवं अन्य दूसरे संघर्षों का सटीक वर्णन किया गया है। अत: इस शोध पत्र में उन युवा अभ्यर्थियों के संघर्ष के विभिन्न आयामों को बहुत सजगता से छूने का प्रयास किया गया है।

डार्क हॉर्स उपन्यास के लेखक नीलोत्पल मृणाल का जन्म बिहार में मुंगेर जिले के संग्रामपुर गाँव में हुआ। उनकी परवरिश नोनीहाट गाँव में हुई। वर्ष 2000 के राज्य पुनर्गठन के बाद बिहार राज्य का यह क्षेत्र झारखंड में शामिल कर लिया। इस तरह उनका जन्म एवं परवरिश देहाती ग्रामीण समाज व संस्कृति में हुआ है। अत: वे ग्रामीण संस्कृति से गहरा जुड़ाव रखते हैं। वे छात्र जीवन से ही राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय रहे हैं। वर्ष 2012 में भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा के पैटर्न में हुए बदलावों के विरोध में नौ दिनों तक भूख हड़ताल पर भी बैठे। वे लोक संगीत के क्षेत्र में सक्रिय रहते हुए टी॰वी॰ पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों में भी अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करते रहे हैं। इस प्रकार मृणाल सामाजिक सरोकारों जैसे गरीबी–अमीरी, स्त्री-पुरुष संबंधों इत्यादि पर भी गहन चिंतन व विश्लेषण करते देखे गए। जिसकी छाप एवं मार्मिकता उनके लेखन में स्पष्ट रूप में दिखाई देती है।

'डार्क हॉर्स' एक अनकही दास्तां मृणाल द्वारा लिखा गया पहला उपन्यास ही नहीं बल्कि उनके लेखन का सफलतम प्रयास भी रहा। उन्होंने अपने पहले ही उपन्यास में उत्कृष्ट लेखन को प्रदर्शित किया और पाठकों के मन को खूब लुभाया। यह मृणाल का पहला उपन्यास होने के बावजूद वर्ष 2016 में साहित्य अकादमी द्वारा युवा साहित्यकार पुरस्कार से सम्मानित होने का गौरव भी प्राप्त कर सका। मृणाल ने अपने जीवन एवं अनुभवों को कल्पना और यथार्थ के साथ समन्वित करते हुए, हर घटना को इस रचना में बेहद अनूठे ढंग से पिरोया। जिसकी बदौलत साहित्य जगत में डार्क हॉर्स की गूँज इतनी दूर तक गई कि इस युवा उपन्यासकार को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान हासिल हुई। यही नहीं डार्क हॉर्स 'हिंद युग्म' प्रकाशन के द्वारा प्रकाशित पहली ही पुस्तक थी। इसलिए हमें किसी ऐसे भ्रम को भी नहीं पालना चाहिए कि 'डार्क हॉर्स' उपन्यास की इस प्रसिद्धि

 ISSN 0975-735X

में इसके प्रकाशन की छवि या अनुभव का फायदा उन्हें मिला होगा। बल्कि इसके विपरीत डार्क हॉर्स उपन्यास की सफलता के कारण ही इसके प्रकाशन हिंद युग्म को भी पहचान मिल सकी। इस तरह लेखक नीलोत्पल मृणाल, उनकी कृति डार्क हॉर्स एवं प्रकाशक, हिंद युग्म, साहित्य जगत की एक सशक्त पहचान बनकर उभरे।

प्रशासनिक सेवा अभ्यर्थियों के संघर्ष के मुख्य आयाम

डार्क हॉर्स उपन्यास में नीलोत्पल मृणाल ने भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के प्रति ग्रामीण परिवेश की जनता व विद्यार्थियों के मानस में स्थापित सम्मान व रुतबे की स्थिति को बड़े ही रोचक ढंग से प्रदर्शित किया है। इस उपन्यास को पढ़ने से पता चलता है कि युवावर्ग का भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में जाने का रुझान व इसकी तैयारी के दौरान आने वाली अड़चनों एवं परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के दौरान उन पर लगातार बढ़ते मानसिक दबाव का स्तर क्या रहता है। इस समस्या पर प्रकाश डालते समय मृणाल युवा वर्ग के चरित्र, व्यक्तिनिष्ठ आचरण, मत-भिन्नता, माता-पिता का जीवन संघर्ष, पिता पुत्र व माता पुत्र का भावनात्मक लगाव, प्रेम कहानियाँ, महिलाओं के प्रति आकर्षण, दिल्ली में आईएएस कोचिंग संस्थानों के गोरखधंधों, ग्रामीण-शहरी परिवेश की स्थिति, अमीरी-गरीबी की जीवन शैली, अमीर जीवन में नीरसता, ग्रामीण चौपालों के बेतुके सवालों के सामने सिविल परीक्षार्थियों की स्थिति, भारतीय शिक्षा प्रणाली एवं डिग्रियों के महत्त्व, भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, महिलाओं का त्रिया-चरित्र, अँग्रेजी माध्यम के रुतबे, पुरुषों की महिला शरीर के प्रति आसक्ति, ग्रामीण परिवेश में प्रशासनिक सेवाओं के प्रति सम्मान, शहरी-ग्रामीण समाज में व्याप्त भावनात्मक, सांस्कृतिक व वैचारिक असमानता, सफलता के लिए एकांतवास की महता आदि अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों के माध्यम से युवा अभ्यर्थियों के जीवन संघर्ष की मार्मिकता को बेहतर लेखन कौशल से पाठकों के अंतर्मन में उतारने का प्रयास किया है।

ग्रामीण परिवेश में शिक्षा एवं शिक्षित बेरोजगारी

उपन्यास के प्रारंभ में ही ग्रामीण परिवेश में व्याप्त बेरोजगारी एवं भारत में प्रचलित उच्च शिक्षा की गुणवत्ता की दशा को दर्शाते हुए लेखक संतोष बाबु के माध्यम से बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करते हैं कि वर्तमान में शैक्षिक उपाधियों का क्या महत्त्व रह गया एवं शिक्षित बेरोजगारी भयावह रूप को धारण करने की दिशा में अग्रसर है–

'विनायक बाबू ने गीली लुंगी बदलते हुए कहा, 'हाँ यहीं भागलपुर टी॰एन॰वी॰ कॉलेज से बी॰ए॰ कराए। अब एम॰ए॰, पीएच॰डी॰ का डिग्री जमा करके का होगा, इस जुग में। सो दिल्ली चले जाते हैं, आईएएस का तैयारी करेंगे।'[1]

ग्रामीण सामाजिक दबाव एवं युवा अभ्यर्थी

प्रशासनिक सेवाओं के अभ्यर्थीयों को अपने सिलेबस के अनुसार तैयारी के विस्तृत भार के साथ-साथ लोगों के उलूल-जुलूल तर्कों के दबाव में भी रहना पड़ता है। यह सब मृणाल जी ने रायसाहब (कृपाशंकर) के गाँव जाने पर, अंबेडकर की जन्मतिथि विवाद के माध्यम से युवा प्रतिभागी पर सामाजिक दबाव व ग्रामीण व्यक्तियों के मनोविज्ञान की पोल को खोलकर रख दिया है–

'शाम को राय साहब गाँव घूमने निकले। बगल मंदिर के पास चबूतरे पर लोग बैठे थे। राय साहब भी वहीं सबसे मिलने पहुँच गए। आओ कृपाशंकर, आओ। सुबहे-सुबहे आए हो...'

बातचीत चल ही रही थी कि नेता लोग जानते कुछ नहीं लेकिन भाषण पेलने में माहिर हैं,

कोई गांधी को गरियाता है, तो कोई नेहरू को, तो कोई मनु-संहिता फाड़ रहा है। ई माया बहन को देख लीजिए जो अंबेडकर का मूर्ति बनवाती हैं पर अंबेडकर का जन्म कौन ईस्वी में हुआ ये पूछ लीजिए तो माथा घूम जाएगा! हाँ, बात तो सही है।...

सत्येंद्र राय जी ने कहा। अब कृपाशंकर के रहते हमसे क्या पूछते हैं?...

राय साहब अंदर से काँप उठे उनके के मन में उत्तर ही नहीं आ रहा था, बस आ रहा था कहीं डूब मरूँ...

हाँ, चचा बात बहुत गहरी बोले आप...

एक संविधान और कानूनविद से बढ़कर उनकी भूमिका एक समाज सुधारक की रही....

तभी सत्येंद्र राय जी ने टोकते हुए कहा, 'हाँ बेटा, उनका जन्म का इस्विया तनी?'

सतेंद्र ने आखिर पूछ लिया, अच्छा कृपा बेटा, ई नेहरू के पहले मरे थे कि बाद में?

यह सब आदमी कभी मरता थोड़े है, युगों-युगों तक जिंदा रहता है, हमारे विचारों में जिंदा है अंबेडकर, हमारे संस्कारों में जिंदा है अंबेडकर, हमारे संविधान के रूप में हमारे मार्गदर्शक की तरह आज भी जिंदा है अंबेडकर। अंबेडकर कभी मर नहीं सकते चाचा, कभी नहीं। एक जोरदार भाषण के साथ राय साहब वहाँ से उठे और सब को प्रणाम बोल निकल गए।[2]

पारिवारिक दबाव

रात में पिताजी घर आए।...

तब आज मंदिर वाले चबूतरे पर मजलिस में गए थे कृपा? जगदानंद बाबू ने पूछा। हाँ, थोड़ा मिला आए थे सबसे। राय साहब ने यह समझते हुए धीरे से कहा। मिलने गए थे कि सब-कुछ माटी में मिलाने गए थे? अरे सात साल से तो नाक कटवा ही रहे हो। अब आज क्या जरूरी था हमारा गर्दन कटवाने का? क्या कह रहे हैं लोग, सुनो जाकर, आईएएस का तैयारी करता है दिल्ली में और अंबेडकर का जन्म और मृत्यु तिथि नहीं जानता है....

तभी जगदानंद बाबू ने एक बिजली माथे पर गिराते हुए कहा, 'देखो अब बहुत हो गया बेटा, चुपचाप कहीं देखो दूसरा नौकरी का जुगाड़!'[3]

उपर्युक्त दोनों प्रकरणों के माध्यम से मृणाल जी ने युवावर्ग के ऊपर लदे उम्मीदों के आसमान एवं सामाजिक दबाव के मध्य संघर्ष को दिखाने के साथ-साथ समाज में व्याप्त नकारात्मकता तथा आलोचना के स्वर को दिखाने के भरपूर प्रयास किया है।

पारिवारिक व सामाजिक आशाओं का बोझ

ग्रामीण परिवेश के सामान्य अभ्यर्थियों पर छाए सामाजिक दबाव एवं पारिवारिक आशाओं की स्थिति को दर्शाते हुए मृणाल लिखते हैं–

'चाय का कप रखते हुए ठाकुर जी जाने को हुए, चलिए तैयार होइए आप भी विनायक बाबू, भगवान संतोष को जल्दीये आईएएस बनाए। हम लोगों का भी नाम ऊँचा होगा, गाँव भी तर जायेगा।'[4]

इस तरह जाते-जाते ठाकुर जी द्वारा पूरे समाज और गाँव की शान का नैतिक दायित्व भी संतोष के ही कंधों पर लाद दिया गया।

प्रशासकीय पदों के प्रति मोह

यह समझा जा सकता है कि किस प्रकार एक ग्रामीण परिवेश का बालक पूरी दुनिया की ठोकर खाने के बाद एकांतवास को चुन, सभी प्रकार की धारणाएँ एवं अंधविश्वासों को नकारते हुए

एक दिन भारतीय प्रशासनिक सेवा में चयनित होकर अपने लक्ष्य को हासिल कर लेता है। भारत में प्रशासनिक सेवाओं के अभ्यर्थियों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं–

'इस फील्ड में कोई कुछ बने-न-बने, पर इतना जरूर पढ़-लिख लेता है कि आदमी बन जाता है, संतोष ने आह लेते हुए कहा। हाँ, सही ही कह रहे हो।....

अच्छा क्या यह जरूरी है कि सब आईएएस ही बन के अच्छी जिंदगी पा सकते हैं, दुनिया में तो और भी विकल्प हैं न गुरु भाई? संतोष ने पूछा। हाँ, हजारों विकल्प हैं। पर मानता कौन है। जब तक यहाँ आया व्यक्ति पूरी तरह फेल नहीं हो जाता तब तक वह मानता ही नहीं है कि और भी विकल्प हैं, जब तक उम्र है और अटेंप्ट है तब तक लालच ऐसा कि हर लड़का यह कहता मिल जाएगा अरे आईएएस भी तो इंसान ही न बनता है।'[5]

अभ्यर्थी एवं शिक्षा का माध्यम

भारतीय समाज के हिंदीभाषी क्षेत्र में अँग्रेजी का महिमामंडन किस प्रकार हो रहा है, इस पर व्यंग्य करते हुए मृणाल मनोहर एवं उनके चाचा के संवाद के माध्यम से लिखते हैं–

'मनोहर के चाचा उसके इस पाठन सौंदर्य पर मंत्रमुग्ध हुए जा रहे थे। भतीजा अँग्रेजी पढ़ रहा है, अँग्रेजी सुन रहा है, कोई मामूली बात थोड़े थी। सामान्य तौर पर हिंदी पट्टी के परिवार और समाज के लिए 'अँग्रेजी' वो पतित पावन धारा थी जो हर पाप धो देती थी। अगर अँग्रेजी जानते हैं तो फिर आपका अच्छा-बुरा सब इस आवरण में ढक सकता है। अँग्रेजी जानने वाला वहाँ सियारों के बीच लकड़बग्घे की तरह होता है। गाँव से बाहर पढ़ने जाने वाले बच्चे की योग्यता भी बस इसी बात से मापी जाती थी कि इसने अँग्रेजी कितनी जानी। आईएएस की तैयारी करने वाले अभ्यर्थियों के अभिभावकों की भी यह लालसा सदा बनी रहती थी कि बच्चा कलेक्टर बनने पर अँग्रेजी में बोलेगा तो बढ़िया कलेक्टर बनेगा। मनोहर वैसे ही अँग्रेजी फोबिया वाले हिंदी समाज से आया था, जहाँ अँग्रेजी भाषा नहीं, बौद्धिकता और विद्वता का शिलाजीत था, जिसने इसे पिया है वही बुद्धिमान है और विद्वान है।'[6]

अभ्यर्थियों की नैतिकता एवं नशे की लत से संघर्ष

उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर ही जब मृणाल जी ग्रामीण परिवेश का खाका खींच रहे हैं तब खैनी की लत के बारे में बताते हैं, कि जब मनोहर अपने चाचा को लाल किले पर घुमा रहा था तो मनोहर के चाचा खैनी रगड़ने से मना करने पर भी नहीं मानते हैं तथा अपनी इस बुरी लत को वैधता प्रदान करते हुए देखे जा सकते हैं। जिसे मनोहर व उसके चाचा के संवाद में दर्शाया गया है–

'चलो जरा यहाँ खैनी खा लें, याद रहेगा कि लाल किला में बैठ के खैनी खाए थे। कबो चाचा ने चहुँकते हुए कहा। चाचा गार्ड देख लेगा तो मना करेगा, जहाँ-तहाँ थूकीएगा तो जुर्माना लग जाएगा, बाहर खाइएगा चलिए न! मनोहर ने टोकते हुए कहा। बेटा जब हम सातवीं में थे तब से खाते हैं, बाप तो मने नहीं कर सका, अब गार्ड करेगा हो?....

बेटा, खैनी रटाने, बनाने और खिलाने के बहाने ही तो रिश्ते बनते हैं, तुम्हारे शहर के आइसक्रीम में यह क्षमता कहाँ है।'[7]

युवा पीढ़ी में मांसाहार वह दारू के नशे की लत किस कदर हावी है, यह बताते हुए मृणाल जी इसके विरोधाभास को भी बखूबी दर्शाते हैं–

'साले मनोहर जब जानते थे कि ये लौंडा न चिकन खाता है, न दारु पीता है तो क्या जरूरत थी इस मुगलिया दावत की? गुरु ने चिड़चिड़ाते हुए कहा। राय साहब अंदर घुसते ही गुरु के तेवर

देख अकबका गए और फोन निकाल उल्टे पाँव बाहर आ गए। मनोहर, गुरु की बातों और उसके मिजाज से भली-भाँति परिचित था और उनकी हर कड़वी-मीठी बातों को सहज ही लेता था। मनोहर ने रायसाहब को बाहर जाता देख हँसते हुए कहा, अब हमारी तो ले लिए पर ई बुढ़वा को छोड़ दीजिएगा गुरु भाई, गलती हो गया। चलिए अब पिआ जाए, मूड न खराब करिए अपना भी और बेचारे संतोष जी का भी।'[8]

अभ्यर्थी एवं ग्रामीण-शहरी जीवन

यहाँ गाँव से आए संतोष के शहरी व ग्रामीण समाज के मध्य उचित चयन संघर्ष को दिखाता है। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के प्रतिभागियों के वार्तालाप में विचित्र सच्चाई को उजागर करवाते हुए मृणाल जी कहते हैं–

'खुल के एंजॉय करने के बाद पढ़ाई का मजा ही कुछ और है, पढ़ने में दोगुना एनर्जी आ जाता है। भरत ने पीने के वैज्ञानिक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए बताया। हाँ मेंटल स्ट्रेस कम होता है। हम इसलिए कभी-कभार लेते रहते हैं...

आप पूजा करके उठे और किसी का बलात्कार कर दीजिए तो वह बुरा है, कि कोई दारू पीके उठे और किसी को बलात्कार से बचा ले यह बुरा है, बताइए! सो, दारू बुरा नहीं होता, आदमी का मन कैसा है, यह मायने रखता है।...

रायसाहब ने दारू को लगभग निर्दोष साबित करते हुए, एक जीते हुए वकील की तरह गिलास गटकते हुए कहा। आत्म नियंत्रण के महत्त्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने दारू के अलावा सिगरेट वगैरा के लिए भी माहौल तैयार कर लिया था।'[9]

अभ्यर्थी एवं विपरीत लिंग आकर्षण

दिल्ली में भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की तैयारी के लिए आए परीक्षार्थियों के साथ मनमोहिनी वर्मा जैसी बारहवीं पास लड़कियाँ कोचिंग संस्थानों के साथ मिलकर कमीशन खोरी के चक्कर में किस प्रकार त्रिया चरित्र के माध्यम से उनकी कर्ज में लाई गई पूँजी को बर्बाद करवा देती हैं। कृपाशंकर (रायसाहब) जैसे पुराने विद्यार्थी भी संतोष जैसे ग्रामीण परिवेश से आए शहरी संस्कृति से अनजान व्यक्ति को महिला मित्रता व आकर्षण के सम्मोहन में पड़ने से नहीं बचा पाते हैं। संतोष द्वारा भी मनमोहिनी के प्रेम जाल में पड़कर पढ़ाई से दूर मानसिक आकर्षण के तहत मनमोहिनी को मैसेज लिखना व मनमोहिनी द्वारा उसे सभी के सामने कोचिंग में शर्मिंदा करना। यह युवा मन के साथ किसी स्त्री द्वारा त्रिया चरित्र के सम्मोहन में किया गया मानसिक शोषण है। उसके बाद बृजमोहन सर के शिक्षण का लेवल व दुर्खीम टिफिन सेंटर का संचालन इस शैक्षणिक गोरख-धंधे की गहराई का पर्दाफाश करता हुआ प्रतीत होता है।[10]

निष्कर्ष–अज्ञेय जी का कथन 'उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा होती है।'[11] इस पैमाने पर डार्क हॉर्स में लेखक के जीवन संदर्भों की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है। 'डार्क हॉर्स' सभी भारतीय प्रशासनिक सेवा अभ्यर्थियों को अपने ही संघर्ष का आभास करवाती है। यह पुत्र-प्रेम, प्रेमप्रसंग, त्रिया चरित्र, कोचिंग संस्थानों के गोरखधंधों, कुटिलता एवं इससे बचकर जीवन जीने का एक उत्कृष्ट मार्ग भी दर्शाता है। जैसा कि प्रेमचंद जी कहते हैं, 'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'[12]

डार्क हॉर्स के पात्र भले ही काल्पनिक हों पर उनके संवाद व कथावस्तु यथार्थवादी

 ISSN 0975-735X

वास्तविकता को लिए हुए हैं। यह उपन्यास शिक्षा के क्षेत्र में स्थापित कमीशनबाजों एवं कोचिंग संस्थानों में व्याप्त त्रिया चरित्र का निरूपण करते हुए हर प्रतियोगी को अपनी ठगी का एहसास करवाने में सफल रहा है। गुलाबराय जी ने उपन्यास की सटीकता को प्रमाणित करते हुए कहा है, 'उपन्यास एक कार्य-कालश्रृंखला में बँधा हुआ गद्य कथानक है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ, वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित, वास्तविक व काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है।'[13] डार्क हॉर्स उपन्यास में कटु यथार्थ बात को बड़ी सहजता व रसात्मकता के साथ चित्रित करते हुए पाठकों तक पहुँचाया गया है–'उपन्यास में मानव जीवन और चरित्र का चित्रण किया जाता है तथा यह मनुष्य के जीवन और चरित्र की व्याख्या करता है।'[14] आचार्य नंददुलारे वाजपेई द्वारा निर्धारित उपन्यास की उक्त कसौटी पर भी डार्क हॉर्स उपन्यास को खरा समझा जा सकता है।

संदर्भ

1. नीलोत्पल मृणाल, डार्क हॉर्स (एक अनकही दास्तां), हिंद युग्म प्रकाशन, नोएडा (उ॰प्र॰), 2015, पृ॰ 9
2. वही, पृ॰ 138-139
3. वही, पृ॰ 139-140
4. वही, पृ॰ 2
5. वही, पृ॰ 150-151
6. वही, पृ॰ 61-62
7. वही, पृ॰ 76-77
8. वही, पृ॰ 53
9. वही, पृ॰ 55
10. वही, पृ॰ 71
11. अज्ञेय, हिंदी साहित्य एक अभिनव आधुनिक परिदृश्य, भारती ग्रंथमाला, 1967, पृ॰ 19
12. प्रेमचद, गद्य तरंगिनी, सरस्वती प्रेस, 1998, पृ॰ 43
13. डॉ॰ गुलाब राय, काव्य के रूप, प्रतिभा प्रकाशन, 1947, पृ॰ 27
14. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, 1940, पृ॰ 32

ग्राम-पाली, तहसील-मनेठी (रेवाड़ी) हरियाणा 123102
मो॰ 9254212171, 6350171817
rajeshrihindi@gmail.com

दादू व कबीर की रचनाधर्मिता में सामाजिक व मानवीय तथ्य का तुलनात्मक विवेचन

हेमलता सैनी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर

भक्तिकाल के निर्गुण संतकाव्य धारा का मुख्य लक्ष्य ज्ञान व अनुभव के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति, लोक हित व समाज सुधार का भाव रहा है। शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा इन संतों ने अनुभूत ज्ञान पर अधिक बल दिया है। इसलिए इस काव्यधारा को ज्ञानाश्रयी धारा भी कहा जाता है। इस धारा में योग साधना द्वारा मन व विचारों की शुद्धि पर बल देते हुए बाहरी आडंबरों का खंडन-मंडन किया गया है। संतों का प्रमुख ध्येय जाति-पाति, छुआछूत, अंधविश्वाश आदि रूढ़ियों को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलाना है। यही कार्य इस काल के दो प्रमुख संत कबीर व दादू दयाल ने भी किया।

वर्तमान समाज में संतयुगीन समाज से बहुत से परिवर्तन आए है किंतु आज भी बहुत सी परिस्थितियाँ वैसी ही बनी हुई हैं, जैसी उस युग में थीं। जिस शोषित व उत्पीड़ित जनता के लिए संतों ने आवाज उठाई वह शोषित और शोषक वर्ग आज भी विद्यमान है। इन संतों ने कुव्यवस्थाओं व अत्याचारों के लिए अपनी वाणी को मुखर कर उनके लिए संघर्ष किया। इसलिए इस काव्य की प्रासंगिता बनी हुई है। उनके काव्य का मुख्य उद्देश्य जनता की मुक्ति है। उस समय धार्मिक अंधविश्वास जब अपने चरम पर पहुँच गया था और लोग उसकी बेड़ियों में जकड़ते ही जा रहे थे। तब रामानंद जी ने भक्ति के द्वार सभी के लिए खोल दिए थे। हाँ, रामानंद के सगुण ईश्वर से दादू एवं कबीर के निर्गुण ईश्वर अलग थे। मध्यकाल में जब इस्लामिक आक्रमण और विदेशियों का आगमन हुआ तो भारतीय संस्कृति का पतन व नष्टता का कार्य भी हुआ। जिससे नैतिक व वैयक्तिक मूल्यों का भी ह्रास हुआ। जिसे इन दोनों संतों ने अपने उपदेश व आचरण के माध्यम से जनता में पुनः उन्हीं मूल्यों को स्थापित करने का कार्य किया।

कबीर का जन्म 1398 ईस्वी तथा दादू का जन्म 1544 ईस्वी में हुआ। दोनों कवियों के जन्म वर्ष में अंतर देखने को मिलता है किंतु दोनों ही संतों के जीवन एवं विचारों में भेद होने पर भी कुछ पक्षों पर समानता व असमानता देखने को मिलती है। दोनों संतों के विचारों से ही समाज में ऊर्जा का संचार होता है। उस समय देश में जो धार्मिक व राजनीतिक गतिविधियाँ जनता को बाँटने व अलग करने का कार्य कर रहे थे। उस माहौल में इन संतों ने अपनी वाणी तथा उपदेशों से जनता को एक-दूसरे के निकट लाने का कार्य किया। उनके इस समन्वय भाव को देखते हुए रामचंद्र शुक्ल को भी कहना पड़ा-'इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथ पंथियों के प्रभाव से प्रेम भाव और भक्ति रस से शून्य, शुष्क पड़ता जा रहा था।'[1]

शुक्ल के अनुसार कबीर अपनी वाणी व उपदेशों से हिंदू, मुस्लिम को एक तो करना चाहते थे। उनका यह प्रयास उतना सफल नहीं होता जितना दादू कर पाए क्योंकि उस समय की

 ISSN 0975-735X

परिस्थितियों को देखते हुए जनता को मार्मिकता की जरूरत थी कटुता की नहीं। जो की दादू अपनी सरलता व सादगी से कर पाए। वे कहते हैं हमें न तो मंदिर की जरूरत है न ही मस्जिद की।

दादू हिंदू लागे देहुरे, मुसलमान मसीत।
हम लागे एक अलेख सौसदा निरंतर प्रीत।
न तहाँ हिंदू देहुरा न तहाँ तुरुक मसीत।
दादू आपै आपहै नहीं तहाँ रह रीति।[2]

कबीर ने भी इस सांप्रदायिकता को खत्म करने का तो प्रत्यन किया किंतु शुक्ल जी के अनुसार वह उतना हृदयस्पर्शी नहीं रहा। 'कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों की कट्टरता को दूर करने का जो प्रयास किया वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं।'[3]

दादू हो या कबीर दोनों ही मनुष्य के जीवन में गुरु का बहुत जरूरी महत्त्व मानते हैं। गुरु के बिना जीवन गति व दिशा विहीन हो जाता है। दोनों का ही मानना है कि वही उसे कर्म पथ पर अग्रसर करके उसके जीवन को सार्थक बनाते हैं।

दादू उस गुरुदेव की, मैं बलिहारी जाऊ।
जहां आसण अमर अलेख था, ले राखे उस ठाऊ।[4]

दादू उस गुरु पर बलिहारी जाना चाहते हैं जिन्होंने उन्हें ब्रह्म के स्थान पर आसीन कर दिया है–

गुरु गोविंद दौऊ खड़े, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय।[5]

कबीर तो भगवान से भी पहले गुरु का स्थान मानते हैं क्योंकि उनको ईश्वर का मार्ग दिखाने वाले वही लगते हैं। उस समय जब हिंदू और मुस्लिम संप्रदाय आमने-सामने थे। मनुष्य-मनुष्य के खिलाफ हो रहा तब भी ये दोनों अपनी वाणियों से लोगों को एक ही ईश्वर की संतान बताकर एक करने का कार्य कर रहे थे क्योंकि दोनों का संबंध दोनों संप्रदायों से जुड़ा था। कबीर का जन्म हिंदू तथा लालन-पालन मुस्लिम परिवार में हुआ। इसी प्रकार दादू के जन्म के विषय में भी अनेक मत हैं। उनका जन्म मुस्लिम तथा पालन-पोषण हिंदू परिवार में हुआ। दोनों के जीवन में अनेक समानताएँ दिखती हैं। बहुत अधिक साम्यता के कारण ही दादूदयाल जी को राजस्थान का कबीर भी कहा जाता है। जिस प्रकार कबीर लहरतारा तालाब में तरते पाए गए उसी प्रकार दादू भी साबरमती नदी के किनारे बहते हुए मिले। दोनों ही हिंदू-मुस्लिम संस्कृति में पले-बढ़े और दोनों संस्कृतियों का समन्वय करने का कार्य किया। दोनों कवि जाति-पाति के कट्टर विरोधी रहे। ये लोग सभी को एक ही ईश्वर की संतान मानते थे। निर्गुण भक्ति के ही सही दोनों ने इसके द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए खोल दिए। इनके अनुसार जब तक मनुष्य के अंतस में ही शुद्ध विचार नहीं होंगे तो बाहर कितने भी कर्मकांड किए जाए सब निरर्थक ही है। इस संबंध दादू जी लिखते है–

दादू मन माला तहँ फेरिये, जहँ दिवस न परसे रात
तहां गुरु बाना दिया, सहजै जपिये तात।[6]

कबीर भी माला की बजाए मन का मोती फेरने के लिए कहते हैं–

कर का मनका छांड़ी के, मन का मनका फेर।[7]

कबीर स्पष्ट रूप से मानते थे कि अपनी आत्मा में झाके बिना परमात्मा नहीं मिल सकते। वे बिना किसी आडंबर के मनुष्य के मन मंदिर में ही व्याप्त है। परमात्मा के दर्शन तो प्रेमानुभूति से ही हो सकते हैं।

आतम भाई जीव सब, एक पेट परिवार।
दादू मूल विचारिये तो, दूजा कौन गंवार।
सब हम देख्या सोध कर, दूजा नांही आन।
सब घट एके आतमा, हिंदू मुस्लमान।[8]

सभी में एक ही आत्मा का वास है चाहे वह हिंदू हो या मुस्लमान।

साधू ऐसा चाहिए, जैसे सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देत उड़ाय।[9]

कबीर के अनुसार साधू को मस्त व फक्कड़ होना चाहिए, जो बिना किसी डर के सही को सही और गलत को गलत कह सकें साधू को भौतिक संसार से कोई मतलब नहीं होता। उसमें अदम्य साहस व उत्साह होता है। संत के जीवन का लक्ष्य मानव कल्याण की भावना होना चाहिए।

देश में उस समय हिंदू, मुस्लिम के बीच जब सांप्रदायिक तनाव बढ़ रहा था। कबीर जैसे संत की मृत्यु पर जिन्होंने जीवनभर यह शिक्षा लोगों को दी कि ये दोनों जातियाँ एक ही हैं तब भी इस सांप्रदायिकता से नहीं बचा जा सका। उनके शरीर का ही बँटवारा किया जाने लगा। अंतत: शरीर की जगह फूलों को ही जलाया तथा दफनाया गया। तब ये अपनी वाणी से एकता के महत्त्व को बता रहे थे कि हम सब एक ही माता की संतान एवं एक ही परिवार के सदस्य हैं। सबमें एक ही आत्मा निवास करती है।

डॉ॰ रामविलास शर्मा ने लिखा है–'सामंती व्यवस्था में धरती पर सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का इजारा तोड़ा। खासतौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला की पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है।'[10]

दोनों संतों के बहुत ही योग्य शिष्य हुए। जिन्होंने इनकी शिक्षा व परंपरा को आगे बढ़ाते हुए अनेक मौलिक रचनात्मकता के साथ इन्हीं की भाँति समाज के कुविकारों को मिटाने का कार्य किया। धनपाल ने 'बीजक' में जिसमें कबीर के विचारों का संग्रह तथा रज्जब ने 'अंगवधू' एवं संतदास और जगनदास ने 'हरड़ेवाणी'(अर्थात् हृदय की वाणी) नामक संग्रह में दादू के विचारों का संकलन किया। इनके शिष्य राजस्थान से लेकर हरियाणा के रोहतक व पंजाब के पटियाला तक पाए जाते हैं। उत्तरी क्षेत्र में इनका बाहुल्य होने के कारण इनको उत्तराधा दल के नाम से भी जाना जाता है। इनके विचारों को सँजोकर पीढ़ियों-पीढ़ियों का ज्ञानवर्धन का कार्य आज भी प्रासंगिक बना हुआ है। निर्गुण संतों की भाँति दादूदयाल ने प्रबंधात्मक काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य में रचना की है।

अंतर इतना था कि कबीर की वाणी में जितनी कठोरता एवं अखंडता पाई जाती है उसके विपरीत दादू उतने ही विनम्र व शांत स्वभाव के थे। उनकी इसी दयालु प्रवृत्ति को देखते हुए नंदकिशोर पांडेय ने लिखा है, 'दादू के साथ 'दयाल' शब्द तो उनकी दयालुता, विनम्रता, सहजता आदि गुणों के कारण जुड़ गया है। राजस्थान में आज भी बहुत से लोग 'दादूपंथी' के स्थान पर 'दयालपंथी' शब्द का उपयोग करते हैं।'[11]

 ISSN 0975-735X

दिन में रोजा रखत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो नख बह बंदगी, कैसी खुसी खुदाय।[12]

कबीर की वाणी कितनी ही कठोर क्यों न हो, परंतु हृदय उतना ही नरम था। उनके स्वभाव में मस्तपना और बेफिक्रीपन अधिक रहा। मनुष्यता के हितैषी तो वे थे ही पशु-पक्षियों के प्रति भी उतनी ही दयालुता थी। वे जीव हत्या को पाप समझते थे–

आपा मेटे हरि भजै, तन मन तजे विकार।
निवैरी सब जीव सों, दादू यहु मत सार।[13]

दादू जी के अनुसार अपना अभिमान व अहंकार त्याग कर ही हरि का स्मरण करना चाहिए क्योंकि ईश्वर की प्राप्ति सरलता से ही हो सकती है। वे सभी जीवों व प्रकृति के प्रति दयालु रहने के लिए प्रेरित करते हैं। यही कारण है कि आज भी दादू पंथ में किसी की मृत्यु हो जाने पर मृत शरीर को दफनाया या जलाया नहीं जाता बल्कि किसी खुले स्थान पर रख दिया जाता है। ताकि अन्य जीवों को भोजन प्राप्त हो सकें वे पेड़-पौधों को भी मनुष्य की ही भाँति जीवों की श्रेणी में मुख्य स्थान देते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दादू और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं, 'कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के रूपकों में वैसी मस्ती नहीं ला सके, पर स्वभावत: सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरा असर बना सके हैं।...दादू को मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और उसमें उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले।'[14]

दादू व कबीर दोनों के अनुसार शास्त्रीय ज्ञान से व्यक्ति पंडित तो हो सकता है परंतु उस ज्ञान से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। मध्यकाल में जब उपनिषद, वेद, पुराणों, स्मृति ग्रंथों व कुरान का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। साधारण व्यक्ति के लिए ये सब उसकी पहुँच से दूर की चीजें हो गई थीं। तब कबीर कहते हैं–

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।[15]

दादू के अनुसार तो वेद-कुरान पढ़ के भी पंडित नहीं बना जा सकता। वह तो आत्मज्ञान से ही संभव है–

पढ़-पढ़ थाके पंडिता, किनहू न पाया पार।
कथि कथि थाके मुनि जनां, दादू नांइ अधार।
जे कुछ वेद कुराण थैं, अगम अगोचर बात।
सो अनभै साचा कहै, यह दादू अकह कहात।[16]

बौद्ध धर्म की व्रजयान शाखा से ही नारी का शोषण बहुत बढ़ गया था जो इस्लामिक आक्रमणों के बाद और भी उग्र हो गया था। उसकी स्थिति समाज में बहुत दयनीय हो गई थी। ऐसे में दोनों संतों ने सभी स्त्रियों के लिए तो नहीं किंतु पतिव्रता स्त्रियों के लिए जरूर समर्थन किया। ये नारी के कामिनी व मोहिनी रूप के प्रबल विरोधी थे।

संक्षेप में कह सकते हैं कि दादू व कबीर एकेश्वर भाव में विश्वास रखते हैं। वे सभी मनुष्यों को एक ही ईश्वर की संतान मानते हुए सभी को मिल-जुलकर प्रेम व अहिंसा से रहने का संदेश

देते हैं। उनके उपदेशों में लोक कल्याण के भाव निहित हैं जो आज भी मानव जाति का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

संदर्भ

1. httpsèkèkthehindipage.com>ramchandershuklake kathan,april 5,2021
2. हिंदी अनुशीलन, त्रैमासिक पत्रिका, प्रधान संपादक प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, वर्ष 63, अंक 1-2, जनवरी-मार्च तथा अप्रैल-जून 2021, पृ॰ 239
3. hindisarang.com
4. गोविंद रजनीश, दादू समग्र (प्रस्तुति एवं संपादन), अमरसत्य प्रकाशन, 2007, पृ॰ 13
5. hindi.thebetterindia.com
6. hinowQi.org
7. डॉ॰ वेदव्रत शर्मा, कबीर वाणी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, कल्पना प्रकाशन, 2012, पृ॰ 18
8. रामप्रसाद दास स्वामी (संपादक), दादू वाणी, अशोक स्वामी, श्री दादूदयाल महासभा प्रकाशन, जयपुर, पृ॰ 15
9. डॉ॰ वेदव्रत शर्मा, कबीर वाणी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन, कल्पना प्रकाशन, 2012, पृ॰ 20
10. www.exoticindiaart.com
11. हिंदी अनुशीलन, त्रैमासिक पत्रिका, प्रधान संपादक प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, वर्ष 63, अंक 1-2, जनवरी-मार्च तथा अप्रैल-जून 2021, पृ॰ 308
12. डॉ॰ वेदव्रत शर्मा, कबीर की वाणी, कल्पना प्रकाशन, 2012, पृ॰ 22
13. रामप्रसाद दास स्वामी (संपादक), दादू वाणी, अशोक स्वामी, श्री दादूदयाल महासभा प्रकाशन, जयपुर, पृ॰ 20
14. हिंदी अनुशीलन, त्रैमासिक पत्रिका, प्रधान संपादक प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, वर्ष 63, अंक 1-2, जनवरी-मार्च तथा अप्रैल-जून 2021, पृ॰ 222
15. hindivarta.com
16. हिंदी अनुशीलन, त्रैमासिक पत्रिका, प्रधान संपादक प्रो॰ नंदकिशोर पांडेय, वर्ष 63, अंक 1-2, जनवरी-मार्च तथा अप्रैल-जून 2021, पृ॰ 311

Mob. 7206275190
hemlatasaini2363@gmail.com

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय चेतना

डॉ॰ गरिमा डिमरी, असिस्टेंट प्रोफेसर
मानविकी एवं समाज विज्ञान संकाय
श्री गुरु राम राय विश्वविद्यालय, देहरादून (उत्तराखंड)

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। इनकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' का प्रकाशन सन् 1909 में हुआ किंतु इनकी ख्याति का मूलाधार 'भारत-भारती'(1912) है। 'भारत-भारती ने हिंदी भाषियों में जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएँ प्रबुद्ध की और तभी से ये राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हुए। गुप्त जी उस सांस्कृतिक काव्यधारा के कवि हैं जिसके एक छोर पर हिंदू पुनरुत्थानवाद की जातीय भावना है और दूसरे छोर पर समस्त धर्मों और विविध संस्कृतियों के समन्वय की अवधारणा द्वारा विश्व कल्याण और मानव-मंगल की कामना। अत: उनके आरंभिक काव्यों से लेकर अंतिम रचना में भारतीय संस्कृति के अतीतकालीन उत्कर्ष के भव्य चित्र मिलेंगे। 'भारत-भारती' में कवि उस पुण्यभूमि का स्मरण करता है जहाँ के निवासी विद्या-कला कौशल के प्रथम आचार्य थे और जहाँ स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि यज्ञ करते थे। उसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति के गौरव-प्रतीकों द्वारा पाठकों में राष्ट्रीय भावना, आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास जगाना है। गुप्त जी मातृभूमि को केवल भूमिखंड ही नहीं अपितु 'सगुण मूर्ति सर्वेश' मानते हैं–

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूर्य चंद्र युग मुकुट-मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल-तारे मंडन हैं,
बंदीजन खगवृंद, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।[1]

गुप्त जी का मत है कि अपने युग अथवा समय के प्रति सम्मान और आस्था रखकर हमारा समाज और समाज का प्रत्येक सदस्य अपना निर्माण कर सकता है। कवि ने महाभारत के विकृति जीवन-प्रसंग का संकेत करते हुए इसी बात का स्पष्ट निर्देश किया है–

अपने युग को हीन समझना
आत्म हीनता होगी,
सजग रहो इससे दुर्बलता
और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए वही तो
अपने लिए बड़ा है।
अहा! हमारे आगे कितना
कर्मक्षेत्र पड़ा है।[2]

गुप्त जी का उद्देश्य सदा ही आर्य संस्कृति की रक्षा करना रहा है। सनातन हिंदू धर्म में जीवन के चार फल–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गए हैं। गुप्त जी इन्हीं के संवाहक बनकर आए। उन्होंने सनातन धर्म की प्रतिष्ठा के साथ आर्य संस्कृति के पुरा वैभव को स्थान-स्थान पर निनादित किया है। भारत जैसा देश विश्व में कहीं हो नहीं सकता। इसका जयघोष करने वाले संभवत: आधुनिक कवियों में गुप्त जी का ही नाम पहले स्थान पर रखा जाएगा। उन्होंने शकुंतला पुत्र भरत के नाम से जाने जाने वाले इस देश की वंदना की है। भारत देश की वंदना करते हुए वे कहते हैं–

संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।[3]

गुप्त जी चाहते हैं कि अतीत की संस्कृति से ही भविष्य का विकास संभव है–

वर्तमान, यह आयोजन है,
निज भावी जीवन का,
कुछ अतीत-संकेत मिले तो,
अधिक लाभ वह जन का।[4]

भारत की संस्कृति मुनियों, वेदों व उपनिषदों की संस्कृति है अत: धर्मपूर्वक समस्त कार्य करते हुए यहाँ आत्मा के उन्नयन की ही बात कही गई है। 'पंचवटी' काव्य में इसी भाव की पुष्टि हुई है–

मुनियों का सत्संग यहाँ है,
जिन्हें हुआ है तत्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे
नित्य नए अनुपम आख्यान।[5]

गुप्त जी की प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनकी राष्ट्रीयता है। आज वे अपने राष्ट्रीय प्रगीतों के बल पर ही राष्ट्रकवि की पदवी से अलंकृत हैं। उनकी भारत-भारती, स्वदेश संगीत तथा पद्य प्रबंध राष्ट्रीय प्रगीतों से परिपूर्ण हैं। भारत-भारती के तीनों अतीत, वर्तमान और भविष्यत खंडों में देश की ही दशा परिलक्षित है। गुप्त जी ने उसमें अपने देश की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, पूर्वजों का गौरव-गान, प्राचीनों की उदात्त वीरता का बखान बड़ी श्रद्धा, भक्ति और तन्मयता से किया है। गुप्त जी का काव्य भारत की प्राचीन संस्कृति, प्राचीन धर्मनीति और राष्ट्र की गौरवपूर्ण गाथा से मंडित है। उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अवतारी रूप की परिकल्पना करते हुए उनके द्वारा इस देश को, इस भूतल को स्वर्ग बनाने का सुखद संदेश दिलवाया है–

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को भी स्वर्ग बनाने आया।[6]

गुप्त जी की राष्ट्रीय चेतना भारत भूमि की उन्नति, व्यवस्था, विकास की सृष्टि द्वारा भारत देश में रामराज्य की स्थापना की ओर उन्मुख रही। देश और जाति की रक्षाऔर उसके विकास हेतु वे प्रत्येक व्यक्ति को संघर्षों से जूझने की प्रेरणा देते रहे। साकेत के भरत कहते हैं–

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

 ISSN 0975-735X

बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके,
अपने मिथ्या भरत नाम को धारण करकें[7]

गुप्त जी का युग भारतीय राष्ट्रीय जागरण का युग था। इस देश में हिंदू-मुसलमान, सिक्ख-ईसाई और तमाम धर्मावलंबी रहते हैं किंतु यदि उनके हृदय में इस देश, राष्ट्र के प्रति प्रेम और पूज्य भावना विद्यमान है तो वे भी वरेण्य हैं। गुप्त जी का मत है कि जाति, धर्म, देश से ऊपर उठकर 'भारत-भारती' की रक्षा ही इस भूमि पर जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य का धर्म है इसीलिए उन्होंने हिंदू-मुसलमान दोनों में एकता स्थापित करने पर जोर देते हुये यह बताया है कि दोनों को अपने मंदिर, मस्जिद, अजान, पूजा और आरती करनी चाहिए–

जाओ तुम डर छोड़ अपनी अजान दो,
और गा बजाकर उतारें हम आरती।[8]

गुप्त जी न केवल हिंदू जाति को चाहते हैं और न मुसलमान को बल्कि वे मानव जाति के उपासक हैं। उनकी यह कामना है कि दोनों जातियाँ एकता के सूत्र में बँध जाएँ तथा आपस के विग्रह को भूल जाएँ–

हिंदु-मुसलमान दोनों अब,
छोड़ें वह विग्रह की नीति।[9]

'काबा और कर्बला' काव्य में गुप्त जी ने मुसलमानों की संस्कृति का गौरवगान ठीक उसी तरह से किया है जिस प्रकार अन्य स्थानों में हिंदू संस्कृति का। वास्तविकता की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अल्लाह से राम का संबंध स्थापित करते हैं। अली का जो उज्ज्वल चरित्र वहाँ उपस्थित किया गया है उस पर किसी को भी गौरव हो सकता है। 'अर्जन और विसर्जन' काव्य में भी इसी प्रकार की जातीय/राष्ट्रीय चेतना देखने को मिलती है। गुप्त जी का मत है कि राष्ट्रोत्थान और राष्ट्रीय चेतना के लिये जातीय और सांप्रदायिक समन्वय आवश्यक है। उन्हें इस्लाम का सहअस्तित्व भी स्वीकार्य है। सिद्धराज से मुसलमानों के प्रति कहलवाया है–

कह दो पुकार कर तुम–वह एक हैं,
और हम पावें उसे चाहे जिस रूप में,
ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं,
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का।[10]

गुप्त जी ने 'राजा-प्रजा' काव्य में विश्वबंधुत्व अथवा वैश्विक मानवता का स्पष्ट प्रतिपादन करके जातीय चेतना का उदाहरण दिया है–

किंतु हमारा लक्ष्य, एक अंबर, भू-सागर,
एक नगर-सा बने विश्व, हम उसके नागर।[11]

गुप्त जी ने 'जयद्रथ-वध' काव्य में देशवासियों को अन्याय के दमन और अधिकार की प्राप्ति के लिए नित्य प्रति आगे बढ़ने, कर्त्तव्य में डटे रहने और धैर्य धारण करने की प्रेरणा दी है–

दु:ख, शोक जब जो आ पड़े सो धैर्य पूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं, कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ रहो।[12]

'पंचवटी' में गुप्त जी ने सारी कठिनाईयों को तोड़ते हुए देश की व्यवस्था में परिवर्तन लाने की चेतावनी दी और लिखा है–'परिवर्तन ही अगर उन्नति है तो हम बढ़ते जाते हैं। गुप्त जी ने माना था कि सुमन कंटकों में खिलता है इसी प्रकार विदेशी सत्ता से संघर्ष करके ही देश के गौरव को

सुगंधित किया जा सकता है इसीलिए वे विघ्न बाधाओं के खिलाफ नारा बुलंद करते हैं और लिखते हैं–

जितने कष्ट कंटकों में है जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव गंध उन्हें उतना ही यत्र-तत्र सर्वत्र मिला।[13]

गुप्त जी ने देश के अतीत गौरव का भाव जगाकर स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के ही समान देश को सुधारने की प्रेरणा दी थी–

मानस भवन में आर्य जन, जिसकी उतारे आरती,
भगवान! भारतवर्ष में, गूँजे हमारी भारती।[14]

'भारत-भारती' में गुप्त जी ने राष्ट्रीय शंख ध्वनि की। उन्होंने देशवासियों की हीन दशा पर आँसू बहाए और भविष्य के आशापूर्ण प्रभात की ओर इंगित किया। प्रस्तुत काव्य की रचना करते हुए गुप्त जी का ध्यान भारत के अतीत गौरव की ओर भी गया। राष्ट्र के उत्थान के लिए उसमें आत्मविश्वास पैदा करने की आवश्यकता होती है, उसे बताना होता है कि उसका भूत कितना उज्ज्वल था, यही गुप्त जी ने किया। भारतवर्ष की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने लिखा है–

है धन्य भारतवर्ष वासी धन्य भारतवर्ष है,
सुरलोक से भी सर्वथा उसका अधिक उत्कर्ष है।[15]

गुप्त जी ने राष्ट्र के लिए प्राण न्यौछावर कर देने वाले वीरों के बारे में कहा–

जो एक सौ-सौ से लड़ें, ऐसे यहाँ पर वीर थे,
सम्मुख समर में शैल-सम रहते सदा हम धीर थे।
शंका न थी, जब जब समर का साज भारत से सजाय-
जावा, सुमात्रा, चीन, लंका, सब कहीं डंका बजा।।[16]

'शकुंतला' काव्य में गुप्त जी ने देशवासियों को राष्ट्र के प्रति-चेतना जाग्रत करते हुए कहा–

भारत! अब वह समय तुम्हें क्या याद है?
होता उसका कभी सहर्ष विषाद है?
वे दिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो!
इसका उत्तर और कौन देगा कहो?[17]

'रंग में भंग' कृति में वीर कुंभा का कथन इस बात का समर्थन करता है कि माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है, अत: उनकी रक्षा अपने प्राणों को देकर भी करनी चाहिए–

स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्मभूमि कही गई,
सेवनीया है सभी की वह महिमामयी।
* * *
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है इसे।[18]

गुप्त जी उन्हीं नर-नारियों को और उनके सगे संबंधियों को धन्य मानते हैं जो मातृभूमि की गौरव रक्षा के लिए वीरगति को प्राप्त होते हैं–

किंतु धन्य हैं वे नर-नारी धन्य, जिनके
पुत्र, पति, भाई और बंधु बढ़-बढ़ के
वीरगति पावें रख मान मातृभूमि का।[19]

 ISSN 0975-735X

गुप्त जी के काव्य में भारत के अतीत का गौरवगान, समस्याओं की चिंता और उज्ज्वल भविष्य की कामना सर्वत्र व्याप्त है। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत का अतीत, वर्तमान और भविष्य गुप्त जी के काव्य में प्रतिबिंबित हुआ है इसीलिए वे राष्ट्रकवि पद के पूर्ण अधिकारी हैं। गुप्त जी ने भारतवर्ष को भगवद्भूमि कहा है। उन्होंने मात्र उन्हीं व्यक्तियों को धन्य और पुण्यात्मा माना है जो यहाँ उत्पन्न हुए हैं–

धन्य दशरथ-जनक पुण्योत्कर्ष हैं,
धन्य भगवद्भूमि-भारतवर्ष है।[20]

कवि की ऐसी धारणा है कि जिस राष्ट्र में जितने अधिक राज्य होंगे, वह राष्ट्र उतना ही बलहीन और बिखरा हुआ सा दिखाई देगा, यथा–

एक राज्य न हों बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।[21]

गुप्त जी ने एक तरफ सामान्य जनता को समस्याओं पर विचार करने की प्रेरणा दी तो दूसरी तरफ दुश्मनों को ललकारते हुए उनसे भिड़ जाने और देश के लिए अपना सर्वत्र समर्पित कर देने की बात भी कही–

पैर धरें इस पुण्य भूमि पर पामर पापी।
कुल लक्ष्मी का हरण करें ये सहज सुरापी।
भर लो उनका रूधिर करो अपनों का तर्पण।
माँस जटायु समान जनों को कर दो अर्पण।[22]

'सिद्धराज' काव्य के जगद्देव से गुप्त जी ने यह कहलवाया है कि उसकी जननी रूपी जन्मभूमि उसके जीते-जी संसार में महारानी ही बनकर रहेगी न कि किसी नरपाल की किंकरी–

मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।[23]

और नहुष तो अपनी मातृभूमि को इतना पवित्र मानते हैं कि उस पर नक्षत्र-लोक को भी न्यौछावर करने की सोचते हैं–

मेरी भूमि तो है पुण्यभूमि वह भारती,
सौ नक्षत्र-लोक करें आके आप आरती।[24]

निष्कर्षत: यह कहना उचित ही होगा कि गुप्त जी के हृदय में भारत का दिल धड़कता है जिसे उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया है। गुप्त जी ने पूर्ण आत्मभाव से राष्ट्र को अपनी संपूर्ण काव्य-चेतना अर्पित की है। जिस कारण हिंदी साहित्य में वे राष्ट्रकवि होने के अधिकारी हुए। गुप्त जी हमारी राष्ट्रीयता के प्रथम उन्नायक हैं, प्रथम वैचारिक हैं, उनकी इस राष्ट्रीयता में हिंदू जातीयता के सर्वश्रेष्ठ गुणों का समावेश हो गया है तथा वह एकांगी नहीं रही।

संदर्भ

1. डॉ॰ नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 488
2. मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, विधृता प्रसंग, पृ॰ 22
3. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, अतीत खंड, पृ॰ 14
4. मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, बलराम प्रसंग, पृ॰ 35
5. मैथिलीशरण गुप्त, पंचवटी, पृ॰ 12

6. मैथिलीशरण गुप्तः साकेत, अष्टम सर्ग, पृ॰ 124
7. वही, द्वादश सर्ग, पृ॰ 261
8. कृष्णदत्त पालीवाल, मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली, (खंड-6), सिद्धराज, पंचम सर्ग, पृ॰ 73
9. डॉ॰ हसीना बानो, मैथिलीशरण गुप्त और डॉ॰ सर इकबाल के काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ॰ 12
10. कृष्णदत्त पालीवाल, मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली, (खंड-6), सिद्धराज, पंचम सर्ग, पृ॰ 73
11. मैथिलीशरण गुप्त, राजा-प्रजा, पृ॰ 31
12. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ-वध, प्रथम सर्ग, पृ॰ 03
13. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, अतीत खंड, पृ॰ 11
14. वही, पृ॰ 77
15. वही, पृ॰ 60-61
16. कृष्णदत्त पालीवाल, मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली, (खंड-12), शकुंतला, पृ॰ 88
17. वही, (खंड-1), रंग में भंग, पृ॰ 56
18. वही, (खंड-6), सिद्धराज, द्वितीय सर्ग, पृ॰ 35
19. ऋषिकुमार चतुर्वेदी, आधुनिक हिंदी कवि, पृ॰ 113
20. मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, प्रथम सर्ग, पृ॰ 02
21. वही, प्रथम सर्ग, पृ॰ 05
22. वही, द्वादश सर्ग, पृ॰ 271
23. कृष्णदत्त पालीवाल, मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली (खंड-6), सिद्धराज, द्वितीय सर्ग, पृ॰ 38
24. मैथिलीशरण गुप्त, नहुष, पृ॰ 22

398/408-1, **चुक्खूवाला,**
निकट पी एंड टी कॉलोनी,
देहरादून 248001 **उत्तराखंड**
मो॰ 7895316398, 9412918203
garimadimri14@gmail.com

लक्ष्मीकांत वर्मा के उपान्यासों में चित्रित नारी

डॉ॰ श्रीनिवास मूर्ति के, सह प्राध्यापक
हिंदी कला, मानवीकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग
रेवा विश्वविद्यालय, बेंगलूरु

वेद नारी को अत्यंत महत्त्वपूर्ण, गरिमामय एवं उचित स्थान प्रदान करते हैं। वेदों में स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा, शील, गुण, कार्य-अधिकार और सामाजिक भूमिका का जो सुंदर वर्णन पाया जाता है, वैसा संसार के अन्य किसी भी धर्मग्रंथ में नहीं है। वेद उन्हें घर की रानी, देश की शासक, पृथ्वी की साम्राज्ञी तक बनने का अधिकार देते हैं। वेदों में स्त्री यज्ञीय है, अर्थात् यज्ञ समान पूजनीय। वेदों में नारी को ज्ञान देनेवाली सुख-संवृद्धि लानेवाली, विशेष तेजवाली, देवी, विदुषी, सरस्वती, इंद्राणी, उषा (जो सबको जगाती है); इत्यादि अनेक आदर सूचक नाम दिए गए हैं। वेदों में स्त्रियों पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। कन्या को अपना पति स्वयं चुनने का अधिकार देकर वेद पुरुष से एक कदम आगे ही रखते हैं। हिंदी में भी प्रेमचंद, यशपाल, निराला, अज्ञेय तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के उपान्यासों में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

लक्ष्मीकांत वर्मा : नारी चित्रण

लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार, नारी के चरित्र का निर्माण समाज, सांस्कृतिक-मूल्यों, परंपरा, रीति-रिवाज, साहित्य एवं ज्ञान-परंपराओं तथा धर्म के व्यवहारों के माध्यम से होता है। हमारे यहाँ 'नारी' को बचपन से ही क्षमा, भय, लज्जा, सहनशीलता, आज्ञाकारिता जैसे गुणों को अपनाने की शिक्षा दी जाती है। लक्ष्मीकांत वर्मा के उपान्यासों में नारी के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की स्थापना का प्रयास किया गया है।

दीप्ति–'दीप्ति' लक्ष्मीकांत वर्मा के उपन्यास 'एक कटी हुई जिंदगी एक कटा हुआ कागज' की प्रमुख नारी पात्र है। दीप्ति के चरित्र में मानवीय सहानुभूति एवं स्नेह के साथ-साथ सेवा भावाना भी विद्यमान है। इसलिए अकेला जीवन व्यतीत करनेवाले अनाम को एकांत की आग में जलने नहीं देती है। कभी-कभी उसके पास आकर यत्किंचित सेवा करती है। वह 'अनाम' की सेवा अपना कर्त्तव्य मानकर करती है। अनाम की पत्नी 'निशि' की मृत्यु के बाद, दीप्ति अनाम के लिए सब-कुछ बन जाती है। निस्वार्थ सेवा भावना उसके चरित्र की एक विशेषता है। हित-चिंतन भावना दीप्ति के चरित्र में गोचर होती है। इसलिए वह 'अनाम' के सुख दुख के संबंध में सोचती है और आवश्यक कार्य करती है। 'अनाम' के चरित्र में मद्यपान की आदत दिखाई देती है वह 'अनाम' से कहती है कि शराब पीना बंद करें। दीप्ति के अनुपस्थिति में अनाम शराब पी लेता है। जब शराब नीचे गिरता है तो दीप्ति उस जगह को साफ करती है। अनाम जब मदिरा से बेहोश हो जाता है तब वह देवी के रूप में अनाम की सेवा करती है। दीप्ति हमेशा अपनों की हित-चिंतन की भावना रखती है। वह अनाम के पीने की बुरी आदत को उससे दूर करने की कोशिश करती है।

यद्यपि दीप्ति के हृदय में अनाम के प्रति कोई शारीरिक आकर्षण नहीं है तथापि वह अपने

हृदय की सारी सहानुभूति उस पर उड़ेल देती है। उसे ज्ञात नहीं कि अनाम के प्रति उसके हृदय में अव्याज प्रेम क्यों है? दीप्ति में शारीरिक सौंदर्य की कमी है मगर मानसिक सौंदर्य की नहीं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि हममें कोई संपूर्ण नहीं है तथापि जीवन में हम संपूर्णत्व की दिशा में प्रवृत्त होते हैं। दीप्ति जानती है कि अनाम का व्यक्तित्व संपूर्ण नहीं है तथापि उसका आकर्षण कम नहीं होता। कभी-कभी वह सोचती है कि वह असंपूर्ण व्यक्ति के प्रति क्यों आकर्षित है? आकर्षण का कोई कारण बताया नहीं जा सकता। यह मानवीय प्रेम है। मानवीय प्रेम तुला लेकर नहीं बैठता। यह प्रेम भावाना हिमालय की गोद से निकलकर बहने वाली गंगा की तरह बढ़ती जाती है। यह प्रेमभावना संपूर्णत्व के अन्वेषण में चलती है, चाहे वह मिले या न मिले। दीप्ति में ऐसी ही प्रेमभावना उपन्यास के अंत तक दृग्गोचर होती है।

वीणा–'वीणा' लक्ष्मीकांत वर्मा के चर्चित उपन्यास 'तीसरा प्रसंग' का मुख्य पात्र है। 'वीणा' के चरित्र में मानवीय सेवाभावना गोचर होती है। जब वीणा की माँ जयंती बीमार पड़ती है, तब वीणा सदा उसकी सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती है। वह सोचती है कि माँ जब सोती है तो कमरे में कोई-न-कोई हो। माता के प्रति वीणा के हृदय में मानवीय सेवाभाव निहित है।

वीणा में सेवाभावना के साथ परोपकार भावाना भी दिखाई देती है। एक दिन रात को एक शराबी घर में प्रवेश करता है, तो वीणा घबरा जाती है। बाद में वह सोचती है कि यह शराबी सुबह ठीक और रात को बिगड़ते हैं। उस शराबी के प्रति सहानुभूति दिखाकर आश्रय देती है। वह अपना परिचय दिए बिना, सुबह मेज पर 5000 रुपए माँ (जयंती) की इलाज के लिए रखकर चला जाता है। जब पिता की नौकरी चली जाती है, वीणा उनका आत्मबल बढ़ाती है और खुद नौकरी करके विषम आर्थिक संकटों से अपने परिवार को बचाती है। वीणा में सौंदर्य-भावाना भी विद्यमान है। जब, दीपक (वीणा का मंगेतर) सौंदर्य को एक उपलब्धि मानता है। सौंदर्य के संपर्क में मनुष्य को स्वाभाविक आनंद प्राप्त होने की बात वीणा से कहता है तब वीणा कहती है–'आँखों से देखा जानेवाला सौंदर्य अशाश्वत है और मन से देखे जानेवाले सौंदर्य ही शाश्वत है।'

जयंती–जयंती श्री लक्ष्मीकांत वर्मा के द्वारा लिखित 'तीसरा प्रसंग' उपन्यास के प्रमुख पात्र है। जयंती आत्माभिमान रखने वाली है। जब शंकर (पूर्व प्रेमी) कहता है कि संकट के समय वह अवश्य उसकी सहायता करेगा। मगर आत्माभिमानिनी जयंती कहती है कि ऐसा समय कभी नहीं आएगा। उसके आत्माभिमान में जनवादी चेतना विद्यमान है। जयंती चाहती है कि कपूर और उसके संबंध को सामाजिक प्रमाणिकता मिले। कपूर यह कहकर मना करता है कि आजकल ऐसे संबंध चलते हैं। वह चाहता है कि संबंध टूटे पर मानव थके नहीं। वह आगे कहता है कि उसे प्रेम में विश्वास नहीं। शारीरिक संबंध के लिए ही स्त्री-पुरुष मिलते हैं। यदि उसे जयंती नहीं मिलती तो दूसरी स्त्री के साथ वह संबंध जोड़ता है। ऐसी अनैतिकता जयंती पसंद नहीं करती।

जयंती के स्मरण में मानवीय चेतना गोचर होती है। शंकर द्वारा प्रेषित तार से उसे ज्ञात होता है कि अब 'केवल' इस संसार में नहीं है। विगत जीवन की कई बातें उसके स्मृति-पटल पर अंकित होती है। विवाह के विलास का स्मरण उसकी स्मृति को सजीव रखता है। जयंती ने शंकर को बंदर की मूर्ति तोहफे के रूप में दी थी। यह सूचित करने के लिए कि अभी शंकर मानव नहीं बना है। ऐसे प्रसंग जनवादी चेतना के यथार्थवादी तत्त्व को निरूपित करता है। जयंती का मानना है कि हमें विगत विषय के संबंध में अधिक चिंतित नहीं होनी चाहिए। जनवाद के अनुसार मनुष्य को वर्तमान जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह जयंती का भी यही विचार है। 4 साल के बाद

'केवल' जयंती से पूछता है कि शंकर कौन है? केवल के मन में स्थित शंका इस प्रसंग में व्यक्त होती है जो अत्यंत स्वाभाविक है। जयंती कहती है कि मेरी तरह शंकर भी लावारिस था। शंकर के संबंध में सभी बातें बता देती है। यह भी बताती है कि उसके शरीर पर जो दाग हैं उन्हें शंकर ने बनाया था। यह सुनकर केवल निश्चेष्ट हो जाता है इसमें जनवादी चेतना का कोई आदर्श नहीं है तथापि जनवादी तत्त्वों का यथार्थवादी बोध विद्यमान है।

दामोदर के विषय में जयंती सहिष्णुता का प्रदर्शन करती है। दामोदर जयंती के मामा का साला है। एक दिन स्नान करने के उपरांत जयंती अपने कमरे में वस्त्र बदल रही थी। उस समय अचानक दामोदर कमरे में प्रवेश करता है। जयंती के मामा और मामी के पूछने पर झूठ बोलता है कि स्वयं जयंती ने उसे बुलाया था। यह असत्य है। जयंती तब दामोदर के झूठे व्यवहार को प्रकाश में ला सकती थी, पर वह ऐसा नहीं करती। वह सब-कुछ सह लेती है। उसके मामा उसके इस गुण को पहचान लेते हैं और कहते है कि वह जयंती पर विश्वास करते हैं।

जयंती सत्य वचन का पालन करती है। जनता में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग होते हैं। सत्य कहना जनवादी चेतना है यह चेतना जयंती में दिखाई देती है। दीपक से स्पष्ट कह देती है कि वीणा 'केवल' की पुत्री नहीं है। वह चाहती है कि विवाह के पहले यह सच्चे दीपक जान ले वासंती को भी जयंती सच बता देती है कि वीणा केवल की नहीं बल्कि दामोदर की पुत्री है। 'केवल' अपने वाणिज्य में मग्न रहकर केवल रात के समय उससे मिलता था अत: जयंती का मन प्रेम की तलाश में बंद होता है। वह अन्य व्यक्ति से संपर्क स्थापित करती है। जयंती को वर्मा जी ने एक स्पष्टवादी नारी के रूप में चित्रित किया है। शंकर कहता है कि जयंती अंदर से टूट गई है। तब स्पष्टत: जयंती बताती है कि उसके टूटने का कारण शंकर ही है। शंकर ने उसे प्रेम किया शादी करनी चाहिए, पर ऐसा नहीं किया। शंकर कहता है कि उसे शंका थी कि उसके आवारापन को देखकर जयंती उसे विवाह नहीं करेगी। तब शंकर से जयंती कहती है कि शादी करते तो जीवन ही कुछ और होता। जनवादी चेतना से संपन्न स्पष्टवादिता जयंती के चरित्र की एक विशेषता है। जयंती यह भी बताती है कि शंकर कठोर नहीं था दामोदर के साथ उसने जो व्यवहार किया वह उचित था। कई बार उसने जो सहायता की उसमें उसके जीवन का अन्य रूप झलकता था।

जयंती के चरित्र में जिजीविषा दिखाई देती है। शंकर उसे सुखी बनाने हेतु अंडमान ले जाना चाहता है पर अपने आपको यहीं सुखी बनाने की ललक उसमें निहित है। वह कहती है कि मैं जिजीविषा के साथ रहना चाहती हूँ। रेखा चाहती है कि जयंती उसके साथ ही रहे रेखा की इस इच्छा को जयंती नहीं मानती, वह स्वयं अलग जीना चाहती है। शंकर आदि को टूटी हुई नहीं मानती उसकी जिजीविषा अनुकरणीय है। दुखों के आसन पर बैठकर भी वह आनंद का गीत गाने का साहस रखती है। जयंती चाहती है कि उसकी पुत्री वीणा का जीवन आनंदमय हो दीपक और वीणा के विवाह में जाकर बीच में ही विवाह मंडप से निकलकर बाहर आ जाती है। वह सोचती है कि कहीं वहाँ उसकी मृत्यु हो जाने पर पुत्री का विवाह न रुकें पुत्री को वह सदा सुखी देखना चाहती है। जनता का प्रत्येक सदस्य चाहता है कि उसकी संतान का जीवन आनंद का उद्यान बने, उसकी यह आकांक्षा जनवादी चेतना से संबंधित है। इस तरह वर्मा जी ने जयंती को उच्च गुणों के साथ-साथ माननीय दुर्बलता के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है।

रेखा–रेखा लक्ष्मीकांत वर्मा के चर्चित उपन्यास 'तीसरा प्रसंग' की मुख्य पात्र है। रेखा दामोदर की पत्नी है। उसका प्रेम सच्चा है। 25 बरस की होने पर भी 50 के दामोदर से शादी की

है। वह संतान चाहती है। उसकी मान्यता है कि संतान के बिना स्त्री-पुरुष का जीवन व्यर्थ है। सामाजिक मान्यता और जीवन की समग्रता के लिए विवाह को अनिवार्य बताती है। जयंती इसलिए दुखी है कि रिश्ते को वह जीवन मूल्य मानती है। दामोदर और जयंती के संबंध को जानते हुए भी रेखा जयंती की सेवा करती है। एक दिन शंकर दामोदर के यहाँ आता है। शंकर चाहता है कि जयंती अब रेखा के यहाँ रहे। रेखा भी मान जाती है। सबको आश्चर्य होता है कि जयंती का वृतांत जानकर भी रेखा उसके प्रति क्रोधित नहीं होती। वस्तुतः रेखा चाहती है कि जयंती उसके घर पर ही रहे, पर जयंती नहीं मानती। जयंती जिजीविषा के साथ अलग जीना चाहती है। रेखा कहती है कि वीणा तथा दीपक को भी यहाँ बुला लें। सब मिल-जुलकर रहें तो समस्याएँ हल हो जाएँगी। दामोदर नहीं मानता तो सुरेखा समझाती है। दामोदर देखता है कि रेखा में बहुत परिवर्तन आ गया है। उसकी सहृदयता देखकर शंकर एवं दामोदर दोनों चकित हो जाते हैं। जयंती कहती है कि वीणा आदि आ जाएँ तो उस अपार आनंद को सह नहीं पाएगी। जयंती सोचती है कि रेखा इतनी सहिष्णु कैसे बन गई है?

रेखा अब पूरी तरह विश्वबंधुत्व भावनाओं को अपना लेती है। किसी से द्वेष नहीं करती। दामोदर इस बात पर चकित है कि जयंती का पूर्ण वृतांत जानते हुए भी रेखा उसके प्रति कभी क्रोधित नहीं होती। जयंती की सेवा-सुश्रुषा करने में आनंद का अनुभव करती है। पहले दामोदर से कपड़े, चाय आदि माँग लेती थी पर अब स्वयं वही सभी कार्य कर लेती है। दामोदर रेखा के चरित्र में संपूर्ण परिवर्तन पर चकित है। दामोदर कहता है कि पिता शब्द का स्मरण दिलाकर रेखा उसमें परिवर्तन लाना चाहती है। यह जानकर भी वीणा दामोदर की पुत्री है, रेखा न दुखी होती है और न क्रोधित होती है। 'रेखा' को वर्मा जी ने जीवनमूल्यों पर विश्वास रखनेवाली तथा निस्वार्थ प्रेम-भावना का प्रतीक के रूप में चित्रित किया है।

सरला–सरला श्री लक्ष्मीकांत वर्मा के द्वारा लिखित श्रेष्ठ उपन्यास 'तीसरा प्रसंग' की एक प्रमुख पात्र है। उसके चरित्र में सक्षम पारिवारिक चेतना निहित है। अपनी बहन बसंती का विवाह अमेरिका में कार्यरत इंजीनियर गणपति चौधरी से निश्चित करती है। वह विधवा है पर अपने पुत्र दीपक के लिए सब-कुछ करती है। किराए के पैसे से जीवन व्यतीत करती है। इसके अतिरिक्त उसके दिवंगत वकील पति से भी उसे काफी संपत्ति मिली थी। किरायेदारों को कभी भी किराए के लिए नहीं सताती है। बसंती, अपनी शादी से पहले दीपक व वीना का विवाह करवाना चाहती है इस संबंध में सरला के पास वासंती स्वयं जाती है इस संबंध को यह कहकर ठुकरा देती है कि वीणा अपने पिता 'केवल' की नहीं बल्कि दामोदर की अपनी पुत्री है। दामोदर को लिखित जयंती के पत्र से उसे विषय ज्ञात हुआ था। सरला का हृदय बदल जाता है। उसकी मानवीय प्रवृत्ति जाग्रत होती है। वह सोचती है कि माता की गलती के कारण पुत्री को सजा क्यों दें? दीपक और वीणा के विवाह के लिए सरला मान जाती है। उसके हृदय की यह विशेषता एक उज्ज्वल प्रवृत्ति है।

मनोरमा–मनोरमा, लक्ष्मीकांत वर्मा के द्वारा लिखित एक वृहद राजनीतिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास 'मुंशी रायजादा' की मुख्य पात्र है। मनोरमा के चरित्र में जनवादी चेतना का प्रांजल प्रस्फुटन हुआ है। वह चाहती है कि रायजादा वंश में अनादिकाल से चली आती जनवादी रीति-नीति का पालन पोषण हो। पर अँग्रेजों के युग में इसके लिए मौका नहीं है। अपने वचन के अनुसार आयुक्त अभयाचरण उनका आतिथ्य स्वीकार करने नहीं आते। जनता की चित्त-रुचि के अनुसार बंधुओं को आना आचार है, पर ऐसा नहीं होता। मनोरमा अपने पड़ोसियों से पहले ही कह देती है

 ISSN 0975-735X

कि उनके यहाँ आयुक्त अभयाचरण आएगा। जब ऐसा नहीं होता वह उनके कोमल मन को ठेस पहुँचती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि माननीय मात्र के मन की इच्छा, आकांक्षा, देश-प्रेम तथा कर्त्तव्यपरायणता आदि उत्तम गुणों से उनका चरित्र भरा हुआ है।

दिव्या–'दिव्या' (दिव्या देवी) वर्मा जी के प्रमुख उपन्यास 'एक खाली कुर्सी की आत्मा' की श्रेष्ठ पात्र है। दिव्या एक श्रेष्ठ गायिका है। संगीत उसके जीवन का अभिन्न हिस्सा है। उसका पति जीवन को अधिक महत्त्व नहीं देता। शरीर को वह मांसपेशियों की राशि मात्र मानता है; जबकि दिव्या जीवन को पारिजात पुष्प मानती है। उसकी जीवन-दृष्टि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जीवन को वह स्थूल नहीं बल्कि सूक्ष्म समझती है। जीवन-संबंधी विचारों में मतभेद होने पर भी दोनों का प्रेम कम नहीं होता।

दिव्या के चरित्र में श्रमशीलता दिखाई देती है। वह संगीत की उपासना में सदा लीन रहती है। संगीतज्ञों की भी वह सेवा करती है। कालांतर में संपत्ति का दान करके मिट्टी की मूर्तियाँ बनाती है। उसके अनुसार जीवन धन नहीं है, जीने के लिए धन की आवश्यकता है। दिव्या सेवा की प्रतिमूर्ति है। उसका मानना है कि वास्तविक संतोष सेवा से ही प्राप्त होता है। दिव्या में अधिकार की कामना नहीं है। दिव्या समझती है कि अधिकार की कमाना व्यर्थ है। अधिकार मनुष्य को दुखी बनाता है।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि नारी के चरित्र का निर्माण प्रत्येक समाज की संस्कृति, वहाँ की आर्थिक-सामजिक वास्तविकताओं, जनमानस की चेतना, जागरूकता एवं सूझबूझ पर निर्भर करता है। लक्ष्मीकांत वर्मा के उपान्यासों में दीप्ति, वीणा, दिव्या, जयंती, रेखा, सरला और मनोरमा का चरित्र उपर्युक्त बात की पुष्टि करता है। 'जो पुरुष, अपनी पत्नी को प्रसन्न नहीं रखता, उसका पूरा परिवार ही अप्रसन्न और शोकग्रस्त रहता है। यदि स्त्री प्रसन्न है तो सारा परिवार कुशल रहता है।' –मनुस्मृति 3.62

संदर्भ

1. डॉ॰ प्रमोद पाण्डेय, नारी जीवन : आदर्श एवं उत्कर्ष
2. डॉ॰ मुहम्मद अजहर ढ़ेरीवाला, आधुनक हिंदी उपन्यासों में नारी के विविध रूपों का चित्रण
3. बिबडू अग्रवाल, हिंदी उपन्यासों में नारी
4. लक्ष्मीकांत वर्मा, एक कटी हुई जिंदगी एक कटा हुआ कागज
5. लक्ष्मीकांत वर्मा, तीसरा प्रसंग
6. लक्ष्मीकांत वर्मा, एक खाली कुर्सी की आत्मा
7. लक्ष्मीकांत वर्मा, मुंशी रायजादा

DR. Sreenivas Murthy K.
213, Pyramid Mahika Apartment,
Shivanahalli, Jakkur Main road,
Yelahanka, Bengaluru - 560064
Mob. 9620470425
sreenivaskodipalli@gmail.com

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में विद्रोही पात्र

डॉ॰ जयरामन पी॰एन॰, एसो॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सरकारी विक्टोरिया कॉलेज, पालक्काड, केरल

'कहानी' साहित्य की सबसे सशक्त विधा है, जिसके माध्यम से लेखक अपने भावों और विचारों को प्रभावशाली ढंग से पाठकों तक पहुँचा सकता है। कहानी को 'जीवन का स्नैपशॉट या टुकड़ा' माना जाता है। कहानीकार जीवन के ऐसे क्षण या घटना का चित्रण करता है, जिसके माध्यम से संपूर्ण जीवन की एक झलक प्राप्त हो सकें दलित कहानीकारों ने भी इसी दृष्टि से कहानियों की रचना की है। दलित कहानियाँ दलितों के दुख-दर्द, जीवन-संघर्ष, जाति व्यवस्था की आड़ में होने वाले अन्याय, अत्याचार, शोषण, धर्मांधता तथा इनके खिलाफ दलितों के आक्रोश, दलित अस्मिता की खोज आदि विषयों को आधार बनाकर लिखी गई हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ दलित समाज के भोगे हुए यथार्थ का दस्तावेज हैं। आपकी कहानियों में दलित समाज की पीडा और यातना है, भारतीय जाति व्यवस्था की जटिलताओं का चित्रण है, उसकी आड़ में रचने वाली साजिशों की पोल खुल जाती है, अन्याय और अत्याचार के खिलाफ आक्रोश है, दलितों के जातीय अंतर्द्वंद्व का अंकन है, और दलित अस्मिता की खोज भी है। नामदेव के शब्दों में, 'ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित बोध के प्रमुख रचनाकार हैं। उनकी कहानियाँ दलित पुनर्जागरण के विभिन्न आयामों से ओतप्रोत हैं। उनकी कहानियाँ दलित समाज को अपने यथार्थ से रूबरू कराकर शेष समाज से जोड़ने का आह्वान करती हैं।'[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्राय: सभी कहानियाँ सामाजिक अव्यवस्था को आधार बनाकर लिखी गई हैं। इस अव्यवस्था का प्रमुख कारण भारतीय समाज का अभिशाप जातिवाद है। जातिवादी सवर्णों के अन्याय, अत्याचार और शोषण के शिकार बनकर बेबस निकलने वाले दलित पात्रों के दर्दनाक जीवन-यथार्थ का चित्रण वाल्मीकि की अधिकांश कहानियों में हम देख पाएँगे। जैसे–'गोहत्या' कहानी का सुक्का, 'ब्रह्मास्त्र' का कंवल, 'भय' का दिनेश, 'कहाँ जाए सतीश' का सतीश, 'कूड़ा घर' के अजब सिंह और सुमित्रा, 'प्रमोशन' का सुरेश, 'घुसपैठिए' का सुभाष सोनकर आदि। किंतु कुछ कहानियों में ऐसे विद्रोही पात्रों को भी हम देख पाएँगे जो इन अत्याचारों और शोषणों का डटकर विरोध करते हैं, क्रांति मचाते हैं और अपनी अस्मिता की खोज में निकल पड़ते हैं।

'अंधड' ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक सशक्त कहानी है, जो दलितों के जातीय हीनता-बोध से गुजरकर अंत में दलित अस्मिता की पहचान कराती है। मिस्टर लाल सरकारी संस्था में वैज्ञानिक हैं। वे अनुसूचित जातिवाले हैं किंतु वे अपनी जाति को छिपाकर रहते हैं। इसलिए रिश्तेदारों के साथ कोई संपर्क नहीं रखते थे। उनके बेटे स्वीट और बेटी पिंकी को भी मालूम नहीं था कि वे एस॰सी॰ हैं। इसी बीच लाल के चाचा की मृत्यु की खबर मिलती है। तब लाल देहरादून जाने का निर्णय लेता है। क्योंकि इसी चाचा ने लाल को पढ़ाया था और उसकी शादी करवाई थी। लाल और उसकी बेटी

 ISSN 0975-735X

देहरादून जाते हैं। लाल से मिलकर रिश्तेदार कहते हैं–'अरे सुक्कड़, तू...तो बदल ही गया।'[12] 'सुक्कड़' संबोधन सुनकर लाल अचकचा गया। पिंकी को यह सुनकर गुस्सा आ गया। रात को पिंकी ने लाल से पूछा, 'डैड, वे आपको सुक्कड़ कहकर क्यों बुलाते हैं?'[13] तब लाल ने कहा, 'आज जहाँ मैं हूँ, तुम हो... उसे पाने में इनका बहुत बड़ा हाथ है... ये न होते तो शायद मैं भी इतना बड़ा वैज्ञानिक न बन पाता... मेरी असली पहचान तो यह 'सुक्कड़' ही है, जिसे मैंने 'एस०लाल' में बदलकर झूठी जिंदगी को सच मान लेने की कोशिश की।'[14]

लाल की बातें सुनकर पिंकी का मन द्रवित हो गया। वह समझदार थी। उसने कहा, डैड, हम मसूरी नहीं जाएँगे, यहीं रहेंगे... इन सबके साथ... मैं इन्हें करीब से जानना चाहती हूँ। डैड, आप कहते हैं, ये लोग मेरे मामा, नाना आदि हैं। फिर माँ क्यों नहीं आईं?'[15] पिंकी के सवालों के उत्तर लाल के पास नहीं थे। पिंकी सो गई थी। लाल को नींद नहीं आई। उनके मन में पिंकी के सवाल प्रतिध्वनित हो रहे थे। स्मृति में अंधड उठने लगे थे।

इस कहानी में पिंकी क्रांतिकारी नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है। वह कहती है–'किसी भी बदलाव के लिए भागना तो समाधान नहीं होता। भागकर तो हम उसे बढ़ा देते हैं।'[16] पिंकी जातीय हीनताबोध से बचकर दलित अस्मिता की खोज करने वाली सशक्त क्रांतिकारी लड़की है।

'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' कहानी में वाल्मीकि ने दलितों के ब्राह्मण बनने के ढोंग पर करारा प्रहार किया है। मोहनलाल शर्मा के बेटे अमित की शादी गुलजारीलाल शर्मा की लड़की सुनीता से तय होती है। शादी में भाग लेने के लिए मोहनलाल की बहिन आ रही है। रेलवे स्टेशन से ऑटो रिक्शा से मोहनलाल के घर जाते समय रिक्शावाला गुलाटी उसकी वेश-भूषा आदि देखकर मोहनदास के साथ का संबंध पूछता है। बहिन कहने पर उसे विश्वास नहीं होता। बातचीत से उसे पता चलता है कि मोहनदास शर्मा असल में मिरासी जातिवाला है। वह गुलजारीलाल शर्मा से यह बात बताता है। गुलजारीलाल बेटी की शादी से पीछे हटता है।

मोहनलाल शर्मा की बहिन सोचती है कि उसके आने से सारा अनिष्ट हुआ। वह तुरंत वापस जाना चाहती है। तब मोहनलाल का बेटा अमित जातीय अंधत्व पर प्रहार करते हुए विद्रोही स्वर में कहता है–'मिरासी होना कोई अपराध नहीं है... तुम अपनी हो... कहीं नहीं जाओगी।'[17] गुलजारीलाल की बेटी सुनीता अपने पिताजी से पूछती है, 'पापा, वे लोग ब्राह्मण नहीं हैं तो क्या आप ब्राह्मण हैं?'[18] 'गुलजारीलाल ने 'शर्मा' की केंचुल धारण कर लेने के बाद यह भुला दिया था कि वह ब्राह्मण नहीं है। लगातार झूठ बोलते-बोलते उसने अपना अतीत भुला दिया था।'[19] वह असल में बढ़ई था। आगे सुनीता विद्रोह भरे स्वर में कहती है–'मैंने कभी भी अपने आपको ब्राह्मण नहीं माना... यह सच्चाई है। मेरे लिए ब्राह्मण होना ही इंसान की श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं है। ...आप जितना मातम मनाएँ... मैं शादी अमित से ही करूँगी। मैं ब्राह्मण नहीं हूँ।'[10]

इस कहानी में वाल्मीकि ने ब्राह्मण जाति की केंचुल पहनकर जीनेवाले दलितों के अंतर्द्वंद्व, खोखलेपन आदि की खिल्ली उड़ाई है, साथ ही अमित, सुनीता जैसे नई पीढ़ी के विद्रोही पात्रों के जरिए दलित अस्मिता की पहचान भी कराई है।

'दिनेशपाल जाटव उर्फ दिग्दर्शन' कहानी में मीडिया जगत की जातिवादी सोच का चित्रण है। दिनेशपाल जाटव को कलकत्ता के एक साप्ताहिक में उप-संपादक पद के साक्षात्कार के लिए बुलाया गया। किंतु दलित होने के कारण उसे नौकरी नहीं मिली। इसलिए कलकत्ता से लौटते ही उसने अपना नाम दिनेशपाल जाटव से दिग्दर्शन कर लिया। इसी नाम के भ्रमजाल से एक बड़े

अखबार में उसे नौकरी भी मिली।

इसी बीच एक पहाड़ी इलाके में भूस्खलन और पर्वतों के धँसने से अनेक गाँव उजड़ गए। वहाँ से समाचार आया था–'बुरी तरह लाशें सड़ रही थीं, जिन्हें राहत कर्मियों ने हटाना तो दूर उन्हें छूने से भी इंकार कर दिया था। क्योंकि ये लाशें गाँव में रहनेवाले दलितों की थीं।'[11] दिग्दर्शन ने इस समाचार को प्रमुखता से प्रकाशित किया। अन्य किसी भी अखबार में इसका उल्लेख तक नहीं था। उसका विश्वास था कि लोग इस समाचार को पढ़कर रिएक्ट करेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। बल्कि अगले दिन ही उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। सच को सच कहने की 'गलती' की वजह से उसे नौकरी नष्ट हो गई है। किंतु इसी 'गलती' को वह दोहराना चाहता था। वह अकेला था, फिर भी पिंजरे से मुक्त पक्षी के समान आजादी का अनुभव कर रहा था। आत्मविश्वास के साथ उसने फिर से दिनेशपाल जाटव होकर जीने का निर्णय लिया। वह समाज को यह संदेश देता है कि अपने हक के लिए दलितों को खुद लड़ना चाहिए।

'सलाम' कहानी सालों से चली आ रही 'सलाम' नामक रूढ़ि का विरोध करती है। हरीश एक अछूत लड़का है, उसकी शादी में भाग लेने के लिए उसका ब्राह्मण मित्र कमल भी जाता है। गाँव के स्कूल में बारात ठहरती है। कमल सुबह चाय की दुकान में जाता है तो उसे चूहड़ा समझकर दुकानवाला चाय नहीं देता और वहाँ से भगा देता है। बचपन में हरीश को अछूत समझने पर कमल की माँ ने भी गालियाँ देकर उसे भगाया था। फिर भी दोनों की मित्रता बढ़ती रही। आगे माँ ने हरीश को खाने-पीने के लिए कुछ बर्तन अलग रख दिए थे।

गाँव-देहात के नियम-कायदे के अनुसार हरीश को 'सलाम' के लिए विदाई से पहले रांघड़ों के दरवाजों पर जाना था। हरीश और उसके पिताजी ने निर्णय लिया कि वे सलाम के लिए नहीं जाएँगे। इस पर क्रुद्ध होकर रांघड़ ने उन्हें धमकी दी। जल्दी बारात को खाना खिलाकर वे वहाँ से निकल पड़े। इस तरह हरीश और उसके पिता सालों से चली आ रही 'सलाम' का विरोध करके अपने विद्रोहात्मक व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। उन्होंने वास्तव में सामंती प्रथा की कुव्यवस्था पर प्रहार करके स्वाभिमान की रक्षा की है।

'यह अंत नहीं' कहानी इस ओर हमारा ध्यान खींचती है कि पुलिस विभाग और पंचायत में भी जातिवादी ताकतों की सख्त पकड़ है, जिसकी वजह से दलितों को कभी-कभी न्याय की प्राप्ति नहीं होती है। तेजभान के खेत में धान काटने के लिए बिरमा अपने माँ-बाप के साथ जाती है। माँ-बाप को थोड़ा और काम था, इसलिए श्याम को धान का गट्ठर लेकर बिरमा अकेले घर जा रही थी। रास्ते में तेजभान का बेटा सचींदर उसे रोककर बलात्कार करने का प्रयास करता है। वह धान का गट्ठर सचींदर के ऊपर गिराकर जाँघों के बीच वार करके बच निकलती है। माँ सरबती के पूछने पर वह सारी बातें बताती है। माँ ने बदनामी के डर से चुप रहने का उपदेश दिया। पिता मंगलू भी इस घटना के बारे में सुनकर चिंतित हो गया। अगले दिन बिरमा अपना भाई किसन से सारी बातें कहती है। किसन क्रुद्ध हो जाता है। मंगलू ने चुप रहने का उपदेश दिया, किंतु मानने के लिए वह तैयार नहीं हुआ। उसने अपने मित्रों के साथ पुलिस स्टेशन जाकर शिकायत की। किंतु इंस्पेक्टर रपट लिखने के लिए तैयार नहीं हुआ। मात्र नहीं, उसने किसन को थप्पड़ मारकर भगाया। बस्ती के लोगों से सचींदर की हरकतों के बारे में बताया तो एक बुजुर्ग आदमी धरमू ने कहा–'ये कोई नई बात ना है। गरीब की इज्जत का कोई मतलब ही ना होवे है। ये सब तो होता ही रहा है। चुप रहणे में ही भला है। पाणी में रहकर मगरमच्छ से बैर लेणा ठीक ना है।'[12] उसका यह कथन दलितों की

विवशता का साक्ष्य है।

फिर किसन ने पंचायत में शिकायत की। पंचायत का प्रधान बिसन, तेजभान का आदमी था। उसने अर्जी तेजभान को दिखाई। वह तिलमिला उठा। उसने मंगलू को धमकी दी। मंगलू ने क्रुद्ध होकर किसन को पीटा। मंगलू भी उसी पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधि है, जो इस तरह के अन्याय को सहना दलितों की विवशता समझता है। अंत में पंचायत ने सचींदर पर सिर्फ पाँच रुपए जुर्माना करके छोड़ दिया। फैसला सुनकर किसन और मंगलू अवाक् रह गए। बिरमा कहती है, 'किसन भैया, ठीक कहवे थे पंचायत में नियाय ना होता, जात-बिरादरी देखी जावे है।'[13] वे समझते हैं कि पंचायत का प्रधान बिसन सिर्फ मोहरा है। सबको हताश देखकर बिरमा कहती है, 'इस हार पर मुँह क्यों लटका रे हो। ये अंत ना है...तुम लोगों ने मेरे विश्वास को जगाया है... इसे मरने मत देणा।'[14] सब उसके साथ मिलकर कहते हैं, 'ना बिरमा... यह अंत नहीं है... तुमने हमें ताकत दी है। हार को जीत में बदलेंगे, लोगों में विश्वास जगाकर, ताकि फिर कोई बिसन मोहरा न बने।'[15] इस तरह अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ने की नई उम्मीद के साथ वे आगे बढ़ते हैं।

'यह अंत नहीं' कहानी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जातिवादी ताकतों की सख्त पकड़ की ओर हमारा ध्यान खींचकर हमें चिंतित बनाती है। एक दलित नारी कोसवर्ण द्वारा अपमानित किए जाने पर पुलिस स्टेशन से, अपने समाज से, या पंचायत से उसे न्याय की प्राप्ति नहीं होती है। पुरानी पीढ़ी के लोग सवर्णों से डरते हैं, इसलिए अन्याय और अत्याचार को अपनी लाचारी मानकर चुपचाप सहते हैं और दूसरों को बताते हैं कि चुप रहना भला है। पुलिस या पंचायत-प्रधान सब जातिवादी ताकतों के हाथ के खिलौने मात्र हैं किंतु नई पीढ़ी यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होती। बिरमा, किसन और उनके साथी इन जातिवादी ताकतों के खिलाफ न्याय की प्राप्ति तक लड़ने का निर्णय लेकर दलित समाज में उम्मीद की नई रोशनी फैलाते हैं।

'चिड़ीमार' दलित नारियों का अपमान करनेवाले सवर्ण युवकों का डटकर सामना करने वाली एक बहादुर नारी की कहानी है। सुनीति अपने पिताजी के रिटायर होने पर घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए पढ़ाई छोड़कर नौकरी करती है। काफी परिश्रम के बाद उसे एक सरकारी दफ्तर में नौकरी मिलती है। शाम को घर वापस आते समय हर रोज तीन युवक रास्ता रोककर सुनीति को तंग करते थे। सुनीति ने यह बात माँ से छुपाकर रखी, क्योंकि विषय समझने पर माँ नौकरी के लिए जाने नहीं देंगी। वह रास्ता बदलकर जाने लगी। किंतु उस रास्ते पर भी वे तंग करने के लिए खड़े थे।

सुनीति की उद्विग्नता देखकर एक दिन माँ ने अपने पड़ोस के युवक सुतेज को शाम के वक्त सुनीति के कार्यालय भेजा। उसने उस दिन स्कूटी चलाई, सुनीति पीछे बैठी थी। सुनीति के साथ सुतेज को देखकर वे खिल्ली उठाकर बोले, 'देख बे! आज भंगिन किसी भंगी को साथ लाई है, बॉडीगार्ड बना कें'[16] सुतेज क्रुद्ध होकर आगे बढ़ने लगा तो सुनीति ने रोक लिया और कहा कि इस घटना के बारे में माँ को मत बताना। सुतेज ने कहा कि इस यातना का अंत होना चाहिए।

अगले दिन शाम को सुतेज उसी जगह पहुँचा जहाँ वे तीनों खड़े होते थे। जब गुल्लू सुनीति की स्कूटी का हैंडल पकड़कर खिल्ली उड़ाने लगा तो सुतेज ने लोहे के सरिए से उसके पीठ पर वार किया और वहाँ से बच निकला। दो-तीन दिन बाद जब सुनीति दफ्तर जा रही थी तब गुल्लू एक सिपाही के साथ रास्ते में खड़ा था। पुलिस के पूछने पर सुनीति कहती है कि उस आदमी को वह नहीं जानती है, जिसने इस पर हमला किया है। साथ ही उसने यह भी जोड़ा, 'इससे यह जरूर

पूछिए कि हर रोज शाम को यहाँ खड़े होकर आने जाने वाली लड़कियों से कैसा सुलूक करते हैं ...उनकी जाति याद दिलाते हैं... और इसके तो और चमचे थे, वे कहाँ हैं... पहले उन्हें ढूँढिए। हकीकत अपने आप सामने आ जाएगी।'[17] पुलिस अफसर गुल्लू को पकड़कर थाना ले चले और सिपाही को उसके खिलाफ रिपोर्ट दर्ज करने का आदेश दिया।

'चिड़ीमार' सुनीति नामक एक दलित नारी के विद्रोह की कथा है। रास्ता रोककर तंग करने वाले युवकों का अपने पड़ोसी सुतेज के साथ मिलकर वह डटकर सामना करती है और पुलिस से पकड़ाकर सजा दिलाती है। वह एक हिम्मतवाली जागरूक दलित नारी है। इस कहानी में सुतेज विद्रोही युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है, जो अन्यायी युवकों का साहस पूर्वक सामना करता है। इस कहानी में पुलिस भी आदर्श का नमूना प्रस्तुत करती है। 'घुसपैठिए', 'गौकशी', 'बंधुआ लोकतंत्र', 'यह अंत नहीं' आदि कहानियों में पुलिस जातिवादी ताकतों के हाथ के खिलौने मात्र हैं, किंतु यहाँ पुलिस न्याय के साथ खड़ी रहती है और अत्याचारी गुल्लू के खिलाफ रिपोर्ट दर्ज करती है। निसंदेह हम बता सकते हैं कि नई दलित पीढ़ी की नई उम्मीद की कहानी है 'चिड़ीमार'।

'रिहाई' कहानी का 'छुटकु' भी एक विद्रोही दलित बालक है, जो अपने माँ-बाप को गुलाम की तरह गोदाम में बंदी बनाकर काम करवाने वाले तथा बाप के बुरी तरह घायल होने पर नजरअंदाज करके चले जानेवाले क्रूर गोदाम मालिक रामसुख लाल के गोदाम में आग लगाकर बच निकलता है। यहाँ छुटकु का व्यवहार कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है, क्योंकि उसी गोदाम में उसके माँ-बाप बिना हरकत पड़े थे। फिर भी सवर्ण जातिवादी तथा निष्ठुर पूँजीपति द्वारा बनाई गई गुलाम की जंजीर को तोड़ने में वह सफल होता है। 'मकड़जाल' कहानी में अपने सहकर्मी मेश्राम को जाति के नाम पर अपमानित करनेवाले चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी देशमुख के खिलाफ शिकायत करके देशमुख द्वारा मेश्राम से माफी माँगने के लिए बाध्य करनेवाला लेखक भी अपना विद्रोही चरित्र व्यक्त करता है। एक दलित नारी की संघर्षमय जीवन-गाथा है 'अम्मा'। इसमें अम्मा के स्वाभिमानी व्यक्तित्व, ईमानदारी, इज्जत के साथ जीने की इच्छा, विद्रोही स्वभाव और कर्मठ चरित्र आदि उभरकर आते हैं। जब चोपड़ा के घर में विनोद नामक एक आदमी द्वारा उसके साथ बुरे व्यवहार करने की कोशिश होने पर वह उसे झाड़ू से मारकर बच निकलती है, अपने पुत्र नगरपालिका का क्लर्क शिव नारायण द्वारा कमीशन माँगने की बात सुनकर वह तिलमिला उठती है, अपने पोते मुकेश का अपनी टीचर के साथ का अवैध संबंध समझकर क्रुद्ध हो जाती है। सत्तर साल के होते हुए भी वह काम करके अपने पैरों पर खड़ा रहना चाहती है, दूसरों के सामने हाथ पसारना पसंद नहीं करती। ये सारी घटनाएँ अम्मा के विद्रोही उज्ज्वल चरित्र के परिचायक हैं।

दलित कहानीकार अपनी कहानियों में प्राय: दलित जीवन के खुरदरे यथार्थ का, जातिवादी सवर्णों द्वारा किए जानेवाले अन्याय, अत्याचार और शोषण का तथा दलितों की बेबसी का चित्रण करते हैं किंतु सभी दलित पात्र इन अन्याय-अत्याचारों को झेलकर जीने के लिए तैयार नहीं होते। कुछ पात्र ऐसे हैं, जो सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आवाज उठाते हैं, अत्याचारियों का विरोध करते हैं, क्रांति मचाते हैं, अपनी अस्मिता को पहचान लेते हैं, अपने समाज को हकीकतों से परिचित कराते हैं तथा सामाजिक अव्यवस्था के खिलाफ लड़कर समता की स्थापना का प्रयास करते हैं। वाल्मीकि की कहानियों के ऐसे दलित पात्रों में 'अंधड़' की पिंकी, 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' के अमित और सुनीता, 'दिनेशपाल जाटव उर्फ दिग्दर्शन' का दिनेश पाल जाटव, 'सलाम' के हरीश और उसके पिता, 'अम्मा' की अम्मा, 'यह अंत नहीं' के बिरमा और किसन, 'चिड़ीमार' की सुनीति

 ISSN 0975-735X

आदि प्रमुख हैं। वाल्मीकि की अधिकांश कहानियों में अन्याय के खिलाफ लड़नेवाले दलितों को अकेले लड़ना पड़ता है। अकेले लड़कर जीतना असंभव है। इसलिए दलितों को संगठित होकर न्याय और अधिकार के लिए लड़ने की प्रेरणा भी ये कहानियाँ दे रही हैं।

संदर्भ

1. सं॰ जयप्रकाश कर्दम, ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्ति, विचारक और सृजक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, पृ॰ 200
2. ओमप्रकाश वालमीकि, सलाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ॰ 91
3. वही, पृ॰ 92
4. वही, पृ॰ 92
5. वही, पृ॰ 93
6. वही, पृ॰ 92
7. ओमप्रकाश वालमीकि, घुसपैठिए, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ॰ 65
8. वही, पृ॰ 65-66
9. वही, पृ॰ 66
10. वही, पृ॰ 66
11. वही, पृ॰ 71
12. वही, पृ॰ 25
13. वही, पृ॰ 28
14. वही, पृ॰ 28-29
15. वही, पृ॰ 29
16. ओमप्रकाश वाल्मीकि, छतरी, ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2013, पृ॰ 25
17. वही, पृ॰ 32

4-बी, नारायणा अपार्टमेंट
कलप्पाती, पालक्काड, केरल 678003
मो॰ : 9446510442
pnjram@gmail.com

अस्सी-पूर्व की हिंदी कहानियों में अभिव्यक्त निम्नवर्गीय नारी-संघर्ष

डॉ॰ जोयिस टॉम, सहायक आचार्य
पावनात्मा महाविद्यालय मुरिक्काश्शेरीपी, ओ, इडुक्की (केरल)

अपने परिवेश के प्रति सजग होना समकालीनता की माँग है। 'दुनिया की आधी आबादी' नारी समाज की विकास-यात्रा उतना सरल नहीं है। कई विद्वान अपनी विकास यात्रा के प्रारंभिक दौर में मानव समाज को मातृसत्तात्मक मानते हैं। धीरे-धीरे खेती की शुरुआत हो गई और मानव जाति का स्वाभाविक विस्थापन समाप्त हो गया। फिर कुटुंब की परिकल्पना हो गई और पारिवारिक गठबंधन के भीतर स्त्री समाज ने अपने समस्त अधिकार को खो बैठा। पति परायणता जीवन का आदर्श बन गया और पुरुष का आदेश शिरोधार्य हो गया। अपनी इस दुरावस्था से उबरना आसान नहीं था। जिन्होंने उसकी कोशिश की उनको डायन या कुलटा की संज्ञा से अभिहित किया गया। इतिहास इसका साक्षी है।

नारी चेतना समकालीनता की पहचान है, लेकिन उसकी स्फूर्तियाँ कथा साहित्य में पहले से मौजूद हैं। या तो कथाकार की सोच में या उसकी पात्र रचना में। हिंदी कहानियाँ इनके दृष्टांत देती हैं। इस आलेख में अस्सी पूर्व की हिंदी कहानियों में चित्रित निम्न-वर्गीय स्त्री-जीवन और उनकी चेतना को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

संघर्षरत अवाम की परिप्रेक्ष्य में 'प्रेमचंद' की 'ठाकुर का कुआँ' की 'गंगी' का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है। अपने बीमार पति के सूखे 'हलक को तराने' की खातिर पानी उलीचने के लिए रात के अँधेरे की आड़ लेकर वह औरत एक अलिखित कुप्रथा तोड़ने के लिए निकलती है। अत: 'ठाकुर का कुआँ' से पानी भरने निकलती है। वह दलित है, छुआछूत से परेशान भी। मगर वह हालातों को खूब समझ सकती है। वह सोचती है, 'हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों उच्च हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं। यहाँ तो जितने हैं एक से एक छोटे हैं। चोरी ये करें, झूठे मुकदमे ये करें...किस-किस बात में हैं हमसे ऊँचे?'[1] 'गंगी' का विद्रोही मन, जाति व ऊँच-नीच को केवल एक तागे से ही जोड़ पाता है। उस तागे को छोड़कर 'गंगी' की नजरों में सभी समान हैं। लेकिन कहानी के अंत में वह हारती है या ऐसा चित्रित है। वह पानी लाने में असमर्थ होती है। फिर भी उसके विद्रोह और समझदारी दाद देने योग्य हैं।

'मृतक भोज' की 'कावेरी' भी सचेत है। मृतक भोज के नाम पर परिवार की पूरी संपत्ति को हड़पने के बाद अपनी 'जिस्म की क्षुधा' मिटाने की चाहत में घूरती 'गिद्ध नजरों' के खिलाफ वह आवाज उठाती है–'बिरादरी तब हम लोगों की बात नहीं पूछी जब हम रोटियों को मोहताज थे। मेरी माँ मर गई, कोई झाँकने तक न आया। मेरा भाई बीमार हुआ किसी ने खबर तक न ली। ऐसी बिरादरी की मुझे परवाह नहीं।'[2] बिरादरी की शोषण नीति से वह वाकिफ है, मगर कहानी के अंत में वह मजबूरन आत्महत्या कर लेती है।

 ISSN 0975-735X

प्रेमचंद की अनेक कहानियों में औरतें पुरुषों के समान अधिकार पालती हैं। 'पूस की रात' की 'मुन्नी' अपने पति को समझाती है–'तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजदूरी से सूखे से एक रोटी खाने को तो मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है, मजदूरी करके लाओ, वह उसी में झोंक दो, उस पर से धौंस।'[3] मुन्नी के लिए अपना पति 'देव' नहीं, सहचर है।

'जैनेंद्र' की 'जाह्नवी' का चरित्र थोड़ा भिन्न है। हालाँकि वह पुरुष वर्चस्व को खूब मानती है। वह किसी से प्यार करती है और शादी किसी और से करने जा रही है। इसलिए वह अपने 'मंगेतर' को खत लिख देती है कि वह 'प्रिय मिलन की आस' में है। फिर भी यह विवाह अगर घटित होता है तो माता-पिता की इच्छा को शिरोधार्य करके वह भरसक अपना कर्त्तव्य निभाएगी। लेकिन उसकी ओर से मुक्ति पाकर वह सचमुच कृतज्ञ होगी। उसके चरित्र को मान्यता देकर 'वृंदावन' उसका मंगेतर अपनी आस' छोड़ता है और आजीवन कुँवारा रहने का निर्णय ले लेता है। 'जाह्नवी' कहानी में जाह्नवी का चरित्र चाहे पुरुष परायण हो, पुरुष सत्ता के सम्मुख अपनी इच्छा को रखने में वह काबिल है। उसका व्यक्तित्व उभरा हुआ है। अज्ञेय की 'हीलीबोन की बतखें' अकेली नारी-मन के अंत:स्थल को परखती है। 'हीलीबोन' पहाड़ी इलाके में सगे संबंधियों से दूर अकेली रहती है। वह बतखें पालती है और उनके अंडों बेचने से जीवनयापन करती है। उसे सियार का डर है, जो अकसर उसकी बतखों को मारता है। सियार को काबू करने के लिए वह एक सिपाही की मदद लेती है। सिपाही की बंदूक से घायल हुए सियार का पीछा कर 'हीलीबोन' उसकी बिल में पहुँचती है और उधर उस सियार के अनाथ पिल्लों को देखकर अपने अरक्षित बचपन की यादों में पिघलने लगती है। उसे अपना भीषण अकेलापन याद आता है और स्वयं सियार के पिल्लों के अनाथ-स्थिति की दोषी मानने लगती है। भाव-विह्वल होकर वह अपनी बतखों को 'दरांती' से काट डालती है। जीवन यथार्थ से लड़-भिड़कर कड़े हुए नारी मन की ममता के पिघलाव का यह एक भीषण दस्तावेज है। यह 'स्वावलंबन' का दूसरा पक्ष है।

'गैंग्रीन' कहानी की 'मालती' का संघर्ष भी अपने बदले हुए हालातों से हैं। रात ग्यारह बजने से पहले सारे गृहस्थी को सँभालने की कोशिश में घर आए मेहमान को भी वह टालती है। मेहमान की मौजूदगी उसके लिए गैर हाजिरी है। वह किसी-न-किसी तरह उससे निपटारा करना चाहती है। उस बीच मालती का बच्चा गिर जाता है। जबकि उस औरत को वह एक मामूली घटना महसूस होती है–'इसके चोटें लगती ही रहती है।'[4] गृहस्थी चलाने की भाग-दौड़ में उसकी ममता का सोता कब का सूख चुका है। आखिर कथा-वाचक को संकेत देना पड़ता है–'माँ यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम एक मात्र बच्चे की गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो...और यह अभी जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है।'[5] जीवन की बहती नदी को देखने का मौका रात को ग्यारह बजने से पहले घर का सारा काम समेटने के बाद ही उसे मिलती है। तब तो पलकें भारी होने लगती हैं। उस औरत का जीवन 'गैंग्रीन' की तरह घटते-घटते लुप्त होता जाता है। कथाकार की सहानुभूति तो जाहिर है लेकिन उन्होंने मालती के चरित्र को पारंपरिक एवं पारिवारिक नहीं बल्कि वैयक्तिकता से पुष्ट चित्रित किया है।

'यशपाल' की 'कर्मफल' कहानी के केंद्र में जो औरत है, उसे मात्र 'जीव' कहा गया है। वह न तो नाम के लिए हकदार है, न पहचान के लिए। पूँजीवादी समाज के सामने वह मात्र एक 'जीव' है। वह बेघर है और भारी वर्षा में भीगकर वह सेठजी के घर के चौड़े दालान पर 'खिंची-सी' चली आती है। भूख के कारण उसके गोदी का बच्चा मर जाता है। मगर वह रो नहीं

सकती, क्योंकि सेठानी की बीमार बच्ची की नींद में 'खलल' पड़ सकती है। वह मुँह में साड़ी घुसेड़कर रोती हुई, उस भीषण बारिश में भीगती हुई चली जाती है। उससे रोने का अधिकार भी छीन लिया जाता है। 'दुख का अधिकार' कहानी की 'बूढ़ी दादी' की हकीकत भी इस हद से गुजरती है। उस औरत का बेटा-घर का कमाऊ हाथ–चल बसा है। घर में बच्चे भूख से रो रहे हैं, बहू बेहोश है। आखिर वह बूढ़ी माँ बेटे की मौत के ठीक अगली सुबह तरबूजों की टोकरी लिए बाजार में उन्हें बेचने चली जाती है। यह तो पारंपरिक मूल्यों का निषेध है, सदाचार के खिलाफ है, इसलिए समाज उस पर थूकता है। उसे 'डायन' घोषित करता है। लेकिन वह औरत हार नहीं मानती उसकी हार का मतलब है घर की भूख की जीत। वह हार नहीं मान सकती। उसकी लड़ाई आखिर भूख से है, जिसके सामने समाज का दुत्कार नगण्य है।

'आदमी का बच्चा' कहानी की 'आया' भी भूख से चिर-परिचित है। उसका बच्चा भूख की वजह से मरा है। मगर 'बेबी' के सवाल कि 'क्या भूख से हम भी मर जाएँगे', उसका वह यों जवाब देती है कि 'भूख से मरते हैं कमीने लोगों के बच्चे' और अपने लल्लू की यादों में रो पड़ती है। बड़ों की दुनिया में छोटे की आखिर क्या हैसियत हो सकती है। उनका दुख-दर्द उनका अपना होता है। वह औरत भला उसे खूब समझती है। प्रतिरोध कहानीकार ने जताया है।

'फणीश्वरनाथ रेणु' की 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' की 'हीराबाई' अपने पेशे का मारा है। वह नर्तकी है। समाज के सम्मुख उसका पेशा आदरणीय नहीं है। 'पेशेवर' होने के नाते वह 'हीरामन' के प्यार को नजर-अंदाज करती है। उसकी जिंदगी 'मथुरा-मोहन' कंपनी की खिंचाव के अनुसार इधर-उधर डांवाँडोल है। उस बीच घर-बारात की वह भला क्या हैसियत दे सकती है। उससे ज्यादा, आशिकों की बुरी नजर एवं 'पतुरिये' की पुकार से मिलता अपमान अलग से। हालाँकि वह संघर्षरत है अपने हालातों से। अपने पेशे की वजह से हीरामन के प्रति उसके दिल का मचलना वह अनदेखा करती है। यह है उसका निर्णय।

'कमलेश्वर' की 'देवा की माँ' कहानी में एक आत्मनिर्भर औरत का चित्रण हुआ है जो पुरुष वर्चस्व को नकारती है। 'देवा की माँ' अपने पति से अलग अपने बेटे के साथ रह रही है। बेटा 'देवा' के और खुद के पेट भरने के लिए वह दरियाँ बुनती है। उसका बेटा पढ़ा-लिखा है और बेकारी में फिरकापरस्ती कर रहा है। वह वाकई माँ पर एक बोझ के समान है। सरकार के खिलाफ जुलूस के दौरान वह पकड़ा जाता है और उसको साल भर की सजा होती है। बेटे की रिहाई के लिए माँ पति से मदद माँगती है। लेकिन वह बेरहम उसकी तरफ से मुँह मोड़ता है। उस दिन से देवा की माँ अपनी 'माँग' सूना छोड़ती है। कहानी में यह उल्लेखनीय है कि पति की निर्ममता के बावजूद वह उसको दोषी नहीं ठहराती–'आदमी में वैसे भी खोट नहीं होता, उससे 'कु-रास्ता' तो औरत ही डालती है। मैं तो घर रहती थी, ये 'ड्यूटियों' पर दौड़ते रहते थे, महीना बाद आना होता था। वहीं 'वह' मिल गई और उसने बहका लिया। औरत चाहे तो अच्छे भले आदमी को उलझाने कितनी देर लगती है।'[6] अंतर्विरोध यह है कि आत्मपरायण होकर भी देवा की माँ पति परायण है। पति की बीमारी की खबर सुनकर वह दोबारा माँग भरना शुरू करती है। 'माँस का दरिया' कहानी में पहाड़ सी जिंदगी के सामने सुध-बुध होकर खड़ी 'जुगनू' को हम देख सकते हैं। एक तरफ उधारी के नाम पर उसके बदन की गरमी को ही लूटते बेशरम आशिक-गण तो दूसरी तरफ बढ़ती उमर, थकता बदन, गिरती माँग और गिराती बीमारी। ऊपर से जाँघ पर पका हुआ फोड़ा भी जो काम को दर्दनाक कर देता है। मगर वह वेश्या है, जीना है तो आशिक पटाना ही है। दर्द को पीना है। कल की क्या

 ISSN 0975-735X

जाने आज के लिए लड़ना है। वह फोड़े को भूलती है और ग्राहक पटाती है। उसकी होड़ पहाड़-सी जिंदगी के खिलाफ है।

'अमरकांत' की 'दोपहर का भोजन' कहानी बिखराव के कगार पर खड़े अपने परिवार को समेटती औरत की आत्म दान का चित्रांकन है। वह औरत अपने दामन में झूठ छिपाती है और उसे अपने परिवार के सदस्यों की थाली में यथा-रुचि परोसती है। परिवार के सारे सदस्य बुरे वक्त के मारे हैं। घर में अपनी-अपनी भूमिका को निभाने में प्रत्येक असमर्थ है। इसलिए एक तरह की हीन-ग्रंथि की भावना से पीड़ित हैं और अन्य सदस्यों से मुँह छिपाते हैं। पिताजी के अलावा घर में बड़ा भाई भी काम करता है, लेकिन घर का भार ढोने में दोनों असमर्थ हैं। मँझले लड़के को पढ़ाई में ध्यान नहीं है, 'लफंगागिरि' करता है। उसे परिवार पर भरोसा नहीं है। लेकिन 'सिद्धेश्वरी' सिद्धहस्त है। वह अपने परिवार को सँभालने की कोशिश में निरत है, चाहे वह झूठ की आड़ लेकर ही क्यों न हो। छोटे लड़के प्रमोद के बारे में वह 'बड़का' को झूठ कहती है–'आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा होशियार हो गया है। कहता था 'बड़का भय्या' के पास जाऊँगा।'[7] जबकि प्रमोद रो-थककर सोया हुआ था। मँझले लड़के से वह कहती है–'बड़का तुम्हारा बड़ी तारीफ कर रहा था। कह रहा था मोहन बड़ा दिमागी होगा।' उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है।'[8] मगर वह लड़का तो यों ही घूम-फिरकर आया था। माँ उसे उकसाना चाहती है ताकि वह भी हालातों से सजग बने। पति से वह कहती है–'बड़ा होशियार है (बड़का), उस जमाने का कोई महात्मा है, मोहन तो उसकी बड़ी इज्जत करता है। आज कहता था कि भय्या की शहर में बड़ी इज्जत होती है, पढ़ने-लिखनेवालों में बड़ा आदर होता है और 'बड़का' तो छोटे भाइयों पर जान देता है। दुनिया में वह सब-कुछ सह सकता है पर यह नहीं देख सकता है कि उसके प्रमोद को कुछ हो जाए।'[9] नतीजतन पति भी खुश। इस तरह घर के सदस्यों के घावों पर मरहम पट्टी लगाते हुए स्वयं घटती इस औरत की किरदार अनोखी है। उसके सम्मुख परिवार ही पहाड़ है, मगर वह उसे उढ़ा सकती है।

'रांगेय राघव' की 'गदल' की गदल समूचे सामाजिक संरचनाओं को ललकारती है। उसका पति मर गया है और वह किसी गैर की घर बसा रही है। उसका दावा जरा हटके है 'मेरा मरद तो मर गया। जीते जी मैं ने उसकी चाकरी की, उसके नाते उसके सब अपनों की चाकरी बजाई। पर अब मालिक ही न रहा, तो काहे को हड्कंप उठाऊँ। यह लड़के, यह बहुएँ! मैं इनकी गुलामी नहीं करूँगी।'[10] वह पतिपरायणता को मानती है लेकिन अपनी वैयक्तिकता से अवगत भी। उसके लिए बेटों से ही क्या, पूरे समाज से वह लड़ सकती है। जाहिर है कि अस्सी-पूर्व की कहानियों में नारी का संघर्ष मुख्यत: अपने जीवन यथार्थ से है जिनमें भूख की बड़ी भूमिका है। लिंगपरक विवेचन के तहत पतिपरायणता को ये औरतें ज्यादातर आदर्श मानती हैं। हालाँकि गँवारपन में पति को देव से ज्यादा सहचर की हैसियत ही प्रदान किया गया है। परिवार में विरले ही ये अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती हैं जबकि अपने अंदर कहीं वैयक्तिकता ये कायम रख पाती हैं, जिसे जीवन के भाग-दौड़ में बहुत हलके ही मान्यता मिली है। पहचान की तुलना में पलना ही इनके हिस्से का यथार्थ है।

संदर्भ

1. प्रेमचंद, ठाकुर का कुआँ, मानसरोवर-1
2. प्रेमचंद, मृतक भोज

3. प्रेमचंद, पूस की रात
4. अज्ञेय, गैंग्रीन
5. वही
6. कमलेश्वर, देवा की माँ
7. अमरकांत, दोपहर का भोजन
8. वही
9. वही
10. रांगेय राघव, गदल

Dr. Joyice Tom
Assistant Professor, Pavanatma College,
Murickassery P.O, Idukki 685604
Mob. 9446776348
tomjjunior@gmail.com

 ISSN 0975-735X

मदारी उपन्यास में धार्मिक जीवन

कमलेश

मानव जीवन में धर्म का विशेष महत्त्व हैं। धर्म मानवीय संबंधों को प्रकृति के साथ सांमजस्य करने का सशक्त साधन हैं। धर्म मानव के अंदर सामाजिकता, सहिष्णुता व भाईचारे को बनाये रखने में विशेष भूमिका धर्म ही जो माव को जानवरों से भिन्न नाता है। उनको वैचारिक, व्यावहारिक व कर्त्तव्यों के अनुसार अलग करता है। मानव धर्म के कारण पशुओं जैसे कार्यों पर प्रतिबंधित है। मानव पशुओं से अलग है अपनी बुद्धि के कारण अपनी व्यावहारिकता के कारण। वे केवल अपना पेट मात्र भरने से मतलब रखते हैं। धर्म-परायण मानव जारवरों से भिन्न होता चला गया प्रकृति के भय से मानव में धर्म की आस्था और अधिक बढ़ने लगी जिसके फलस्वरूप मानव आपस में मिलकर व समुदाय में रहने लगा। समय बीतने पर मानव ने समाज को आपस पर मानव ने समाज को आपस में जोड़े रखने के कारण धार्मिक नियम बनाने शुरू कर दिये ताकि आपसी प्रेम, भाई चारा व कर्त्तव्यों की पालना बनी रहे। धर्म का उल्लंघन करने वालों पर मानव ने कई प्रकार की बंदिशे लगा दी ताकि मानव गलत आचरण व कार्य ना कर सकें

धर्म के अनुसार सृष्टि को वसुधैव कुटुंबकम्–एक बड़ा परिवार माना जाता है और प्रकृति में कोई भी जीव बुरा व नीच नहीं हैं। धर्म ने सभी जीवों को परमात्मा का अंग माना है और सदैव प्रकृति के नाम पर उनकी पूजा-पाठ करना, देख-रेख व रक्षा करता बताया है ताकि प्रकृति में असंतुलन न हो। पशु-पक्षियों को भी देवी-देवताओं की श्रेणी में शामिल करके उन सभी जीवों को भी जीने के अधिकार धर्म के द्वारा मिल गए। जब भी मनुष्य पर कोई विपदा आती है तो वह अपने परमात्मा को याद करता है और अपने बुरे कार्यों का प्रायश्चित भी करता है ताकि उस पर आए हुए संकट का निवारण हो सकें साथ ही मानसिक रूप से भी उसको बल प्राप्त हो। उसे भय, निराशा, असुरक्षा से राहत मिले और इस बुरे हालात से सामना करने का साहस मिल सकें

धर्म ने मानव को अपने निजी जीवन के सभी रीति-रिवाजों, विश्वासों, पूर्वजों के सोच-विचारों व अनुभवों को संचित किया हुआ है। दुनिया के किसी भी कोने में रहने वाले लोगों की अपनी एक अलग संस्कृति व धर्म देखने को मिलता है। विवेचित उपन्यास में धनी व निर्धन, दो तरह के वर्ग देखने को मिलते हैं। धनी वर्ग अपने-आपको बड़ा व पवित्र मानता है जबकि निर्धन वर्ग के लोगों को हीन दृष्टि से देखा जाता है। समाज में उनकी उपेक्षा की जाती है।

धर्म के माध्यम से इतिहास, अनुभव, विचार, विश्वास, नियम को वर्तमान में साहित्य के रूप में हमें मिलता रहा है। तुलसी, पीपल, बड़, नीम तथा अन्य वृक्षों की पूजा करना भी हमारी परंपरा को बनाए रखने में भागीदारी रखते हैं।

धर्म एवं संस्कृति–भारत एक धर्म निरपेक्ष देश है फिर यहाँ की सामाजिक व्यवस्था विभिन्न धर्मों तथा संप्रदायों में अलग-अलग बँटी हुई दिखती है। विवेचित उपन्यास में वर्ग भेद देखने को मिलता है। धर्म में प्रचलित मंदिरों, तीर्थ स्थानों का वर्णन भी दिखने को मिलता है।

हिमालय की निचली पहाड़ियों में एक छोटा-सा अंचल है। यह अंचल पारंपरिक रूप से अपनी जरूरतों को पूरा करने में सक्षम है। यहाँ के लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं फिर भी वे हिंदुओं की पवित्र मान्यताओं का सम्मान करते दिखाई देते हैं। वहाँ की गौ माताओं के लिए विशेष रूप से गौशालाएँ बनाई गई हैं, वे भी पूर्व दिशा में ताकि उनको कोई परेशानी न हो। इस उपन्यास में कैलाश पर्वत का भी वर्णन है। ऋषियों के द्वारा तप की भी चर्चा की गई है। जड़ी बूटियों का भी विवरण दिया गया है। यहाँ के लोग काफी धार्मिक हैं। पूजा-पाठ रास्ते में आने वाले भैरव के मंदिर आने का भी वर्णन किया है।

'मुखिया महाराज भोटिया कंबल में लिपटे हाथ में जनेऊ लपेटे गायत्री का जाप कर रहे थे।'[1] विवेचित गाँव के लोग हिंदू हैं। कुछ लोग दलित वर्ग से, कुछ ब्राह्मण जाति के लोग मिलते हैं। ब्राह्मण जाति के होने के कारण पूजा-पाठ आदि में विश्वास रखते हैं–'मुखिया जी ने पूजा समाप्त की और अंत में हाथ जोड़ आँखें बंद कर भूतनाथ महादेव जी का ध्यान किया, मन-ही-मन उनसे विनती की–हे महेश्वर! हे साँपों के आभूषण धारण करने वाले भोलानाथ! तुम सारी सृष्टि के स्वामी हो, तुम्हारे सामने छिपा हुआ कुछ भी नहीं...मैंने कौन-सा ऐसा पाप किया, जो तुमने मेरे यहाँ कराल विषधर भेजा।'[2] इनसे पता चलता है कि यहाँ के लोग भगवान में आस्था रखने वाले व पूजा-पाठ करने वाले धार्मिक प्रवृत्ति के हैं। हिंदू धर्म की विशेषता रही है कि हम मनुष्य तो दूर की बात पशु-पक्षी व विषैले जीव को भी नुकसान नहीं पहुँचाते। विवेचित उपन्यास में हिंदू धर्म व संस्कृति की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

जादू-टोने का बोलबाला–विवेचित उपन्यास 'मदारी' नाम से ही पता चलता है कि जादू-टोना। स्वाभाविक सी बात है वहाँ पर जादू-टोने का बोल बाला रहा।

गोंविद बल्लभ पंत के 'मदारी' उपन्यास में साँपों के खेल व मदारी के हाथों की सफाई किस प्रकार वे सभी को वंशीभूत कर लेते हैं। उपर्युक्त उपन्यास में नवाब जो मुख्य पात्र के रूप में चित्रित है, के माध्यम से पहाड़ी जन-जीवन की वास्तविकता को उजागर किया गया है। नवाब एक तेईस वर्ष का नवयुवक है। वह साँपों से प्रेम करता है। नवाब का पिता भुलुवा एक गरीब मजदूर है जो जमींदार व मुखिया के खेतों में काम करता है।

नवाब गाँव वालों को बताता है कि वह जादू सीख रहा है–'मैं जादू सीख रहा हूँ जादू! सीख तो लेने दो। मैं घिड़ापरू... के काँटों में सेब और पाकर की शाखाओं में आम लटका सकता हूँ। जहाँ तुमसे घास नहीं उग सकती, वहाँ मोतियों की खेती कर दूँगा। जानते हो मुझे? मैं आदमी को जानवर व जानवर को आदमी बना सकता हूँ। मैं आग से खेल सकता हूँ, पानी पर चल सकता हूँ और आसमान में उड़ सकता हूँ।'[3] वह गाँव वालों के सामने डीगें हाँकता रहता है कि जादू आता है लेकिन उसे जादू नहीं आता। वह जादू सीख रहा है लेकिन वह सबके सामने यही दिखाता कि उसे जादू आता है।

'महाराज साँप की अक्षत-फूल, धूप-दीप से पूजा कर दीजिए। चला जाएगा।'[4] उनकी इस बात से पता चलता है कि अंधविश्वास का वहाँ पर जोर था। लोग विभिन्न तरीके अपनाते साँपों को प्रसन्न करने के लिए और जब उनके सारे प्रयास असफल हो जाते थे तो नवाब को बुलाया जाता था। 'महाराज, नवाब को छोड़कर इस साँप को कोई दूसरा वश में नहीं कर सकता। वह साँपों के ऊपर हाथ फेरते ही उन्हें मोहित कर देता है और फूल माला की तरह गले में धारण कर लेता है। उसी को बुलाइए।'[5] इस तरह नवाब के साँपों को वश में करने व जादू टोने की बात पूरे गाँव में

प्रसिद्ध हो चुकी थी। लेकिन उसके माता-पिता इस काम से खुश नहीं थे। वे उसे कृषि कार्य में लगाना चाहते थे। नवाब का पिता भुलुवा उसका साँपों से भरा संदूक शतधार नदी में फेंक देता है। इसी दौरान उसकी मुलाकात एक मदारी से होती है। वह बहुत दिनों तक मदारी के पीछे-पीछे घूमता रहा है ताकि वह मदारी उसे जादू-टोने सिखा सकें एक दिन मदारी को एक जहरीले साँप ने अपने शिकंजे में जकड़ लिया। वह दर्द से कराह रहा था। तब नवाब उसकी आवाज को पहचान लेता है और वह साँप के दाँतों को तोड़ देता है और मदारी को उसके चंगुल से बाहर निकालता है। लेकिन मदारी के शरीर में जहर फैल चुका था। मदारी अपना खेल का सामान नवाब को दे देता है।

विवेचित उपन्यास में तंत्र-मंत्र का रूप हमें देखने को मिलता है। यहाँ पर लोग इन सब बातों पर विश्वास करते हैं। 'यह तकदीर को पलटता है, भाग्य को चमकाता है। इससे घर के भूत-प्रेत भागते हैं, दु:ख-बीमारियाँ टलती हैं, दोस्त बढ़ते हैं, दुश्मन कम होते हैं, इम्तिहान में कामयाबी मुकदमें में जीत होती है। अफसर खुश होते हैं; खोई चीज मिलती है, भागा हुआ लौट आता है, खेत का बीज बढ़ता है और फलता है। घर के दाने में कीड़े, व चूहे नहीं लगते, आग व चोरों का डर जाता रहता है।'[6] नवाब को ज्यादा इनके बारे में पता नहीं हैं, परंतु फिर वह पैसे कमाने के लिए यह सब कर रहा है।

भाग्य की अपेक्षा कर्म में विश्वास–भाग्य में अत्यधिक विश्वास मनुष्य को निष्क्रिय बना देता है। वह कर्म की अपेक्षा भाग्य को अधिक महत्त्व देता है। वह कर्म न करके भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। नवाब साँपों के पीछे भागता रहता है और नवाब का पिता भुलुवा उसे समझाता है कि खेतों में काम करके हम अपने भाग्य को बदल सकते हैं, लेकिन नवाब कुछ और ही सोचता है। वह सोचता है–मेरे भाग्य में तो बहुत रहस्य दिए हैं। मैं जादू-सीख रहा हूँ–'मैं आदमी को जानवर और जानवर को आदमी बना सकता हूँ और आसमान में उड़ सकता हूँ।'[7]

नवाब के इस व्यवहार से भुलुवा काफी दु:खी रहता है। वह पिता बार-बार उसे समझाने का प्रयास करता है। बहुत बार तो उसकी छड़ी से पिटाई भी करता है लेकिन नवाब के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। नवाब घर की मुर्गियों के अंडे चुराकर साँपों को खिलाता रहता था। 'तुझे शर्म नहीं आती। गाय-भैंस पालता, आदमी बनता, पर तूने पकड़-पकड़कर उस संदूक में जमा किए हैं और हमारे जानवरों के लिए खतरा इकट्ठा किया है।' यहाँ भुलुवा नवाब को श्रम व कर्म का महत्त्व समझाते नजर आता है। यह कहना भुलुवा का सही भी है कि काम ऐसा करो कि जिससे कुछ फायदा हो और किसी का नुकसान भी न हो।

यहाँ पर कर्म को अधिक महत्त्व दिया जाता है। नवाब के विवाह के लिए तितली के पिता ने पैसों की माँग रखी, तो नवाब को भी पता चला कि भाग्य के सहारे काम नहीं चलेगा, इसके लिए कर्म करना जरूरी है।

पहनावा–महिलाएँ परंपरागत पोशाकें ही इस्तेमाल करती हैं। उपन्यासकार ने इस उपन्यास की नायिका को यहाँ की परंपरागत पोशाक में ही चित्रित किया है।

'तितली काली जमीन पर खड़ी सफेद रेखाओं की छींटें का घाघरा पहने हुए हैं। उसमें उसी कपड़े की, एक इंच की, अरेब-काट की किनारी पड़ी है। नई पीढ़ी की प्रवृत्ति उस किनारी को चौड़ा करने की ओर है। उसकी माता और दादी के समय में वह किनारी लाल टूल की केवल आधे इंच की थी। वन को जाते समय या खेतों में काम करते वक्त तितली बाईं तरफ से घाघरे की किनारी दाहिनी ओर से खींचकर कमर के बाईं पार्श्व में खोंच लेती है।'[9]

यहाँ की महिलाएँ घाघरा व चोली पहनती हैं। यही यहाँ की आंचलिक पोशाक है। 'वह सफेद छपी हुई धोती की चादर के सिरे की कुंडली बनाकर माथे और भार के बीच में रख लेती है। वह अंगियाँ के ऊपर नकली मूँगों की माला पहनती है। माला के सिरे पर उसकी पीठ-पीछे एक विगै बँधी रहती हैं।'[10]

उपन्यास की नायिका के पहनावे से स्पष्ट झलकता है कि वहाँ पहाड़ी क्षेत्रों की संस्कृति के अनुसार ही वस्त्र धारण किए जाते हैं। इन पोशाकों में वे काम करते समय आसानी व आराम महसूस करती हैं। ज्यादातर महिलाएँ वन में घास व घर में चूल्हे-चौकी, दोनों का काम सँभालती हैं। ये खेतों में भी ज्यादा काम होने पर हाथ बँटाती हैं। इस प्रकार उपन्यास में छोटी-छोटी विशेषताओं, परंपरा, प्रचलन व वेश-भूषा को ध्यान में रखकर चित्रित किया गया है।

पुरुषों का पहनावा–'नवाब हर घुटने पर पैबंद का एक-एक ईंट का इक्का बना हुआ, घर के सनातन धुएँ से मैला, सफेद पाजामा पहने रहता है। उसको वह साल में दो बार राख में उबालकर धोता है। अंदर एक मैला और फटा गाढ़े का कुरता पहनकर उसके ऊपर तीन बटन का, काली सर्ज का कोट पहनता है।'[11]

यहाँ पुरुषों का पहनावा कुछ इस तरह का है। यह उपन्यास पहाड़ी के नीचे बसे छोटे से अंचल के गरीब व निर्धन मुखिया के खेतों में काम करने वाले चौथी श्रेणी के मजदूर परिवार पर लिखा गया है। ये इतने गरीब व निर्धन हैं कि मुश्किल से दो समय का खाना जुटा पाते हैं। कपड़े व अन्य चीजों के लिए वे मुखिया या धनी वर्ग पर आश्रित हैं। यहाँ के लोगों को मैले-कुचैले कपड़ों में ही देखा जाता है। ये लोग फटेहाल कपड़े पहनने को मजबूर हैं। इसके अलावा इनके पास दूसरा कोई चारा नहीं है। इनके पास आय का कोई भी साधन नहीं है। ये मेहनत-मजदूरी करके केवल दो समय की रोटी जुटा पाने में ही समर्थ हैं। कपड़े व जूतों के लिए इनके पास अतिरिक्त धन नहीं होता। ये उन लोगों में से हैं जो धनी लोगों के द्वारा पुराने कपड़ों व जूतों से ही अपना गुजारा करते हैं अपना तन ढकते हैं। नए कपड़े तो जीवन में एक या दो बार ही मिलते हैं। वे भी कभी शादी-विवाह व त्योहारों पर ही पहनते हैं। उपन्यासकार ने नायक व नायिका को भी आंचलिक क्षेत्र की पोशाक में ही चित्रित किया है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मदारी उपन्यास में उपन्यासकार ने धार्मिक जीवन को उद्घाटित करने के लिए अनेक ऐसे तत्त्वों का समावेश किया है जिसमें उस क्षेत्र की समस्त सांस्कृतिक व धार्मिक विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के अपने धर्म, मान्यताएँ व परंपराएँ होती हैं। इन्हीं मान्यताओं व परंपराओं को निभाने के लिए कुछ नियम व मानदंड भी होते हैं। इन्हीं मान्यताओं व परंपराओं के कारण ये अंचल विशेष क्षेत्र के रूप में पहचाने जाते हैं।

संदर्भ

1. गोविंद वल्लभ पंत, मदारी, पृ॰ 11 2. वही, पृ॰ 32 3. वही, पृ॰ 14
4. वही, पृ॰ 30 5. वही, पृ॰ 31 6. वही, पृ॰ 169 7. वही, पृ॰ 38
8. वही, पृ॰ 14 9. वही, पृ॰ 21 10. वही, पृ॰ 21 11. वही, पृ॰ 13

H.No. 824 Near Reliance Tower,
Shiv Colony, Mandi Adampur (HISAR)
Mob.9813551999
Kamleshkp.2929@gmail.com

रामचरितमानस और मानव मूल्य

कुलदीप कौर (डॉ॰)
असि॰ प्रोफेसर (हिंदी), डिस्टैंस ऐजुकेशन विभाग
पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब)

मूल्य मानव जीवन के ऐसे मानदंड हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति सच्चे अर्थों में सात्विक जीवन जीता है और सत्-असत्, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित में भेद करने में सक्षम हो जाता है। किसी भी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का मूल्यांकन उसके आचारगत मूल्यों के आधार पर होता है और किसी रचना का समाज के आदर्श से संबंधित होने के कारण उसमें अभिव्यक्त विचारों, कार्य कलापों और अनुभवों को अभिहित किया जा सकता है। इनका प्रयोग समाज कल्याण और मानव हित के अर्थ में किया जाता है। इनके द्वारा ही व्यक्ति स्वयं अपनी आत्मा को पहचानता है क्योंकि मूल्य व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन में पनपते हैं और इनका विकास समाज की ओर से होता है। समाज के बिना मूल्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोविंदचंद्र पांडेय मूल्य के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त करते हैं, 'मूल्य न वस्तु मात्र है, न इष्टता मात्र। मूल्य बोध भी न शुष्क ज्ञान है, न मात्र संवेदन। मूल्य विषय का स्वरूपोल्लेखी होते हुए भी आत्मसंबद्ध होता है, स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति होते हुए भी निरंकुशता से असंपृक्त होता है। उसकी वास्तविकता उसके स्वरूप की अनिवार्यता, उसकी बुद्धिगोचर और उसके समूचेपन की अविश्लेष्य रहस्यमयता है।'[1] अर्थात् मूल्य मानव व्यवहार के नियामक और उद्देश्यपूर्ण आदर्श हैं, जिनकी अवधारणा युग तथा समाज की परिवर्पित परिस्थितियों के अनुसार परिवर्पित होती जाती है। ये मानव को श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनाने के प्रयास हैं। डॉ॰ हुकुमचंद राजपाल के अनुसार, 'मूल्य एक धारणा है, जिसका संबंध मानव से है। भौतिक जगत में मूल्य का संबंध उपयोगिता से है जबकि वैचारिक जगत में वह अपनाव से संबंधित है। मानवीय संवेदनाओं के अभाव में हम मूल्यों की कल्पना भी नहीं कर सकता। मूल्यबोध का आधार वैयक्तिक प्रतीति है अर्थात् जो वस्तु मन में परितोष, प्रसाद आपूर्ति प्रेरणा अथवा सार्थकता की अनुभूति जाग्रत करने में सहायक होती है वही मूल्यवान प्रतीत होने लगती है।'[2] मूल्यों के द्वारा ही व्यक्ति तामसिक, और पाशविक वृत्तियों का त्याग करते हुए स्वयं को परिष्कृत, उदात्त और सुसंस्कृत बनाता है। मूल्यों को धारण करके ही व्यक्ति आत्मोपलब्धि को प्राप्त कर सकता है। इसलिए डॉ॰ धर्मपाल मैनी ने 'उदात्त मान्यताओं को मानव मूल्य' कहा है।[3] उन्होंने जीवन के प्रति आस्था, चिंतन, परिवेश बोध, लोक-कल्याण, वैयक्तिक उदात्तीकरण को ही जीवन मूल्यों का आधार माना है।

वाल्मीकि रामायण को आधार बनाकर तुलसी द्वारा रचित ग्रंथ 'रामचरितमानस' में सत्य, अहिंसा, प्रेम, त्याग, धैर्य, मैत्री, पवित्रता, विराट सत्ता के प्रति आस्था आदि जैसे मूल्यों का निरूपण करके समाज को सदाचार, मर्यादा पालन आदि की शिक्षा और प्रेरणा दी है। तुलसीदास ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को सामाजिक संबंधों के द्वारा अभिव्यक्त किया जिसका समाज पर गहरा प्रभाव है।

लोकभाषा में लिखित 'रामचरितमानस' वाल्मीकि रामायण से भी अधिक लोकप्रिय है। लोक हृदय में पूरी तरह बसा 'मानस' अपने आदर्शों के माध्यम से मानव जीवन को उसके परम लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इसलिए हाई टैक्नोलॉजी के युग में भी इसकी उतनी ही प्रासंगिकता है जितनी मध्यकाल में थी। इसका उद्देश्य मनुष्य के नित्य जीवन में घटने वाले ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और सुख-दु:ख आदि विकारों के रहते हुए भी उसे ऊर्ध्वान्मुखी बनाना है। 'रामचरितमानस' मनुष्य जीवन को अत्यंत सहज भाव से रामोन्मुख करती रही है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार, 'सर्वकवि की दृष्टि जितनी व्यापक और सर्वग्राही होनी चाहिए वैसी ही दृष्टि उनकी थी। समाज के विकृत स्वरूप पर दृष्टि देकर उन्होंने उसके उद्धार का उपाय भी सोचा। उनकी यह प्रतीति थी कि राम के बिना समाज का कल्याण नहीं हो सकता। राम के इसी स्वरूप को जन-जन में पहुँचाने का बीड़ा उन्होंने उठाया।'[4] अत: 'मानस' भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला एक अनमोल रत्न है। भारतीय जीवन पद्धति, दार्शनिक चिंतन और लोकान्मुखता के कारण यह संसार के उत्कृष्टत्म ग्रंथों में चरम शिखर पर सुशोभित है और चिरकाल तक मानव हृदय और आत्मा की पिपासा शांत करता रहेगा।

वर्तमान समय में अगर हम मानव जीवन के आदर्श रूप की बात करें तो व्यक्ति जीवन में आदर्श लेश मात्र भी नहीं रहे। आधुनिक संचार साधनों और टैक्नॉलोजी के चक्रव्यूह में ग्रस्त व्यक्ति ने नैतिकता और परोपकार जैसी सदवृत्तियों के स्थान पर अहं, दिखावा, भौतिकता, बनावटीपन आदि को जीवन का लक्ष्य मान लिया है। आज के युग में मनुष्य अपनी संवेदनशीलता को खोकर, पाशविक वृत्तियों की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थितियों में हमें आवश्यकता है अपने प्राचीन साहित्य अवलोकन की। मानव जीवन को ऊँचा उठाने के लिए आदर्शों, मूल्यों और नैतिकता की उतनी आवश्यकता है जितनी शरीर के लिए आत्मा की। भले ही आज हम स्वयं को उन्नत व आधुनिक मानते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि हम आत्मिक स्तर पर मृत हो चुके हैं। परंतु यह भी सत्य है कि जब-जब भी सामाजिक बुराइयों ने सामाजिक नियमों का उल्लंघन किया तब-तब इस धरती पर पवित्र आत्माओं का आगमन हुआ है। इसलिए तुलसी ने लोकहृदय में बसे राम को तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अव्यवस्था को दिशा देने का सशक्त माध्यम माना और जिसमें वे सफल भी हुए। मानस के उत्तरकांड में तुलसी भ्रष्ट हुई युग परिस्थितियों का चित्रण इस प्रकार करते हैं–

वरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर-नारी।
द्विज वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहह सब कोई।
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोई गुनवंत बखाना।
निराधार जो सुति पथ त्यागी। कलिजुग सोई ग्यानी सो बिरागी।
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाल।[5]

इस प्रकार वर्ण व्यवस्था की जड़ता ने कर्म-कौशल, त्याग और संगठन की भावना को खत्म कर दिया था। 'उत्तरकांड' में वर्णित इन सामाजिक और धार्मिक विकृतियों का उल्लेख तुलसी ने अपने काल्पनिक समाज में नहीं किया बल्कि यह ऐतिहासिक तथ्य है। मध्यकालीन समाज का

 ISSN 0975-735X

प्रत्येक वर्ग अपने-अपने पद का दुरुपयोग कर रहा था जिससे समाज में असंतुलन पैदा हो रहा था। इसलिए 'लोक जीवन को नवीन स्फुरण, प्रेरणा एवं सजीवता प्रदान करने के उद्देश्य से तुलसी ने आराध्य ईश्वर और निर्विकार परब्रह्म को सामाजिक क्षेत्र में उतारा जिसके परिणामस्वरूप समाज की जीवनधारा में नवीन सांस्कृतिक प्रगति आ सकी।'[6] लोकमंगल की उदात्त भावना को आधार बनाकर रचित इस ग्रंथ ने तत्कालीन परिस्थितियों में अमृतधारा का कार्य करते हुए समूचे भारत के सामाजिक दृष्टिकोण को बदल डाला। जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए तुलसी ने जो प्रतिमान स्थिर किए है वह सर्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। 'तत्व चिंतन, दार्शनिक विवेचन मानवता के उत्कर्ष की मंगलाशा, लोकहित की उदात्त, भावना और शिवेतर क्षय की कामना द्वारा तुलसी ने 'मानस' में वह गुरुता उत्पन्न कर दी जो विश्व साहित्य के कुछ इने-गिने महाकाव्यों में ही दिखलाई पड़ती है।'[7] तुलसीदास ने 'मानस' में पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना करते हुए इसको उच्चता के शिखर पर पहुँचा दिया है। सामाजिक मूल्यों की मजबूत नींव के लिए प्रेम, प्यार, सहयोग और अपनत्व जैसे पारिवारिक मूल्यों के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया। 'मानस' में राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, दशरथ, भरत हनुमान ऐसे आदर्श चरित्र हैं जो पारिवारिक मूल्यों को पोषित करते हैं। राम, पिता की आज्ञा का पालन करते हुए चौदह वर्ष के वनवास को सहर्ष स्वीकार करते हैं। लक्ष्मण और भरत का भ्रातृ प्रेम, सीता का पत्नी धर्म पालन, भरत का भाई के सम्मान में सिंहासन पर न बैठना आदि एक स्वस्थ समाज की रचना में बहुत बड़े सहायक बनकर उभरते हैं और नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा ह्रासोन्मुख समाज को संघर्ष के रास्ते पर चलने के लिए दृढ़ता प्रदान की। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस संबंध में लिखते हैं, 'तुलसी के मानस से जो शील, शक्ति और सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकलती है, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति में पहुँचकर भगवान के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू जनता अवसर के अनुकूल सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धरती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है। दया से आर्द्र होती, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है, मानव जीवन के महत्त्व का अवलंबन करती है।'[8]

इलैक्ट्रॉनिक उपकरणों की भेंट चढ़ी आधुनिक युग की युवा पीढ़ी कर्मयोग के महत्त्व को भूल चुकी है। नई पीढ़ी को अपनी विरासत से परिचित करवाने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें गृहस्थ जीवन में रहते हुए मानवता की सेवा करने को महत्त्व दिया है। तुलसी ने लोक-परलोक, संग्रह-त्याग और भोग-वैराग्य आदि का समन्वय करके एक ऐसे समाज की रचना की जिसमें सभी प्रकार से संतुलन है। धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य की लड़ाई में तुलसी ने सत्य की जीत को प्रस्तुत किया है। राम ने सत्य के मार्ग पर चलते हुए मूल्य विहीन रावण और समाज को प्रदूषित करने वाले असुरों का भी वध किया क्योंकि सामाजिक मूल्यों की स्थापना के लिए आततायियों का विनाश आवश्यक है। तुलसी ने समाज में से ऊँच-नीच और जाति-पाति के भेदभाव को मिटाने के लिए दलितों के प्रति आत्मीय भाव का निरूपण किया। शबरी के झूठे बेर खाकर और निषाद राज के प्रति प्रेम भाव को व्यक्त करके समाज को अच्छा संदेश दिया है। देश-प्रेम और अच्छी परंपराओं के प्रति आस्था ही समाज को नई दृष्टि प्रदान कर सकती है। इक्कीसवीं सदी की बढ़ती हुई भौतिकतावादी प्रवृत्ति, टैक्नोलॉजी और संचार माध्यम के जाल में ग्रस्त व्यक्ति और समाज को झकझोरने और चेतना पैदा करने में तुलसी का काव्य अत्यधिक लाभप्रद

है। दैहिक, दैविक और भौतिक दु:खों से छुटकारा पाने के लिए सब प्राणियों में समता और प्रेमभाव का होना आवश्यक बताते हुए लिखते हैं–

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।[9]

कवि ने भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव, दशरथ, हनुमान, विभीषण आदि पात्रों की सृष्टि के द्वारा सेवा, परोपकार, त्याग, विनम्रता, भक्ति, स्नेह, कर्त्तव्यपरायणता आदि मूल्यों का निरूपण बहुत ही सुंदर रूप में किया है। सभी संबंधों में स्नेह कूट-कूट कर भरा हुआ है। कहीं भी कोई भी पात्र अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होता, संपूर्ण समर्पित भाव से कर्त्तव्य का निर्वाह करता दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में कवि मध्यकालीन पतनोन्मुख परिवेश से त्रस्त होने के कारण एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें किसी को भी परेशानी का सामना न करना पड़े। डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने इस संदर्भ में ठीक ही लिखा है, 'तुलसीदास ने मानस के उत्तरकांड में कलियुग का जो वर्णन किया है वह उन्हीं के समय की तत्कालीन परिस्थिति थी। उस अंश को पढ़कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की उच्छृंखलता के लिए कितना क्षोभ था, उसी क्षोभ की प्रतिक्रिया उनके लोक शिक्षक समाज चित्रण के आदर्श में है।'[10] इसलिए तुलसी ने राम को भारतीय संस्कृति की ऐसी प्रतिभा के रूप में प्रतिष्ठित किया जो शील, शक्ति और सौंदर्य का अजस्र स्रोत है। जिन्होंने धर्म और नैतिकता का पालन करते हुए लोकहित एवं मानवता का संरक्षण किया। डॉ॰ द्वारिकाप्रसाद सक्सेना के अनुसार, 'राम आदर्श के उत्तंग शिखर पर प्रतिष्ठित मानव हैं, किंतु तुलसी ने अपनी उर्वर-कल्पना एवं उत्कृष्ट प्रतिभा द्वारा मानव में देवत्व की, नर में नारायण की अथवा व्यक्ति में ब्रह्म की जो स्थापना की है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।'[11]

सामाजिक मूल्यों के साथ-साथ तुलसीदास ने राजनीतिक मूल्यों को भी 'रामचरितमानस' में यथास्थान अभिव्यक्ति किया है। आदर्श राम राज्य की परिकल्पना करते हुए तुलसी ने राजा और प्रजा के संबंधों में नैतिकता को महत्त्व दिया। राज्य विकास के लिए राजा और प्रजा के बीच शांतिपूर्ण संबंधों का होना आवश्यक माना। इसलिए उन्होंने मानस में प्रजाहित, जन कल्याण, अधिकारों की सुरक्षा, प्रशासन व्यवस्था, कानून व्यवस्था आदि राजनीतिक मूल्यों का निरूपण किया है। तुलसी का रामराज्य न केवल एक वैचारिक शासन व्यवस्था भी बल्कि वह व्यावहारिक भी थी। राम का प्रजा के लिए स्नेह, भरत का त्याग, दशरथ की वचनबद्धता आदि के चित्रण के माध्यम से तत्कालीन शासक वर्ग की विकृत मानसिकता में परिवर्तन लाना था। आधुनिक युग में भी इन राजनीतिक मूल्यों की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि आज राजनीति समाज सेवा के लिए नहीं बल्कि स्वयं सेवा के लिए है। राजनीति इतनी भ्रष्ट हो चुकी है। प्रत्येक नेता अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए राष्ट्रहितों की बलि चढ़ाने से भी नहीं झिझकता। राम जैसे गुणों का धारणी अगर आज का शासक हो जाए तो देश उन्नति की राह पर चल सकता है। तुलसीदास ने एक शासक में विवेक, बुद्धि, विनम्रता, कर्मशीलता, नीतिज्ञता शालीनता इत्यादि मानवीय गुणों को आवश्यक माना है और एक आदर्श राजा ही अपनी प्रजा के साथ मधुर संबंध पैदा करके सुंदर और स्वस्थ समाज की स्थापना कर सकता है–

अल्प मृत्यु नहिं कबनिउ पीरा। सब सुंदर सब निरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।
फूलहिं करहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन।

कूजहिं खग मृग नाना वृंदा। अभय चरहिं बन करहिं आनंदा।
लता विटप माँगे मधु चँवहीं। मनभावतो धेनुपय स्रवहीं।[12]

अर्थात् रामराज्य में सब प्राणी प्रेम-प्यार, समता, समानता, सद्भाव और भ्रातृत्व की भावना से ओत-प्रोत थे। सभी जन एक-दूसरे का सम्मान करते थे। कोई भी भेदभाव और जातिवाद का शिकार नहीं था। सब संतुष्ट और आनंदित थे।

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य में तुलसीदास एक युगपुरुष के रूप में अवतरित हुए जिन्होंने तत्कालीन ह्रासोन्मुख परिस्थितियों में संघर्ष की राह पर चलते हुए 'रामचरितमानस' जैसे पवित्र ग्रंथ में मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करके अव्यवस्थित समाज को अराजकता के भँवर से निकालकर एक स्वस्थ समाज की ओर अग्रसर किया। तुलसी ने तत्कालीन विरुद्धों में सामंजस्य प्रस्तुत करके एक युगांतकारी कवि होने का परिचय दिया, भक्त होते हुए भी सामाजिक जीवन को महत्त्व दिया; शील-मर्यादा और नैतिकता आदि के प्रति आस्थावान बनाया।

संदर्भ

1. गोविंदचंद्र पांडेय, मूल्य मीमांसा, पृ॰ 39
2. हुकुमचंद राजपाल, समकालीन कविता में मानव मूल्य, पृ॰ 17
3. धर्मपाल मैनी, मानव मूल्य व्याख्या, कोश-1, दो शब्द
4. उद्धृत, उदयभानु सिंह, (संपा॰) तुलसी, पृ॰ 42
5. तुलसी, रामचरितमानस (उत्तरकांड), 17
6. उद्धृत, उदयभानु सिंह (संपा॰), तुलसी, पृ॰ 34
7. उद्धृत, सुधाकर पांडेय (संपा॰), रामचरित मानस, पृ॰ 55
8. उद्धृत, शिवकुमार शर्मा, हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ॰ 233
9. उत्तरकांड, 20
10. रामकुमार वर्मा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ॰ 443
11. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, पृ॰ 185
12. उत्तरकांड, 22/1

प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'तीसरी ताली' में किन्नर समाज

डॉ॰ कुलदीप, सहा॰ प्रोफेसर, हिंदी
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झज्जर

हिंदी साहित्य में ट्रांसजेंडर, तृतीय लिंगी, किन्नर, हिजड़ा आदि का प्रयोग प्राय: एक ही अर्थ में किया जाता है। कुछ संगठनों एवं बौद्धिक लोगों के द्वारा किन्नर और हिजड़ा को एक ही अर्थ में प्रयोग करने पर विरोध दर्ज कराया जाता रहा है। उनके द्वारा किन्नर का अर्थ 'किन्नर हिमालय में आधुनिक कन्नोर प्रदेश के पहाड़ी लोग, जिनकी भाषा कन्नौरी, गलचा, लाहौली आदि बोलियों के परिवार की हैं। किन्नर हिमालय के क्षेत्रों में बसने वाली एक मनुष्य जाति का नाम है जिसके प्रधान केंद्र हिमवत् और हेमकूट थे। पुराणों और महाभारत की कथाओं एवं आख्यानों में तो उनकी चर्चाएँ प्राप्त होती ही हैं, कादंबरी जैसे कुछ साहित्यिक ग्रंथों में भी उनके स्वरूप, निवास क्षेत्र और क्रियाकलापों के बारे में वर्णन मिलते हैं।'[1]

जबकि हिजड़ा लैंगिक रूप से स्त्री और पुरुष के खाँचे में न आने वाले समुदाय के लिए प्रयुक्त होता रहा है, 'किसी व्यक्ति के पुरुष या स्त्री के रूप में पहचाने या परिभाषित किए जाने के लिए स्पष्ट यौनांग होना आवश्यक है। इसके लिए जननांग की अनियमितता महत्त्वपूर्ण है। ऐसे मानव हिजड़ा कहे जाते हैं जो लैंगिक रूप से न नर होते हैं न मादा।'[2]

प्रकृति ने स्त्री और पुरुष का सृजन किया। जो समाज का आधार स्तंभ बने और प्रकृति निर्माण में सहयोगी हुए। इन दोनों लिंगों के अलावा तीसरा स्तंभ भी है। उन्हें कोई खास दर्जा नहीं मिला, उन्हें 'किन्नर' अथवा 'तृतीय लिंगी' नाम से संबोधित किया जाता है। किन्नर भी सभ्य समाज का एक अंग है जो सभ्य समाज में पैदा हुए है। लेकिन सभ्य समाज के लोग इन्हें अजीबो गरीब दृष्टि से देखते हैं। हमेशा सभी के दिमाग में यह प्रश्न अवश्य उठता है कि 'किन्नर' कहाँ से आए हैं, यह बात अलग है समय और अनुभव के साथ समाज में पता चलता है कि ये नर और नारी से उत्पन्न ही हैं। फिर भी साहित्य की दृष्टि में इसके भी विभिन्न सर्वनाम मिलते हैं जैसे–पौराणिक ग्रंथों, वेदों, पुराणों और साहित्य में किन्नरों को हिमालय क्षेत्र में बसने वाली अति प्रतिष्ठित व संपूर्ण आदिम जाति माना गया है। इनके वंशज हिमालय क्षेत्र किन्नौर के निवासी माने जाते हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा 'किन्नर देश और हिमालय' पुस्तक के अनुसार 'यह किन्नर देश है। जो हिमालय में किन्नर या किंपुरुष देवताओं की एक योनि मानी जाती थी। इस क्षेत्र को आजकल किन्नौर या किन्नौरा कहते हैं। अतएव चनाव नदी के तट पर आज भी किन्नौरी भाषा बोली जाती है।'[3]

प्रदीप सौरभ का दूसरा उपन्यास 'तीसरी ताली' है। जैसा कि इस उपन्यास के नाम से ही पता चलता है कि इस उपन्यास में उसी समुदाय की ताली हो सकती है जो अपनी स्वयं की जिंदगी में कभी भी खुशियों या तालियों का अवसर प्राप्त नहीं करता है लेकिन इस वर्ग को जब किसी के परिवार में नवजात शिशु के जन्म की सूचना मिलती है तो अपनी तरफ से अपनी टोलियों, मंडलियों

 ISSN 0975-735X

के साथ हमारे घर पर दस्तक देता है। इनका घर पर आगमन शुभ माना जाता है लेकिन जीवनभर नि:संतान रहते भी किन्नर समाज हमेशा हमारे बच्चों को आशीर्वाद देने में किसी भी तरह का गुरेज नहीं करता है ऐसा लगता कि इस वर्ग के पास खोने के लिए कुछ नहीं बचा है किंतु पाने के लिए सारा संसार पड़ा है।'[4]

'तीसरी ताली' एक बेहतरीन उपन्यास है। किन्नर साहित्य में इसका दर्जा कई ऊपर माना गया है। यह उपन्यास श्री प्रदीप सौरभ द्वारा रचित है। इस उपन्यास में वे किन्नरों के सामाजिक चलन तथा जीने के तरीके एवं शान-ओ-शोहरत पर ज्यादा ध्यान केंद्रित किए हैं। यह कहानी उन लोगों की है जिन्हें समाज के ज्यादातर लोग गिरी नजर से देखकर उनका मजाक उड़ाते हैं। सामाजिक हाशिए पर रहने वाले ऐसे लोग हैं–हिजड़े, लौंडे, लौंडेबाज वगैरह। ऐसे लोग हर शहर में मिल जाएँगे। उनकी अपनी अलग दुनिया है जिस पर भागमभाग में लगे लोगों का शायद ही ध्यान जाता हो। आम लोगों के लिए यह वर्जित दुनिया है। समाज से लगभग बहिष्कृत और दंडितों जैसा जीवन जीने को मजबूर ये लोग अपनी रोजी-रोटी कमाने के चलते ही ऐसे समाज का रूप ले लेते हैं। उनके बारे में सब मानते तो हैं पर जानते नहीं। लेखक ने अपनी पैनी नजर से ऐसे लोगों की दुनिया के अंधकार में झाँकने की कोशिश की है।

'तीसरी ताली' उपन्यास में प्रदीप सौरभ ने किन्नरों के जीवन का विस्तृत वर्णन किया है। यह उपन्यास एक समस्या प्रधान तथा किन्नरों के जीवन की विडंबनाओं को बताने वाला उपन्यास है। वास्तविकता यह है कि किन्नर समाज आज भी तिरस्कृत, अवांछित एवं वर्जित जीवन महसूस करते हैं किन्नर समाज को सदैव यह एहसास दिलाया जाता है कि वह समाज में आदरणीय नहीं है। किन्नरों के प्रति समाज का रवैया हमेशा से अमानवीय रहा है।

उपन्यास का नाम (शीर्षक) 'तीसरी ताली' रखने के पीछे प्रदीप सौरभ की एक गहन सोच है। हमारा यह पूरा समाज दो स्तंभों पर खड़ा है। पुरुष और स्त्री, नर तथा नारी, इन्हीं दो स्तंभों के सहारे मानव प्रजाति आगे बढ़ रही है। लेकिन हमारे समाज में मानव प्रजाति के इन दो लिंगों के अलावा भी एक और प्रजाति का अस्तित्व है। जो न पुरुष होता है न ही स्त्री। न तो नर होता है न नारी। जो न संभोग कर सकता है न ही गर्भ धारण कर सकता है। जिसे हमारा समाज किन्नर, हिजड़ा या छक्का कहता है। इन्हें आदिकाल से ही हमारे समाज ने उपहास का पात्र या मनोरंजन का साधन बना रखा है। दरअसल, समाज में नर-नारी को ऐसी दो तालियाँ माना गया है, जिनके मिलन से समाज आगे बढ़ता है किंतु समाज यह भूल जाता है इन दो तालियों के अलावा भी समाज में एक तीसरी ताली भी है, जो अकसर उपेक्षा तथा घृणा की पात्र ही रही है। इस तीसरी ताली की आवाज जितनी बेसुरी है उतनी ही मर्म तथा दर्द भरी है इनकी जिंदगी की ओर अन्य लोगों का ध्यान ही नहीं जाता है।

वैसे तो किन्नरों की स्थिति समाज में हर मायने में दयनीय है किंतु इसमें भी मुख्य रूप से सामाजिक आर्थिक दशा अत्यंत सोचनीय है जो कि किसी भी व्यक्ति के जीने की आरंभिक शर्त होती है। प्रदीप सौरभ तीसरी ताली में बताते हैं कि किन्नरों का घर विकसित जगह से परे गाँव तथा अविकसित इलाकों में है और साथ ही उनके घर के अंदर की संरचना का वर्णन भी लेखक ने अत्यंत विस्तार से किया है जो कि अकसर लोगों के लिए एक रहस्य बन जाता है। लेखक लिखते हैं, 'डिंपल के डेरे में दस-बारह कमरे थे गेट में घुसते ही एक बहुत बड़ा आँगन भी था। दो-चार दुधारू जानवर भी एक तरफ बँधे थे। आँगन के बीचो-बीच काली का मंदिर था। मंदिर के बगल

में एक चंपा का दरख्त है, जो काफी पुराना और इसलिए काफी घना भी था। उसके पत्ते चौड़े और खिले-खिले थे और जब वह सफेद फूलों से भर जाता था तो बेहद खूबसूरत था। डेरे के लोग ज्यादातर इसी के फूल तोड़कर माँ काली को चढ़ाते। मंदिर में नौ की नौ देवियाँ विराजमान थीं। वैसे हिजड़े मुर्गे वाली माँ को अपनी इष्टदेवी मानते हैं। लेकिन कालीभक्त होने के कारण डिंपल ने खप्परवाली की भव्य एवं बड़ी मूर्ति अपने मंदिर में लगा रखी थी। गले में मुंडमाल, रक्तरंजित जीभ, पैरों के नीचे शिव, एक हाथ में त्रिशूल, तो दूसरे में फरसा। तीसरे हाथ में खून भरा खप्पर और चौथे हाथ में तलवार। चमकती दमकती आँखें। युद्धरत काली का रौद्र रूप प्रतिमा में पूरी तरह से दिखता था।'[5]

जन्म से ही जो सामाजिक बहिष्कार किन्नरों के प्रति आरंभ होता है वह उसके अग्रिम जीवन में भी जारी रहता है। इसका प्रभाव उसके परिजनों के सामाजिक व्यवहार पर भी पड़ता है। अपनी इसी व्यथा को 'तीसरी ताली' में 'सुप्रिया कपूर' ने एक पत्रिका के इंटरव्यू में व्यक्त करती है, 'मैं कैसी हूँ? क्यों हूँ? कितनी पीड़ा सहती हूँ? इन सवालों से किसी को सरोकार नहीं है। किसी को इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि मेरे जन्म के बाद मेरी माँ ने मुझे देखकर आत्महत्या कर ली। बाद में बड़ी बहन सिर्फ इसी बात के लिए ससुराल से निकाल दी गई कि उसकी बहन हिजड़ी है।'[6]

हमें समाज में अनेक तरह के किन्नर देखने को मिल जाएँगे। इन सभी का वर्णन 'तीसरी ताली' उपन्यास में अत्यंत विस्तृत रूप से किया गया है। एक किन्नर वह होता है जो जन्मजात किन्नर है अर्थात् बचपन से ही जो शिशु किन्नर हो इस प्रकार का उदाहरण विनीत है जो कि बाद में विनीता बन जाता है तो साथ ही आनंदी आंटी की बेटी निकिता भी जन्मजात किन्नर है। ऐसे बच्चों की सबसे बड़ी विडंबना है कि जन्म लेते ही या थोड़े बड़े होने के बाद अकसर इन्हें अपने घर-परिवार को त्याग कर किन्नरों के समूह में जबरदस्ती ले जाया जाता है।

दूसरे किन्नर वे होते हैं जो कृत्रिम रूप से खुद बनते या बनाए जाते हैं। उपन्यास में राजा इसी प्रकार का एक चरित्र है जो कि जबरदस्ती किन्नर बनाया जाता है–'अचानक एक आदमी ने राजा के पुरुषांग पर वार किया। कमरे में एक चीख उभरी। राजा का हाथ पकड़े एक मुशटंडे ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया। राजा तड़प रहा था, लेकिन कुछ करने में असहाय था। कमरे में खून की गंगा जमुना बह उठी। मुशटंडों से अपने को छुड़ाने की राजा की हर कोशिश नाकाम हो गई। अंतत: पीड़ा से कराहते हुए वह बेहोश हो गया।'[7]

तृतीय लिंगी संतान के प्रति भी माता-पिता एक साथ निष्ठुर नहीं हो पाते। वे प्रयास करते हैं कि समाज की नजरों से उसे छुपाकर अपनी ममता की गोद में बनाए रखने की। आनंदी आंटी अपनी बेटी निकिता की अस्पष्ट लैंगिक पहचान के बावजूद उसकी शिक्षा व्यवस्था के लिए हर संभव प्रयास करती हैं। किन्नरों के बार-बार समझाने के बावजूद वह अपनी बेटी उन्हें सौंपना नहीं चाहती। 'आनंदी आंटी हार मानने वाली नहीं थीं। उन्होंने निकिता को घर पर ही पढ़ाने का फैसला किया। आठवीं तक वह घर में ही पढ़ी। उसने प्राइवेट परीक्षा दी। पास हुई। लेकिन अब तक निकिता में हिजड़ों वाले गुण आकार लेने लग गए थे। कॉलोनी से लेकर रिश्तेदारों तक में निकिता का मजाक उड़ने लगा था। आनंदी आंटी को कुछ समझ नहीं आ रहा था। ...आखिर दुनिया से हार कर एक दिन उन्होंने नीलम को बुलाया और निकिता उसे सौंप दी।'[8]

प्रदीप सौरभ ने थर्ड जेंडर के आर्थिक रूप से कमजोर होने का वर्णन किया है। तालियाँ

बजाते, लड़ते-झगड़ते, हँसते-मुस्कुराते चेहरों के पीछे जो दर्द, पीड़ा, अपमान और अकेलापन छुपा है, उसे प्रदीप की कुशल लेखनी ने बाहर लाया है। निकिता को पालने वाली नीलम और मंजू को माँ की तरह प्यार करने वाली डिंपल के मन में कहीं-न-कहीं एक मातृत्व की अभिलाषा है। 'असल में मंजू जब पैदा हुई तो उसके गरीब माता-पिता ने दान-दहेज के डर से उसे थोड़े से पैसों के लिए डिंपल को बेच दिया था। डिंपल का उस वक्त मातृत्व जाग्रत हो गया था। उसे बच्चे की आस थी। बच्चा वह जन नहीं सकती थी। वह कभी-कभी सोचती कि जो जन नहीं सकते वे बच्चों के ऊपर पड़ने वाले काले साए को दूर रखने का आशीर्वाद देते हैं। बच्ची को लेते वक्त उसका मातृत्व हिलोरे मार रहा था।'[9]

किन्नरों की आर्थिक स्थिति भी कोई खास अच्छी नहीं बल्कि कहे कि आर्थिक स्थिति के निम्न होने, इनके लिए कोई रोजगार न होने के कारण ही ये लोग इस तरह दयनीय स्थिति में जीने को विवश हैं। नाचना-गाना, भीख माँगना आदि व्यवसायों को करने के लिए यह लोग मजबूर होते हैं। सुनयना और डिंपल के बीच के संवाद से इसे समझा जा सकता है सुनयना डिंपल से कहती है– 'मेरा मन अब नाच-गाने में नहीं लगता। सुनयना धीरे से खुली। फिर किसमें लगता है मन? क्या करोगी? हम इसके अलावा और कोई काम कर भी तो नहीं सकते। डिंपल ने सवाल के साथ जवाब भी दे दिया।'[10]

इस गरीबी या आर्थिक स्थिति के दयनीय होने का सबसे बड़ा कारण शिक्षा के अभाव का होना है। शैक्षणिक अयोग्यता के कारण ही इनकी स्थिति किसी रोजगार के योग्य नहीं हो पाती। ऐसा नहीं है कि किन्नर समुदाय शिक्षित नहीं होना चाहता, किंतु समाज की व्यवस्था इस प्रकार है कि शिक्षा का मौलिक अधिकार होने के बावजूद इनका दाखिला ही स्कूलों में नहीं हो पाता, जिसका बड़ा कारण जेंडर की अस्पष्टता है। निकिता, जो कि पढ़ना चाहती है किंतु जेंडर स्पष्ट न होने के कारण वह किस स्कूल में जाए लड़कों के या लड़कियों कें यह सवाल कठिन है। इस विषय में उपन्यासकार ने लिखा है–'उन्हें दोनों जगह से एक ही उत्तर मिला कि जेंडर स्पष्ट न होने के कारण हम दाखिला नहीं दे सकते हैं? यह स्कूल सामान्य बच्चों के लिए है, बीच वाले बच्चों को दाखिला देने से स्कूल का माहौल खराब हो जाता है। आनंदी आंटी ने हर संभव कोशिश की लेकिन निकिता को दाखिला नहीं मिला।'[11]

उपन्यास में किन्नरों के जीवन पर आधारित कई ऐसे पहलू हैं, जो आमजन को सामान्यत: पता ही नहीं होते। इसी में से एक हैं उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, तीज-त्यौहार आदि अर्थात् किन्नरों के सांस्कृतिक पक्ष को जानने में यह उपन्यास 'तीसरी ताली' अत्यंत सहायक है। किन्नरों की संस्कृति का एक अहम पक्ष इनकी शव-यात्रा भी है, जिसे लेकर समाज में तरह-तरह के मिथक भी है। लेखक ने इस शवयात्रा का वर्णन भी बारीकी से अपने उपन्यास में किया है। किन्नरों की शव यात्रा किसी ने नहीं देखी होगी, देखेंगे भी कैसे, क्योंकि यह मध्यरात्रि के बाद जो शुरू होती है जिस कारण इनकी शवयात्रा को लेकर चारों दिशाओं में विभिन्न प्रकार की अटकलें हैं– 'डिंपल और नीलम आपस में बातचीत कर रही थीं कि शवयात्रा कैसे निकाली जाए। दिल्ली में आमतौर पर हिजड़े के शव को रात को डंडों से मारते, उस पर चप्पल बरसाते और सड़कों पर खींचते हुए श्मशान घाट ले जाते हैं। इस तरह शव को श्मशान में ले जाने के पीछे मान्यता है कि मरने वाला दोबारा तीसरी योनि में जन्म नहीं लेगा।'[12]

अत: 'तीसरी ताली' उपन्यास किन्नर समुदाय वर्ग को समझने की एक दृष्टि देता है और

साथ ही उपन्यासकार ने अपने दृष्टिकोण से समाज का क्रूर चेहरा भी इस उपन्यास में उजागर किया है तथा साहित्य में इस प्रकार के विषय को चुनकर लिखने के लिए प्रेरित भी करते हैं क्योंकि तभी इन हाशिए के समूहों की स्थिति में सुधार संभव हो पाएगा।

संदर्भ

1. सं॰ डॉ॰ विजेन्द्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोंड, भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, पृ॰ 18
2. वही, पृ॰ 65
3. राहुल सांकृत्यायन, किन्नर देश में, पृ॰ 346
4. जयपाल सिंह, उपन्यास के नए प्रस्थान में उत्तर समय, हंस पत्रिका 2011, पृ॰ 85
5. प्रदीप सौरभ, तीसरी ताली, पृ॰ 14
6. वही, पृ॰ 78
7. वही, पृ॰ 33
8. वही, पृ॰ 43
9. वही, पृ॰ 31
10. वही, पृ॰ 77
11. वही, पृ॰ 42
12. वही, पृ॰ 147

 ISSN 0975-735X

भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'अंधेर नगरी' नाटक का प्रोक्तीय विश्लेषण

मनजिंदर कौर

भाषा को वैचारिक आदान-प्रदान का माध्यम कहा जाता है। भाषा के बिना मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है और अपने इतिहास और परंपरा से विछिन्न है। भाषाविदों के अनुसार भाषा की न्यूनतम इकाई ध्वनि है, जिसका लिखित रूप वर्ण है। वर्ण से शब्द, शब्द से पद, पद से वाक्य बनते हैं।[1] भाषाविज्ञान में विश्लेषण का आधार वाक्य स्तर तक सिमित कर दिया जाता है। शैली वैज्ञानिक विश्लेषण में शैली वैज्ञानिकों ने इस विश्लेषण के आधार को वाक्य से आगे प्रोक्ति स्तर तक पहुँचाया है। साहित्य-विश्लेषण के क्षेत्र में किसी सीमा में विधा विशेष की प्रकृति को देखते हुए शब्द, वाक्य, अर्थ के स्तरों की और क्रिस्टल-डेवी तथा लीच द्वारा निर्दिष्ट स्तरों की उपयोगिता स्वीकारी जा सकती है, पर साहित्य-भाषा के विश्लेषण के लिए प्रेत्यक विधा में शैली-वैज्ञानिक दृष्टि से जिस स्तर की सर्वाधिक अपेक्षा अनुभव की जाती है, उसकी चर्चा न क्रिस्टल और डेवी ने की है और न ही लीच नेस साहित्य भाषा के विश्लेषण के लिए अब तक चर्चित विविध भाषिक स्तरों के अतिरिक्त प्रोक्ति-स्तर अथवा वाक्यातीत-स्तर (डिस्कोर्सलेवैल? इंटरसेंटेंस लेवैल)की भी अपेक्षित महत्ता है।[2]

किसी भी कार्य के करने की विशिष्ट ढंग का नाम शैली है।[3] भाषिक अभिव्यक्ति के विशिष्ट ढंग को शैली कहते हैं।[4] शैली शब्द आजकल अँग्रेजी शब्द 'स्टाइल' के हिंदी पर्याय के रूप में प्रचलित है। 'स्टाइल' शब्द भारोपीय परिवार की भाषाओं में अपने मूल रूप में काफी पुराना है। अवेस्ता में 'स्तएर' (staera = पर्वत-शीर्ष), ग्रीक में 'स्ताइलोस' (stylish=स्तंभ) तथा लैटिन में 'स्ताइलुस' (stilus) आदि रूपों में इसे देखा जा सकता है।[5]

शैली विज्ञान भाषा के आधार पर की गई साहित्य की, सौंदर्यमूलक व्याख्या है। शैली विज्ञान, इस व्याख्या का आधार 'भाषा' इसलिए मानता है क्योंकि वह साहित्य को शाब्दिक कला मानता है।[6] वस्तुत: शैली विज्ञान ऐसा विषय है जिसके द्वारा भाषा के किसी विशिष्ट स्वरूप अथवा सामान्य प्रचलित कथ्य के प्रभाव का विश्लेषण कर उसकी समीक्षा की जाती है। जी॰एच॰ लीच रुकैया हसन, एस॰जी॰ विंडोसन आदि विद्वान जहाँ शैलीविज्ञान को साहित्य में प्रयुक्त भाषा की शैली का अध्ययन मानते हैं, वहीं चार्ल्स वाली, डेविड क्रिस्टल और चेटमैन आदि विद्वानों ने इसे सामान्य भाषा की शैली की अध्ययन प्रणालियों के रूप में स्वीकार किया है।[7]

'प्रोक्ति' के मूल अँग्रेजी शब्द 'डिस्कोर्स' (Discourse) और 'अटरेंस' (utterance)हैं। 'प्रोक्ति' दोनों का हिंदी रूपांतर है।[8] 'प्रोक्ति' के दोनों मूल अँग्रेजी शब्दों में 'Discourse' अर्थ 'संलग्न वाक्यों का समुच्चय'। इसी प्रकार अँग्रेजी 'Utterance' शब्द एक और सिर्फ 'उच्चार' का अर्थ देता है जबकि दूसरी ओर वह एक 'पूर्ण संदर्भिक कथन' को व्यक्त करता है। वह संदर्भिक कथन अपनी पूर्णता में कभी-कभी एक वाक्य में, पर प्राय: अनेक वाक्यों में अभिव्यक्ति पाता है।[9] प्रोक्ति द्वारा ही संदर्भ सहित अर्थ का संपादन संभव हो पाता है। प्रोक्ति के बिना रचना का उद्देश्य,

उसका मूल प्रतिपाद्य प्रकट नहीं हो पाता। प्रोक्ति से ही संदर्भ सहित निश्चित और संपूर्ण अर्थ का निष्पादन होता है। किसी रचना में प्रयुक्त इकाई को समझने के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि उसका खंड-खंड कर उसके संघटकों का पता लगाया जाए। पहले वाक्य स्तर तक ही विश्लेषण कर कृति को विश्लेषित किया जाता था परंतु यह संपूर्ण विश्लेषण का आधार नहीं है। वाक्य-प्रतीकों का पूर्ण समुच्चय जो प्रोक्ति कहलाता है, यह मात्र वाक्यों का जमघट न होकर उनका संरचनात्मक रूपांतरण होता है।[10]

भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। इनका मूल नाम 'हरिश्चंद्र' था, 'भारतेंदु' उनकी उपाधि थी। हिंदी साहित्य में आधुनिककाल का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेंदु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया है। हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे।

अँधेर नगरी नाटक का परिचय

यह प्रहसन भारतेंदु ने बनारस में हिंदीभाषी और कुछ बंगालियों की संस्था नेशनल थियेटर के लिए एक दिन में सन् 1881 में लिखा था और काशी के दशा दशाश्वमेध घाट पर ही उसी दिन अभिनीत भी हुआ। अँधेर नगरी भारतेंदु हरिश्चंद्र का सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक है। छः अंकों के इस नाटक में विवेकहीन और निरंकुश शासन व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करते हुए उसे अपने ही कर्मों द्वारा नष्ट होते दिखाया गया है।

अँधेर नगरी नाटक का प्रोक्तीय विश्लेषण

विचलन का प्रोक्ति स्तर-यह अँग्रेजी Deviation का हिंदी रूपांतर है। विचलन की संकल्पना मानक की संकल्पना से संबद्ध होती है। सामान्य भाषा के नियम, बंधन, चलन अथवा पथ को छोड़कर नए का अनुसरण करना, नए पथ पर चलना विचलन है। विचलन से सामान्य गद्य भाषा के मानक (नार्म) से अतिक्रमण होता है। यह अतिक्रमण अव्याकरणिकता (अनग्रामेटिकेलिटी) और अस्वीकार्यता (अनएक्सेप्टबिलिटी) जैसी दो दिशाओं में होता है।[11] हर भाषा के अपने नियम और व्यवस्था होती है। भाषा का व्याकरण इन्हीं नियमों और व्यवस्थाओं की व्याख्या करता है। सामान्य भाषा इन नियमों और व्यवस्थाओं में बँधी होती है, इसीलिए सामान्य भाषा केवल सामान्य अनुभव की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होती है किंतु काव्य विशिष्ट अनुभव पर आधारित होता है, अतः काव्य भाषा को विशिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है और इसीलिए उसे विशिष्ट भाषा बनना पड़ता है–सामान्य भाषा के नियमों और जड़ बंधनों को तोड़कर सप्रोक्ति-स्तर पर विचलन-मूलक भाषिक प्रयोग का पहला स्तर अँधेर-नगरी की गद्य-भाषा में काव्य पंक्तियों, गीतों का प्रयोग है। नाटक की मानक भाषा गद्य भाषा होती है। पर इस मानक भाषा की मंजूषा के अंतर्गत 'भारतेंदु' जी विचलन की सहायता से काव्यात्मक भाषा की एक और मंजूषा तैयार करते और सजाते चलते हैं। यथार्थ को उजागर करने, परिवेश को सही-सही प्रत्यक्ष कराने और आंचलिकता को कई कोणों में स्पष्ट करने के लिहाज से यहाँ विचलित भाषिक कौशल अत्यंत महत्त्वपूर्ण रूप में अग्र प्रस्तुत हो उठा है।

सब राम भजो राम भजो राम भजो भाई,
राम के भजो से गनिका तर गई,

राम के भजो से गीध गति पाई।[12]

इस प्रकार की सगुण वाणी का विचलन-मूलक प्रयोग महंत और उनके शिष्यों की परिवेश को साक्षात् कर देता है। इस प्रकार जब महंत जी अज्ञान-अंधकार को अपनी वाणी से दूर करते हैं तब भी वह एक दोहे का सहारा लेते हैं–

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देश कुदेस में, कबहु न कीजै बास।[13]

महंत जी जहाँ कहीं उपदेशात्मकता का सहारा लेते हैं वहाँ ब्रजभाषा की कोमल-कांत विशिष्टता दिखाई दे जाती है। भारतेंदु की 'अँधेर नगरी' में कुल मिलाकर छोटे-बड़े पाँच गीत हैं, जिन्हें नाटक की कथा को गति और स्पष्टता देने के लिए प्रयुक्त किया गया है। भारतेंदु ने अपने गीतों में अँग्रेज शासकों और तत्कालीन व्यवस्था पर व्यंग्य किया है। वास्तव में भारतेंदु ने गीतों और तुकबंदियों को विशेष उदेश्यों की पूर्ति के लिए लिखकर 'अँधेर नगरी' में पत्रों के माध्यम से प्रकट किया है। पाठक या दर्शक के हृदय पर इनका सीधा और गहरा प्रभाव पड़ता है। ये सटीक और प्रभाव-क्षमता से परिपूर्ण हैं।

ध्वनि के विचलन का भी सर्जनात्मक प्रयोग साहित्यिक भाषा में मिलता है। प्रोक्ति-स्तर पर विचलन-मूलक भाषिक प्रयोग का दूसरा स्तर अँधेर नगरी में ध्वनि विचलन का मिलता है। नाटक में राजा का कथन है–'अच्छा, 'कस्साई' को लाओ, भिश्ती को जाओ। क्यों बे कसाई, मशक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार लगाई बकरी दबाई?'[14]

यहाँ पहले के कथन में 'कस्साई' और दूसरे में 'कसाई' है। स्पष्ट है कि 'कसाई' ध्वनि दृष्टि से सामान्य है, किंतु 'कस्साई' विचलन-युक्त है। शराब के नशे में डूबे रहने वाले चौपट राजा की लडखड़ाती जुबान से ये शब्द कहलवा कर उसकी मानसिक स्थिति को प्रकट किया गया है। शराब के नशे में डूबे रहने वाले चौपट राजा की भाषा में मूर्खता और अभिमान सर्वत्र झलकता है। उसकी लड़खड़ाती जुबान से बकरी को बरकी, लरकी, भेड़ आदि कहलवाकर उसकी मानसिक अस्थिरता, अविवेक और बुद्धि-अनियंत्रण को प्रकट करता है।

चयन का प्रोक्ति स्तर–'चयन' का अर्थ है 'चुनना', अर्थात् एकाधिक में किसी एक को चुन लेना। शैली विज्ञान के प्रसंग में इसका अर्थ होगा किसी भाषा में प्राप्त एकाधिक इकाइयों या व्यवस्थाओं में अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी एक को चुन लेना।[15] अज्ञान अशिक्षा के कारण कुछ लोग विशेष शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'अँधेर-नगरी' के कुछ लोगों की भाषा में भारतेंदु ने ऐसे शब्दों का चुनाव जान-बूझकर किया है, जैसे–(क) 'अरे बाबा क्यों बेकसूर का प्राण मारते हो?' (ख) 'अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ।' (ग) 'राम का नाम लो–बेफायदा क्यों शोर करता है?'[16] भारतेंदु ने कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त किए हैं जो अब प्राय: दिखाई नहीं देते जैसे–वोई, हई, करै। ग्रामीण और अनपढ़ जनता को स्वभाविक रूप से प्रकट करने के लिए ऐसी शब्दावली का चुनाव किया गया है जो ऐसे लोग भावों को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त करते हैं, जैसे–बोई, हई, मुटाना, टिकस आदि। नाटककार ने कुछ शब्दों का चयन पत्रों के आधार पर उनको उसी रूप में प्रस्तुत करने के लिए किया है जैसे महंत और उनके चेलों द्वारा शब्द 'भिच्छा-उच्छा' का प्रयोग करना। इसी प्रकार मुर्ख रजा मूर्खों जैसी भाषा का ही प्रयोग करता है। नशा मानव-बुद्धि को कुंठित कर देता है। इस अवस्था में उसकी इंद्रियाँ ठीक प्रकार से काम नहीं कर पातीं, वह कहना कुछ चाहता है मगर कहता कुछ है। शराब के नशे में चौपट राजा 'बकरी' को 'बरकी', 'कल्लू' को

'मल्लू' बोलता है और कहीं-कहीं तो वह पूरा का पूरा वाक्य ही गलत बोलता है, जैसे–'क्यों बे भिश्ती। गंगा जमुना की किश्ती। इतना पानी क्यों दिया की इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई?' इसी प्रकार राजा का दूसरा कथन है–'क्यों बे कोतवाल। तैने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली की गडरिया ने घबराकर बड़ी भेड़ बेची जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनिया दब गया।'[17] इस प्रकार के शब्दों और वाक्यों के चयन से नाटककार का मंतव्य भाषा को जीवंतता प्रदान करना है। काव्य में लाक्षणिकता का समावेश इन्हीं से होता और गद्य को गतिशीलता मिलती है। 'अँधेर नगरी' में सारे पात्र अपने-अपने वर्ग, स्तर और व्यवसाय के आधार पर बोलते दिखाई देते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली अपने आप ही उनका स्तर बता देती है। भारतेंदु ने नाटक के विभिन्न पत्रों के लिए जिस प्रकार की भाषा चुनी है वह अत्यंत प्रभावशाली है। पात्रों के अनुकूल ही नाटक में शब्दों और वाक्यों का चुनाव किया गया है। शराब के नशे में दुबे रहने वाले चौपट राजा की भाषा में मूर्खता और अभिमान सर्वत्र झलकता है।

विरलता का प्रोक्ति स्तर–विरलता तब उपस्थित होती है जब समांतरता, विचलन और विपथन–तीनों में से कोई भी अभिलक्षण क्रियाशील नहीं होता है।[18] जब रचनाकार कोई ऐसी प्रोक्ति का प्रयोग अपनी रचना में प्रस्तुत करता है, जो न तो विचलित होती है, और न ही विपथित होती है, तब वहाँ प्रोक्ति-स्तर की विरलता उपस्थित होती है। समांतरता, विचलन, और विपथन से मुक्त ऐसी विरलता रचना की गहन संरचना से जुड़ी होती है। नाटक में जात-ब्राह्मण का कथन है–'जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाय और धोबी को ब्राह्मण करदें, ...टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें...।[19] उपर्युक्त संवाद 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' के कथन को नया अर्थ देता है। अब तक इसका मतलब वस्तुओं के एक दाम से था, परंतु यहाँ इसका मतलब हर चीज के खरीदे और बेचे जाने से है। यह विशेषता युग के बदलने की सूचक है और पूर्व से भिन्नता को दर्शाने वाली केंद्रीय विशेषता है। पैसे के इस महत्त्व ने समाज में पूर्व उपस्थित मूल्य व्यवस्था को छिन्न-छिन्न कर दिया है। अँग्रेजों ने जो राज्य व्यवस्था कायम की यह उसी नई व्यवस्था की केंद्रीय पहचान है। भारत में जो सामंतशाही पहले विद्यमान थी, उसमे धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा थी। लेकिन अब प्रतिष्ठा का यह आधार समाप्त हो रहा था। इसका स्थान पूँजी ने ले लिया था। पूँजी के लिए लोग अपनी जात बदलने, झूठ बोलने, झूठी गवाही देने को तैयार थे। इन पंक्तियों के माध्यम से भारतेंदु जी ने नाटक को व्यंग्य और विडंबना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में विवेचित करने का प्रयास किया है ताकि नाटक की आंतरिक शक्ति को पहचाना जा सकें जात ब्राह्मण वाला के माध्यम से भारतेंदु जी ने अत्यंत तेज गति से तत्कालीन समाज की झाँकी प्रस्तुत कर दी है। कुछ ही पंक्तियों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया गया है कि सारे समाज में भ्रष्टाचार, बेईमानी और चोर बाजारी का बोलबाला है। सभी हर प्रकार से एक-दूसरे को ठगने और लूटने लगे हुए हैं।

विपथन का प्रोक्ति-स्तर–विपथन रचनाकार द्वारा अपनी भाषा के बने-बनाए मानक से पुनः किया गया दिशांतर है, जिसके मूल में उसकी कोई सभिप्रायता निहित होती है। विपथन अँग्रेजी Deflection का हिंदी रूपांतर है। इसके मूल में भी मानक से अतिक्रमण की अवधारणा क्रियाशील होती है। किंतु यहाँ मानक भाषा के व्याकरण का न होकर युग, प्रवृति रचनाकार अथवा

विशेष रचना का अपना मानक होता है। जब रचनाकार अपने द्वारा स्वीकृत और सुस्थिर एक मानक की प्रत्याशा से अतिक्रमण कर जाता है, और इसके समांतर या विरोध में दुसरे मानक को उपस्थित करता है, तब वहाँ विपथन होता है।[20] 'अँधेर नगरी' नाटक में भाषा विपथन का रूप व्यापारी वर्ग की भाषा में मिलता है। नाटक में वर्णित सारा व्यापारी वर्ग विशेष प्रकार की भाषा बोलता है, घासीराम, नारंगीवाला, हलवाई, मुगल, पाचकवाला, मछलीवाला, जात वाला ब्राह्मण, बनिया आदि सभी की भाषा में अंतर है। कुजडीन–'ले धनिया, मेथी, सोआ, पलक, चौराई, बथुआ, ...सरसों का साग'।[21] हलवाई कहता है–जलेबियाँ गरमा गरम, ले सब इमरती लड्डू, गुलाब जामुन, ...।"[22] यह भाषा कथा की भाषा न होकर विशेष व्यापारी वर्ग की भाषा है। यह नाटक की सामान्य भाषा से शब्द-चित्र की क्रियाविहीन भाषा की दिशा में विपथित हुए हैं।

गत्यात्मक एकालाप मूलक प्रोक्ति–इसमें वक्ता स्वयं ही प्रशन करता, निषेध करता, और श्रोता के रूप में स्वयं ही उत्तर देता है।[23] नाटक में गोवर्धनदास की उक्ति है–'हायस मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे-नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना! अरे! इस नगर का नाम ही अँधेर नगरी और राजा का नाम चौपट है, तब बचने की कौन आशा है। अरे! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फकीर को बचा वै। गुरुजी! कहाँ हो? बचाओ-गुरुजी-गुरुजी'।[24] गोवर्धन जब नगर में प्रवेश करता है तो वह देखता है कि यहाँ हर वस्तु टके सेर बिक रही है। वह आश्चार्य चकित रह जाता है और उत्सुकता से उस नगरी का नाम पूछता है। हलवाई उसे राजा का नाम 'चौपट' और नगर का नाम 'अँधेर नगरी' बताता है। उसे लगता है कि यहाँ तो बड़ा आनंद है और भिक्षा में प्राप्त सात पैसों से ढेर सारी मिठाई खरीदता है, और भर पेट खाता है और वह गुरु जी को सारी बात बताता है और उनसे भी वहीं रहने का आग्रह करता है। महंत जी उसे समझाते हैं कि ऐसे नगर में रहना उचित नहीं है जहाँ सारी वस्तु एक ही दाम बिकती हों। पर गोवर्धन लोभ वश वहीं रहने की जिद करता है, महंत जी उसे मना करते हैं परंतु उसके न मानने पर महंत जी उसे वहीं छोड़कर चले जाते हैं। इसके बाद जब कोतवाल को फाँसी की सजा होती है तब उसकी गर्दन फंदे में फिट नहीं बैठती है, राजा के आदेशनुसार उसके लिए किसी मोटे व्यक्ति को अब फाँसी पर चढ़ाया जाना चाहिए। कोतवाल के स्थान पर मोटे आदमी की तलाश होती है और सिपाही गोवर्धन को पकड़ लेते हैं। उसी के संदर्भ में यह प्रोक्ति कही गई है। गोवर्धन बहुत दुहाई देता है, स्वयं को निरपराध बताता है परंतु उसकी कोई एक न सुनता। उसी वक्त वह खुद प्रश्न करता है खुद ही उत्तर देता है, और गत्यात्मक एकालापमूलक प्रोक्ति उभरती है, जिससे की समाज में व्याप्त विकृति और न्याय व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है।

व्यक्ति का मूल स्वभाव और प्रवृत्तियाँ हर युग में एक सी ही रही हैं। सतयुग में भी कलियुगी स्वभाव वाले थे और कलियुग में भी सतयुगी स्वभाव वाले सज्जन मिल जाते हैं। अच्छे-बुरे लोगों का संख्यात्मक अनुपात कम अधिक हो सकता है पर यह नहीं हो सकता कि किसी युग में उन्हें आधार बनाकर लिखा गया साहित्य दूसरे समय या स्थान के लिए अनुपयोगी हो। साहित्य तो कालजयी होता है और फिर भारतेंदु के साहित्य के संदर्भ तो वही हैं जो हमारे आज के समय के हैं, इनका कथासाहित्य विविधता और साभिप्रायता से पूर्ण है। जिसका 'प्रोक्ति' को निकष बनाकर अध्ययन करने पर उनकी रचना का उद्देश्य, मूलप्रतिपाद्य, मुख्य संदेश जो रचना द्वारा रचनाकार देना चाहता है वह उद्घटित होता है और जो उनकी रचनाओं की विशिष्टताओं का प्रमाण भी है।

संदर्भ

1. देवेंद्रनाथ शर्मा, भाषाविज्ञान की भूमिका, नई दिल्ली राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2001
2. शशिभूषण पांडेय शीतांशु, शैलिविज्ञान : प्रतिमान और विश्लेषण, दिल्ली देवदार प्रकाशन, संस्करण 1984, पृ॰ 63
3. भोलानाथ तिवारी, शैलीविज्ञान, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1997, पृ॰ 22
4. वही, पृ॰ 22
5. वही, पृ॰ 9
6. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, सैद्धांतिक एवं अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, साहित्यसहकार प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1992, पृ॰ ४१७.
7. कैलाशचंद्र भाटिया, गवेषणा अवस, 53-54, 1989, पृ॰ 157
8. इंदु शीतांशु, प्रोक्तिः स्वरूप, संरचना और शैली, प्रतिभा प्रकाशन होशियारपुर, संस्करण 1989, पृ॰ 9
9. वही, पृ॰ 9
10. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, सरंचनात्मक शैलीविज्ञान, आलेख प्रकाशन, संस्करण 1980, पृ॰ 95
11. इंदु शीतांशु, प्रोक्ति : स्वरूप, संरचना और शैली, प्रतिभा प्रकाशन होशियारपुर, संस्करण 1989
12. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक, विकास साहित्य संस्थान, संस्करण 2013, पृ॰ 62
13. वही, पृ॰ 67
14. वही, पृ॰ 69
15. भोलानाथ तिवारी, शैलीविज्ञान, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1997, पृ॰ 80
16. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक, विकास साहित्य संस्थान, संस्करण 2013, पृ॰ 73
17. वही, पृ॰ 69
18. इंदु शीतांशु, प्रोक्ति : स्वरूप, संरचना और शैली, प्रतिभा प्रकाशन होशियारपुर, संस्करण 1989
19. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक, विकास साहित्य संस्थान, संस्करण 2013, पृ॰ 64-65
20. इंदु शीतांशु, प्रोक्ति : स्वरूप, संरचना और शैली, प्रतिभा प्रकाशन होशियारपुर, संस्करण 1989
21. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक, विकास साहित्य संस्थान, संस्करण 2013, पृ॰ 63
22. वही, पृ॰ 63
23. इंदु शीतांशु, प्रोक्ति : स्वरूप, संरचना और शैली, प्रतिभा प्रकाशन होशियारपुर, संस्करण 1989
24. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक, विकास साहित्य संस्थान, संस्करण 2013, पृ॰ 73

Manjinderkour
Girls hostel No 2, Panjab University
Chandigarh 160014
Mob. 8328638897
manjinderk998@gmail.com

राजस्थान के संस्कार गीतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

मीनाक्षी शर्मा, शोधार्थी, हिंदी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भारतीय समाज धर्म से ओत-प्रोत है। संस्कारों के माध्यम से ही संस्कृति बनती है। संस्कार गीतों के द्वारा किसी भी क्षेत्र की संस्कृति को भली-भाँति समझ सकते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों और पश्चिमी बिहार के कुछ जिले जिसको भोजपुरी क्षेत्र माना जाता है तथा राजस्थान के अंतर्गत प्रचलित राजस्थानी के संस्कार गीतों में उन क्षेत्रों की संस्कृति का दर्शन होता है। मनुष्य का जीवन जन्म से मृत्युपर्यंत तक संस्कारमय होता है। हमारे धर्मशास्त्रियों ने 16 संस्कारों का विधान किया है, परंतु इनमें पुत्र जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना और मृत्यु संस्कार प्रधान हैं। मृत्यु संस्कार को छोड़कर शेष संस्कार हर्ष और उल्लास के साथ मनाए जाते हैं।

हिंदी की उपभाषा 'राजस्थानी' शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित है, जिसकी प्रमुख बोलियाँ, ढुंढारी (जयपुरी), मारवाड़ी, मेवाती, मालवी और हाड़ौती हैं। इनका समग्र रूप राजस्थानी के नाम से प्रचलित है। 'सेंसस 2011 के अनुसार इसके भाषा भाषियों की संख्या 2,58,06,344 है।'[1] जो भोजपुरी के बाद दूसरे स्थान पर है।

भारतीय लोकसाहित्य के संकलन और अनुसंधान कार्य आरंभ करनेवालों में अँग्रेज सिविलियन और इसाई मिशनरी प्रमुख थे। सर्वप्रथम कर्नल जेम्स टाड ने सन् 1826 में 'एनेल्स एंड ऐंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान' ग्रंथ प्रकाशित किया। तदुपरांत राजस्थान के अनेक विद्वानों ने राजस्थान के लोकसाहित्य पर कार्य किया। भोजपुरी और राजस्थानी दोनों का लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध है। प्रस्तुत आलेख में भोजपुरी और राजस्थानी के प्रमुख संस्कार गीतों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

जन्म संस्कार–राजस्थान में पुत्र जन्म के समय गाये जाने वाले गीतों को 'हालरा' कहते हैं। इन गीतों में जच्चा-बच्चा, छठी पूजन गीत, सोंठ अजवाईन गीत, जलदेवी पूजन गीत आदि सम्मिलित रहते हैं। राजस्थान में पुत्र के जन्म पर जहाँ थाल बजाने की प्रथा है वहीं पुत्री के जन्म पर सूप थपथपाया जाता है। राजस्थानी संस्कृति में शिशु के गर्भ में आते ही उसकी इस अवस्था का चित्रण राजस्थानी लोकगीतों में खूब आकर्षक ढंग से किया जाता है। गर्भवती स्त्री को नौ मास तक भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थिति से गुजरना पड़ता है तथा उसे विभिन्न प्रकार की चीजें खाने का मन होता है जिसका वर्णन इस लोकगीत में किया गया है–

पहलो मास होलरियो जी भंवरजी
म्हार आल भोल मन रलियो म्हार राज
दूजो मास होलरियो जी भंवर जी
म्हारो थूकतडै मन रलियो म्हारा राज
ओ जी मिरगा नैणी रा...'[2]

गर्भाधान से प्रसव तक का संस्कार 'पुंसवन' संस्कार होता है। गर्भ के सातवें मास में

राजस्थान में जो संस्कार किया जाता है उसे 'साध' कहा जाता है। इन गीतों को 'फुलेरा' भी कहा जाता है। यह बहुत ही हर्ष की वेला होती है–

आज झूमन लागे मोरी आशा के फुलवा
सूरज किरण मुस्कुराई आँगनवा
आज झूमन लागे मोरी आशा के फुलवा
हिरणी सा मन मोरा भरता किलोले
ठंडी पवन झूले मस्त हिंडोले
मन में मोरे आनंद छाया
फूलों का आज शृंगार कराओ
गोरी की गोद आज भराओ...[3]

राजस्थान में पुत्र जन्म का बड़ा उत्सव मनाया जाता है। बच्चे के जन्म के एक महीने उपरांत जो स्नान कराया जाता है वह 'नहान' कहलाता है। जच्चा को कुएँ पर ले जाकर कुआँ (जलवा) पूजन कराने की परंपरा भी है इस अवसर पर स्त्रियों का समूह गीत गाता हुआ चलता है–

प्यारी लागै कुल बहू ओ ललना
घोर जिठाणी पाणी नीसरी ओ ललना
ललाजी कर सोला सिंगार।[4]

मुंडन संस्कार–राजस्थान में चूड़ाकरण को मुंडन या जडूला उतारना कहते हैं। स्वास्थ्य तथा सौंदर्य की भावना इस संस्कार के मूल में है। इस संस्कार के द्वारा बालक के गर्भ के बाल कटवाए जाते हैं। यह संस्कार शिशु के जन्म के पहले या तीसरे वर्ष कराया जाता है। राजस्थान में मुंडन संस्कार किसी देवी या देवता जैसे–माताजी, भैरव जी, बालाजी, रामदेव जी के नाम पर ही बोले जाते हैं। इन मंदिरों में जाकर ही शिशु के बाल उतरवाए जाते हैं। राजस्थान एवं बुंदेलखंड दोनों ही क्षेत्रों में यह संस्कार प्रचलित है। राजस्थान में जहाँ बुआ अपने भतीजे के मुंडन के अवसर पर अपनी भाभी से नेग माँगती है वहीं माँ भी मंगल गीत गाने के लिए सभी को उत्साहित करती हुई कहती है–

मेरे ललना को मुंडन होय, सखी गाऔ।
ललना की आवै बुआ मनभाई,
ललना की भैना हू हरसाय आई
ढोलक धुनकधुन होय, सभी मंगल गाऔ
मुंडन कौ माँगे है नेग हठीली
सैया की भैना है गोरी छबीली
लूटे सबी मिल मोय, सखी मंगल गाऔ।[5]

जनेऊ संस्कार (उपनयन)–राजस्थान में इस संस्कार से संबंधित गीत 'जनाई' और 'पाटक की डोरी' आदि नाम से गाये जाते हैं जिनका प्रमुख विषय होता है–पचडोलिया, भिक्षा और दीक्षा के गीत। इस अवसर के गीतों में सुंदर सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होती है–

गले जनेऊ मूँज की डोरी, मेलो दादा सा भिक्षा हमारी
भिक्षा भिखारी ने सोव रे लाला यूँ म्हारे घर को दिवलो रे लाला।[6]

यह संस्कार हिंदू समाज का अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। यज्ञोपवीत को आयु, बल तथा तेज प्रदान करने वाला माना गया है। यज्ञोपवीत का शाब्दिक अर्थ है यज्ञ से पवित्र किया

गया सूत्र।

विवाह संस्कार–संपूर्ण मानव जाति में विवाह संस्कार अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि इस संस्कार के संपन्न होने पर जीवन साथी की प्राप्ति होती है। अत: इस अवसर पर नाना प्रकार के आयोजन किए जाते हैं।

राजस्थान में विवाह के अवसर पर सर्वप्रथम विनायक (गणेश जी) की स्थापना की जाती है। विवाह का निमंत्रण पत्र, श्रीफल, मिठाईयाँ अर्पण करके गणपति से विवाह में आने और विवाह को निर्विघ्न संपन्न कराने की विनती करते हैं। इस तरह गजानन हर विवाह के पहले मेहमान होते हैं और इस अवसर पर महिलाएँ इस प्रकार विनायक गाकर विवाह कार्यक्रम का आरंभ करती हैं–

दूं द दूंधाला बाबा सूंड सूंडयाला,
ओछी सी पींडया एजन गोरा हो म्हारा बिरद विनायक
चालो विनायक आपां जोसी जी के चालां तो
चोखा सा लगन लिखावां जी म्हारा,
चालोजी विनायक आपां हलवाई के चालां तो
मीठा-मीठा लाडूड़ा मुलावा जी म्हारा...[7]

भगवान गणेश जहाँ विघ्नहर्ता हैं वहीं रिद्धि और सिद्धि से विवेक और समृद्धि मिलती है। शुभ और लाभ घर में सुख सौभाग्य लाते हैं और समृद्धि को स्थायी और सुरक्षित बनाते हैं।

विवाह संस्कार भारतीय संस्कृति में सबसे प्रसिद्ध और प्रधान संस्कार है। मनुष्य के जीवन में जितना महत्त्व विवाह संस्कार का है उतना संभवत: अन्य किसी का नहीं। संसार के प्रत्येक क्षेत्र में इस संस्कार का विधान है। प्रत्येक राज्य में विवाह की प्रथाएँ अलग-अलग हैं, विवाह के गीत वर और वधू दोनों के घरों में गाए जाते हैं। वर पक्ष के गीतों में जहाँ उल्लास, उमंग देखने को मिलता है वहीं कन्या पक्ष के गीतों में करुणा और मधुरता की प्रधानता रहती है। भोजपुरी और राजस्थानी दोनों ही क्षेत्रों में विवाह एक पवित्र बंधन माना जाता है।

राजस्थान में भी वर पक्ष के यहाँ लगन आने पर महिलाएँ गीत गाती हैं–

लगन आई हरे-हरे, हर-हरे
लगन आई म्हारे अंगना,
दादा सज गए, पापा सज गए,
सज गए सारे बराती,
म्हारो बनडो तो ऐसे सज गया
जैसे श्री भगवान, लगन आई...

गवना/गौना संस्कार–राजस्थान की अनेक जातियों में भी विवाह के पश्चात् गौने (मुकलावे) की प्रथा प्रचलित है। विवाह के समान इसे भी धूमधाम से मनाया जाता है। मुकलावे के समय पति अपने सगे संबंधियों के साथ निश्चित तिथि पर पत्नी को लेने ससुराल जाता है तो ससुराल वाले उसका खूब 'लाल कोड' करते हैं। इस अवसर पर भी जँवाई, जँवाई का पिता (ब्याई), जँवाई की माता (ब्याइण) आदि को संबोधित करके अनेक गीत गाये जाते हैं। जहाँ जँवाई को लाड कोड के गीत गाये जाते हैं वहीं उसे गालियां (परिहास मूलक गीत) भी गाई जाती हैं।

मुकलावै के अवसर पर गाया जाने वाला एक ऐसा गीत प्रस्तुत है जिसमें कन्या पक्ष वाले जंवाई (दामाद) के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं–

कुणाजी खुदाया तळाव
कुणाजी खुदाया ओ जुग भाला नाडी खाबड़ा
सुसराजी खुदाया ओ तळाव
बाभोसा खुदाया ओ जुग भाला-नाडी खाबड़ा।

गौने (मुकलावे) के अवसर पर ब्याई को गालियाँ गाई जाती हैं। एक गाली गीत प्रस्तुत है–

आळा में पड़ियौ सूत जी म्हैं घर चाल्या
ब्यायां नै लागौ भूत जी म्हैं घर चाल्या
आळा में पड़ियौ साबू जी म्हैं घर चाल्या
ब्यायां नै लागौ पाबू जी म्हैं घर चाल्या।

इतना ही नहीं इस अवसर पर ब्यायण (ब्याई की पत्नी) को भी गालियाँ गाई जाती हैं। एक उदाहरण उद्धृत है–

हाथ मांही आंनौ, उणनै लेग्यौ नांनौ
चली आजा म्हारी ब्यायण रेल में बैठाणूं।
मोटर हक जासी, हाथ मांही किरण्यौ
लेग्यौ उणनै परण्यौ
चली आजा म्हारी ब्यायण रेल में बैठाणूं।

भात (मायरा)/ चीकट गीत–राजस्थान में भी विवाह के अवसर पर समस्त रिश्तेदारों के सहयोग की एक सुंदर परंपरा देखने को मिलती है। 'भात' वर एवं वधू दोनों पक्षों में ही मामा के द्वारा पहनाया जाता है। बहन अपने भाई के यहाँ जाकर गुड़ की भेली ले जाकर विवाह में सम्मिलित होने का आमंत्रण देती है। भाई इस भेली को स्वीकार करता है और अपने भ्रातृत्व धर्म को निभाने के लिए विवाह से पूर्व अपनी बहन के यहाँ 'भात' लेकर पहुँचता है।

राजस्थान में अधिकांशत: चाक एवं भात की रस्म एक साथ ही होती है। चाक पूजन में घर की महिलाएँ कुम्हार के चाक की पूजा अर्चना करती हैं। धार्मिक नजरिए से देखें तो कुम्हार के चाक को ब्रह्मा का सृष्टि चक्र भी माना जाता है। चाक पूजन के बाद धन-धान्य की कमी नहीं होती एवं विवाह का सारा कार्य सकुशल होता है। चाक पूजन के बाद भात (मायरा) का कार्यक्रम होता है। बहिन का सबसे ज्यादा लगाव भाई से होता है। भाई-बहिन के इस अटूट प्रेम को भात (मायरे) की रस्म के समय देखा जा सकता है। राजस्थान में भात के समय गाये जाने वाले गीत में बहन हर्षाते हुए गाती है–

उपज्यो उपज्यो सूरज उपज्यो
आज म्हारे आँगने
बीरो भात भरण ने आयो है
संग भाभी-भतीजा ने लायो है...[9]

तेल एवं हल्दी गीत–हल्दी की रस्म तेल के साथ ही संपन्न होती है। यह रस्म वर एवं वधू दोनों परिवार में किए जाने का प्रावधान है। इस कार्य को भाभी, मामी, बुआ, बहिनें ही करती हैं। हल्दी का रिवाज एक ऐसा रिवाज है जो हजारों सालों से चलन में होने के बावजूद अब तक भी नहीं बदला है। हल्दी को कई जगह 'पीठी' भी कहा जाता है। कहा जाता है कि तारों की छाँव में हल्दी लगाकर विवाह करने से वर एवं वधू का रूप चाँदनी-सा खिलता है। इसे शादी से पहले की

सुबह को पूर्ण किया जाता है। राजस्थान में हल्दी रस्म के समय का गीत द्रष्टव्य है–

म्हाँ री हल्दी रो रंग सुरंग, निपजै मालवे
हल्दी मोल पंसारी री हाट, वनडे रे सिर चढ़ै
चिर जीवो रायजादे रा बाबोजी चतर सुजाण हल्दी मोलवै
बाँ री माता रे मन कोड घणा करै, म्हाँरी...[10]

कन्या-दान के गीत–विवाह में प्रत्येक रस्म-रिवाज का अपना महत्त्व है। कन्या दान का अर्थ होता है–कन्या का दान करना। कन्यादान के बारे में कहा जाता है कि इससे बढ़कर धरती पर कोई दान नहीं है। इसलिए इसे महादान कहा गया है। कन्यादान करने वाला अक्षय पुण्य की प्राप्ति करता है। कन्यादान एक ऐसी रस्म है जो माता-पिता और बेटी के भावनात्मक रिश्ते को दर्शाती है। यही भाव इस अवसर के गीतों में भी देखने को मिलता है। राजस्थान में इस भावोद्‌गार का सजीव चित्रण प्रस्तुत गीत में द्रष्टव्य है–

धर धर धरती धूजै, हुई रे धरम री, वेला ओ राज
सरिया रो धरम बाई रो बाबोसा लेसी
सुखबीर जी जायो है लाल
सरिया रो धरम बाई रा मामो जी लेसी
धिन सजवारा जायो ओ राज।[11]

सप्तपदी/भाँवर परिक्रमा गीत–राजस्थान में 'चँवरी' में वर-वधू भाँवरे (फेरा) लेते हैं। चार भाँवरे लेते ही वर-वधू विवाह सूत्र में बँध जाते हैं। इस अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीत की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

पैलै तौ फेरै बनड़ी बाभोसा री बेटी
दूजै तौ फेरै बनड़ी काकोसा री भतीजी
इगमै तौ फेरै बनड़ी बीरोसा री बेनड़
चौथै तौ फेरै बनड़ी हुई रै पराई।[12]

अंत्येष्टी संस्कार–राजस्थान में मृत्यु संस्कार पर भी गीत गाने की परंपरा है। किसी व्यक्ति की मृत्यु से बारह दिन तक विभिन्न प्रकार के गीतों, हरजसों और भजनों का रात्रि समय में आयोजन किया जाता है। आर्थिक दृष्टि से विपन्न होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने रिश्ते के मृतक की अस्थियाँ पावन नदी गंगा में प्रवाहित करना धार्मिक कृत्य मानता है। कुछ वर्गों में किसी की मृत्यु के दूसरे दिन सवेरे घर के निकट किसी वृक्ष (प्राय: खेजड़ी) के नीचे गेहूँ के दाने बो दिए जाते हैं तथा घर की बड़ी बहू व बहिन-बेटियाँ सदैव (बारह दिन तक) उसमें पानी दिया करती हैं, इसे 'पंथवारी' कहा जाता है और इस समय स्त्रियाँ केवल 'पंतवारी' के गीत गाया करती हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

केनी सूवा घर री जी बात
कांई तौ करै भोजाइयां
सात सोनै रा कळासिया पांतवार सींचतां
म्हैं देखिया सिरीरांम।[13]

अंत्येष्टी से संबंधित लोकगीतों के अंतर्गत मृत व्यक्ति के गुणों की प्रशंसा की जाती है तथा यह संदेश भी दिया जाता है कि तभी तो वह ईश्वर को प्यारा हो गया है–

केसरियो तो रुड़ो नै रसीलो हरियो
ऐ केसरिया हाय हाय हो से
केसरिया तो सरावरै पधारया
हरियो ए केसरिया[14]

इसके अलावा गृह-वधुएँ रात्रि-काल में गंगा-स्नान माहात्म्य के गीत गाया करती हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि किसी भी जाति या प्रांत के लोकगीत वहाँ की जनता की औसत रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी सहज संगीतात्मक उर्मियों में वहाँ का जीवन-सागर तरंगित होता हुआ प्रतीत होता है। जीवन के हर महत्त्वपूर्ण कार्य में गीत का स्थान है। बच्चा गर्भ में होता है तभी से गीत गाये जाते हैं। जन्म की खुशी गीतों में ही व्यक्त होती है। बच्चा बीमार होता है तो गीतों के माध्यम से ही देवता मनाए जाते हैं जो संस्कार गीतों के बिना संभव ही नहीं है। विरह के क्षणों में व्यथित हृदय का बोझ भी इन्हीं गीतों में उड़ेलकर मन को हल्का करते हैं। मरण के पश्चात् गंगा माता की अभ्यर्थना तक में गीतों के बिना काम नहीं चल सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि पूरा जीवन ही गीतमय है। जीवन के हर मार्मिक क्षण का स्पंदन इन गीतों की रागिनियों में मुखरित हो उठा है।

संदर्भ

1. http://censusindia-gov-in/2011Census/Language&2011/Statement-1-pdf
2. श्रीमती लीला सोमानी, राजस्थानी पालणा रा गीत, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1961, पृ॰ 76
3. वही, पृ॰ 138
4. डॉ॰ शांति जैन, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1964, पृ॰ 62
5. डॉ॰ हेमा देवरानी, राजस्थानी और गढ़वाली लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रतीक्षा पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2016, पृ॰ 94
6. डॉ॰ स्वर्णलता, लोकसाहित्य विमर्श, रत्न स्मृति प्रकाशन, बीकानेर, 1979, पृ॰ 138
7. श्रीमती शकुंतला जोशी, महिला मंगल गीत (विवाह के गीत), धीरेंद्र पुस्तक भंडार, अजमेर, 1995, पृ॰ 3
8. डॉ॰ सद्दीक मोहम्मद, राजस्थानी लोक-साहित्य एवं भारत-गाथाएँ-एक अध्ययन, मूमल प्रकाशन, जोधपुर, 2007, पृ॰ 42-43
9. कृष्णमूर्ति, कविता यूट्यूब एल्बम (सुरंगो सासरियो राजस्थानी मैरिज सॉन्ग), सारेगामा इंडिया लिमिटेड, 4 दिसंबर 2015
10. ठा॰ रामसिंह पारीक, सूर्यकरण स्वामी, नरोत्तमदास (सं॰), राजस्थान के लोकगीत, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, संस्करण 2019, पृ॰ 120
11. डॉ॰ हेमा देवरानी, राजस्थानी और गढ़वाली लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रतीक्षा पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2016, पृ॰ 102
12. डॉ॰ सद्दीक मोहम्मद, राजस्थानी लोक-साहित्य एवं भारत-गाथाएँ-एक अध्ययन, मूमल प्रकाशन, जोधपुर, 2007, पृ॰ 39
13. सोहनदान चारण, राजस्थानी लोक-साहित्य का सैद्धांतिक विवेचन, राजस्थान साहित्य मंदिर, जोधपुर, 1980, पृ॰ 70
14. डॉ॰ हेमा देवरानी, राजस्थानी और गढ़वाली लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रतीक्षा पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2016, पृ॰ 104

'बौनी होती परछाई' कहानी-संग्रह में नारी के विविध रूप

पिंकी देवी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक
डॉ॰ कृष्णा जून, प्रोफेसर, हिंदी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

नारी को विधाता की अनुपम कृति माना गया है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में नारी का पद विशिष्ट रहा है। समाज के रचना विधान में नारी के माता, पत्नी, बहन, पुत्री और प्रेमिका अनेक रूप हैं। नारी एक रूप अनेक वास्तव में यह बात एकदम सत्य है। सर्वप्रथम वह इस संसार में एक पुत्री के रूप में जन्म लेती है लेकिन जैसे-जैसे वह बड़ी होती जाती है उसे अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। वह पुत्री और बहन के रूप में घर के आँगन को महकाती है, पत्नी बनकर पति की अर्धांगिनी कहलाती है और माता के रूप में अपनी संतान से असीम प्रेम करती है। इस प्रकार नारी न जाने कितने दुखों-सुखों को सहन कर समाज में अपनी भूमिकाओं को निभाती है। प्रकृति की भाँति नारी भी है। जिस प्रकार प्रकृति के अनेक रूप हैं ठीक उसी प्रकार नारी के भी अनेक रूप हैं। कहीं वह कोमल है तो कहीं कठोर। जिस प्रकार नारी के त्याग, प्रेम, समर्पण की थाह मिलना आसान नहीं है ठीक उसी प्रकार उसकी ईर्ष्या, छलकपट और क्रोध की भी कोई सीमा नहीं है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ के साहित्य में जहाँ एक ओर परिवार से जुड़ी हुई सामान्य नारी है तो वहीं दूसरी ओर आधुनिक युग के परिवेश में ढलकर अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाती हुई नारी भी है। उन्होंने अपने साहित्य में नारी की समस्याओं, उनकी आवश्यकताओं और उस पर सामाजिक बंधनों का विश्लेषण बहुत ही बारीकी से किया है।

यह सर्वमान्य सत्य है कि नारी परिवार का मुख्य आधार रही है। प्रत्येक समाज के सर्वांगीण विकास में वह एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। समाज में नारी का स्थान नर से बढ़कर माना गया है। मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार, 'एक नहीं दो-दो मात्राएँ नर से बढ़कर नारी।'[1] समाज एवं परिवार के निर्माण में नारी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

इस संसार में नारी का सबसे सुंदर रूप है माँ का। इस शब्द के मात्र स्मरण से ही हमारा हृदय पुलकित हो उठता है। जब एक नवजात शिशु इस संसार में आता है तो सबसे अधिक खुशी एक माँ को ही होती है। माँ के आँचल में ही बच्चा स्वयं को सुरक्षित समझता है। भारतीय समाज में माँ के रूप में नारी का विशेष स्थान है। माँ अपनी संतान को जीवन में कभी भी हतोत्साहित होते हुए नहीं देख सकती। वह बच्चों की गलतियों को नजरअंदाज कर सदैव उन्हें जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। एक माँ का जीवन अपनी संतान के लिए अर्पित होता है। वह सदैव अपनी संतान की भलाई के बारे में सोचती रहती है उनके लिए कुछ भी कर गुजरने को तैयार रहती है।

'नई संभावनाओं का आकाश' कहानी में जब शौर्य को किसी वजह से जेल हो जाती है, तो हर कोई उससे मुँह मोड़ लेता है अर्थात् हर कोई उससे रिश्ता तोड़ना चाहता है। उसका पिता

आशुतोष भी उससे बात करनी बंद कर देता है, लेकिन उसकी माँ ऐसा नहीं करती। वह अपनी संतान का साथ देती है। शौर्य की माँ उससे मिलने के लिए जेल में जाती है वह उसके लिए खाना और कुछ किताबें भी लेकर जाती है ताकि वह जीवन में निराश न हो और उसे जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा भी मिले।

'कुछ किताबें लाई थी... और तेरी मनपसंद मठरियाँ और केक।'

'फिर वही उठा लाई?... क्या फिलॉसफी से भरी किताबें?'

'नहीं, इस बार कुछ नॉवल्स है और मैग्जीन्स कम्प्यूटर से रिलेटेड।'

'यह अच्छा किया मॉम।'[2]

जेल में बंद शौर्य जब अंदर ही अंदर घुटता रहता है और यह महसूस करता है कि वह अब कुछ नहीं कर सकता उसका भविष्य खराब हो गया, तो उसकी माँ उसके अंदर एक उम्मीद पैदा करती है कि अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तुम जीवन में अभी भी बहुत कुछ कर सकते हो। शौर्य जब अपनी माँ से कहता है कि माँ आप मिलने आती रहा करो, अच्छा लगता है। तब उसकी माँ सोचती है, 'आऊँगी, आना ही होगा, आते रहना होगा, क्योंकि मैं नहीं चाहती तुम जीवन से उम्मीदें तोड़ बैठो। बस एक साल और... फिर... फिर से हम खोज लेंगे नई संभावनाओं का आकाश।'[3] माँ की हार्दिक इच्छा होती है कि उसकी संतान जहाँ कहीं भी रहे खुश रहे। अमृता एक ऐसी माँ के रूप में दिखाई पड़ती है जो अपनी संतान को जीवन में निराश होते हुए नहीं देख सकती। बिना किसी गलती के जेल में सजा काट रहा शौर्य जब हार मान लेता है तो उसकी माँ उसे जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है कि अभी भी तुम अपने जीवन में बहुत कुछ हासिल कर सकते हो।

नारी जीवन की सार्थकता तभी है जब वह माँ बनती है। माँ सिर्फ वह नहीं होती जो बच्चे को जन्म देती है, बल्कि माँ तो वह होती है जो बच्चे का पालन-पोषण कर उसे एक अच्छा इंसान बनाती है। नारी माँ के रूप में ममता और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति मानी जाती है। माँ बच्चे की प्रथम शिक्षिका होती है वह उसे अच्छे-बुरे की परख करना सिखाती है। वह अपने बच्चों की भलाई के लिए परिवार के सदस्यों के साथ संघर्ष करती रहती है।

परिवार में नारी की विविध भूमिकाओं में से एक मुख्य भूमिका पत्नी की भी है। नारी का पत्नी रूप अपना एक विशेष स्थान रखता है। भारतीय समाज में एक आदर्श पत्नी को अधिक महत्त्व दिया जाता है जिसमें सेवा, प्रेम, त्याग, आत्मसमर्पण और सहनशीलता जैसे गुण विद्यमान हों। भारतीय संस्कार में पत्नी अपने पति के प्रति पूर्णत: समर्पित होती है। एक पत्नी को अपने जीवन में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है लेकिन फिर भी वह अपने कदम पीछे नहीं हटाती बल्कि निरंतर कठिनाईयों का सामना करते हुए जीवन में आगे बढ़ती रहती है। अपने पति के साथ-साथ वह परिवार के अन्य सदस्यों का भी ध्यान रखती है।

'टिटहरी' कहानी के माध्यम से पति-पत्नी की नौक-झौक का वर्णन मिलता है। गीति और अनिरुद्ध का प्रेम विवाह हुआ था लेकिन आज दोनों के बीच जरा सी बात पर लड़ाई-झगड़ा हो गया। गीति अपने पति को दोष देने की बजाय स्वयं को ही दोष दे रही है। वह बात को बढ़ाने की बजाय पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास करती है। 'आज भी कहाँ गलत थे अनिरुद्ध? उस बैचलर की तो इमेज ही खराब है, जिसके साथ वह सहज ही डांस करने को उठ गई थी। वह बेवजह ही कान पर झुक-झुक बातें कर रहा था। डांस करते-करते और वह भी खिलखिलाकर हँस पड़ी थी उस पूअर जोक पर, वरना अनिरुद्ध इतने भी मीन नहीं। उसके स्कूल-कॉलेज के दोस्तों

से उदारता से मिलता आया है। उसने सहजता ही से तो कहा था कि मुझे उस बैचलर के साथ डांस नहीं करना चाहिए था। वही चिल्ला पड़ी थी।'[4] गीति घर छोड़ने का निर्णय बदलकर अपने परिवार को सहजकर रखने का निर्णय लेती है। अत: गीति एक ऐसी पत्नी के रूप में प्रस्तुत होती है जो अपने पति और बच्चों के साथ अपने गृहस्थ संसार को सँजोकर रखना चाहती है।

नर और नारी एक-दूसरे के पूरक है। नर के बिना नारी का और नारी के बिना नर का अस्तित्व अधूरा है। दोनों की उन्नति व विकास भी समान रूप से आवश्यक है। दांपत्य जीवन की सफलता की जिम्मेदारी दोनों की है। 'एक लिजलिजा एहसास' कहानी में ऐसी पत्नी को चित्रित किया गया है जिसे उसके पति की गैर-मौजदूरी में भोग-विलास की वस्तु समझा जाता है। उसका पति किसी काम से बाहर गया हुआ है और उसकी गैर मौजूदगी में उसके सहकर्मी उसे केवल भोग की वस्तु के रूप में देखते हैं। जब उसका पति उसके साथ था तो वह खिलखिलाकर हँसती थी लेकिन अब वह नहीं है तो उसकी हँसी भी संदिग्ध हो गई है, 'तुम थे तो मैं पूर्ण थी, प्रतिष्ठित और सच्चरित्र पत्नी। तुम्हारे साथ सजी-सजी! स्वतंत्र खिलखिलाकर हँसने को कोई भी फैशन फॉलो करने को, थिरकने को, कुछ भी बोल देने को।

तुम क्या गए मैं बस एक देह रह गई। एक खुली अकेली आमंत्रित करती देह! मेरी वही हँसी संदिग्ध हो गई, शब्द मुँह से बिना निकले मुखर हो गए। प्रतिष्ठा-चरित्र तुम्हारे नाम के साथ चला गया। एक फोन ने घनघनाकर मुझे मेरी हैसियत बता दी कि अब मैं मैं नहीं, अकेली छूट गई भोग वस्तु हूँ।'[5]

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जब एक पत्नी के साथ उसका पति होता है तो वह सब-कुछ कर सकती है जो वह चाहती है लेकिन यदि उसका पति उसके साथ नहीं है तो उसके हर कार्य पर संदेह किया जाता है। उसे केवल भोग की वस्तु समझा जाता है उसके चरित्र पर सवाल उठाए जाते हैं। पति की गैर-मौजूदगी में पत्नी स्वयं को देह समझती है।

भारतीय समाज में पतिव्रता पत्नी की कल्पना की जाती है। एक पत्नी ही होती है जो किसी घर को आबाद भी कर सकती है और बर्बाद भी। एक तरफ तो पत्नी अर्धांगिनी होती है, पतिव्रता होती है, वहीं उसका दूसरा रूप कुलटा का भी है। हमारे समाज में पत्नी का परपुरुष से बात करना भी गलत समझा जाता है लेकिन आधुनिककाल में कुछ नारियाँ ऐसी भी देखने को मिलती हैं जो न सिर्फ बातें करती हैं बल्कि दूसरे पुरुष से शारीरिक संबंध भी बनाती हैं। 'पल्लव' कहानी में पल्लव एक ऐसी पत्नी के रूप में हमारे सामने आई जो अपने पति से छलकपट करने से भी पीछे नहीं हटती। 'बाहर ठंडी हवा पीपल के पत्तों को सिहराए दे रही थी। न जाने कब बंध, खुले और निर्वसन देह सुख की वापी में सिहरती उतर गई। जानें क्यों वह परितोष के साथ एकाग्र हो चरम सुख की सीमाएँ छू आती है।'[6] यहाँ पर पत्नी के ऐसे रूप को दिखाया गया है जो अपने पति को धोखा दे रही है। पल्लव पति को भी नहीं छोड़ना चाहती और परपुरुष से संबंध भी रखना चाहती है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपनी रचनाओं के माध्यम से पत्नी के दोनों स्वरूपों का बड़ी बारीकी से वर्णन किया है। एक तरफ जहाँ पत्नी अपने पति को ही अपना सर्वस्व मानती है तथा एक आदर्श पत्नी के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हुई है तो वहीं दूसरी तरफ ऐसी पत्नी भी है जो परपुरुष से प्रेम करने की हिमाकत भी करती हुई दिखाई पड़ती है। 'भाग्यलक्ष्मी', 'ये कुछ लोग! कुछ संबंध', 'लेट अस ग्रो टुगेदर', 'प्रश्न का पेड़' आदि कहानियों में लेखिका ने पति-पत्नी के आपसी मतभेद, तनाव के कारण बनते विवाहेत्तर संबंधों का चित्रण किया है।

नारी अनेक भूमिकाओं को निभाती हुई अपने जीवन पथ पर अग्रसर होती है उसके विभिन्न रूपों में एक रूप प्रेमिका का भी होता है। प्रेमिका वही है जो निस्वार्थ अपने प्रेमी को प्रेम करे, वह पूर्ण रूप से अपने प्रेमी के प्रति समर्पित हो। प्रेम केवल शारीरिक दायरे तक सीमित न हो बल्कि भावनात्मक हो। नारी का प्रेमिका रूप जहाँ पुरुष को स्नेह की शीतल छाया प्रदान करता है आवश्यकता पड़ने पर वही मार्गदर्शक बनकर उसका मार्ग प्रशस्त करती है। प्रेम के बारे में बहुत सारी धारणाएँ बनी हुई हैं कि 'प्रेम अंधा होता है, यह कब किससे हो जाए कुछ पता नहीं चलता।' 'शाश्वती' कहानी में एक ऐसी प्रेमिका का वर्णन किया गया है जो अपने ही गुरु से प्रेम करती है। शाश्वती जिसके मार्गदर्शन में पीएच॰डी॰ कर रही है उसी से प्रेम करती है यानी एक शिष्या अपने ही गुरु से प्रेम करती है हालाँकि उसके गुरु उसे समझाते हैं लेकिन वह समझना ही नहीं चाहती।

'यह सब प्रश्न व्यर्थ हैं शाश्वती, हम बहुत आत्मीय रहे हैं।'

'सर... आपकी आत्मीयता और मेरा प्रेम...'

'तुम्हारे प्रेम के लिए, शाश्वती, मैं सही पात्र नहीं था...'

'यह आपको नहीं निश्चित करना था सर।'[7]

प्रेम व्यक्ति को नई दृष्टि देता है। प्रेम में उसे सब कुछ सुंदर ही सुंदर दिखाई पड़ता है। प्रेमिका अपने प्रेमी को पूर्णता से अपनाती है वह उसकी कमियों में भी अच्छाईयाँ ढूँढती है। वर्तमान में प्रेमिका का रूप काफी बदल गया है। समाज में कुछ ऐसी नारी भी होती है जो विवाह के बाद भी अन्य पुरुषों से प्रेम प्रसंग बनाती है। 'पल्लव' कहानी के माध्यम से एक ऐसी ही नारी का वर्णन किया गया है। 'जाने क्यों वह परितोष के साथ एकाग्र हो चरम सुख की सीमाएँ छू आती है। यहाँ वह सब याद नहीं आता, 'ओह, गैस बंद की या नहीं, सुबह जल्दी उठना होगा, बच्चों के टेस्ट है।'

परितोष के अस्तित्व में स्वयं को खोकर सोचती है कि देह से आत्मा और आत्मा से होकर अलग छिटक जाने की इस प्रक्रिया में अंतिम पड़ाव आए ही ना। मत जाओ परितोष! कहीं मत जाओ... तुम्हारी अधूरी आकांक्षाओं का आकाश होना स्वीकार है मुझे।'[8] विवाह के इतने वर्ष पश्चात परपुरुष से शारीरिक संबंध बनाना निश्चित ही पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव है। नारी अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए जब किसी से प्रेम-प्रसंग बनाती है तो वह केवल शारीरिक आवश्यकता और अकेलेपन के साथ के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

एक पत्नी भी प्रेमिका हो सकती है यह प्रेम धीरे-धीरे पनपता है और पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है उसका पति ही उसका परमेश्वर होता है। विवाह के बाद अपनी जिम्मेदारियाँ निभाते-निभाते उसे कब अपने पति से प्यार हो जाता है उसे पता ही नहीं चलता और फिर वह जीवनपर्यंत उस प्रेम को निभाती है।

'शैशव सरिता की सहप्रवाहिनी स्नेह सजला बहन का भी जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वात्सल्य के प्रांगण की अनेक अश्रु-हासमयी क्रीड़ाओं की मृदुल संगिनी बहन का समीप्य अल्पकालीन होते हुए भी संवेदना के सूत्रों से सदा के लिए गुंथ जाता है। भाई बहन का संबंध गंगाजल सा पुनीत चांदनी सा शीतल एवं शिशु के अबोध हृदय सा निश्छल है जिसमें स्वार्थों का हाहाकार नहीं, कर्तव्य की पुकार रहती है।'[9] नारी के अनेक रूपों में एक रूप बहन का भी है। समाज में मनाए जाने वाले विभिन्न त्योहारों में से दो त्योहार ऐसे है जो भाई-बहनों के संबंधों की पवित्रता व उच्चता को दर्शाते है भाई-बहन का रिश्ता गंगा की तरह पवित्र होता है।

'एक साँवली छाया' कहानी सांवली सी लड़की फिरदौस की है। फिरदौस का रंग अन्य

बहनों की तुलना में थोड़ा सा सांवला है। वह घर के सभी कामों में निपुण है। फिरदौस हमें एक ऐसी बहन के रूप में दिखाई देती है जो अपनी छोटी बहनों की सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखती है उनके हर कार्य करती है और कभी भी बुरा नहीं मानती। 'हाँ मनु, मुझे अब याद आता है। कितनी ही बार मैंने एक्जाम्स में उसे चाय बना के देने के लिए उठाया, उसने कभी बुरा नहीं माना और बना के दी...'[10] मनीषा जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भाई-बहन के रिश्ते के साथ-साथ बहन-बहन के रिश्तों को भी हमारे समकक्ष प्रस्तुत किया है। इस पवित्र रिश्ते की गरिमा को बनाए रखने के लिए एक-दूसरे के सुख-दुख में भागीदार बने और इस रिश्ते को आजीवन पूर्ण ईमानदारी व निष्ठा से निभाएँ।

नारी जीवन के विकास क्रम का प्रथम स्तर पुत्री का होता है। उसके आगमन से घर का हर कोना महक उठता है। हिंदी साहित्य में बेटी संबंधी रचनाओं की कोई कमी नहीं है। माता-पिता का बेटी के प्रति लगाव, उसके विवाह और विदाई-संबंधी रचनाएँ हमें साहित्य में देखने को मिलती है। जब एक बेटी विवाह करके ससुराल जाती है तो वह अपने परिवार से दूर हो जाती है लेकिन वह अपने हृदय से उन्हें कभी भूल नहीं पाती है। वह सदैव उनकी चिंता करती रहती है। यदि ससुराल में उनके साथ कुछ गलत होता है और वह घर छोड़ने तक का निर्णय भी ले लेती है तो भी उम्र के उस पड़ाव पर वह अपने माता-पिता को दुख नहीं देना चाहती है। 'टिटहरी' कहानी में गीति और अनिरुद्ध का किसी बात पर झगड़ा हो जाता है और वह घर छोड़ने का निर्णय ले लेती है तो दूसरे पल वह अपनी माँ के बारे में सोचती हुई कहती है, 'पर जाएगी कहाँ? माँ के घर तो नहीं, उन्हें उम्र के इस पड़ाव पर क्यों कष्ट देना। मुंबई ठीक है अपर्णा के पास, उसकी बचपन की सखी, उस पर स्पिन्स्टर है और अच्छी नौकरी करती है। मैं भी ढूँढ लूँगी कोई ठीक-सी नौकरी अपना खर्च चलाने लायक।'[11] इस तरह यहाँ बेटी को माँ के प्रति चिंतित दिखाया गया है। बेटी अपनी माँ को इस उम्र में कोई कष्ट नहीं देना चाहती।

निष्कर्ष–मनीषा कुलश्रेष्ठ के साहित्य की केंद्रीय पात्र नारी रही है। नारी अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करती है। माता के रूप में वह अपनी संतान से असीम प्रेम करती है और उसे जीवन में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती हुई दिखाई पड़ती है। नारी माँ के रूप में ममता और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति मानी जाती है। लेखिका ने अपनी रचनाओं में पति-पत्नी के आपसी मतभेद, तनाव के कारण बनते विवाहेतर संबंधों का वर्णन किया गया है। शाश्वती के माध्यम से एक ऐसी प्रेमिका को दिखाया गया है जो अपने ही गुरु से प्रेम करती है। गीति के माध्यम से एक ऐसी बेटी को दिखाया गया है जो अपनी माता को कष्ट नहीं देना चाहती। अत: नारी अनेक भूमिकाओं को निभाती हुई अपने जीवन पथ पर अग्रसर होती है।

संदर्भ

1. मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, पृ॰ 39
2. मनीषा कुलश्रेष्ठ, बौनी होती परछाई, मेधा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2003, पृ॰ 18
3. वही, पृ॰ 18
4. वही, पृ॰ 11
5. वही, पृ॰ 23
6. वही, पृ॰ 132
7. वही, पृ॰ 51
8. वही, पृ॰ 132
9. डॉ॰ सावित्री डागा, आधुनिक हिंदी मुक्तक काव्य में नारी, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1977, पृ॰ 14
10. मनीषा कुलश्रेष्ठ, बौनी होती परछाई, मेधा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2003, पृ॰ 18
11. वही, पृ॰ 10

अनन्य रामभक्त रेवरेंड फादर कामिल बुल्के

डॉ॰ निरुपम शर्मा
सहा॰ प्राध्यापिका, हिंदी विभाग
बरेली कॉलेज, बरेली

शक्ति, शील तथा सौंदर्य के आगार श्रीराम हिंदू धर्म चेतना के मूलाधार है। 'राम पूर्वतापिन्युपनिषद में बताया गया है–'सच्चिदानंदमय महाविष्णु श्री हरि जब रघुकुल में दशरथ जी के यहाँ अवतीर्ण हुए, उस समय उनका नाम 'राम' हुआ। इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–'जो महीतल पर स्थित होकर भक्तजनों का संपूर्ण मनोरथ पूर्ण करते हैं और राजा के रूप में सुशोभित होते हैं, वे राम हैं–ऐसा विद्वानों ने लोक में 'राम' शब्द का अर्थ व्यक्त किया है–

चिन्मयेऽस्मिन महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।
स राम इति लोकेषु विद्वाङ्भिः प्रकटीकृतः।

वह परब्रह्म राम रूप से अवतरित होकर मर्यादा पुरुषोत्तमावतार द्वारा सनातन धर्म का स्वरूप जीवों के सामने कल्याणार्थ प्रतिष्ठापित करता है, दुष्टनिग्रह सज्जनानुग्रह द्वारा स्वरूपोपलब्धि का सुपथ राजमार्ग स्वयं आचरित करके प्रस्तुत करता है।

परमात्मा महाविष्णु जब आनंद कंद-रूप में विराजने लगे तो राम नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके द्वारा दुष्ट राक्षसों का मरण हुआ, इसलिए भी 'राम' नाम की सार्थकता हुई। उन नित्यानंद चित्स्वरूप में योगी और ज्ञानी जन नित्य-निरंतर रमण करते हैं, इसलिए उनका नाम 'राम' है–

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदे नासौ परं ब्रह्माभिधीयते।। –(रामपूर्वतापिन्युपनिषद)[1]

शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म के अवतार श्रीराम काव्य-धारा का मूल उद्गम स्थल 'वाल्मीकि रामायण' है। आदि कवि वाल्मीकि से प्रारंभ रामकाव्य परंपरा का परिशीलन विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया है, जिनमें रेवरेंड फादर कामिल बुल्के का स्थान सर्वोपरि है। फादर कामिल बुल्के बेल्जियम से भारत आए एक मिशनरी थे। भारत आकर मृत्युपर्यंत वे हिंदी, तुलसी और वाल्मीकि के भक्त रहे।

'भारत कामिल बुल्के का जन्म 'बेल्जियम' के 'वेस्ट फ्लैंडर्स प्रांत के 'रामस्केपेल' नामक गाँव में 1 सितंबर 1909 को हुआ था और उनका देहावसान 17 अगस्त सन् 1982 को नई दिल्ली, भारत में हुआ। बुल्के जी आरंभ से ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। यद्यपि सन् 1928 में उन्होंने 'ल्यूवेन विश्वविद्यालय' से सिविल इंजीनियरिंग में बी॰एस॰सी॰ की डिग्री प्राप्त की। इंजीनियरिंग की पढ़ाई के दौरान ही उन्होंने संन्यासी बनने की ठानी। इंजीनियरिंग की दो वर्ष की पढ़ाई पूरी कर वे वर्ष 1930 में 'गेन्त' के नजदीक 'जेसुइट धर्मसंघ' में दाखिल हो गए। नीदरलैंड के 'वलकनबर्ग' में (1932-34) में अपना दार्शनिक प्रशिक्षण लेने के पश्चात 1934 में भारत की ओर निकल आए और नवंबर 1936 में भारत (मुंबई) पहुँचे। 'दार्जिलिंग' में एक संक्षिप्त प्रवास के बाद उन्होंने

 ISSN 0975-735X

'गुमला' (वर्तमान झारखंड) में पाँच साल तक गणित पढ़ाया। वहीं पर हिंदी, ब्रजभाषा व अवधी सीखी। सन् 1938 में सीतागढ़, हजारीबाग में 'पंडित बदरीदत्त शास्त्री' से हिंदी और संस्कृत सीखी। सन् 1940 में प्रयाग से विशारद की परीक्षा पास की और फिर सन् 1942-44 में उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम॰ए॰ किया।[2]

'वर्ष 1974 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने हिंदी साहित्य में एम॰ए॰ किया तथा फिर वहीं से 1949 में 'रामकथा का विकास' विषय पर डी॰फिल॰ किया। हिंदी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग द्वारा 'रामकथा: उत्पत्ति और विकास' नाम से सन् 1950 ई॰ में यह ग्रंथ किंचित परिवर्द्धन के साथ प्रकाशित हुआ।'[3]

प्रस्तुत ग्रंथ चार भागों में विभाजित है। प्रथम अध्याय में प्राचीन रामकथा साहित्य, द्वितीय में रामकथा की उत्पत्ति, तृतीय में अर्वाचीन रामकथा-साहित्य तथा चतुर्थ में रामकथा के विकास का विवेचन किया गया है। चारों भागों में कुल इक्कीस अध्याय हैं। पहला अध्याय 'वैदिक साहित्य और रामकथा' है जिसमें वैदिक साहित्य में रामकथा के विभिन्न पात्रों (इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति, जनक, सीता आदि) का अनुसंधान करने के पश्चात् वैदिक साहित्य में रामकथा का प्राय: अभाव निर्णीत किया गया है। 'वैदिक साहित्य में न तो इन नामों का पारस्परिक संबंध उल्लिखित है और न इनके संदर्भ में रामकथा का निर्देश मिलता है। जनक और सीता का बारंबार उल्लेख होने पर भी दोनों के पिता-पुत्री संबंध की ओर कहीं भी संकेत मात्र भी नहीं किया गया है। अत: वैदिक साहित्य के रचनाकाल में रामकथा-विषयक गाथाओं का अस्तित्व अत्यंत संदिग्ध है। उस साहित्य में अनेक ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम मिलते हैं जो रामायण के पात्रों के नाम भी हैं—इससे यह निष्कर्ष मात्र निकाला जा सकता है कि ये नाम प्राचीनकाल में भी प्रचलित थे।'[4] दूसरे अध्याय में वाल्मीकि-रामायण के पाठ तथा रचनाकाल पर विचार किया गया है, साथ ही आदिकवि वाल्मीकि के अस्तित्व एवं जीवन चरित पर भी विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में 'महाभारत' के विभिन्न पर्वों में वर्णित रामकथा का आकलन किया गया है। चौथे अध्याय में जातकों तथा अन्य बौद्ध साहित्य में रामकथा की शोध की गई है। पाँचवे अध्याय में जैन-रामकथा की विशेषताओं का अनुशीलन किया गया है। छठे अध्याय में 'दशरथ जातक' में वर्णित रामकथा की प्रामाणिकता तथा 'रामायण' पर पड़े बौद्ध प्रभाव की समीक्षा की गई है। 'दशरथ जातक की अन्तरंग परीक्षा से सिद्ध होता है कि उसका कथानक मौलिक नहीं है।...यह रामायणीय कथा का विकृत रूप है।'[5] सातवें अध्याय में अनेक विदेशी तथा भारतीय विद्वानों के मतों की आलोचना करते हुए रामकथा के मूलस्रोत का विश्लेषण किया गया है। 'रामकथा के मूल स्रोत के विषय में विभिन्न धारणाओं की अप्रामाणिकता और पारस्परिक विरोध को ध्यान में रखकर सबसे स्वाभाविक अनुमान यही प्रतीत होता है कि राम-विषयक प्राचीन गाथा-साहित्य ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है।'[6] आठवें अध्याय में प्रचलित वाल्मीकि-रामायण के मुख्य प्रक्षेपों पर विचार किया गया है। नवें अध्याय में रामकथा के प्रारंभिक विकास तथा व्यापक प्रसार का निदर्शन हुआ है। दसवें अध्याय में संस्कृत के धार्मिक साहित्य और ग्यारहवें अध्याय में उसके ललित साहित्य में निबद्ध रामकथा का विवेचन है। बारहवें अध्याय में आधुनिक भारतीय भाषाओं में वर्णित रामकथा की विचार-चर्चा की गई है। तेरहवें अध्याय में तिब्बत, खातोन, हिंदेशिया आदि अन्य देशों में प्रचलित रामकथा का निरूपण है। चौदहवें से लेकर बीसवें अध्याय में रामायण के सात कांडों की कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए रामकथा के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में

ग्रंथ का उपसंहार है, जिसमें रामकथा की व्यापकता, विभिन्न रामकथाओं की मौलिक एकता तथा प्रक्षिप्त सामग्री की सामान्य विशेषताओं का परिशीलन और रामकथा को प्रभावित करने वाले विभिन्न साधनों का उल्लेख करते हुए रामकथा के विकास का सिंहावलोकन प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ के परिशिष्ट में रामकथा-साहित्य की एक उपयोगी तालिका भी प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत ग्रंथ रामकथा-संबंधी सामग्री का एक विश्वकोश के समान है, जिसमें देश और विदेश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों में उपलब्ध रामायण के लगभग 300 रूपों की विवेचना प्रथमत: की गई है। यह स्वयं में हिंदी शोध के क्षेत्र में एक मानक है। 'उनके गुरु और प्रसिद्ध विद्वान डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है–'यह ग्रंथ वास्तव में रामकथा-संबंधी समस्त सामग्री का विश्वकोश कहा जा सकता है। वास्तव में यह खोजपूर्ण रचना अपने ढंग की पहली रचना है। हिंदी ही क्या किसी भी यूरोपीय अथवा भारतीय भाषा में इस प्रकार कोई दूसरा अध्ययन उपलब्ध नहीं है।'[7]

'फादर बुल्के' के घनिष्ठ सहयोगी रहे 'स्व॰ डॉ॰ दिनेश्वर प्रसाद' ने अपने संस्मरण में लिखा है–'1947ई॰ में जब उन्होंने एम॰ए॰ कर लिया, तो डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा की प्रेरणा से उन्होंने डॉक्टरेट के लिए रामभक्ति के विकास पर शोध आरंभ किया। उनके शोध निर्देशक डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त थे। उन्होंने अपने प्रबंध के प्रथम अध्याय के लिए रामकथा के विकास से संबंधित सामग्री का संकलन किया, जिसका परिमाण इतना अधिक था और निष्कर्ष इतने रोचक कि डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा ने उन्हें अपना विषय संशोधित कर केवल रामकथा के विकास पर कार्य करने की अनुमति दे दी। उन्होंने बाद में भी इस विषय पर प्राय: अट्ठारह वर्षों तक अनुसंधान किया।'[8] जिस समय फादर बुल्के इलाहाबाद में शोध कर रहे थे, उस समय पूरे देश में यह नियम प्रचलित था कि सभी विषयों के शोधप्रबंध केवल अँग्रेजी में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। 'बहुभाषाविद फादर बुल्के ने लिए अँग्रेजी में शोधप्रबंध प्रस्तुत करना सरल था, किंतु यह बात उनके हिंदी स्वाभिमान के विपरीत थी और उन्होंने आग्रह किया कि उन्हें हिंदी में ही शोध कार्य प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान की जाए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डॉ॰ अमरनाथ झा ने उनके आग्रह पर शोध-संबंधी नियमावली में संशोधन कराया और उन्हें अनुमति दे दी।[9] इस प्रकार समस्त शोध जगत देवनागरी लिपि में शोधग्रंथ लेखन का स्वत्वाधिकार पाने हेतु फादर बुल्के का सदैव ऋणी रहेगा।

'रामकथा संबंधी अध्ययन व्यापक होते जाने के साथ तुलसी के प्रति उनकी श्रद्धा भी बढ़ती गई। अनेक महत्त्वपूर्ण निबंध इस महाकवि पर लिखने के साथ ही वे एक विस्तृत ग्रंथ भी तुलसी पर लिखना चाहते थे। 'रामकथा और तुलसीदास' तथा 'मानस कौमुदी'–इन दो पुस्तकों से उनकी तुलसी-विषयक दृष्टि की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।[10]

स्वयं डॉ॰ बुल्के ने 'ईसाई होते हुए भी तुलसी पर इतनी श्रद्धा कैसे?'–इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है–'ईसा, हिंदी और तुलसीदास–ये वास्तव में मेरी साधना के तीन प्रमुख घटक हैं और कि मेरे लिए इन तीनों तत्त्वों में कोई विरोध नहीं; बल्कि गहरा संबंध है।'[11] तुलसी के भक्तिमार्ग की विशेषताएँ बताते हुए उनका विचार है–'संत गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति का जो सिक्का चलाया उसके दो पहलू हैं–एक भगवद्भक्ति और दूसरा नैतिकता। उनकी दृढ़ धारणा थी कि एक ओर सदाचरण के अभाव में पाखंड मात्र है। भक्ति के राजमार्ग का प्रतिपादन तुलसी का मुख्य उद्देश्य था। ...दूसरी ओर, तुलसी जानते थे कि काम-क्रोध-लोभ पर विजय प्राप्त करने के लिए, अर्थात् अपनी नैतिकता बनाए रखने के लिए भगवत्कृपा की नितांत आवश्यकता है।'[12]

सन् 1975 में महाराष्ट्र के नागपुर शहर में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन में फादर बुल्के

ने अपने संबोधन में तुलसी के प्रति अपनी अखंड आस्था व्यक्त करते हुए कहा–'तुलसी विश्व के महानतम कवियों में से एक हैं।' फिर उन्होंने हँसते हुए कहा, 'तुलसी ने कहा है–सबहिं नचावत राम गोसाईं, किंतु मैं कहता हूँ–मोहिं नचावत तुलसी गोसाईं। ...भाषण का अंतिम वाक्य सबसे अधिक मार्मिक था। तुलसी की भक्ति-भावना के प्रमुख तत्त्व आत्मदैन्य एवं समर्पणशीलता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, 'मैं तुलसी का हाथ पकड़कर भगवान की ओर जा रहा हूँ।'[13] 'रामचरितमानस के रचयिता का गुणगान वे आजीवन करते रहे। उन्होंने कभी कहा था कि मरणोपरांत यदि कहीं यह अवसर आए कि मिलना राम अथवा तुलसी के हो तो मैं राम से नहीं तुलसी से मिलना चाहूँगा। उनके हृदय में बाबा तुलसी ने जगह बना ली थी।'[14]

वस्तुत: डॉ॰ बुल्के में भी तुलसी के सदृश भक्तिभाव, प्रेम, समर्पण और विनय भाव विद्यमान था। उन्होंने प्रभु श्री राम, महर्षि वाल्मीकि, महाकवि तुलसीदास तथा रामचरितमानस को न केवल हिंदी साहित्य अपितु विश्व साहित्य में प्रतिष्ठित कराने का जो भागीरथ प्रयत्न किया उसके किए हिंदी भाषा एवं साहित्य सदैव फादर कामिल बुल्के का आभारी रहेगा। 'उनका यूरोप से आकर भारत में बसना और भारतीय कहलाने में गर्व महसूस करना यह बतलाता है कि महादेशों और देशों के बीच की दीवारें नकली हैं, सारे पृथ्वीवासी एक ही कुटुंब के सदस्य हैं। उनका जीवन धार्मिक एकता की भी मिसाल है। तभी तो वह ईसा का पुजारी रामकथा का अद्वितीय अन्वेषक बन गया।'[15]

संदर्भ

1. श्री राम भद्र पूर्णावतार हैं, जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री स्वरूपानंद सरस्वती जी महाराज (कल्याण-श्रीराम भक्ति अंक, जनवरी सन् 1994 ई॰), पृ॰ 414
2. विकीपीडिया से
3. http://hindi.webdunia.com.
4. रामकथा और तुलसीदास, फादर डॉ॰ कामिल बुल्के, पृ॰ 12
5. वही, पृ॰ 15
6. वही, पृ॰ 17
7. राजेंद्र उपाध्याय, इस्पात भाषा भारती, (विकीपीडिया से)
8. डॉ॰ कामिल बुल्के, जीवन रेखाएँ, ले॰ डॉ॰ दिनेश्वरप्रसाद, हिंदी चेतना, डॉ॰ कामिल बुल्के विशेषांक, जुलाई 2009), पृ॰ 17
9. वही, पृ॰ 17-18
10. वही, पृ॰ 18
11. एक ईसाई की आस्था, हिंदी-प्रेम और तुलसी भक्ति, डॉ॰ कामिल बुल्के (हिंदी चेतना-डॉ॰ कामिल बुल्के विशेषांक, जु॰ 2009), पृ॰ 33
12. रामकथा और तुलसीदास, फादर डॉ॰ कामिल बुल्के, पृ॰ 77
13. डॉ॰ कामिल बुल्के, विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर में, लेखक डॉ॰ प्यारेलाल शुक्ल (हिंदी चेतना-डॉ॰ कामिल बुल्के विशेषांक-जुलाई 2009), पृ॰ 51
14. गौरांग हिंदी ऋषि फादर कामिल बुल्के, ले॰ श्री संजय कृष्ण (दैनिक जागरण, सप्तरंग 2 जून 2014)
15. बीसवीं शताब्दी का ऋषि, डॉ॰ पूर्णिमा केडिया 'अन्नपूर्णा' (हिंदी चेतना डॉ॰ कामिल बुल्के विशेषांक, जुलाई 2009), पृ॰ 23

164, **चौबे जी की गली सिविल लाइंस**
बरेली (उ॰प्र॰) 243001
मो॰ 9927353152
nirupamsarma77@gmail.com

अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में अभिव्यक्त सांस्कृतिक प्रेम

डॉ॰ प्रतीची मालवीय, हिंदी विभाग
वर्द्धमान राज कॉलेज, वर्द्धमान (प॰बं॰)

मॉरिशस के हिंदी के जगत प्रसिद्ध प्रवासी साहित्यकार अभिमन्यु अनत का स्थान अति विशिष्ट तथा लोकप्रिय रहा है। अनत जी ने साहित्य की अनेक विधाओं यथा– उपन्यास, कहानी, नाटक, काव्य आदि पर सफलतापूर्वक अपनी लेखनी चलाई है, किंतु उन्हें उपन्यास के क्षेत्र में या कह लें कथासाहित्य के क्षेत्र में जो पहचान मिली वह अविस्मरणीय है। हिंदी साहित्य के अंतर्गत विविध विधाओं पर अधिकार के साथ किया गया लेखन ही इन्हें मॉरीशस के अन्य हिंदी साहित्यकारों में अग्रणी बनाए हुए है। इसी कारण उनकी साहित्यिक कृतियाँ भारत के साथ-ही-साथ समूचे विश्व में आदर के साथ पढ़ी और पढ़ाई जाती हैं। अपने चेतनशील व्यक्तित्व के कारण वह लाखों पाठकों के हृदय में विराज रहे हैं।

अनत जी को अपने भारतवंशी होने पर गर्व था। आरसु के साथ बात करते हुए उन्होंने 'भारत को अपनी सांस्कृतिक भूमि'[1] माना है। अनत जी जहाँ एक तरफ अपनी मातृभूमि की सेवा के लिए प्रतिबद्ध दिखलाई पड़ते हैं, वहीं दूसरी तरफ सांस्कृतिक भूमि का महत्त्व बनाए रखने के लिए प्रणबद्ध हैं। इनकी रचनाओं में भारतीय पूर्वजों की संस्कृति उनकी भाषा के महत्त्व को उकेरा गया है। वह अपनी रचनाओं के माध्यम से संस्कृति की युगीन स्थिति से पाठक को परिचित कराना चाहते हैं। वह कहते हैं कि 'राजनीतिक साम्राज्य तो हमारे ख्यालों को संकुचित करके हमें गुलाम बनाता है, जबकि सांस्कृतिक साम्राज्य हमारी आत्मा को आतंकित भयग्रस्त और गुलाम बना देता है।'[2]

इनके एक आलोचक प्रह्लाद रामशरण ने अपने एक लेख में इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा कि 'बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार मॉरीशस के प्रेमचंद हैं।'[3] एक अन्य आलोचक राजेंद्र अरुण इन्हें 'प्रतिभावान आधुनिक भावबोध तथा उन्मुक्त मानसिकता।'[4] का लेखक मानते हैं। अनत जी ने भी अपने व्यक्तित्व पर 'भगवान बुद्ध, ईसा मसीह और महात्मा गांधी'[5] का प्रभाव स्वीकारा है। इन महापुरुषों के सद्गुण उनकी सच्चाई, ईमानदारी, दयाभावना, परहित भावना अनत जी के व्यक्तित्व में और उनकी रचनाओं में स्पष्ट देखी जा सकती है।

अनत जी समाज में एक सामंजस्य भाव के पक्षधर रहे उनका अपना स्वयं का व्यक्तित्व, सामाजिक नैतिक गुणों से परिपूर्ण व्यक्तित्व है। वह धर्म के नाम पर बढ़ रही सांस्कृतिक रूढ़ियों के विरोधी के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में हिंदू धर्म संस्कृति के साथ-ही-साथ ईसाई तथा मुस्लिम संस्कृतियों का भी उल्लेख किया है, वह किसी धर्म के विरोधी नहीं।

अपने देश में रहकर अपनी संस्कृति के प्रति मोह रखना तो स्वाभाविक प्रवृत्ति है परंतु अभिमन्यु अनत ऐसे साहित्यकार हैं जो विदेश में रहते हुए भी अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं, परंपराओं, रीतिरिवाज तथा विश्वासों को अपनाकर और प्रखर करते हैं। विविध संस्कृतियों के लोगों

से अपनी संस्कृति की पहचान करवाते हैं। दरअसल, सांस्कृतिक चेतना मनुष्य के जीवन के मूल्यों के पराक्रम, साहित्य की जागरूकता, संस्कृत का मान तथा कला का लालित्य बचाए रखती है। सांस्कृतिक मोह का तात्पर्य परंपराओं तथा रीति-रिवाजों को सहज रूप से जीवन में अपनाना माना गया है। मनुष्य अपनी संस्कृति को अपने साहित्य तथा कला के माध्यम से निरंतर विकसित करता रहता है। मनुष्य के यह सांस्कृतिक मूल्य जहाँ उसे उल्लास भरे क्षणों में आनंद प्रदान करते हैं, वहीं विपरीत परिस्थितियों में अपनी शक्ति एवं योग्यता पर विश्वास तथा उसके अंदर आत्म निष्ठा का भाव जाग्रत करते हैं। कला, भाषा, साहित्य जब प्रत्यक्ष रूप में हमारे साथ होते हैं तो हमे आत्मगौरव का अनुभव होता है। मनुष्य के मन मस्तिष्क में व्याप्त धार्मिक विश्वास तथा मान्यताएँ एवं महापुरुषों का गूढ़ ज्ञान भी आत्मगौरव की जागृति में सहायता करता है।

अभिमन्यु अनत अपने उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया में इस सांस्कृतिक मोह को प्रमुखता से चित्रित करते हैं। उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता देश से बाहर जाकर बसने वाले लोगों को उनकी संस्कृति से जोड़े रखने का प्रयास है। 'क्यों न फिर से' उपन्यास में ज्यूडी नामक पात्र के माध्यम से लेखक लोगों के मन में उनके सांस्कृतिक मोह को जगाए रखने का प्रयास करते हैं। अशोक भी ज्यूडी की तारीफ करता हुआ कहता है, 'ज्यूडी रेड इंडियन है और इस बात का उसे बड़ा फक्र है। भारतीय संस्कृति पर तुमसे लंबी बातें कर सकती है, ...सितार भी बजा लेती है। रेड पोनी कुछ भारतीय पकवान भी तैयार कर लेती है, मुझसे नहीं हरे रामा हरे कृष्णा की शाकाहारी किताब से।'[6]

सांस्कृतिक मोह के कई आधार हैं जैसे–धार्मिक मोह, अंधविश्वास, पिछड़ापन, अतीत गौरव, कहानियाँ, साहित्य तथा भाषा इन सबके आधार पर ही अनत जी ने भारतीय संस्कृत के प्रति अपने सांस्कृतिक मोह को अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। दुनिया के प्रत्येक देश के लोगों में धार्मिक विश्वास या कह लें धार्मिक मोह देखा जा सकता है, धर्म से जुड़ी मान्यताएँ मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती हैं। अनत जी ने मनुष्य के मन में व्याप्त इस धार्मिक मोह की प्रस्तुति अपने उपन्यासों में कई जगह की है। विविध धर्मों के अपने अलग-अलग देवी-देवता हैं, अनंत जी ने मॉरीशस के देवी-देवताओं को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। मॉरीशस में मुख्य रूप से हनुमान, राम, कृष्ण, विष्णु, इंद्र, सूर्य तथा काली माता एवं लक्ष्मी को आराध्य देवी-देवता माना जाता है। अनत जी के उपन्यास 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' में 'देवस्थान और साई बाबा की तस्वीर का वर्णन आता है।'[7] 'और नदी बहती रही' उपन्यास में एक साधारण पत्थर कैसे मनुष्य का विश्वास जीतकर ईश्वरी शक्ति धारण कर लेता है, इसका वर्णन अनत जी ने प्रस्तुत किया है– 'बड़ा-सा गोल पत्थर था, गाँव की स्त्रियाँ हमेशा से इस पत्थर पर सिंदूर के टीके लगाती आई हैं। गाँव के पंडित ने उस पेड़ की जड़ में लघुशंका कर दी थी। डॉक्टर ने लिखा था एक रहस्यमय बीमारी... झाड़-फूँक हुई पर वह बच नहीं पाया था।'[8] इस घटना को उपन्यास के अंतर्गत लोगों ने काली माता का प्रकोप बताया था। ठीक इसी प्रकार का वर्णन 'जम गया सूरज' उपन्यास के अंतर्गत भी देखने को मिलता है।

अभिमन्यु अनत जी ने अपने उपन्यासों में काली माई के वर्णन के साथ ही हनुमान का भी वर्णन अपने विभिन्न उपन्यासों में किया है। 'लाल पसीना' उपन्यास में लेखक हनुमान को शक्ति का देवता बताते हुए कहते हैं कि 'पहाड़ उठाए हुए भी हनुमान के चेहरे पर दुख और चिंता नाम की कोई चीज नहीं थी।'[9] 'लहरों की बेटी' उपन्यास में भी हनुमान का जिक्र आया है।

'पर पगडंडी नहीं मरती' उपन्यास में अनत जी इंद्र देवता का वर्णन करते हैं। 'मार्कट्वेन का स्वर्ग' नामक उपन्यास में भगवान सूर्य देव का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अनत जी के अनेक ऐसे उपन्यास हैं जिसमें अलग-अलग देवी-देवताओं जैसे लक्ष्मी जी, तुलसी जी, दुर्गाजी, पीपल के वृक्ष अन्य देवताओं के साथ-ही-साथ यमराज का भी वर्णन भी आता है।

ईश्वर की आराधना के साथ ही मनुष्य में कुछ खास दिनों अथवा तिथियों में व्रत करने की भी परंपरा रही है। व्रत के माध्यम से ईश्वर से जुड़ने तथा उसे खुश करने का प्रयास मनुष्य करता है। 'तीसरे किनारे' उपन्यास में अनंत जी ने अरुणा के एकादशी पर व्रत करने का वर्णन किया है। 'गाँव छोड़कर शहर आ जाने पर बहुत से लोग गाँव के रस्मों-रिवाजों को पीछे छोड़ आते हैं लेकिन सहदेव सिंह उन्हें साथ लाया था। ...अरुणा ने हमेशा वही किया जो उसके अपने बाप को करते पाया था।'[10] अनत जी के उपन्यासों में इस प्रकार के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मारीशस में भारतीय मूल के लोगों ने अपनी संस्कृति को विस्मृत नहीं किया है वह अभी भी भारतीय संस्कृति से जुड़े हुए हैं।

भारतीय संस्कृति में विभिन्न पर्व एवं त्योहारों का भी अपना अलग महत्त्व रहा है। भारत में विविध धर्म तथा जातियों के लोग निवास करते हैं, इसलिए यहाँ विविध पर्व एवं त्योहार मनाए जाने की परंपरा रही है। अनत जी के विविध उपन्यासों में भी विविध पर्वों एवं त्योहारों का जिक्र आया है 'चुनचुन चुनाव' उपन्यास में अमिष मॉरीशस में मनाए जाने वाले त्योहारों पर लिखी एक पुस्तक में गलतियों का सुधार करते हुए कहता है देखिए यहाँ पर कहा गया है कि 'रावण की मृत्यु और राम के राज्य पानी की खुशी में अयोध्या में होली मनाई गई थी। ...शिव के पुत्र गणेश को तमिल लोग मुरुगा कहते हैं और गणेश की याद में कावड़ी मनाई जाती है।'[11] 'एक बीघा प्यार' नामक उपन्यास में भी दीपावली के दिन नए कपड़े पहनने का वर्णन आया है–'आज दीवाली के अवसर पर तुमने नया कपड़ा नहीं पहना।'[12] इसके अतिरिक्त अनत जी के उपन्यासों में शिवरात्रि कथा, मकर संक्रांति पर्व का भी उल्लेख मिलता है। भारत को त्योहारों का देश माना जाता है। मॉरीशस में बसे भारतीयों ने अपनी इस सांस्कृतिक परंपरा को वहाँ भी जिंदा रखा है।

भारत के लोगों में गंगा नदी के प्रति अगाध श्रद्धा देखने को मिलती है। गंगा को माँ का दर्जा दिया गया है। गंगा भारतीय संस्कृति की पहचान भी मानी गई है। गंगा नदी में स्नान मात्र से मनुष्य पाप मुक्त हो जाता है। अनत जी ने अपने अनेक उपन्यासों में मॉरीशस में गंगा के महत्त्व को बताया है। 'मेरा निर्णय' उपन्यास में अमिता 'पूरे देश-भर के समुद्र तटों पर गंगा स्नान और गंगा पूजा की चर्चा करती है।'[13] लाल पसीना उपन्यास में भी गंगा का वर्णन आता है। गाय का जो महत्त्व भारतीय संस्कृति में रहा है वही महत्त्व मॉरीशस में भी रहा है इसी को लेखक ने अपने उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

अभिमन्यु अनत ने अपने उपन्यासों में मॉरीशस की संस्कृति में व्याप्त विभिन्न अंधविश्वासों का भी चित्रण किया है। अंधविश्वास के प्रति मनुष्य का विश्वास जितना गहरा होता जाता है, मनुष्य उतना ही उनसे और अधिक जुड़ता जाता है। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने जीवन में आई समस्याओं के समाधान हेतु जादू-टोने पर विश्वास करते हैं। अनत जी के उपन्यास 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' में अरुण नामक पात्र अपनी राजनीतिक सफलता के लिए जादू-टोने का सहारा लेता है। तांत्रिका कहती है, 'रोज के लिए काली मुर्गी व एक बोतल शराब चाहिए। बाकी जो छोटी चीजें होंगी, उन्हें मैं खुद खरीद लूँगी। ...बड़ी मेहनत का काम है।[14] 'लाल पसीना' उपन्यास में आंद्रेआ

की माँ का वर्णन है–आंद्रेआ की माँ जादू-टोना करने वाली वह बूढ़ी औरत थी। ...घर बैठे अपने दुश्मन के शरीर में खंजर भोंक कर उसे मार सकती थी।'[15] अनत जी के अनेक उपन्यासों में इस प्रकार का वर्णन आया है। 'हड़ताल कल होगी', 'मुंहासे का दायरा', 'और पसीना बहता रहा' आदि विविध उपन्यासों में अंधविश्वास तथा जादू-टोने का जिक्र आया है। दरअसल, उपन्यासकार उपन्यास के अंतर्गत इन अंधविश्वासों का वर्णन कर पाठक को इस प्रकार की रूढ़िवादिता से बचाना चाहते हैं।

अनत जी के अनेक उपन्यासों में पुनर्जन्म की चर्चा मिलती है। लोगों में ऐसी मान्यता है कि एक व्यक्ति मृत्यु के पश्चात दोबारा जन्म लेता है और इस जन्म के कर्म उस जन्म में फल के रूप में मिलते हैं। आधुनिक जीवन में इसे अंधविश्वास माना जाने लगा है, फिर भी मनुष्य का मोह इन के प्रति बना हुआ है 'और नदी बहती बहती रही' उपन्यास में कृष्णावती का मधुकर के जीवन में आना अच्छे कर्म का फल था तथा माधवी का मरना बुरे कर्मों का फल। मधुकर कहता है 'ना जाने पिछले जन्म के किस पाप की सजा थी वह। अगर तुम भी छोड़कर चली जाओगी...।'[16] 'आंदोलन', 'जम गया सूरज', 'अपनी अपनी सीमा', 'आसमान अपना आंगन' आदि उपन्यासों में भी मॉरीशस के लोगों के अंदर व्याप्त पुनर्जन्म की भावना का चित्रण मिलता है।

अनत जी के उपन्यासों में लोगों के मन में व्याप्त भाग्य के प्रति मोह भावना को भी प्रकट करने का प्रयास किया गया है। भाग्यवाद में लोगों का अटल विश्वास रहा जिसे जीवन में जो कुछ प्राप्त होता है वह भाग्य का लिखा होता है, ऐसी प्राचीन मान्यता समाज में सदियों से चली आ रही है। 'आंदोलन' उपन्यास में रवि माँ की चिता जल्दी जल जाने पर सोचता है–'चिता के धुएँ को ऊपर उठते देख...वह मन-ही-मन बोल उठा, मेरी माँ की आत्मा ऊपर को जा रही है।'[17] अनत जी के पात्र भाग्य के भरोसे बैठने वाले नहीं हैं। वे कर्म के माध्यम से अपना भाग्य स्वयं बनाने के पक्षधर हैं।

अनत जी के अनेक उपन्यासों में विविध धार्मिक ग्रंथों का भी वर्णन आया है व्यक्ति के धर्म से जुड़े यह धार्मिक ग्रंथ उसे आत्म संतोष एवं आत्मबल प्रदान करने के साथ-ही-साथ उचित जीवन पथ पर अग्रसर भी करते हैं। मॉरीशस में रामायण महाभारत का बहुत ज्यादा महत्त्व है। अनत जी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इन धार्मिक ग्रंथों को स्थापित करने का प्रयास किया है। 'चुनचुन चुनाव' उपन्यास में स्वास्ति का वर्णन है जो अपने माता-पिता की अन्य धार्मिक मान्यताओं को नहीं अपनाती लेकिन 'गीता की वह छोटी सी पुस्तिका अपने साथ अवश्य ले गई थी।'[18]

अनत जी ने अपने उपन्यासों में महापुरुषों का भी चित्रण किया है। संस्कृति का विकास महापुरुषों द्वारा बताए गए पथ पर ही चलकर संभव होता है। अनंत जी ने भी दैनिक जीवन के अंतर्गत महापुरुषों के दार्शनिक मूल्यों को शामिल किया है। उन्होंने मॉरीशस को दूसरे भारत के समान स्वीकार किया है–'मॉरीशस ही व लघु भारत है जहाँ महर्षि दयानंद, छत्रपति शिवाजी, रवींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, मुंशी प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त आदि भारतीय महापुरुषों, लेखकों-कवियों की जन्मशताब्दियाँ मनाई जाती रही हैं।'[19] 'कुहासे का दायरा' उपन्यास का भगत सबको महाराणा प्रताप की जीवनी सुनाता रहता था तथा स्वयं को उनका वंशज बताता था।'[20]

आनंद जी के उपन्यासों में साहित्य की भी चर्चा हुई है, आज के आधुनिक होते जा रहे युग में कैसे मनुष्य में साहित्य के प्रति रुचि घटती जा रही है उससे लेखक चिंतित दिखाई पड़ता है। 'मुड़िया पहाड़' बोल उठा उपन्यास में उमेश अरुण से कहता है, 'साहित्य में एम॰ए॰ करके आए

हो डॉक्टर या इंजीनियरिंग कर आते।'[21] नई पीढ़ी का साहित्य के प्रति यह अस्वीकार का भाव असहनीय है। साहित्य का अध्ययन व्यक्ति को नैतिक सामाजिक सांस्कृतिक शिक्षा देने के साथ ही साथ मानसिक रूप से भी सुदृढ़ करता है।

अनत जी के उपन्यासों में मारीशस में गाए जाने वाले विभिन्न लोकगीतों का वर्णन मिलता है। लोकगीत की रचना मनुष्य को एक समूह में बाँधने तथा विभिन्न अवसरों पर सुख-दुख बाँटने के लिए की गई थी। 'पर पगडंडी नहीं मरती' उपन्यास में आल्हा का वर्णन है। 'लाल पसीना' उपन्यास में जतन आल्हा की पुस्तक में से 'उदल ब्याह'[22] का भाग जाता है। अनत जी का लोकगीतों से सांस्कृतिक मोह रहा है। इसलिए उन्होंने अपने विभिन्न उपन्यासों में विविध लोकगीतों को वर्णित किया है।

लोकगीतों की ही समान अनत जी लोकभाषा के भी पक्षधर रहे हैं। मनुष्य का लोकभाषा पर विशेष अधिकार होता है। मनुष्य अपने भावों को लोकभाषा में ज्यादा आसानी से अभिव्यक्त कर पाता है। अनत जी ने लोकभाषा की विशेषता को पहचाना है। उनके विभिन्न उपन्यासों में अधिकांश पात्र अपनी लोकभाषा में बातचीत करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। अनत जी के लगभग सभी उपन्यासों में उनका हिंदीभाषा के प्रति प्रेम दिखलाई पड़ता है। लोक भाषा को और अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए वाह लोकभाषा के मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग सफलतापूर्वक करते हैं। भाषा और संस्कृति को एक-दूसरे का पूरक माना गया है। मॉरीशस में भारतीय संस्कृति अभी जीवित है तो उसका कारण भारतीय भाषाएँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन के मद्देनजर हम निसंकोच कह सकते हैं कि अनत जी ने मॉरीशस में बसे भारतीयों के सांस्कृतिक मोह को अपने उपन्यासों में बखूबी पहचाना है तथा चित्रित भी किया है। वह संस्कृति के विकास के बाधक तत्त्वों को अस्वीकार कर संस्कृति को अपनाने की उससे जुड़ने की प्रेरणा अपने पाठकों को देते हैं।

संदर्भ

1. आरजू, हिंदी साहित्य सरोकार और साक्षात्कार, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ॰ 231
2. डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका (संपादक), अभिमन्यु अनत प्रतिनिधि रचनाएँ, नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ॰ 316
3. डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका, हिंदी का प्रवासी साहित्य, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, 2011, पृ॰ 142
4. वही
5. अभिमन्यु अनत, आसमान अपना आँगन (उपन्यास), प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ॰ 357
6. अभिमन्यु अनत, क्यों ना फिर से, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 166-167
7. अभिमन्यु अनत, मुड़िया पहाड़ बोल उठा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ॰ 2122
8. अभिमन्यु अनत, और नदी बहती रही, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970, पृ॰ 5-6
9. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 पृ॰ 157
10. अभिमन्यु अनत, तीसरे किनारे पर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1976, पृ॰ 174
11. अभिमन्यु अनत, चुनचुन चुनाव, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981, पृ॰ 17
12. अभिमन्यु अनत, एक बीघा प्यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ॰ 81
13. अभिमन्यु अनत, मेरा निर्णय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2009, पृ॰ 142
14. अभिमन्यु अनत, मुड़िया पहाड़ बोल उठा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ॰ 16

15. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 276
16. अभिमन्यु अनत, और नदी बहती रही, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970, पृ॰ 10
17. अभिमन्यु अनत, आंदोलन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1971, पृ॰ 5
18. अभिमन्यु अनत, चुनचुन चुनाव, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981, पृ॰ 29
19. कालीचरण जनार्दन (संपादक), मॉरीशस में हिंदी साहित्य संस्कृति और प्रह्लाद रामशरण, पृ॰ 59
20. अभिमन्यु अनत, कुहासे का दायरा, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1978, पृ॰ 41
21. अभिमन्यु अनत, मुड़िया पहाड़ बोल उठा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ॰ 26
22. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 45

U7A/ C-2, TARABAG
PROFESSOR'S QUARTER
The University of Burdwan
Burdwan (W. B.) 713104
Mob. 9477228902, 88201247147
pratichiroli@gmail.com

लोकनाट्य एवं शिष्टनाट्य पर नवजागरण का प्रभाव

(छत्तीसगढ़ के संदर्भ में)

डॉ॰ राजेन्द्र कुमार वर्मा, सहा॰ प्राध्यापक (हिंदी)
शा॰ दाउ कल्याण सिंह कला एवं वाणिज्य स्नात॰ महाविद्यालय
बलौदाबाजार, भाटापारा (छ॰ग॰)

लोकजीवन में लोक नाटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है लोकनाट्य का जन्म कब हुआ यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिकाल में आदिमानव का मन जब वन और गुफाओं में रहते-रहते ऊब जाता होगा तो वह वाद्ययंत्र को बजाकर नृत्य करना शुरू करता रहा होगा चूँकि 'नट' धातु से ही नाट्य बना है।

लोक रंगमंच और नागरिक रंगमंच में फर्क होता है लोक के पास मनोरंजन के बने बनाए साधन नहीं होते आनंद उनके लिए कहीं बाहर से प्राप्त करने की वस्तुएँ नहीं अपने सीमित साधनों में से अपना मनोरंजन करना और श्रम के परिहार से मन को विश्रांत करना प्रमुख उद्देश्य रहा है। श्री जगदीशचंद्र माथुर के शब्दों में कहें तो–'लोक रंगमंच जन साधारण विशेषत: देहाती जनता के दैनिक जीवन का एक अंग रहा है और सामाजिक उद्देश्य का एक माध्यम। नागरिक रंगमंच वर्ग-विशेष के मनोरंजन का साधन है न कि फुरसत के क्षणों का बहलाव। लोक रंगमंच जीवन की उमंग की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है इसलिए लोक रंगमंच सदा रहा है और रहेगा भी किंतु नागरिक और साहित्य रंगमंच राजाओं (अब शासन) और धनिक वर्ग के आश्रय अथवा व्यावसायिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है और तद्नुसार ही जीवित और विलुप्त होता है।'[1]

लोकनाट्य लोकसाहित्य की वह विद्या है जो साधारण संवादों के माध्यम से किसी मनोरंजन कथा प्रसंगों को उपस्थित कर लोक का मनोविनोद और लोकोपदेश देती है। समाज जिन धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक भावनाओं से प्रभावित होता है, आक्रांत होता है, उसकी गहरी छाप उनके सामाजिक मानस पर अंकित होती है। लोकनाट्य उसी का अनौपचारिक अभिनेय व्यक्ति जीवन दर्शन है। 'लोकनाट्य की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह अपने लिए किसी सुव्यवस्थित मंच की माँग नहीं करता। वह आरंभ से ही मुक्त आकाश के नीचे पाँव जमाता आया है। लोकनाट्य अपनी आवश्यकता के लिए अवसर के अनुसार अस्थाई मंच निर्मित करता है और उन अनिवार्यताओं से अपने-आपको बचा लेता है जो स्थाई मंच के लिए आवश्यक मानी जाती है। यह जन नाटक पर्वों, धार्मिक उत्सव एवं अनुष्ठानों के अवसर पर खेले जाते रहे हैं और इनकी परंपरा बहुत पुरानी है।'[2] पारंपरिक कलाओं में कठपुतली (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र), बहुरूपिया (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र), चारबैत (राजस्थान), कीर्तन (गोवा), भारूड़ (महाराष्ट्र), रामलीला, रासलीला (उत्तरप्रदेश) यक्षगान (आंध्रप्रदेश), बीहू, कत्थक, भागड़ा, भांड तमाशा (महाराष्ट्र), जात्रा (बंगाल), नाचा-चंदैनी गोंदा, पंडवानी, रहस, डिंडवा नाच छत्तीसगढ़) में बहुत प्रसिद्ध है।

भारत में नाट्यकला का विकास वैदिककाल से ही आरंभ हो गया था। यह भी सर्वविदित

 ISSN 0975-735X

है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र नाट्य विद्या का आदि ग्रंथ माना जाता है। हम भारतीयों की आस्था है कि स्वयं ब्रह्म ने ही नाट्य विद्या को परिभाषित किया है मान्यता है कि त्रेतायुग में देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर पंचम वेद अर्थात् नाट्य वेद की रचना की है। अपने उद्‌भवकाल में नाटक आभिजात्य वर्ग तक ही सीमित था। इससे भारतीय काव्यशास्त्र के मनु आचार्य भरतमुनि की नाट्य-संबंधी परिकल्पना अधूरी रही। उन्होंने सर्वजनहित को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद से पाठ्य अंश, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस का संग्रह करके नाट्य की रचना की। नाटक सार्थक तभी माना जाएगा जब उसकी कथा की पात्र योजना लोकसम्मत होगी और तभी वह लोकप्रिय, संप्रेषणीय तथा प्रभावशील होगा।

प्रत्येक अंचल के अपनी नाट्यकला है। एक ही अंचल में स्वाँग, नौटंकी, रासलीला, रामलीला आदि भी मिलते हैं और सभी लोकनाट्यों में पूर्ण रूप से आंचलिकता का प्रभाव मिलता है। डॉ॰ श्याम परमार के अनुसार, 'आंचलिकता इनमें सोलह आने भरी हुई है। आंचलिकता अर्थात् क्षेत्र विशेष का अपनापन, निजीपन, स्थानीयपन, स्वाँग, नौटंकी आदि में तो यह और भी निराले और विशिष्ट अंदाज में होता है। यही भिन्नता लोकनाट्य का प्रमुख तत्त्व होती है। इसलिए लोकनाट्य का रूप स्थिर और लिखित नहीं होता। यद्यपि नाटक के कथातंतु परंपरागत स्थिर और सर्वमान्य होते हैं। लोकनाट्य को लोकजीवन का दर्पण कहा जाता है। इसमें जनजीवन अथवा समाज में प्रचलित रूढ़ियों और असंगतियों पर प्रहार करने की अभूतपूर्व प्रहारक क्षमता होती है। लोकनाटक जनता के बीच की यथार्थ स्थिति और समस्याओं को चित्रित करने में सक्षम होते हैं। चूँकि उनका सरोकार लोक संवेदना से अधिक होता है अत: लोकप्रियता प्राप्त करने में भी ज्यादा समय नहीं लगता। कुल मिलाकर लोकनाट्य लोकजीवन की समृद्धि का महत्त्वपूर्ण आधार है। यह समृद्धि लोक जीवन की माँग है, आवश्यकता है, अनिवार्यता है, लोकनाट्य इसको पूरा करता है।

'लोकनाट्य शिष्ट नाट्य साहित्य का पूर्व का रूप है इसमें गीत नृत्य के साथ अभिनय का गुण भी जुड़ता है। प्रत्येक अंचल में दीर्घकाल से ये लोकनाट्य जन-रंजन करते आए हैं। लोक नाटकों का सृजन विशुद्ध मनोरंजन ही हुआ होगा। आज भी सुदूर ग्रामों में ये आकर्षण के एकमात्र केंद्र है। शहरी सभ्यता और चलचित्र के प्रभाव ने लोगों का स्वाद ही बदल दिया है और एक सीमा तक लोक-नाट्य को भी विकृत करने में सफल हुआ है। संप्रति छत्तीसगढ़ पीछे नहीं है। 'चंदैनी गौंदा' की जनप्रियता और श्री हबीब तनवीर की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति ने इस अंचल के लोक-नाट्य व लोक-नाट्यकारों को पर्याप्त प्रतिष्ठा दी है। छत्तीसगढ़ लोकनाट्य के अंतर्गत 'रहसलीला', 'नाचा' और 'ड़िडवा नाच' अत्यंत लोकप्रिय है।

'नाचा में सामाजिक कुरीतियों व रूढ़ विश्वासों पर चोट की जाती है जो ग्रामों को धर्म निरपेक्ष भी बनाती है और लोगों को मानव धर्म का पाठ पढ़ाती है। मनुष्य की उन्नति के रास्ते बनाती है और संकटों से निपटने की क्षमता भी प्रदान करती है।'[3]

शिष्ट एवं लोकनाट्य पर नवजागरण का प्रभाव

लोकनाट्य एक विकासशील प्रकिया है। उसमें परिवर्तन स्वत: घुलकर मिलता चलता है। अब तक हमारे लोकनाटकों की पृष्ठभूमि मध्ययुगीन सामाजिकता रही है उसमें पौराणिक प्रसंग अधिक हैं और उनकी दृष्टि सामान्य जनजीवन की ओर कम केंद्रित हुई है। गाँव और नगर की सीमाएँ अब मिटती जा रही हैं। मानव स्वभाव नवीनता प्रिय है। वह विविध रुचियों और संस्कारों

में अधिक रुचि लेता है। यही कारण है शिष्ट समाज आज लोककला के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हैं तथा ग्रामीण व्यक्ति सिनेमा के प्रति अधिक जिज्ञासु प्रतीत होता है। लोकनाटक लोक चेतना को प्रबुद्ध करने वाला शक्तिशाली माध्यम है। लोककला की अद्यतन चली आती हुई परंपरा इस सत्य का प्रमाण है। शिष्ट नाट्य परंपरा तो विकसित हुई, खूब ऊँचाई पर पहुँची परंतु उसका पतन भी हुआ, पर लोक नाटकों के साथ ऐसा नहीं हुआ। बाहरी आक्रमणों से जनता लोकनाटकों से मनोबल प्राप्त करती रही। यही नहीं वह इसके माध्यम से अपने सास्कृतिक तत्त्वों को नष्ट होने से बचाए रही। 'लोकनाट्यों की जीवंत परंपरा के आलोक में उसके सांस्कृतिक और कलात्मक मूल्यों की खोज ही हमारा अभिप्रेत होना चाहिए। उसका संबंध साहित्य से अधिक होकर समाजशास्त्र से है। हमारी दृष्टि उसमें साहित्य तत्त्व ढूँढने की अभ्यस्त रही है, उसे सही दिशा निर्देश देना होगा। हमें देखना होगा कि लोकनाटकों की वे कौन सी रूढ़ियाँ हैं जिनसे शिष्ट साहित्य प्रभावित हो रहा है और आज ऐसी संभावनाएँ कितनी हैं कि आधुनिक साहित्यकार लोकनाटकों की शैलियों का अपने साहित्य सृजन में प्रभावकारी तरीके से उपयोग कर सकें।[4] हमारा शिष्ट साहित्य हमारी मेहनत का फल है। हमारे विद्धानों का चमत्कार है। लोक साहित्य सहज आत्माभिव्यक्ति है, जीवन के सभी संस्कार जन्म से मृत्यु तक लोकजीवन इनसे आधार माँगता है। लोक साहित्य काल की घटनाओं से निरंतर प्रभावित होता रहता है। इसी संदर्भ में हम भारतीय नवजागरण पर विचार व चिंतन करें तो हम पाएँगे कि 1857 के स्वंतत्रता संग्राम के बाद से माना जाता है। इस महासंग्राम के बाद दो बातें सामने आईं, पहला लंबे समय से मुगल शासन से मुक्ति तथा दूसरा अँग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक जागृति एवं राजनीतिक चेतना का विकास। ये परिणाम भारतीय समाज में नवजागरण पैदा करते हैं। अँग्रेजों की शिक्षा से ही अँग्रेजों को मारने का प्रयास यानी उन्हीं का हथियार उन्हीं के लिए प्रयुक्त किया जाना। नवजागरण की जमीन की अद्‌भुत उर्वरता थी। इस प्रकार एक साथ सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक व धार्मिक स्तरों पर नवजागरण का प्रस्फुटन दिखाई देता है। नवजागरण का प्रस्फुटन सबसे पहले बंगाल में आरंभ हुआ। यह बीज अंकुरित होते ही शीघ्र हिंदीभाषी क्षेत्रों में और फिर पूरे भारत में फैला। इससे अछूता छत्तीसगढ़ कैसे रह सकता था। इसमें रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव, बिलासपुर, अंबिकापुर, बस्तर, रायगढ़ आदि क्षेत्र आते हैं। पहाड़ों व जंगलों से घिरा अंचल वनवासियों एवं जनजातियों की बहुलता से युक्त है। ये लोक जीवन अभी तक सुरक्षित रखे हुए हैं परंतु घने जंगलों के भीतर भी नवजागरण की किरण पहुँची थी। इस पूरे क्षेत्र की बोली छत्तीसगढ़ी कहलाती थी इसी छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य में नवजागरण का विस्तार ढूँढना होगा। छत्तीसगढ़ के लोकगीत, लोकनृत्य, लोकनाटक, लोकगाथा आदि में लोकजीवन की समग्र सामाजिक व राजनीतिक चेतना का विकास दिखाई देता है। चाहे वह नाचा हो, रहस हो, चंदैनी गोंदा हो, पंडवानी शैली, पंथी नृत्य, सुवा नृत्य, करमा, ददरिया आदि विद्याओं में नवजागरण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। साथ ही मन की कुंठा के द्वार भी खुलते हैं। भीतर की छिपी हुई कला की अभिव्यक्ति लोक कलाओं के माध्यम से सामने आती है। छत्तीसगढ़ में तीन नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। 'चंदैनी गोंदा' देवार-डेरा, सोनहा बिहान यह स्वतंत्रता के बाद के लोकनाट्य है। इसके पूर्व नवजागरण के समय केवल नाचा या गम्मत ही कहा जाता है। उसके कथानक का विशिष्ट नाम नहीं रखा जाता था। उक्त तीनों नाटक नाचा का ही परिवर्तित एवं परिमार्जित रूप हैं जिसे रामचंद्र देशमुख ने सामाजिक जागरण के लिए प्रदर्शित किया।

भारतीय नवजागरण जाति व्यवस्था, छुआछूत के विरुद्ध बिगुल बजाता है। कबीर पंथ एवं

सतनाम पंथ की विशिष्ट भूमिका, छत्तीसगढ़ के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में रही। दोनों ही पंथों में मूर्तिपूजा का खंडन और नाम स्मरण की प्रमुखता रही। इसी समय दयानंद सरस्वती के आर्य समाज की शाखा रायपुर, दुर्ग में खुल गई और मध्यप्रदेश का पूर्वी दक्षिणी भाग का केंद्र रायपुर बना। इस केंद्र द्वारा अंतर्जातीय विवाह एवं पूजा पाठ की मूर्ति पूजन पद्धति के विरुद्ध प्रचारात्मक साहित्य का प्रचार हुआ। गाँवों की अशिक्षित जनता अप्रत्यक्ष रूप से इसे धार्मिक सुधारात्मक रवैये से प्रभावित हुई। यह छत्तीसगढ़ अंचल की नब्ज है जो नयापन ग्रहण कर लेती है। छत्तीसगढ़ में पंडवानी कथागायन की विशिष्ट शैली का नाम है, यह लोक साहित्य की अनूठी विद्या है। यह पांडवों की कथा लोकरूप है। यह विद्या 1900 के आसपास आई। पंडवानी के प्रवर्तक सदी के आरंभ में छत्तीसगढ़ के लोगों को जगा रहे थे। धार्मिक, भावधारा के साथ नारी शक्ति को जगाने की बात करते हुए यदि प्रसिद्ध पंडवानी गायिका तीजन बाई कथा गायन में बीच-बीच में साक्षरता की बात करती है। 19वीं सदी के आरंभ में पंडवानी के प्रवर्तक नारी शक्ति को जगाने की कोशिश 'द्रौपदी चीरहरण' में इस प्रसंग के बहाने द्रौपदी मात्र भारत माता थी और दु:शासन दुर्योधन-अँग्रेजी शासक, इस तरह से नवजागरण तथा राष्ट्रीय चेतना का तत्त्व इन लोक प्रसंगों में मिलता है।

भारतेंदु युगीन नाट्य आंदोलन ने पुनर्जागरण की चेतना के साथ छत्तीसगढ़ अंचल को भी पूरी तरह आप्लावित किया था, क्योंकि उस नाट्य आंदोलन में समूचे हिंदीभाषी प्रदेशों के बुद्धिजीवी-रचनाकार भारतेंदु जी के साथ उठ खड़े हुए थे। छत्तीसगढ़ में भी रायगढ़, बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव जैसे प्रबुद्ध नगरों में अव्यवसायी-रंगमंच और नाट्य संस्थाएँ सक्रिय हो उठी थीं। यद्यपि तत्कालीन नाट्य प्रदर्शन और नाट्य लेखन का विधिवत उल्लेख जो मिलता है वह काशी, प्रयाग, कानपुर और कलकत्ता से ही संबंधित है। तब भी छत्तीसगढ़ अंचल में भारतेंदुकालीन रंगमंचीय और नाटकीय गतिविधियों की पुष्टि भारतेंदुयुगीन छत्तीसगढ़ नाटककारों और उनके उपलब्ध नाटकों से होती है। छत्तीसगढ़ के कुछ भारतेंदुयुगीन नाटककारों में नाटककार प्रयाग और काशी की नाट्य संस्थाओं से जुड़े हुए थे। छत्तीसगढ़ में भारतेंदुयुगीन नाटककारों में उमराव बख्शी, ठा॰ जगमोहन सिंह, मालिकराम द्विवेदी, पं॰ सुंदरलाल शर्मा, अनंतराम पांडेय आदि नाटककार विकास व पुनर्जागरण का प्रयास जनमानस तक पहुँचा रहे थे। भारतेंदु हरिशचंद्र आधुनिक हिंदी रंगमंच और आधुनिक हिंदी नाटकों के जन्मदाता हैं, वे हिंदी गद्य साहित्य की सभी विधाओं के युग प्रवर्तक साहित्यकार हैं। उनका युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का युग था। भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति और साहित्य का बहुत तेजी से प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय चेतना का विकास और जनजीवन की समस्याओं के चित्रण हिंदी नाटक और हिंदी रंगमंच की स्थापना जिसका प्रभाव छत्तीसगढ़ के भारतेंदु युगीन नाट्यकारों का बहुत प्रभाव पड़ा।

लोक का स्वभाव चुनौती के सामने झुकना नहीं है, उसका सामना करना है। लोकजीवन ने सभी उतार-चढ़ाव देखे हैं। बदलती हुई परिस्थितियों को वह आत्मसात करता है। यह लोक ही है जिसने भारतीय नवजागरण के उत्थान में मौखिक रूप से सक्रिय भूमिका निभाई। यातायात की सुविधाओं के साथ-साथ अँग्रेजों ने हमें शिक्षा, यातायात के साधन और सामाजिक कुरीतियों से लड़ने की दिशा तथा जमींदारों के अत्याचारों से मुक्ति का मार्ग दिखाया। उन्हीं के इन साधनों व हथियारों से उन्हीं को भगाया गया। पर नवजागरण की लहर लोक जीवन में ऐसी आई कि भारत जागा शक्तिमान हुआ, आत्म विश्वास का संबल लेकर राजनीतिक, सामाजिक चुनौतियों का सामना करने के लिए खड़ा हो गया। अत: लोक साहित्य में भारतीय नवजागरण के तत्त्व विद्यमान हैं।

स्फुरण द्रव्यमान है।'[5]

निष्कर्ष–यही कहा जा सकता है कि लोकनाट्य कला एवं शिष्टनाट्य कला में नवजागरण का प्रभाव रहा है। विविध कलाएँ मानव जीवन कलात्मकता के साथ-साथ नवजागरण का संदेश भी देती हैं। प्राचीनकाल में जितने भी लोक साहित्य व शिष्ट नाट्यकलाओं का उद्‌भव हुआ है वह निश्चित ही समयानुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती हैं। उनका प्रभाव मानव जीवन में उनके विकास व प्रगति में सहायक सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. राजेश श्रीवास्तव, लोक साहित्य, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल, 2011, पृ॰ 74
2. अनुसूया अग्रवाल, हिंदी लोक साहित्य सिद्धांत और विकास, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली, 2009, पृ॰ 162
3. मृणालिका ओझा, लोक कथा में लोक और लालित्य संदर्भ छत्तीसगढ़, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), पृ॰ 34
4. नरेंद्र भानावत, लोकनाट्य आधुनिक संदर्भ, पृ॰ 373
5. सत्यभामा आडिल, छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य और नवजागरण, पृ॰ 15

मो॰ 9406019833

 ISSN 0975-735X

बहुमुखी प्रतिभा की धनी महादेवी वर्मा : एक विश्लेषण

डॉ॰ रीना थामस, सहा॰ प्राध्यापक हिंदी
संत अलॉयसियस स्वशासी महाविद्यालय, जबलपुर (म॰प्र॰)

हिंदी साहित्य जगत् की एक लोकप्रिय कवयित्री के रूप में महादेवी वर्मा को जाना जाता है। छायावाद के चार प्रमुख आधार स्तंभों में से वह एक थीं। उन्होंने हिंदी गद्य एवं पद्य साहित्य के विविध क्षेत्रों पर अपनी लेखनी चलाई और अपनी संवेदना, पीड़ा, करुणा और सहृदयता के चित्रण के कारण उन्हें आधुनिक मीरा कहा जाने लगा। महादेवी वर्मा ने अनुभूति की गहराई से समाज के विविध पक्षों और रूपों को देखा और पूरी सच्चाई के साथ उन्हें लेखनीबद्ध करके साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी साहित्य के समर्थ हस्ताक्षर के रूप में पहचान मिली।

महादेवी का जन्म सन् 1907 में फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश में हुआ था। उनके पिता श्री गोविंद सहाय वर्मा एक प्राध्यापक थे और माता श्रीमती हेमरानी देवी एक गृहिणी थी। वर्मा परिवार में सात पीढ़ियों के बाद पुत्रीरत्न की प्राप्ति हुई थी इस पर परिवार ने हर्षित होकर इसे अपनी कुलदेवी माँ दुर्गा का प्रसाद माना और उनके नाम पर ही नवजात पुत्री का नाम महादेवी रखा गया। जिस प्रकार देवी दुर्गा दुष्टों का दलन करती हुई सत्य, अस्मिता रक्षण और न्याय का निर्वाह करती रही, ठीक उसी प्रकार महादेवी ने भी जीवन-पर्यंत सामाजिक हितों का समर्थन किया और नारी अस्मिता के पक्ष में अपनी आवाज बुलंद की और अंततः उन्होंने अपने नाम को सार्थक सिद्ध कर दिया।

महादेवी वर्मा ने साहित्य के क्षेत्र में अपनी माँ से ही प्रेरणा पाकर कदम रखा। साहित्य का बीजारोपण उनके हृदय में बचपन से ही हो गया था। महादेवी वर्मा को बचपन से ही माँ द्वारा रामायण, महाभारत की कथाएँ सुनने का अवसर मिला, इससे उनके बाल मन में साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए उन्होंने बहुत छोटी आयु से ही काव्य सृजन प्रारंभ कर दिया। साहित्य के प्रति रुझान रखने वाली माता का सान्निध्य उन्हें लेखन की ओर उन्मुख कर गया। इसी का परिणाम था कि 5 वर्ष की अल्पायु में वे अपनी पहली कविता को सृजित कर सकीं जो इस प्रकार है–

ठंडे पानी से नहलाते,
उनका भोग खुद खा जाते,
फिर भी नहीं कुछ बोले हैं,
माँ ठाकुर जी भोले हैं।

महादेवी के मन में साहित्य के बिरवे को पोषित करने में उनकी प्रिय सखी सुभद्राकुमारी चौहान का भी विशेष योगदान रहा। सुभद्राकुमारी चौहान और महादेवी वर्मा एक ही विद्यालय में अध्ययनरत थीं। उस समय महादेवी पाँचवीं कक्षा में और सुभद्राकुमारी सातवीं कक्षा में थीं। एक दिन सुभद्राकुमारी ने महादेवी की कक्षा में आकर उनसे जानना चाहा कि क्या वह कविताएँ लिखती

हैं? और जैसे ही उनके काव्य सृजन की बात सुभद्रा जी को ज्ञात हुई वैसे ही उन्होंने पूरी कक्षा को इस नवोदित कवयित्री से परिचित करवाया। परिणामस्वरूप महादेवी इस क्षेत्र में और भी गहराई से रुचि लेने लगीं। सुभद्राकुमारी और महादेवी क्योंकि एक ही छात्रावास में थीं तो खाली समय में वे अपनी तुकबंदियों को साथ में गुनगुनाते हुए भविष्य का मार्ग प्रशस्त करती रहीं।

गीत-संगीत के क्षेत्र में दक्ष होने के कारण ही महादेवी ने मधुर, हृदयस्पर्शी, कर्णप्रिय गीतों की रचना की। वह एक कुशल चित्रकार थीं और सृजनात्मक अनुवादक भी थीं। हिंदी साहित्य का इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने महादेवी जी की चर्चा करते हुए लिखा है–'गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजलप्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगिमा। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।' (पृ॰ 501)

महादेवी ने इंदौर के एक प्रतिष्ठित विद्यालय से प्रारंभिक शिक्षा के दौरान ही संस्कृत, अँग्रेजी एवं चित्रकला की शिक्षा योग्य शिक्षकों से प्राप्त की। वे स्वयं भी एक कुशल चित्रकार थीं। जितनी तन्मयता के साथ वे अपने रेखाचित्रों के पात्रों को बारीकी से रेखांकित करतीं उतनी ही कुशलता से वह पशु-पक्षियों के जीवंत चित्रों को आकार दे उनमें रंग भरा करती थीं। चित्रकारी का प्रभाव उनके काव्य बिंबों और रेखाचित्रों में भी दिखलाई देता है। अपनी स्मृतियों को सहेजने में महादेवी का कोई सानी नहीं था। एक संस्मरणकार और रेखाचित्रकार के रूप में उन्होंने अभूतपूर्व सफलता पाई। महादेवी के रेखाचित्रों में बहुत ही गहराई और संवेदना के साथ विभिन्न चरित्र जीवंत होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो जाते थे। जीवन के विविध रंग और माटी की खुशबू से सरोबार ये पात्र यथार्थ की भूमि पर खड़े दिखलाई पड़ते हैं। अतीत के चलचित्र उनका प्रसिद्ध रेखाचित्र रहा जिसमें एक चलचित्र की भाँति ही हम पात्रों को उभरता हुआ देखते हैं फिर चाहे वह रामा, घीसा, अंधा आलोपी, कुम्हार बदलू हो या सबिया, रधिया, लछमा हो।

तत्कालीन समाज में बाल विवाह प्रचलन में था। सामाजिक रीति का निर्वाह करते हुए महादेवी का विवाह भी डॉ॰ स्वरूप नारायण वर्मा से 9 वर्ष की अल्पायु में ही कर दिया गया। विवाह के कुछ दिनों के पश्चात् ही माता की मृत्यु से महादेवी को गहरा शोक हुआ। साथ ही उनके ससुर भी स्त्री शिक्षा के घोर विरोधी थे इस कारण उनके अध्ययन का सिलसिला भी टूट गया और परिस्थिति उनके लिए दुगुनी विषम हो गई। उनके पति भी गृहस्थ जीवन में रुचि नहीं रखते थे। अंततः महादेवी अपने पिता के साथ रहने लगीं। शिक्षा के टूटे क्रम को उन्होंने फिर थाम लिया और इस प्रकार स्नातकोत्तर तक की शिक्षा पूर्ण की। शिक्षा के महत्त्व को अनुभव करते हुए उन्होंने नारी शिक्षा को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना। नारी स्वतंत्रता के लिए वे सदैव तत्पर रहीं। 'मिला तेज से तेज' की लेखिका एवं सुभद्राकुमारी चौहान की सुपुत्री सुधा चौहान लिखती हैं–'महादेवी जी की शिक्षा निर्बाध चली और सम्मानपूर्वक शिक्षा समाप्त करके उन्होंने स्त्री शिक्षा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उनकी कविता उनके व्यक्तित्व के अनुरूप अंतर्मुखी और अर्थगंभीर्यमयी थी।'

शिक्षा के द्वारा ही कुरीतियों और विसंगतियों का दमन किया जा सकता है तथा स्वतंत्रता, समन्वय और सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इस चेतना से प्रेरित होकर महादेवी वर्मा ने स्नातकोत्तर स्तर तक अध्ययन किया। 'नारी का अभिशाप', 'शृंखला की कड़ियाँ' में हम इस संदर्भ में उनके विचार देखते हैं–'चाहे हिंदू नारी की गौरवगाथा से आकाश गूँज रहा हो चाहे उसके पतन से पाताल हाहाकार कर उठा हो, परंतु उसके लिए 'ना सावन सूखे न भादो हरे' की कहावत की

चरितार्थ होती रही है। उसे अपने हिमालय को सजा देने वाले उत्कर्ष तथा समुद्र तल की गहराई से स्पर्धा करने वाले अपकर्ष दोनों का इतिहास आँसुओं से लिखना पड़ा है और संभव है भविष्य में भी लिखना पड़े।'

एक शिक्षिका के रूप में समाज के हित हेतु उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस श्रेष्ठ अध्यापिका के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सन् 1935 ई॰ में इलाहाबाद में प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्थापना हुई। इस संस्था में दीर्घकाल तक कार्य करते हुए वे इस पीठ की उपकुलपति भी नियुक्त हुई। उन्होंने साहित्यकार संसद की भी स्थापना की और पंडित इलाचंद्र जोशी के सहयोग से साहित्यकार का पद भी सँभाला। यह संस्था का प्रमुख पद था। श्रीमती महादेवी वर्मा कुछ वर्षों तक उत्तर प्रदेश विधानसभा की मनोनीत सदस्य भी रहीं। उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन कार्य भी कुशलतापूर्वक किया। सन् 1932 ई॰ में महादेवी जी ने चाँद पत्रिका का संपादन कार्य भी प्रारंभ किया। यह महिलाओं की एक पत्रिका थी। उल्लेखनीय है कि महादेवी की पहली रचना भी इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

महादेवी पर बौद्ध दर्शन का भी प्रभाव था। वह बौद्ध भिक्षुणी बनना चाहती थीं किंतु बाद में महात्मा गांधी के कहने पर उन्होंने कर्म योग को अपनाया। बौद्ध धर्म की करुणा का भाव उनके काव्य में प्राय: दिखलाई पड़ता है। 'चातकी हूँ मैं' कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

जब खुली पाँखें दिवस ने
पाल लपटों के लपेटे,
जब मुँदी आँखें गगन के
स्वप्न भू से, उतर भेंटे;
अश्रु से मुक्तावली है
सीप रजकण की!
चातकी हूँ मैं किसी करुणा-भरे घन की!

महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यवादी भावना के भी दर्शन होते हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में उन्हें रहस्यवाद की प्रवर्तक के रूप में भी जाना जाता है। इस रहस्यवादी दृष्टिकोण के कारण उनके काव्य को आलोचकों का भी सामना करना पड़ा है। उनकी रहस्यवादी साधना में नवीनता का अनुभव करते हुए डॉ॰ नगेंद्र द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में डॉ॰ गोपाल राय कहते हैं कि 'महादेवी की अनुभूति केवल व्यक्तिपरक आध्यात्मिकता की अनुभूति ही नहीं है, उसमें लोककल्याण की भावना भी है, जो अडिग आस्था, अटूट साधना और आत्मबलिदान के रूप में गीतों में बिखरी हुई मिलती है। इस प्रकार महादेवी ने मध्यकालीन रहस्य साधना की परंपरा को स्वीकार करके उसे लोककल्याण के साथ संयुक्त कर अपने युगबोध के अनुरुप ढालने की कोशिश की है। यह रहस्यवाद का एक नया आयाम है, जिसके उद्‌घाटन का श्रेय महादेवी को है।' (पृ॰ 539)

महादेवी वर्मा ने स्वतंत्रता पूर्व एवं स्वतंत्रता पश्चात् का भारत देखा था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में जब कई भारतीय युवा अँग्रेजों से भयभीत होकर स्वयं को बचाने में लग गए तब उन्होंने उन्हें प्रेरित करने के लिए जागरण काव्य लिखा। उनकी प्रसिद्ध जागरण कविता 'जाग तुझको दूर जाना' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बंधन सजीले?
पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रँगीले?

विश्व का क्रंदन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
क्या डुबो देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले?
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना!
जग तुझको दूर जाना!

जीवन के अंतिम वर्ष में उन्होंने अग्निवीणा शीर्षक से जो कविताएँ लिखी हैं उनमें विद्रोह के स्वर भी मुखर हुए हैं जैसे–

रात के इस सघन अँधेरे में
जूझता सूर्य नहीं, जूझता रहा दीपक

छायावादी काव्य को मजबूती प्रदान करने में उन्होंने अपना अमूल्य योगदान प्रदान किया। महादेवी की साहित्य साधना से प्रेरित होकर ही छायावाद के आधार स्तंभों में से एक कवि निराला ने महादेवी को हिंदी के विशाल मंदिर की सरस्वती कहकर महिमान्वित किया। यहाँ उल्लेखनीय है कि महादेवी निराला को अपना राखी भाई मानती थीं और जीवनपर्यंत उन्होंने भाई-बहन के स्नेह को बनाए रखा। निराला जी अपने कठिन दौर में अधिकार सहित अपनी छोटी बहन से सहायता ले लिया करते थे और महादेवी के लिए भाई के काम आना हर्ष का विषय था।

अपनी लेखनी के जादू से उन्होंने साहित्य जगत् को सम्मोहित रखा और समय-समय पर साहित्य प्रेमियों एवं प्रशासन से उन्हें अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त होते रहे। सन् 1934 में उन्हें 'नीरजा' पर सक्सेरिया पुरस्कार प्रदान किया गया। सन् 1941 में 'स्मृति की रेखाएँ' पर द्विवेदी पदक दिया गया। सन् 1943 में हिंदी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पुरस्कार से उन्हें सम्मानित किया गया। सन् 1943 में ही उन्हें भारत भारती पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। उनकी साहित्य सेवा के लिए सन् 1956 में उन्हें पदमभूषण प्रदान किया गया। साहित्य अकादमी पुरस्कार से उन्हें 1956 में नवाजा गया। उनकी सुप्रसिद्ध रचनाओं यामा व दीपशिखा के लिए उन्हें सन् 1982 में साहित्य जगत का प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया। मरणोपरांत सन् 1986 में उन्हें भारत सरकार का प्रमुख पदम विभूषण पुरस्कार प्रदान किया गया। उनकी साहित्य सेवा से अभिभूत होकर विक्रम कुमाऊँ दिल्ली एवं बनारस विश्वविद्यालयों द्वारा उन्हें डी॰लिट्॰ की मानद उपाधि प्रदान की गई। उपर्युक्त सभी पुरस्कारों, सम्मानों और उपाधियों से भी बढ़कर था कि साहित्य प्रेमियों ने उन्हें एक सर्वश्रेष्ठ कवयित्री, समाजसेवी और मानवीय मूल्यों की शिक्षिका के रूप में अपने हृदय में स्थान दिया।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, संस्करण 1940
2. हिंदी साहित्य का इतिहास, सं॰ डॉ॰ नगेंद्र, डॉ॰ हरदयाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1916
3. मिला तेज से तेज, सुधा चौहान, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1975
4. अतीत के चलचित्र, महादेवी वर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1941

Mob. 9926621551
reena_dass13@rediffmail.com

मोहन राकेश के उपन्यासों नारी के विविध रूप

राजलक्ष्मी जायसवाल
शोधार्थी, हिंदी विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची

उपन्यासकार मोहन राकेश ने नारी के बहुरंगी अतरंग जीवन का यथार्थपूर्ण विश्लेषण अपने उपन्यासों में करते हैं। जिसमें नारी जीवन की समस्याओं एवं कामनाओं की अभिव्यक्ति होती है, और आधुनिक जीवन में मूल्य विहीन, आत्मकेंद्रित और पल-पल बदलने वाली नारी की स्वतंत्रता और नैतिकता की सार्थकता की तलाश की जाती है। राकेश जी ने संवेदनात्मक धरातल पर नारी के आस-पास के परिवेश तथा नारी जीवन के टूटन, घुटन और विसंगतिपूर्ण बनते-बिखरते रिश्तों को पहचान कर समाज को नैतिकता की दिशा में मोड़ने का प्रयास किया है तथा परिवार और समाज वर्तमान युग की नारी के दृष्टिकोण से अवगत कराया है ताकि समाज और परिवार आधुनिक युग की नवीन मान्यताओं से परिचित हो सकें नारी में बलिदान की भावना को ही समाज सार्थक मानता है लेकिन राकेश जी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इससे हटकर नारी के विविध रूपों की चर्चा की है। इनके उपन्यासों की नारी सामूहिकता और वैयक्तिकता, आधुनिकता और परंपरा, नैतिकता और अनैतिकता के बीच जूझती नजर आती है तथा पारिवारिक समस्याओं के बीच मानसिक महत्त्वाकांक्षा का बोझ लिए फिरती है। दांपत्य जीवन की विडंबनाओं और परिवार में नारी की आर्थिक स्वतंत्रता को लेकर नारी के मन में पनपने वाले दृष्टिकोणों को राकेश जी के उपन्यासों में देखा जाता है। विवाह संस्था को बहिष्कार करके पुरुषों की दासत्व से मुक्ति पाकर आर्थिक स्वतंत्रता की ओर उन्मुख नारी के विविध रूप का बखान राकेश जी ने अपने उपन्यासों में किया है।

स्त्री-पुरुष संबंधों के बदलते रूप–प्राचीन समय में पत्नी अपने पति पर पूर्ण रूप से समर्पित थी तथा अपना सर्वस्व अपने पति और अपने गृहस्थ जीवन में ही देखती थी। इस आचरण का पाठ उसे बचपन से ही सिखा दिया जाता था कि जहाँ पत्नी से पति संतुष्ट है उस कुल में निश्चय ही कल्याण का निवास होगा। यही कारण था कि पुरुषों का अधिपत्य हर क्षेत्र में हो गया, क्योंकि स्त्रियाँ पूर्ण रूप से उन पर निर्भर रहती थीं–'आर्थिक रूप से पर-निर्भर नारियों को बड़ी विवशता के साथ जीवनयापन करना पड़ता है। पुरुष के हर प्रकार के अत्याचारों को झेलने के लिए वे बाध्य हो जाती हैं क्योंकि और कोई उपाय उनके पास नहीं रहता।'[1] आज के युग में स्त्रियाँ आत्मनिर्भर तो हो रही हैं लेकिन पुरुषों की सत्ता आज भी कायम है जिसके कारण दांपत्य जीवन का विघटन तेजी से हो रहा है। क्योंकि पति अपने को ऊँचा समझता है और पत्नी इससे संतुष्ट नहीं है। नौकरी करने वाली महिलाओं को परिवार में दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है जिससे उनके वैवाहिक जीवन में तनाव उत्पन्न होता है। इस संबंध में प्रमिला जी का कहना है–'परिवार के अध्येताओं ने नारी के माँ एवं पत्नी होने की भूमिका के साथ नौकरी की एक और भूमिका जुड़ जाने पर परिवार के

सदस्यों के कर्त्तव्यों तथा दायित्वों की दृष्टि से उनकी भूमिकाओं को पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता महसूस की है।'[2] इस बदलती परिस्थिति में पुरानी और नई पारिवारिक भूमिकाओं में संघर्ष दिखाई देता है जिससे पति और पत्नी के संबंध औपचारिक होने के साथ-साथ बिगड़ते जा रहे हैं। पति-पत्नी में बदलते संबंध, असामंजस्य, उदासीनता, उभरते ठंडेपन का चित्रण मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों में बखूबी किया है।

'अँधेरे बंद कमरे' में हरबंस और नीलिमा का संबंध पति-पत्नी की बदलती भूमिका और स्वरूप को चित्रित करता है। हरबंस स्वयं महसूस करता है कि वह पति की भूमिका निभा नहीं पा रहा है, और नीलिमा के मन में भी यही विचार आते हैं-'मैं सोच रही थी कि मैं तुम्हारे जीवन में न रहूँ तो तुम कितने सुखी हो सकते हो। मैं ही तुम्हारे रास्ते में एक बाधा हूँ। मैं न रहूँ तो तुम इतने दुखी नहीं रहोगे।'[3]

'न आने वाला कल' में मनोज और शोभा के दांपत्य जीवन में कड़ुवाहट भी अपनी भूमिकाओं को ठीक से न निभा पाने के कारण है। मनोज महसूस करता है कि 'उसकी नजर में मैं अब भी अकेला आदमी था जिसका घर उसे सँभालना पड़ रहा था। जबकि मेरे लिए वह किसी दूसरे की पत्नी थी जिसके घर में मैं एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था। मैं कोशिश करता था कि ज्यादा से ज्यादा वक्त घर से बाहर रह सकूँ। पर जब-जब घर में मजबूरन रुकना पड़ जाता तो वह काफी देर के लिए साथ के पड़ोसन शारदा के पास चली जाती थी।'[4]

'अंतराल' नामक उपन्यास में भी पति-पत्नी के बीच जो प्यार और लगाव होना चाहिए वह नहीं था। देव की उदासीनता श्यामा को बिलकुल पसंद नहीं थी-'देव का एकाएक उमड़ना और शांत हो जाना...उसमें उसे अपने-आप बाजारू सा जान पड़ता था। वह कितना चाहती थी कि उनके बीच इसके अतिरिक्त कोई संबंध हो।'[5] स्त्री पुरुष के संबंधों में आए बदलावों के विविध रूप को राकेश जी ने अपने उपन्यासों में नैतिकता के साथ बखूबी चित्रित किया है।

पारिवारिक संबंधों में बदलाव-परिवार के प्रति नारी की बदलती पारिवारिक भूमिका को उपन्यासकार ने बड़ी बारीकी के साथ उकेरा है। जिसमें वे नारी के प्रति विशेष सहानुभूति प्रकट करते हुए नजर आते हैं। पति-पत्नी के बनते-बिगड़ते रिश्तों में सिर्फ उनके संबंध नहीं टूटते बल्कि इससे सारा परिवार प्रभावित होता है। हरबंस शुक्ला के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझता है लेकिन नीलिमा इससे चिढ़ जाती है हरबंस कहता है-'अगर मेरी उस घर में कोई आवाज नहीं तो ठीक है मैं भी उस घर के साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहता।'[6] 'अंतराल' नामक उपन्यास में भी माँ और बेटी का संबंध औपचरिक है। सीमा कहती है-'मैं यहाँ मम्मी के साथ रहते हुए भी एक तरह से उनके साथ नहीं रहती क्योंकि छोटी-छोटी बातों को लेकर चिड़-चिड़ाना मुझे बरदाश्त नहीं है।'[7] आर्थिक सामाजिक और पारिवारिक संबंधों की अमानवीयता के कारण स्त्री संघर्ष भोग रही है।

प्रेम-संबंधों में बदलाव-आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने के कारण नारी में अहं की भावना का भी विकास हुआ है। खुले परिवेश में घुटी-घुटी और दबी भावनाओं के स्थान पर आज की नारी प्रेम संबंधों में विश्वास करने लगी है। वह प्रेम और विवाह अपने इच्छा अनुसार करती है। 'न आने वाला कल' में शोभा विधवा है इसके बावजूद वह अपने पिता के खिलाफ जाकर मनोज से विवाह कर लेती है, जिससे उसके पिता बहुत नाराज होते हैं। मनोज कहता है-'उनकी नाराजगी का कारण यह नहीं था कि शोभा ने दूसरी शादी क्यों की, बल्कि यह कि मुझसे क्यों की।'[8] 'अँधेरे बंद कमरे' उपन्यास में भी शुक्ला अपने मन के अनुसार सुरजीत से विवाह कर लेती है, जिस कारण हरबंश

सुरजीत और शुक्ला से अपने संबंध तोड़ लेता है।

टूटते संबंधों को जोड़ने के लिए प्रयासरत नारी–'अंतराल' उपन्यास की नायिका श्यामा नौकरी के कारण अपने परिवार से दूर रही है, जिसके कारण उसके संबंधों में बिखराव की स्थिति उत्पन्न होती है। लेकिन श्यामा अपने टूटते रिश्ते को बचाने के लिए पूर्ण प्रयासरत है। वह बंबई में फ्लैट खरीदकर सबके साथ रहने लगती है, लेकिन फिर भी वह पारिवारिक घुटन का शिकार होती है–'वह घर एक ऐसी जगह था जहाँ पहुँचकर एक दूसरी तरह की घुटन मन में घिर आती थी, लगता था कि बीजी, सीमा और बेबी तीनों घर की मालकिन हैं और वो एक जबरजस्ती की मेहमान जो फालतू उन लोगों के बीच आकर टिकी है।'[9]

अकेलेपन से घिरा नारी जीवन–राकेश जी के उपन्यासों के पात्र अकेलेपन से जूझते दिखाई देते हैं। 'न आने वाला कल' में आधुनिक परिवेश के अकेलेपन को दर्शाया गया है। आंतरिक संघर्ष उन्हें आत्मकेंद्रित बना देता है। 'अंतराल' की नायिका श्यामा के जीवन को अकेलेपन की स्थिति बिखेर देती है। सबके बीच भी वह खुद को अकेला महसूस करती है–'मैं एक-एक अपरिचित व्यक्ति से तो ठीक से मिल लेती हूँ लेकिन एक साथ इतने अपरिचित लोगों के बीच अपने को खपा नहीं पाती।'[10] राकेश जी के पात्र अकेलेपन से पीड़ित नजर आते हैं। मनोज और शोभा के दांपत्य जीवन की असफलता का प्रमुख कारण उनका व्यक्तिवादी होना था। इस कारण दोनों का जीवन एक ऊब और घुटन से घिरा हुआ होता था। ऐसी जिंदगी से ऊबकर एक दिन शोभा अपने स्वर्गीय पति के घर जाने का निश्चय कर लेती है–'तुम भी जानते हो कि यह जिंदगी तुम्हें रास नहीं आती, उसी तरह जैसे मुझे नहीं आती। तुम जिस तरह के जिंदगी के आदि रहे हो तुम्हें फिर वही जिंदगी जीने को मिल जाएगी। बिलकुल अकेलेपन की कम-से-कम कुछ दिनों के लिए। मैं भी वहाँ रहकर देख लूँगी कि मुझे कौन सी जिंदगी बेहतर लगती है।'[11] राकेश जी के उपन्यासों की पात्र नीलिमा, श्यामा और शुक्ला अपने जीवन में अकेलेपन को झेलते हुए दिखाई देते हैं, उनके मन का खालीपन और संघर्षपूर्ण जीवन उन्हें स्वयं ही समाज से दूर ले जाता है।

स्त्रियों का महत्त्वाकांक्षी व कामकाजी होना–आर्थिक स्वतंत्रता के कारण स्त्रियों में कुछ विशेष प्रकार के परिवर्तनों को देखा जा सकता है। परिवार में कहीं कामकाजी महिलाओं का समर्थन तो कहीं विरोध किया जाता है, क्योंकि कुछ लोगों का कहना है कि स्त्रियों का कामकाजी होना मध्य वर्गीय दांपत्य जीवन को सहज नहीं रहने देता। 'इसमें संदेह नहीं कि शहरी उच्च शिक्षा, कामकाजी व महत्त्वाकांक्षी स्त्रियों में पति की इच्छा के आगे न झुकने की जो प्रवृत्ति उभरी है उससे दोनों के अहं में सीधी टक्कर भी एक बड़ा कारण है।'[12] 'अंतराल' उपन्यास की श्यामा भी व्यक्तिगत रूप से जीवन जीना चाहती है। देव और उसके संबंध अहं के टकराव के कारण ही खराब होते हैं क्योंकि देव उस पर अधिकार रखता है। श्यामा कहती है–'मैं जानती हूँ कि देव से मैंने प्यार नहीं किया। ...उन्हें दु:ख भी मुझसे प्यार पाने का नहीं, अपने अहं को चोट पहुँचाने का है।'[13] देव की मृत्यु के पश्चात् वह आधुनिक नारी की तरह कुमार की तरफ आकर्षित होती है और नई शुरुआत करती है। लेकिन यहाँ भी उसके अहं को चोट पहुँचती है क्योंकि कुमार उससे वासनात्मक संबंध रखना चाहता था। वह सोचती है–'मुझे किसी के लिए भी केवल एक साधन ही रहने में बहुहीनता अनुभव होती है। हो सकता है देव के साथ मेरे संबंध में भी यही एक गाँठ रही हो।'[14] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि स्त्री-पुरुष संबंधों में राकेश जी ने अहं को महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में चित्रित किया है क्योंकि कामकाजी स्त्रियों में अपने पति के समक्ष न झुकने की प्रवृत्ति खासतौर

पर पाई जाती है जिसके कारण उनके रिश्ते में टकराव और अलगाव की स्थिति उत्पन्न होती है। जिसका यथार्थपूर्ण अंकन मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों किया है।

निष्कर्ष–इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मोहन राकेश के उपन्यासों में वैयक्तिकता, आधुनिकता, युगीन संत्रास तथा नारी जीवन के विविध आयामों का उल्लेख किया गया है तथा वर्तमान जगत में नारियों में होते बदलावों को प्रस्तुत किया गया है। देखा गया है कि प्राचीन से आधुनिक तक किस प्रकार परिवार, घर और समाज में चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों के बीच नारी विविध पक्षों में अपनी भूमिका निभाती चली आ रही है। राकेश जी के उपन्यासों में हम पाते हैं कि किस प्रकार विवाहित नारी, विधवा नारी, कामकाजी नारी अपने मन में पनपते टूटन, घुटन, संत्रास, बिखराव, अलगाव, अकेलापन का बोझ लिए अपनी सारी समस्याओं से निजात पाने के लिए लगातार संघर्ष करती रहती है और अंततः निराशा, हताशा, असंतोष, अनिश्चयता, विवशता का शिकार होती है। उपर्युक्त संदर्भों में राकेश जी के आधुनिक नारी के प्रति विचार, यथार्थ संगत एवं सहानुभूतिपूर्ण प्रमाणित होते हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ शैल रस्तोगी, हिंदी उपन्यासों में नारी, पृ॰ 323
2. प्रमिला कपूर, भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएँ, पृ॰ 14
3. मोहन राकेश, अँधेरे बंद कमरे, पृ॰ 205
4. मोहन राकेश, न आने वाला कल, पृ॰ 15
5. मोहन राकेश, अंतराल, पृ॰ 147
6. मोहन राकेश, अँधेरे बंद कमर, पृ॰ 86
7. मोहन राकेश, अंतराल, पृ॰ 36
8. मोहन राकेश, न आने वाला कल, पृ॰ 17
9. मोहन राकेश, अंतराल, पृ॰ 25
10. वही, पृ॰ 25
11. मोहन रकेश, न आने वाला कल, पृ॰ 21
12. आशारानी बोहरा, नारी शोषण, आईने और आयाम, पृ॰ 98
13. मोहन राकेश, अंतराल, पृ॰ 126
14. वही, पृ॰ 127

ग्राम+पोस्ट-लोधमा
जिला-खूंटी (झारखंड) 834004
मो॰ 8789711959
rajlaxmijaiswal801@gmail.com

ISSN 0975-735X

समकालीन हिंदी कविताओं में भूमंडलीकरण

('रुकती नहीं है नदी' के विशेष संदर्भ में)

डॉ॰ रंजित एम॰, सहा॰ आचार्य एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
एम॰ई॰एस॰ कल्लटी कॉलेज, मन्नार्क्काड पि॰ओ, पालककाड

इक्कीसवीं सदी का समय और समाज आधुनिक तकनीकी उपकरणों का युग है। उपभोक्तावाद और सूचना क्रांति की अंधी दौड़ में हमारे पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव की गठरी ढीली पड़ चुकी है। वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के चमकीले नारों से हमारी मानवीय संवेदना को ग्रहण लग चुका है। बाजारवाद हमारे चारों ओर मायानगरी की तरह व्याप्त है। भूमंडलीकरण की बाजारवादी व्यवस्था और उपभोक्तावादी अपसंस्कृति की नई लहर ने बढ़ती महत्त्वाकांक्षाओं और अनियंत्रित अभिलाषाओं की गड़बड़ी में गरीब को बुनियादी अधिकारों से वंचित कर दिया है।

वर्तमान समय में कवि लगातार बुराईयों से जूझ रहा है और जब वह देखता है कि उसकी लाखों कोशिशों के बावजूद दुनिया सुधर नहीं रही है तो भी वह हिम्मत नहीं हारता है और दुनिया के अच्छे-अच्छे लोगों को किसी-न-किसी तरह से बचा लेना चाहता है। इसी संघर्ष में भयावह त्रासदी के बीच वह जीवन बिताता है। उसका सपना एक अच्छी दुनिया बनाने का है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद हमारी संस्कृति को पूर्ण रूप से नष्ट कर चुका है। इसका सुंदर चित्रण 'विरासत' कविता में दर्शनीय है–

रविवार को
सुबह सुबह मैंने
पड़ोसी से नमस्ते की
उसने सर हिला दिया, बात नहीं की
दूसरे ने
अखबार में मुह छुपा लिया।

जो समाज आपस में विश्वास रखकर आगे बढ़े, उसका हाल अब यह है। एक-दूसरे पर भरोसा नहीं करते हुए अपनी अपने घेरों में अड़े रहना सभी पसंद करते हैं। पुराने समाज के लोग और नए लोगों के बीच इसी के कारण मतभेद हो रहे हैं। कवि आगे बता रहा है, शायद वे चुप होंगे, मगर...

मुझे देखकर भी सभी नहीं देख रहे थे
मैं घर में सब जगह दिखाई दे रहा था
परंतु कहीं नहीं था
मेरे अंदर की बढ़ती हुई चुप्पी
किसी आतंकी विस्फोट से ज्यादा
भयावह थी।

ग्लोबलाइजेशन के कारण पाश्चात्य संस्कृति और परंपरा, हमारी भारतीय संस्कृति में पैर पसार रही है, जिसकी वजह से आज हमारी भारतीय संस्कृति के मूल्यों में गिरावट आती जा रही है। आज संयुक्त परिवार की जगह एकाकी परिवार, अरेंज विवाह की जगह प्रेम विवाह होने लगे हैं। पाश्चात्य संस्कृति हमारे ऊपर इतनी हावी हो चुकी है कि हम अपने माता-पिता को हाय डैड, हाय मॉम कहने लग गए हैं, जबकि हम इनके शब्दार्थ पर जाए तो इसका अर्थ कुछ और ही निकलकर आ रहा है। मूल्यों का भूमंडलीकरण हमसे हमारी संस्कृति झीन रहा है।

20वीं से इक्कीसवीं सदी तक आते-आते दुनिया ने अपना चोला तेजी से बदला है। कोई भी अपने अंदर देखने और समझने तैयार है ही नहीं। कवि इसकी और सूचना 'विकल्प' नामक कविता में दे रहे हैं–

मन और अंतर्मन के बीच
एक पर्दा है झीना सा
खबर हो या इतिहास
हम अपने अंतर झाँकते नहीं
हर बार नंग धड़ंग सत्य
सामने खड़ा हो जाता है
हम आँखें मूँद लेते हैं।

आज का परिवेश ऐसा है कि जहाँ देखो वहीं लोग परेशान हैं। उनके बीच कब, कहाँ और क्या हादसा हो जाए किसी को कुछ पता नहीं। आतंकवाद का दानव जगह-जगह अपना दाँव लगाए बैठा है। इसलिए ही कवि कह रहे हैं–

आज आदमी निरंतर हारता ही जा रहा है
क्योंकि उसे कई युद्ध एक साथ लड़ने पड़ते हैं
झूठ इतना बड़ा होता जा रहा है
कि सत्य का खंडित टुकड़ा भी
सामने आने से कतराता है।

महानगरीय निर्माण और विकास के बिगुल के साथ खड़ी गरीबी की छोटी सिसकी का मुखर शब्द यहाँ सुना जा सकता है–

जब यहाँ पेड़ था/ चिड़िया फुदकती थी
मैना ठुमकती थी
....तब की बात कुछ और थी
अब धूप कड़कती है/ बारिश और तेज हवा से
खिड़कियाँ, दरवाजे काँप उठते हैं
धुएँ का मटमैला बादल/ बालकनी में मंडराता है
चूँकि, समय खिसक गया है/ नई सभ्यता आ गई है
उस सभ्यता में सब कृत्रिम है,/ कहें तो जीवन तक।

कवि आगे कह रहे हैं–

...अब यहाँ बचपन नहीं खेलता
जिंदगियों ने नए लिबास पहन लिए हैं

 ISSN 0975-735X

बालकनियों गमलों में/ कृत्रिम फूल खिलते है
दरवाजे बंद रहते हैं/ और इतिहास बाहर झाँकता है।

समाज की वर्तमान स्थिति और धार्मिक मान्यताओं के बीच तालमेल की कमी आज बढ़ रहे हैं। हर चीज को व्यावसायिक नजर से देखने की प्रवृत्ति के कारण ही यह हाल है। धर्म के नाम पर हो रही करतूतों की हँसी उठाते हुए कवि ने लिखा–

मंदिर में/ मैंने देखा–
पुजारी की नजरें/ व्यावसायिक के कामरे की तरह
स्थिर हो गई/ किसी भक्तिमती महिला के विशिष्ट
अंगों पर/ उसके हाथ में
पूजन एवं दान-दक्षिणा की सामग्री थी
वह आँख मूँदकर/ मूर्ति के सामने
निर्विकार खड़ी थी/ पुजारी की सुप्त भावनाएँ जाग रही थीं
परंतु भगवान् सो रहा था– इससे ज्यादा क्या टिप्पणी करना है?

वह जमाना लद गया जब विद्यार्थियों के चेहरे से ओज टपकता था और शरीर में समाया हुआ बल मुँह बोलता था। आज ओजहीन पीढ़ी हमारे सामने है और ऐसे में इस पीढ़ी से राष्ट्र क्या उम्मीदें रख सकता है? जीवन में क्या करना चाहिए? जीवन किस तरह जीना चाहिए? जीवन का ध्येय क्या है? आदि प्रश्नों का उत्तर बालकों के पास अन्य पशुओं के बरअक्स जन्मजात नहीं होते, उसे इनके उत्तर घर में, समाज में, ग्रंथों तथा व्यावहारिक संस्कृति के द्वारा मिलते हैं। किसी शिशु को एक संस्कृति उदार बना सकती है तो अन्य संस्कृति क्रूर। एक को मानव, तो अन्य को दानव बना सकती है। कवि की व्यथा इन पंक्तियों में दर्शनीय है–

आजकल मेरा टिंकू/ कोई सवाल नहीं पूछता है
वह टॉम एंड जेरी, पाक्मान/ में उलझा रहता है
चाँद सितारों की बात नहीं करता
डब्लू डब्लू एफ की नकली कुश्ती
के दाँव सभी को दिखाता रहता है
वह दादा दादी से कहानियाँ
नहीं सुनता/ कंप्यूटर गेम में डूब जाता है।

बाजारवाद में बेचने वाले होते हैं, खरीदने वाले नहीं। हमारा पाठक यहीं ठगा जा रहा है। उसे जो कुछ यह कहकर पढ़ाया जा रहा है कि यह तुम्हारी पंसद है–दरअसल, वह उसकी पसंद नहीं होती। जिस तरह एक ओर बाजार इच्छा सृजन कर रहा है, आपकी जरूरतें बढ़ी हैं और नाजायज चीजें हमारी जिंदगी में जगह बना रही हैं।

भारतीय ऋषियों ने लोकमंगल की कामना से द्रवित होकर मानवीय गुणों को दैवीय उच्चता से विभूषित करने के लिए संस्कारों को अत्यंत वैज्ञानिक एवं सार्वकालिक सार्वभौमिक व्यवस्था दी है। ऐसा नहीं है कि यह केवल भारतीयों के लिए ही उचित हैं अपितु किसी भी भू-भाग के मानवीय गुणों के उत्थान हेतु ये संस्कार समीचीन हैं। साम्राज्य भारत का साध्य नहीं वरन् साधन है। लेकिन आज हालात बदल रहे हैं। खुबालकर जी की राय है–

यह युग नियति का संत्रास है

जो सच नहीं है/ उसे हम ओठ रहे है नित नए दिन
दुनिया बदलती जा रही है/ दावा भी है
वसुधैव कुटुंबकम् के स्थान पर/ 'ग्लोबलैसेशन' आ गया है।

वैश्वीकरण का प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में भी दर्शनीय है। आज हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसे नौजवान तैयार कर रही है जिन्हें जीवन का उद्देश्य ही नहीं पता और इनकी तादाद अच्छी-खासी है। हमारे आस-पास सामाजिक प्रदूषण के जो मामले सामने आ रहे हैं, वे हमारी शिक्षा पद्धति पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है। इसका चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है–

सहस्राब्दी के प्लेटफॉर्म की/ सही पटरी पर
खड़ा होकर भी गलत हो सकता हूँ
...बुजुर्ग कहते हैं बेटा/ जमाने के साथ चलो
किस तरह चलना है/ यह नहीं बताया उन्होंने
एक चीज के दो पहलू हैं/ इनका व्यावहारिक भेद
स्कूलों में नहीं पढ़ाया जाता।

सब चराचर में अपने-आपको देखने की सलाह देते हुए पौराणिक समाज से हम बहुत दूर आगे आ चुके है। मगर लोगों के बीच की दूरियाँ कम करने में हम सक्षम नहीं हुए हैं। अपने बच्चों को पूरी दुनिया को शक की नजर से देखने की सलाह हम दे रहे हैं। इसके फलस्वरूप आए परिवर्तन का वर्णन इस प्रकार किया है–

शहर की भीड़ में/ अजनबी बन जाता है हर कोई
फिर भी परिचय बढ़ाते नहीं है लोग
किसी कवि ने वैश्वीकरण के बारे में लिखा था–
वैश्वीकरण' की आँधी आई,/ कमर तोड़ रही है महँगाई,
'सेज' की नीति नवीन है,/ किसानों से छिन रही जमीन है...
'विनिवेश' का यह तूफान,/ आत्महत्या कर रहे किसान
'साम्राज्यवाद' की रणभूमि में,/ हारा फिर से हिंदुस्तान।

ऐसे हारे हुए समय में भी हम चुप रह रहे हैं। खुबलकर जी की प्रार्थना दुहराते हुए मैं यह लेख समाप्त करना चाहूँगा–

तुम सब/ चुप क्यों रहते हो?
बिखेर दो/ चारों ओर चुभती संवेदनाएँ

संदर्भ

1. डॉ॰ उमाकांत खुबालकर, रुकती नहीं है नदी, शिवांक प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, 2009
2. हिमांश, भूमंडलीकरण और हिंदी सिनेमा, हिंदी बुक सेंटर, 2014
3. भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी, अरविंद दास 17.09.10 बरगद
4. कुमुद वर्मा, भूमंडलीकरण और मीडिया, ग्रंथ अकादमी दिल्ली
5. अभय कुमार दुबे, भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016
6. पुष्पपाल सिंह, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन 2012

Mob. 938744 1300
ranjutkr@gmail.com

ISSN 0975-735X

तुलसीदास और चंददास के काव्यों में नवधा भक्ति

डॉ॰ रोहिणी पंडियन
असि॰ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग
सौराष्ट्र कालेज, मदुराई (तमिलनाडु)

श्रवणं कीर्तन विष्णो:स्मरणंपादसेवनम्
अर्चन वन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।।

नवधा भक्ति को दो युगों सतयुग और त्रेतायुग में उल्लेखित किया गया है। सतयुग में भक्त प्रह्लाद ने अपने पिता हिरण्यकश्यप को नवधा भक्ति का उपदेश दिया था और त्रेतायुग में भगवान श्रीराम ने माता शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश दिया था। प्रह्लाद द्वारा कही गई नवधा भक्ति श्रीमद्भागवद पुराण के सातवें स्कंध के पाँचवें अध्याय में है। रामचरितमानस के अरण्यकांड में श्रीराम ने माता शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश तब दिया था जब वह स्वयं को नीच और अधम कहते हुए प्रभु की स्तुति करने में झिझक रही थीं। श्रीमद्भागवत महापुराण और रामचरितमानस नवधा भक्ति के बारे में कहता है कि श्रवण (परीक्षित), कीर्तन (शुकदेव), स्मरण (प्रह्लाद), पादसेवन (लक्ष्मी), अर्चन (पृथुराजा), वंदन (अक्रूर), दास्य (हनुमान), साख्य (अर्जुन) और आत्मनिवेदन (बलि राजा)–इन्हें नवधा भक्ति कहते हैं।

भगवान राम शबरी के समक्ष नवधा भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हुए उनसे कहते हैं कि

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं, सावधान सुनु धरु मन माहीं।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा, दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।

भावार्थ–मैं तुझसे अब अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ। तू सावधान होकर सुन और मन में धारण कर।[1]

भागवत में नवलक्षणा, अध्यात्म रामायण में नवविद्या, मानस में नवधा और चंद्रदास पदावली में नूतन (नवधानयी), नवधा भक्ति के संदर्भ में प्रयुक्त हुई है। नवधा का रूप प्राय: परंपरागत ही रहा है। तुलसी ने भी उसी परंपरा का अनुभावन किया है। भागतवतकार व्यास के बाद नवधा निरूपण के क्षेत्र में चंददास का नाम उल्लेखनीय है। भक्ति आचार्यत्व के क्षेत्र में महर्षि व्यास के नवधा-निरूपण के पीछे जैसी परिकल्पना थी, उसी का एक और विराट रूप चंद की नवधा में प्रतिफलित हुआ है। आश्चर्य यह है कि चंद ने नवधा निरूपण में जहाँ एक ओर व्यास से निर्गत होने वाली नवधा की भक्ति मूलक मूलवृत्ति को खंडित होने से बचाया है। वहीं दूसरी ओर चंद ने संतों हठयोगियों और शाक्त संप्रदाय आदि साधना पद्धतियों का भी समीकरण किया है। इस दृष्टि से चंददास का नाम व्यास, रूप गोस्वामी और बोपदेव जैसे आचार्यों के साथ रखा जा सकता है।

महाकवि चंददास ने अपने ग्रंथ 'शिवसिद्ध सारंगी' के नवधा निरूपण शीर्षक प्रकरण के अंतर्गत नवधा का निरूपण किया है।

प्रथम भक्ति–तुलसी के अनुसार नवधा भक्ति में प्रथम भक्ति 'प्रथम भगति संतन्ह कर

संगा।'[2] अर्थात् संतों की सत्संगति है। तुलसी ने संतों की सतसंगति को नवधा भक्ति के प्रकारों प्रथम प्रकार के रूप में स्वीकार किया है। संतों की संगति के द्वारा ही राम के गुणों की महिमा का ज्ञान हो सकता है। उसी तरह चंददास ने प्रथम भक्ति के रूप में गुरु की भक्ति को स्वीकार किया है। 'नौ प्रकार हरि भक्ति विधाना, प्रथम लेइ सतगुरु सो ग्याना।' प्रथम भक्ति 'गुरु पंथ रत, साधु निर्मल स्थान अब बरनी जन दूसरी गुरु-भक्ति से अभेद-भक्ति' तक कवि ने भक्ति के नौ सोपानों में भक्त के अंतर में परिवर्तित होने, भावों दशाओं को वैज्ञानिक आधार मानकर चित्रित किया है। गुरुभक्ति से भक्ति बीजारोपण होता है तथा अभेद भक्ति अभेद दृष्टि द्वारा सृष्टि के तत्वज्ञान का अखंड दर्शन कराती है। चंद का नवधा निरूपण व्यष्टि से समष्टि की यात्रा है। राम पदावली के एक पद में महाकवि चंददास ने अपनी नवधा का परिचय प्रस्तुत किया है–

निर्मल नाम भगत रस रसना, सतगुरु सीख दई।
पढ़ पढ़ सार साध सतगुरु की, ते निर्मल पद सीखे।
चंद अमर तन कलप कोट ले छिन भर जाहि सो चीखे।
रसिक पान भगवान नाम कर, जाहि सुमारग दीन्हों
अनुगुन दाह ताप दारुनयहु, सतगुर मंत्रहि छीन्ही।[3]

दूसरी भक्ति–नवधा भक्ति में तुलसी के अनुसार दूसरी भक्ति राम का गुणगान करना है। इसलिए तुलसी कहते हैं कि 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा'[4] तुलसी राम की जय-जयकार करते हुए कहते हैं जो ताड़का, सुबाहु, माचीच जैसे आततायियों के गर्व को चूर करनेवाले, मुनियों के यज्ञ की रक्षा में दक्ष, पति के शाप से शिला बनी अहिल्या का उद्धार करने वाले, करुणा की खान हैं।

ताड़का सुबाहु मथन मारीच मान हर
मुनि मख रच्छन दच्छ सिला तारन
करुनाकर नृप गन बल पद सहित
संभु को दंड बिहंडन जय कुठार घर
दर्प दलन दिनकर कुल मंडन।[5]

वहीं चंददास ने नवद्याभक्ति के दूसरी भक्ति के रूप में ब्रह्म-भक्ति को माना है। चंददास एक ही ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार कर उसी की उपासना में निरत रहे। यह ब्रह्म रूप रेखा से हीन सर्वव्यापक एवं अजन्मा है। ब्रह्म के स्वयंभू रूप की परिकल्पना कर जब उसकी उपासना की गई है। तब उसे निराकार स्वीकार किया गया है। जब उसने अवतार धारण कर पृथ्वीलोक में लीलाएँ कीं। उसे सगुण कहा गया। राममय साधक की अनन्यता को संपूर्ण संसार का वैभव भी नहीं विचलित कर सकता। प्राणदान करके भी भक्त भक्ति का सौदा करता है। ब्रह्म भक्ति के अंतर्गत कवि ने सेवक और सेव्य भाव की अभिव्यंजना की है–

निसदिन नेह देह सम चातक, तुअ गुन सावन सुनी।
चंद अधम अब परी पाव तर तासो दास कहीजे।
चंददास सो दास राम को, साची मान सही।
पद बंद बंदन लाय चंदन, नास हित संताप।
चंद हमरे अपर नाहीं, राम माई बाप।।[6]

तीसरी भक्ति–नवधा भक्ति में तुलसी के अनुसार तीसरी भक्ति अभिमान रहित होकर राम के चरण कमलों की सेवा करना है। अभिमान चाहे ज्ञान का हो या धन का या बल, योग, तप, सत्ता

का हो, वह समस्त अनर्थों की जड़ है जिसके कारण लोक तो बिगड़ता है ईश्वर भी नहीं मिल सकता। तुलसी की भक्ति में प्रेम ही महत्त्वपूर्ण है।

वेद न पुरान-गानु, जानौं न बिय्यानुग्यानु
ध्यान-धारना-समाधि साधन प्रवीनता
नहिन बिरागु जोग जाग भाग तुलसी के
लोभ मोह काम कोह दोस कोस मोसो कौन
कलिहुं जो सीखि लई मेरियो मलीनता
एक ही भरोसो समा सबसे कहावत हौं
सरे दयालु दीनबंधु मेरी दीनता।[7]

नवधा भक्ति में जहाँ तुलसी ने तीसरी भक्ति अभिमान रहित होकर राम के चरणकमलों की सेवा करना बताया है। वहीं चंददास ने हठभक्ति को ही नवधा भक्ति में तीसरा स्थान दिया है। चंद ने हठभक्ति में भक्ति का योग तत्त्वों से हिंदी साहित्य में प्रथम बार समन्वित किया है। कबीर एवं तुलसी ने योग एवं भक्ति का समन्यय करने का प्रयत्न किया था किंतु कबीर मूल रूप से योग के समीप रहे एवं तुलसी मूलत: भक्ति के निकट। चंद ने व्यापक समन्वय दृष्टि से हठयोग से हठ शब्द एवं हठी संप्रदाय से हठभक्ति को ग्रहण करके हठभक्ति को नवधा में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। महाकवि चंददास ने अपने एक अन्य ग्रंथ 'शिव सिद्ध सारंगी' में नवधा निरूपण के अंतर्गत 'योग, भक्ति अरु भक्ति रस, संतत मम हित एक' कहकर नवधा भक्ति के अंतर्गत हठयोग को समन्विति प्रदान की है। निम्नांकित पद में महाकवि चंद्रदास ने हठयोग साधना का अनुभूतिपरक चित्रण किया है। भक्त प्रथमत: हरि नाम श्रवण कर उसके प्रति लगन जाग्रत कर समर्पित होता है। निरंतर हरि का ध्यान करता है–

राम नाम सुनाय बल जाऊँ
वन अंतर ग्यानगुर दे, प्रान को परचाय
ध्यान भर दृग आन मूरत, प्रेम सो पतियाय
नाद मंडल अगुनमध्ये,
सबद राखे छाय लगन चात्रकरटन असी,
सुरत अपर न जाय।
हेम मध्य सुहाग तासी, वरन रूप समाय।
छीर जल सम करे आतम, ब्रह्म जीव मिलाय
चंद कसमलनासकाई, जो ततोन्हराय।[8]

चौथी भक्ति–चौथी भक्ति तुलसीदास के अनुसार चौथी भक्ति यह है कि कपट छोड़कर राम के गूण समूहों का गान करे। पाप लोभ, भोर काम, क्रोध आदि दोषों से युक्त व्यक्ति राम की भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता है। इन सभी दोषों से मुक्त होकर ही व्यक्ति प्रभु की भक्ति का पात्र बन सकता है उनके ईश्वर जो राम हैं, आगम निगम द्वारा बताए गए अगम अगोचर, रहस्यमय नहीं है, अपितु अभागे, पीड़ित एवं अनाथों का पालन करनेवाले हैं, दीनबंधु हैं, गरीबों को निहाल करनेवाले हैं।

आलसी अभागी अधी-आरत-अनाथपाल,
साहेबु समर्थ एक, नीकें मन गुनी में।

दोष दुख-दरिद-दलैया दीनबंधु रामा
तुलसी न दूसरी दयानिधान दुनी में।[10]

इसी प्रकार चंददास अपने द्वारा निरूपित नवधा भक्ति के चतुर्थ प्रकार में दान भक्ति की प्रतिष्ठापना की है। दान धर्म का अंग है। साहित्य में दान को भक्ति का अंग नहीं स्वीकार किया है। क्रांतिदृष्टा कवि चंददास ने प्रथम बार कर्ण का प्राणदान भक्ति का आदर्श उदाहरण दिया है। यह दान भक्ति वेदानुमोदित दान धर्म का भक्ति के रूप में स्वीकरण है। दान की भक्ति के रूप में प्रतिष्ठापना चंद की मौलिक चिंतना का परिणाम है–

आवत संत जब जब
राम राम उपदेस दान के अवगुन सर्व निवारे।
रसना रसिक करी रसियन सी, अनरस रास बिसारे।
कानन लाय गाय हरि कीरत, कीरत करम प्रहारे।
चंद धन्य जन धन्य लोक महि, सुरमुन वेद पुकारे।[10]

पाँचवी भक्ति–पाँचवी भक्ति में तुलसी ने राम के मंत्रों का जाप और राम पर पूर्ण विश्वास माना है। यही पाँचवी भक्ति है जो वेदों में प्रसिद्ध है। तुलसीदास के अनुसार राम का नाम जोग, तप, यंत्र, वैराग्य, व्रत, तीर्थ आदि जितने भी धर्म के नाम पर वेदों, शास्त्रों, पुराणों द्वारा स्थापित बाह्याचार एवं कठिन साधना के विधि विधान हैं उनमें राम का नाम सर्वोपरि है। इसलिए तुलसीदास लोक-परलोक सबको राम के अधीन मानते हुए केवल राम पर ही विश्वास करते हैं।

मेरे जाति पांति न चहीं काहू की जाति-पांति,
मेरे कोउ काम को न हो काहू के काम को।
लोक-परलोकु रघुनाथ ही के हाथ सब,
मारी है भरोसी तुलसी के एक नाम हो।[11]

चंददास के अनुसार नूतन नवधा भक्ति का पंचम प्रकार 'प्रेमा भक्ति' है। यह चंद की भक्ति भावना की अभिनव सृष्टि है। नवधा भक्ति के अन्य आचार्यों ने इसे दसम प्रकार के अंतर्गत स्वीकार किया था किंतु चंददास ने इसे नवधा के अंतर्गत ही मान्यता दी है। प्रेमाभक्ति के माध्यम से अपने प्रियतम को प्राप्त किया जा सकता है। चंददास ने इस भक्ति को माधुर्य भाव से पुष्ट माना है। उन्होंने इस भक्ति को लोकलाज और उसके बंधनों को तोड़कर आत्मा से आत्मा का मिलन माना है। इसी कारण चंद की गोपिकाएँ कृष्ण की वंशी की धुन सुनकर अपने गृह कार्यों से विरत होकर साज-शृंगार में निरत हो जाती है। अत्यधिक अधीरता के कारण एक अंग का आभूषण दूसरे अंग में धारण कर सुधबुध खोकर प्रियतम से मिलने यमुना के तट की ओर दौड़ पड़ती हैं। ऐसे समय में नेत्रों में काजल के स्थान पर महावर लगाना, पायल पैरों को स्थान पर कंठ में धारण करना तथा बेसर नासिका के स्थान पर हाथ में धारण करना हास्यस्पद और साहित्य शास्त्र की दृष्टि से विभ्रम प्रतीत होता है किंतु चंद की गोपिकाएँ लोक-लाज के बंधन तोड़कार आत्मा से आत्मा का ग्रंथि बंधन कर प्रेमाभक्ति की सिद्धि प्राप्त करती हैं।

स्याम कर मधुर माधुरी बीना।
जाके सुनत धाम तज बालक, तनम न होत अधीना।
अंचल पहिर अंग कट भूखन, कट पट मसति कलीना।
जावक लाय बिलोचन निकसी, पायल कंठ प्रवीना।

 ISSN 0975-735X

बेसरबेस रची कर पल्लव, जैसी विभ्रम चीना।
चक्र सूरत डोर सी लागत, नित प्रत विरह नवीना।
ग्रह तज कान हान अपनी को व्याकुल जल तज मीना।
आय समीप चंद जनमाथी, परसत दृग लवलीना।[12]

छठी भक्ति–चंददास की छठी भक्ति है इंद्रियों का निग्रह, शील बहुत कार्यों से वैराग्य और निरंतर संत पुरुषों के धर्म में लगे रहना। काकभुशुंडि के इस कथन के द्वारा तुलसी ने ज्ञान और भक्ति दोनों की मर्यादा की रक्षा की है। तत्वत: ज्ञान और भक्ति में कुछ भी भेद नहीं, दोनों ही सांसारिक क्लेश को दूर करने में सक्षम हैं। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान तुलसी की दृष्टि में हैं तो पुरुष तेज से संपन्न (न कि फटकन की तरह निस्तेज), किंतु माया आप्लावित संसार में इन्हें माया से, जो स्त्री-प्रकृति की है, विचलित हो जाने की आशंका बनी रहती है वैसे ही जैसे ज्ञान के भंडार मुनि भी मृगनयनी स्त्री के चंद्रमुख को देखते ही डोल उठते हैं। परंतु भक्ति भी स्त्री प्रकृति की है, अतएव जैसे एक नारी दूसरी नारी के रूप से कामासक्त नहीं होती, वैसे ही भक्ति को भी माया विचलित नहीं करती। और राम भी इसी भक्ति के अनुकूल रहते हैं–

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।
स्थान विराग जोग बिग्याना, ऐ सब पुरुष सुनहु हिर जाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अचल सहज जड़ जाती।[13]

चंददास ने भागवत भक्ति को नूतन नवधा भक्ति का प्रकार माना है कवि ने परंपरित नवधा के श्रवण, कीर्तन, स्मरण के कथा, ज्ञान गुन एवं शुभ भक्ति के रूप में चित्रित किया है–

सीला ललित राम की।
जब तज ग्राम चले कानन को, सो छवप्राननप्रानो।
निर्मल नीर सो जानी प्रात ही संगम
मध्य धार पूरन गुन, कार मंजन इसनानी।
गीता पाठ बाट सुन वेद, प्रभु प्रतमा व्रत ध्यानी
राग विराग रसना, हरि हरि चरना वानी।
चरन कमल रज पायपुन्न सो कीरतमहि प्रगटानी।

उक्त भागवत भक्ति को नूतन नवधा के अंतर्गत चंददास ने श्रेष्ठभक्ति के रूप में स्वीकार किया है। निम्नलिखित पदावली में कवि ने भक्ति के स्वरूपों पर भी दृष्टि डालते हुए भगवत भक्ति की श्रेष्ठता का भाव प्रदर्शित किया है। श्रीमद्भागवत के आरंभ में ही भक्ति की सर्वोच्च महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है जिनके हृदय में भक्ति का निवास है उन्हें प्रेत, पिशाच, राक्षस या दैत्य आदि स्पर्श करने में भी समर्थ नहीं हो सकते।

हरि के सरन लई जब सो
तब सो सर्वकलाप पाप की भारी मिट गई।
निर्मल नाम भगत रस रसना, सतगुर सीख दई।

सप्तम भक्ति–तुलसी ने सातवीं भक्ति के अंतर्गत पूरे जगत को राममय देखना माना है इसलिए तुलसी कहते हैं–

सातवें सम मोहिमय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा।।

तुलसी के अनुसार सारा विश्व जिस ईश्वर की वंदना करता है, समस्त देवता जिसकी सेवा

करते हैं और सभी वेद-शास्त्र जिसके गुण-समूह का गान करते हैं, वह राम सुखकारी माता-पिता, गुरु, मित्र, दीनबंधु हैं, शरणगत की रक्षा करनेवाले और विपति को हरनेवाले हैं।

सकल विश्व-बंदित, सकल सुर-सेवित,
आगम-निगम कहै रावरे ई गुनग्राम
इहै जानि तुलसी तिहारी जन भयो।
म्यारो के गनियो जहाँ गने गरीब गुलाम।[15]

साख्य भक्ति को कवि चंददास ने सप्तम प्रकार की भक्ति के रूप में स्वीकार किया है। चंद की भक्ति सेवक सेव्य भाव की है। साख्य भक्ति भाव नवधा के अंतर्गत मित्रवत किए गए आत्म समर्पण का प्रतिरूप है। वैष्णव मतानुसार ईश्वर के प्रति वह भाव जिसमें ईश्वरावतार को भक्त अपना सखा मानता है, साख्य भक्ति भाव कहा जाता है यद्यपि महाकवि चंददास की भक्तिभावना में तुलसी की भाँति सेवक सेव्य भाव की प्रधानता है। राम के बाल्य चित्रण में 'हरि मीतीमितवे' लिखकर कवि ने मिताई के भाव द्वारा सख्य-भाव का प्रकटीकरण किया है–

हरि कीरत हितवे जा उर
बरत सार सुधार राम जस, चरनसरन चितवे।
दंभ विवाद द्रोह संसे सुख, सकले भय रितवे।
छिन पल घरी जाम दिन अहिनिस, बाद नहीं बितवे।
सो जन 'चंद' साथुगुन लायक, हरि मीतीमितवे।[16]

आठवीं भक्ति–तुलसी ने अपनी नवधा भक्ति के अंतर्गत आठवीं भक्ति में पराए में दोष न देखना बताया है–आठवं जया लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा।

तू दयाल दीन हीं, तू दानि, ही भिखारी।
हों प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज-हारी।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरतनहि, आरविहरतोसो।
ब्रह्म तू ही जीव, तू है ठाकुर, ही चेरो।
तात मात, गुरु-सखा, तू सब विधि हितु मेरो।[17]

चंद के अनुसार आठवीं भक्ति में अचला भक्ति को माना है। इस भक्ति में साधक के लिए काम और कामना लोक का परित्याग आवश्यक है। अचला भक्ति में भक्त हरिभक्तिरस से सिद्ध होकर अचिन्तय एवं अडोल स्थिति को वरण कर लेता है। अचला भक्ति के अंतर्गत माध्य की अमला भक्ति का समावेश भी किया गया है–

समरस गोवर काव्य करी है।
मानो सुखद सिंध सागर वर, पूरन सुधा भरी है।
राम सुरसरस भीनो भयो मन विरही
विरह नेह नाही विध उर साधन रस चीन्हो
राम रस भर रहे जा उर प्रेम नेम
सुभाव साधु सुजस रखना कहेउ।
ध्यान डोरी भगत जोरी, नेमते मन गहेउ।[18]

तुलसी ने नवधा भक्ति के अंतिम सोपान के रूप में नवीं भक्ति 'नवम सरल सब सन छल

हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना। अर्थात् नवीं भक्ति में छल विहीन होकर राम पर भरोसा करना बताया है। लोक को सँवारना हो या परलोक को, दोनों ही स्थितियों में जो परमावश्यक है वह है घमंड, छल-कपट से मुक्त होकर निरंतर प्रेम मार्ग पर बढ़ते जाना।

लोभ, मोह, काम, कोह, दोस, कोस, मोसो कौन
कलिहु जो सीखि लई मेरियो मलीनता
एक ही भरोसो समा सबसे कहावत हौं
सरे दयालु दीनबंधु मेरी दीनता।[19]

चंद ने भक्ति के क्षेत्र में पारंपरित नवधा का संस्कार कर अपनी नूतन नवधा का प्रस्तुतीकरण किया तथा नौ प्रकार की भक्ति भावनाओं में मध्य अंतिम और उत्कृष्ट भक्ति के रूप में अभेद भक्ति की स्वीकृति प्रदान की। अभेद भक्ति भावना भक्ति के विभिन्न सिद्धांतों एवं तत्त्व उपस्थित करने वाली भावलोक के लिए विशेष दार्शनिक स्थिति है। इसमें चंददास ने नारायण हरि कृष्ण, राम, माधव, नंदलाल और गोविंद को तात्विक दृष्टि से अभेद रूप में स्वीकार किया है। अभेद भक्ति ही चंद की निरूपित नवधा की चरम परिणति है। चंददास की अमेद भक्ति उपासना में कबीर दाइ, नानक का निर्गुण सूर मारा का गिरधारी, तुलसी का धनुधारी राम एक साथ रसमय हो उठे हैं। चंद ने निर्गुण एवं सगुण के मध्य भी, भक्ति क्षेत्र में युगों से चली आ रही विभाजक रेखा को मिटाकर उनके मध्य भी अभेद की प्रतिष्ठापना की। चंद ने निर्गुण सगुण के भेद को कभी मान्यता प्रदान नहीं की। यह अमेद भक्ति भावना का मूल तथा प्रधान दर्शन है–

मुक्ता जोत न कीजे राम तजा रतन जनम
मो रतन लाभ से, काय नहीं भर लीजे
जैसी रास पास जन आनी जाती पुत्र सो डीजे
सुधा नाम गोपाल लाल को सो तज विश्व भर पीजे
वेद मंत्र को पार जाम तंज, पावन कथा सुनीजे।[20]

तुलसी की अगाथ निष्ठा सीता-राम के लिए थी। समत्व भावना से युक्त महाकवि तुलसी को चर-अचर, अणु-परमाणु, समस्त लोक के कण-कण में सीता-राम की युगल छवि के ही दर्शन होते हैं। 'सियाराम मय सब जग जानी। करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी।।' आराध्य के प्रति तुलसी जैसी आस्था चंद के हृदय में भी है। तुलसी की काव्य रचना का काल मध्यकाल के अंतर्गत भक्तिकाल था और चंद का रीतिकाल। तुलसीदास अकबर के समकालीन थे और चंद औरंगजेब कें तुलसी ने भक्ति के लिए सगुण को ही स्वीकृति दी, किंतु चंददास ने सगुण निर्गुण दोनों को सब प्रकार से स्वीकार किया। महाकवि तुलसी एवं चंद दोनों ने ही स्वयं को अराध्य की भक्ति के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया। यहाँ तक कि उन्होंने राम को ही माता-पिता एवं सर्वस्व स्वीकार कर लिया।

तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधिहि तुम मेरो।
चंद-चंद हमरे अपर नाही, राम भाई बाप।[22]

चंद का काव्य तुलसी के काव्य की भाँति विस्तृत है। एक दो रूपों में चंद तुलसी से आगे हैं। तुलसी की भक्ति में रागात्मकता अधिक है। चंद के रागात्मकता के साथ-साथ बौद्धिकता का भी विचित्र अनुबंध है। ग्रियर्सन ने कहा था कि भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समय समन्वय कर सकें इस आधार पर तुलसीदास एवं चंददास दोनों ही लोक-नायक की कोटि में स्वीकार किए जा सकते हैं।

संदर्भ

1. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ- 611
2. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ-611
3. चंददास, रामपदावली, पद-6
4. तुलसीदास, रामचरितमानस, पृष्ठ-611
5. तुलसीदास और आधुनिकता, 104
6. चंददास, रामपदावली, पद-143
7. तुलसीदास और आधुनिकता 110
8. चंददास, रामपदावली, पद-22
9. तुलसीदास और आधुनिकता, 105
10. चंददास, रामपदावली, पद-65
11. तुलसीदास और आधुनिकता, 111
12. चंददास, रामपदावली, पद-62
13. तुलसीदास और आधुनिकता, 96
14. चंददास, रामपदावली, पद-63
15. तुलसीदास और आधुनिकता, 105
16. चंददास, रामपदावली, पद-62
17. तुलसीदास और आधुनिकता, 105
18. चंददास, कृष्ण पदावली, पद-324
19. तुलसीदास और आधुनिकता, 110
20. चंददास, कृष्ण पदावली, पद-77
21. चंददास, राम पदावली, पद-133

Dr. ROHINI PANDIAN
Assistant Professor & Head
Department of Hindi
Sourashtra college
Madurai 625002 (Tamilnadu)

 ISSN 0975-735X

कुसुम अंसल के उपन्यास 'उदास आँखें' में निहित अकेलापन व अजनबीपन

श्रीमती रोसमीना कुजूर (शोधार्थी)
साहित्य एवं भाषा अध्ययन शाला
डॉ॰ गिरिजा शंकर गौतम (निर्देशक)
सहा॰ प्राध्यापक(हिंदी), मूल विज्ञान केंद्र
पं रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छ॰ग॰)

समाज, सामाजिक संबंधों के ताने-बाने से निर्मित होता है। निरपेक्ष से सापेक्ष व प्राचीनता से आधुनिकता की यात्रा ने समाज में विभिन्न परिस्थितियों को जन्म दिया है। साहित्यकार के द्वारा इन परिस्थितियों का चित्रण साहित्य में करके एक संसार को जीवंत किया जाता है; जिसमें अनुभूतियों को शब्द देकर पात्रों की मनोवृत्तियों द्वारा वह पाठकों से जुड़ता है। कुसुम अंसल जो देखती हैं, उन विषयों का चैतन्य संसार गढ़ती हैं। 'उदास आँखें' उनकी सृजनशीलता का एक उदाहरण है। इस उपन्यास में आधुनिक दौर का अकेलापन व अजनबीपन दृष्टिगोचर होता है। अकेलेपन व अजनबीपन के कई कारण हैं–परिवर्पित परिस्थितियों से उत्पन्न संवेदनहीनता, समय के साथ सामंजस्य न हो पाना, दूसरे से की गई अपेक्षाएँ, असफलता, प्रेम में असफल होना, वैवाहिक जीवन की विसंगतियाँ, प्रियजन को खो देना आदि। 'उदास आँखें' में सुपर्णा, हयात, शरत और सुमीता के अकेलेपन व अजनबीपन का चित्र खींचा गया है, जिसे पाठक निकटता से देख सकता है।

संबंधों की जीवंतता का प्रमाण है समाज। मनुष्य में यही जीवंतता, संबंधों की निरंतरता तय करती है। प्रत्येक मनुष्य संबंधों और संघर्षों के ध्रुवों के मध्य जीवन जीता है। आधुनिकता के दौर ने नई-नई परिस्थितियों को जन्म दिया है। इन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया विभिन्न मनोभाव-मनःस्थिति, उनके रूप-व्यवहार में दिखाई देते हैं। 'मनुष्य जब किसी स्थान, सामाजिक परिवेश, समुदाय या व्यवस्था में रहते हुए भी उससे अपने को अलग महसूस करता है, तब वह अपने को बाहर का व्यक्ति या अजनबी समझने लगता है।'[1] अजनबीपन और अकेलेपन के उत्पन्न होने का एक बड़ा कारण संवेदनशून्यता है। पूर्व के दौर की तुलना में वर्तमान में संवेदना की कमी दिखाई देती है। इसमें दो मत नहीं कि संबंधों की प्रगाढ़ता, उसकी ऊर्जा बनाए रखने में संवेदना का अहम स्थान है। संवेदना की कमी ने कई समस्याओं को जन्म दिया है, इन समस्याओं की पड़ताल कुसुम अंसल अपने उपन्यासों में करती हैं। उनका उपन्यास 'उदास आँखें' पात्रों के अकेलेपन व अजनबीपन को दर्शाता है। यह अकेलापन व अजनबीपन कोई कल्पित बयानी नहीं वरन् समाज व स्वयं के जीवन में घटित यथार्थ है।

'उदास आँखें' परिवेश की जटिलता व विसंगतियों का समाहार है। 'उदास आँखें' की नायिका सुपर्णा है। सुपर्णा का चरित्र यह बताता है कि उसमें चित्त की निर्मलता, भावुकता व समर्पण

होते हुए भी वह गहरी व्यथा, निराशा और अजनबीपन से बार-बार जूझती है। 'संवेदनशील व्यक्ति समाज से टूटकर बेगाना और अजनबी हो गया। आज वह गहरी वेदना और अकेलेपन के एहसास के बीच मरकर जी रहा है, नहीं वह जी कर मर रहा है।'[12] सुपर्णा भीड़ में भी स्वयं को अजनबी महसूस करती है। वह अपनी दीदी सुमीता के पास बंबई गई थी, जहाँ उसे शरत (सुमीता का देवर) से प्रेम हो गया, परंतु शरत के अनदेखा करने व आशीष (उसके जीजा) के कठोर शब्दों की चुभन बर्दाश्त न कर पाने के कारण दु:खी मन से अलीगढ़ लौट आई। उसके पिता ने मनोविज्ञान में आगे की पढ़ाई करने यूनिवर्सिटी में दाखिला करवाया, वहाँ एक जिंदादिल लड़का हयात उसकी उदास आँखों में खुद को बँधा-बँधा महसूस करता है। सुपर्णा की किताब से एक दिन उसे सुपर्णा का लिखा पत्र मिलता है और वह बेचैन हो जाता है। वह सुपर्णा को पत्र पढ़ने के बारे में बताते हुए माफी माँगता है, पर कक्षा में बैठ नहीं पाता और तबीयत खराब है कहते हुए प्राध्यापक से बाहर जाने की अनुमति लेता है। सुपर्णा सिर झुकाए मानो अपने आँसुओं को पीने का प्रयास करने लगती है। कक्षा समाप्त होने पर वह हयात को कैंटीन में ढूँढ लेती है और उसे घर छोड़ देने की बात करती है, पर वह उसके प्रस्ताव को ठुकरा देता है ओर स्वयं को निहायत अकेला महसूस करता है। उसके अकेलेपन और उसके अनदेखा करने पर वह फिर अपने भाग्य पर हँसे या खीझे समझ नहीं आता। 'लगता था कुछ खो गया है और जो खो गया है वह किसी को मिल गया है। जो है वह, अपना नहीं रहा। जो चाहा है वह अपना हो नहीं सकता। उलझनों की दुनिया उलझती गई, रात की श्यामलता और बढ़ती गई और सुपर्णा के सपने उजड़े ही रहे, पर उसने आह नहीं की।'[13]

मनुष्य जब प्रेम के वशीभूत होता है और उसे ज्ञात हो कि उसका प्रेम अधूरा है, जिसे वह हासिल नहीं कर सकेगा; ऐसी मन:स्थिति में वह अकेलेपन से ग्रसित हो जाता है। 'उदास आँखें' की नायिका शरत के प्रेम में निमग्न है, जिससे वह शादी नहीं कर सकेगी क्योंकि उसके जीजा अपने बिजनेस के फायदे के लिए प्रतिष्ठित बिजनेसमैन की बेटी से अपने भाई की शादी करना चाहते हैं और हयात इस परिस्थिति से वाकिफ है। हयात उसे समझाना चाहता है कि जीवन में आगे बढ़ो, परंतु वह किसी से कुछ समझना नहीं चाहती। 'हारे थके पाँव दूसरी राह पर चलने से कतरा रहे थे, जैसे मन का सब उल्लास बंबई के समुद्र में बहा आई थी। बहुत प्रयास करती पर जैसे मन जकड़ गया था। शरत की यादों के डोरे इतने कसे थे कि अब उबर पाने का कोई रास्ता ही न मिलता था और अब हयात का जीवन के इस प्रहर में प्रवेश भी कम दुखपूर्ण न था।'[14] प्रेम जीवन की अद्‌भुत अनुभूति है। जब मनुष्य किसी से सच्चा प्रेम करता है और अपना मन पूर्णत: समर्पित कर देता है, तब अन्य से कोई उम्मीद नहीं रखता।

सुपर्णा अपने जीवन को शरत को समर्पित कर चुकी है और उसके मन में जाग्रत हर कोमल भाव को वह खत्म कर चुका है, इस पर वह अपनापन दे रहे परिवार व मित्रों के सामने खुद को अजनबी समझती है। 'सुपर्णा को लगता, जीवन की पतवार तो टूट चुकी है और अब नाव के पेंदे भी गल गए हैं। वह अकेले नाव में खड़ी है। न जाने जीवन का क्या होगा।'[15] सुपर्णा हयात को सच्चा दोस्त समझती है और हयात इस बात से दु:खी है कि सुपर्णा अपने दर्द को सबसे छुपाकर घुट-घुटकर क्यों जी रही है? उसके हृदय को टटोलने के प्रयास में अनंत (उसका दोस्त) को भेजता है। सुपर्णा को ठेस लगती है। जब कोई हृदय में सम्मान और श्रद्धा के भाव किसी के लिए रखता हो और उसके द्वारा विश्वास का संबल नहीं मिलता तो वह निर्मोही-सा बन जाता है। सुपर्णा भी उस पल यह सोचती है–'उसे लगता, जीवन कितना झूठा है, सब कितने छली हैं, कहीं कोई सत्य नहीं

कहता, कैसी विडंबना है। कल तक जो निकट थे, अपने लगते थे, आज बहुत दूर हो गए हैं।'[6] सुपर्णा के जीवन की विडंबना उसकी परिस्थिति से उत्पन्न मन के भाव पीड़ा के कारक बनते हैं।

कुसुम अंसल का साहित्य जीवन की कुंठा, अजनबीपन, हीन भाव, अकेलेपन और त्रासद को उभारकर आधुनिक दौर की यथार्थता को चित्रित करता है। 'कुसुम अंसल की रचनाएँ प्रमाणित करती हैं कि उन्होंने तत्कालीन प्रश्नों से सर्वकालिक प्रश्नों की ओर अपनी यात्रा आरंभ की है। विषय-वैविध्य की दृष्टि से कुसुम अंसल ने जीवन के अनेक बिंदुओं को स्पर्श किया है। सामाजिक विडंबनाओं पर खुलकर प्रहार किया है। प्रेम के अनुभव को नई विश्वसनीयता दी है। विवाह संस्था की एक सरसता को चुनौती दी है तथा विवाह के खोखलेपन को उजागर किया है।'[7] दांपत्य जीवन की विडंबनाओं से भी अकेलापन व अजनबीपन उत्पन्न होना लाजिमी है। दांपत्य जीवन प्रेम के बिना अधूरा है। वैवाहिक रिश्ते में निश्छल प्रेम व विश्वास हो, जहाँ इसकी कमी हो वहाँ दांपत्य जीवन बोझिल बन जाता है। 'उदास आँखें' में कुसुम अंसल ने विवाह-संस्कार के खोखलेपन को उजागर किया है। सुपर्णा की दीदी सुमीता का वैवाहिक जीवन अकेलेपन की त्रासदी में बीतता है– 'शादी के एक-दो साल तक वह चुप रही, फिर उसकी और आशीष की दूरी कम हो जाए, पर वह बढ़ती गई। सुमीता भी खो चली थी बंबई की भीड़ भरी दुनिया में। सुबह उठे, तैयार होकर कॉफी पीने को चले गए–दोपहर हुई, सो गए। रात हुई तो तैयार होकर पार्टियों में पीया, नाचा और भूल गए सब कुछ। वह पूछती थी आशीष से, 'सुनो! कब तुम मेरे हो पाओगे? कब वह दिन आएगा, जब हर छोटे-छोटे सुख-दुख हम साथ मिलकर बाँटेंगे।'[8] परंतु आशीष स्वयं को काम और प्रसिद्धि में झोंक देता है। उसकी अलग दुनिया है। उसकी ओर से निराशा हाथ लगने पर सुमीता खुद को सिगरेट के धुएँ में गुम कर देती है।

कुसुम अंसल की 'उदास आँखें' अन्य पात्रों के अकेलेपन को भी उजागर करती है। मन में विषाक्तता गहरे पैठ कर जाती है, व्यक्ति बाहर से स्वयं को संयत कर ले, परंतु अंदर वह सामान्य नहीं रह पाता। 'अवचेतन में गहरे बसा विषाक्त भाव किसी भी संबंध को स्थायी, स्वस्थ, सामान्य और स्नेहिल बनने या रहने ही नहीं दे सकता। अंततः ऐसा व्यक्ति नितांत अकेला हो जाता है या कर दिया जाता है।'[9] कुसुम अंसल ने प्रकृति को भी उस अकेलेपन के भाव में डूबा चित्रित किया है। जो अकेलापन सुपर्णा में है, वही हयात और शरत के जीवन में आ गया है, परंतु दोनों अपनी भावनाओं को नियंत्रित कर जीवन में आगे बढ़ते हैं। तब सुपर्णा प्रकृति के मध्य निराशा के भाव लिए बैठी है, मानो प्रकृति भी उसके समरूप उसके भाव उद्दीप्त कर रही हो–'ऐसा लगता था जैसे हरे रंग की तितलियाँ, फूल सिमटकर वहाँ समा गए हैं, पर अब समय जैसे बदल गया था। फूल का रंग फीका पड़ चला था। बहार का रेशम-सा मुख सलवटों से भर चला था।'[10] प्रेम में इंसान स्वयं को बना सकता है या बिगाड़ सकता है। स्वयं को त्याग के रास्ते पर चला सकना सबके बस की बात नहीं होती। शरत और संध्या विवाह-सूत्र में बँध चुके थे और सलमा (सुपर्णा की सहेली) के साथ हयात का निकाह तय हो गया। 'एक बार बिलकुल अकेली खड़ी थी सुपर्णा। सब-कुछ समाप्त हो गया था जैसे, पर एक अनोखा-सा खालीपन जो वह अनुभव कर रही थी अपने मन में, उसका क्या होगा?'[11]

कुसुम अंसल का मानना है कि कई बार हम जानते हैं कि यह रास्ता हमारे अनुकूल नहीं है, परंतु अपने आप को समझाना मुश्किल होता है, क्योंकि यादों से उबर पाना मुश्किल होता है। यही सुपर्णा के साथ हो रहा था–'उदास सुपर्णा चुपचाप अपने कमरे में बैठी रहती या फिर शाम

को बादलों को देखकर रोया करती। बीते दिनों की याद उसके मन का रोग बन गई थी।'[12] 'उदास आँखें' की नायिका सुपर्णा उन यादों से बाहर नहीं निकल पाती है। यह यादें उसे उद्विग्न करती हैं और उसकी बातों को जब परिवार के लोग अनसुना कर देते हैं, उसकी मर्जी के बिना शादी तय कर देते हैं, तब वह घर में भी अजनबी महसूस करने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि अपने लिए धीमी मृत्यु चुन लेती है। 'अकेलापन एक बीमारी के रूप में शांत मृत्यु है, जो इस धारणा तक पहुँचा सकता है–'यह जीवन रखकर क्या करूँगा।'[13] व्यक्ति जब मरणासन्न होता है, उसकी आँखों के समक्ष जीवन की अहम घटनाएँ एवं व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं। वह चाहता है कि उसके प्रियजन उसके आस-पास रहें। सुपर्णा ने भी हयात और शरत को बुलवा लिया था। उसके मूर्छित होने पर हयात डॉक्टर को लेने अस्पताल की ओर जाता है और रास्ते में दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है। इसी समय वह अंतिम साँस लेती है, तब सुमीता के कहने पर सुपर्णा के अमिट, निश्छल प्रेम के आगे शरत को नतमस्तक होना पड़ा; उसकी पूर्णता के लिए सुपर्णा की सूनी माँग शरत ने भरी। 'जाओ सुप्री, मैंने तुम्हें ठुकराया था, पर अब तुम्हारी यादों के सहारे जिऊँगा। तुम मरकर भी जीत गई। मैं जी कर हार गया हूँ।'[14] इस प्रकार भावाभिव्यक्ति कर शरत उसके प्रेम की गहराई को स्वीकार करता है और फिर उस अकेलेपन को अपने जीवन की पूर्णता के रूप में अंगीकार करता है। वहीं दुर्घटना में अपनी आँख गँवाने के बाद हयात को सुपर्णा की आँखें लगाई जाती हैं और वह इस सच्चाई को जान, भाव-विह्वल होकर कहता है–'मुझे क्या पता था कि सुपर्णा मेरी पसंद को इस रूप में देगी मुझे। सच, ये तो मरकर भी जी गई है।'[15] कुसुम अंसल ने सुपर्णा की मृत्यु को नेत्रदान से जोड़कर उसे मानवतावाद से जोड़ा। उसका प्रेम एक तरफ उसमें अकेलापन भर देता है, दूसरी तरफ उसका अकेलापन दूसरे के जीवन का अंग बन जाता है।

निष्कर्ष–कुसुम अंसल की 'उदास आँखें' उपन्यास अपनी अलग पहचान स्थापित करते हुए पात्रों की परिस्थिति से उपजे अंतर्संघर्ष को दर्शाता है। अंतर्संघर्ष में टूट चुकी सुपर्णा स्वयं की निरर्थकता की प्रतीति कर अस्तित्वहीनता, अजनबीपन व अकेलेपन से जूझती है। उसका मृत्यु को वरण करना शरत व हयात के जीवन में अकेलेपन को गहरा कर जाता है। 'कहानीकार ने सुपर्णा के रूप में स्नेहिल, किंतु दृढ़ पात्र गढ़ा है और जिसके चलते यह उपन्यास दूसरी-तीसरी बार भी पढ़ने के लिए पाठक को तैयार करता है।'[16] कुसुम अंसल स्वीकार करती हैं कि मनुष्य होने का असली अर्थ संवेदनशील होना है। सामाजिक प्राणी (मनुष्य) संबंधों का ताना-बाना बुनता है। इस ताने-बाने को एक सुंदर रूप देना आवश्यक है अन्यथा मनुष्य इसमें उलझ सकता है, परंतु आधुनिक समाज में व्यक्ति हर समय सहज नहीं रह पाता। आधुनिक दौर में प्रत्येक व्यक्ति कभी-न-कभी अकेलेपन और अजनबीपन का अनुभव करता है। विषम परिस्थिति आने पर प्रत्येक की मन:स्थिति, प्रतिक्रिया या आगे बढ़ाया गया कदम पृथक-पृथक होता है। स्वयं की निरर्थकता की प्रतीति से सारे मूल्य बेमानी हो जाते हैं। बहरहाल 'उदास आँखें' की सुपर्णा की मृत्यु पर कुसुम अंसल ने त्याग की इबारत लिख दी।

संदर्भ

1. शंभुनाथ, हिंदी साहित्य ज्ञानकोश खंड-1, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, संस्करण 2019, पृ॰ 1
2. शोभा खेमानी, आधुनिक हिंदी कविता में यथार्थबोध, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1993, पृ॰ 146
3. कुसुम अंसल, उदास आँखें, कुसुम अंसल रचनावली (खंड-3), संपा॰ अनिल कुमार, नमन

प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ॰ 5-6
4. वही, पृ॰ 21
5. वही, पृ॰ 07
6. वही, पृ॰ 40
7. शीलप्रभा वर्मा, महिला उपन्यासकारों के रचनाओं में बदलते सामाजिक संदर्भ, विद्या विहार प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 1987, पृ॰ 34
8. कुसुम अंसल, उदास आँखें, कुसुम अंसल रचनावली (खंड-3), संपा॰ अनिल कुमार, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ॰ 7
9. अरविंद जैन, औरत : अस्तित्व और अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2000, पृ॰ 128
10. कुसुम अंसल, उदास आँखें, कुसुम अंसल रचनावली (खंड-3), संपा॰ अनिल कुमार, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ॰ 35
11. वही, पृ॰ 46
12. वही, पृ॰ 47
13. शंभुनाथ, हिंदी साहित्य ज्ञानकोश (खंड-1), भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, संस्करण, 2019, पृ॰ 137
14. कुसुम अंसल, उदास आँखें, कुसुम अंसल रचनावली (खंड-3), संपा॰ अनिल कुमार, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृ॰ 55
15. वही, पृ॰ 56
16. श्रीराम दवे, कुसुम अंसल सृजन के वैविध्य, अतुल्य पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण, 2019, पृ॰ 36

श्रीमती रोसमीना कुजूर
पत्नी श्री आर॰पी॰ कुजूर
प्लॉट नंबर 232-**ए, न्यू ऑफीसर्स कॉलोनी,**
धरमपुरा (रायपुर) 492012 **छ॰ग॰**
मो॰ 9713850600, 8839727294
rmkujurcghe@gmail.com

'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में चित्रित संघर्ष के विविध पक्ष

डॉ॰ सपना शर्मा, असि॰ प्रोफेसर, हिंदी
पायल, शोध छात्रा, हिंदी
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

जीवन में संघर्ष जन्म से ही आरंभ हो जाता है और व्यक्ति मृत्युपर्यंत संघर्षशील रहता है। समाज में परिवर्तन भी संघर्ष के द्वारा ही आता है। क्योंकि संघर्ष में व्यवस्था के लिए विरोध छिपा होता है। दुनिया का ऐसा कोई भी समाज नहीं जहाँ संघर्ष न हो। यह संघर्ष जब क्रांति का रास्ता अपनाता है तभी बदलाव आता है। संसार के सभी विरोध, प्रतिरोध, प्रतियोगिताएँ जीत के विश्वास को आधार बनाकर ही किए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जीतने के लिए ही लड़ता है। क्योंकि हारने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। हारना तो प्रयत्न के बिना भी संभव है। इसलिए शोषण को समाप्त करने और समाज को बदलने के लिए संघर्ष ही एकमात्र रास्ता है।

कार्ल मार्क्स संघर्ष का कारण समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष को मानते हुए कहते हैं–'अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है।'[1] अर्थात् किन्हीं दो वर्गों या विचारों, समूहों, आदि में टकराहट के कारण ही संघर्ष जन्म लेता है।

सरदार पूर्णसिंह संघर्ष के विषय में कहते हैं–'साधारण जीवन में साधारण खुशियों के दुर्लभ हो जाने से अथवा साधारण जीवन के सामने असाधारण लक्ष्यों के स्थापित हो जाने से संघर्ष की उत्पत्ति होती है।'[2] अत: जीवन में कठिनाइयों बाधाओं से उभरने तथा विरोधी शक्तियों को दबाने के लिए किया जाने वाला प्रयास ही संघर्ष है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया'(1986) में लेखक ने बनारस के साड़ी बुनकर मजदूरों के संघर्ष को बयान किया है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये बुनकर गरीबी, अन्याय, शोषण, अत्याचार, रोगग्रस्तजर्जर जीवन जीने को अभिशप्त हैं। ऐसी शोषणजन्य व्यवस्था के चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए सभी बुनकर मजदूर इकट्ठे होते हैं और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं।

भारत भारद्वाज का मत है कि 'अब्दुल बिस्मिल्लाह में गहरा यथार्थबोध तो है ही उनमें सामाजिक यथार्थ को संश्लिष्टता में प्रस्तुत करने की तीक्ष्ण दृष्टि भी है। उनकी दृष्टि बनारस के गरीब निम्न मध्यवर्गीय जुलाहे की आर्थिक अभावग्रस्त जिंदगी पर ही नहीं टिकती वे निर्ममता से उन तमाम कुरीतियों, अशिक्षा, मजहबी जड़वाद और सांप्रदायिक दृष्टिकोण पर भी प्रहार करते हैं।'[3]

अत: प्रस्तुत उपन्यास न केवल साड़ी बुनकरों की समस्याओं को लेकर चलता है बल्कि व्यापकता को भी अपने भीतर समेटे हुए है।

प्रस्तुत उपन्यास में विवेचित संघर्ष इस प्रकार हैं–

सामाजिक संघर्ष–समाज और व्यक्ति का आपस में गहरा संबंध है। व्यक्ति जिस समाज में

 ISSN 0975-735X

पैदा होता है उसका चरित्र-चिंतन, गति-मति, भाषा-शैली, आचार-व्यवहार वैसा ही हो जाता है। किंतु ऐसा भी होता है कि कोई एक व्यक्ति या समूह पूरे समाज को ही प्रभावित करे या बदलकर रख देता है। समाज में ऐसे परिवर्तन होने के कई कारण हैं जैसे–प्रत्येक समाज में सहयोग, समायोजन, टकराहट, विरोध, द्वंद्व या प्रतियोगिता जैसी प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं जिनसे समाज में संघर्ष पैदा होता है और इस संघर्ष से ही परिवर्तन आता है।

ऐसे ही संघर्ष की स्थिति विवेचित उपन्यास में देखने को मिलती है। जहाँ पिता तथा पुत्र के विचारों में टकराहट के कारण संघर्ष पनपता है। जिसका कारण माता-पिता के परंपरागत विचार और बच्चों की आधुनिक सोच तथा व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि है जिससे दोनों पीढ़ियों में द्वंद्व की स्थिति बन जाती है। रऊफ चाचा साड़ी बुनकर है वह चाहता है कि उसका बेटा काम में उसकी मदद करे परंतु पुत्र हनीफ के विचार पिता के विपरीत हैं–'हनीफ अंसारी को यह बात मंजूर नहीं हुई। उसने सोचा यह जो अब्दुल रऊफ अंसारी नामक बूढ़ा है यह बहुत चालाक है। यह खुद तो मौज उड़ाना चाहता है और अपने बेटे के पाँव करघे में डाल देना चाहता है। यह नहीं हो सकता और उसने साफ-साफ कह दिया कि वह अपना कारोबार अलग से शुरू करना चाहता है।'[14]

फलत: दोनों पीढ़ियों में वैचारिक मतभेद होने के कारण वे एक साथ काम नहीं कर सकते। पिता अपने पुत्र को स्वयं के व्यवसाय में रहकर काम करने को कहता है लेकिन बेटा स्वतंत्र काम करने में विश्वास रखता है।

समाज में प्रचलित रूढ़ियों को ढोने में जब कोई व्यक्ति या वर्ग असमर्थ हो जाता है तो वहाँ विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी ही स्थिति उपन्यास के लतीफ और कमरून के तीन तलाक हो जाने तथा उनके बिना हलाला के दोबारा साथ रहने को लेकर दिखाई पड़ती है। इस पर पंचायत बैठा दी जाती है किंतु कमरून इस प्रथा का विरोध कुछ इस प्रकार करती है–'तब कमरून ने भीतर से कहलाया कि अगर पंच का फैसला यह होता है कि मैं दूसरे किसी आदमी से शादी करने के बाद उससे तलाक लेकर तब इस घर में फिर आऊँ तो पंच को चाहिए कि मुझे जहर दे दें। मैं ऐसी जलालत का काम नहीं कर सकती। मेरे शौहर ने मुझे दिल से तलाक नहीं दिया था और अब वह मुझे दिल से अपना रहा है। इसलिए पंच को चाहिए कि वह माफी दे दे।'[15]

अत: समाज में प्रचलित जड़ व्यवस्थाओं में परिवर्तन हेतु किसी-न-किसी को आवाज उठानी ही पड़ती है। ऐसा ही कमरून ने भी किया। तभी बदलाव लाया जा सकता है। ऐसा पुनरुत्थान प्रत्येक समाज की आवश्यकता है। प्रस्तुत उदाहरण में संघर्ष की प्रथम सीढ़ी प्रतिरोध को चित्रित किया गया है।

आर्थिक संघर्ष–अर्थ जीवन की आधारभूत जरूरतों की पूर्ति हेतु आवश्यक है। जिस प्रकार जीवन निर्वाह के लिए हवा-पानी की जरूरत है उसी तरह भोजन भी जरूरी है जो केवल अर्थ से ही प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की प्रगति का सूचक भी आर्थिक रूप से सशक्त होना ही है। वही राष्ट्र सबसे अधिक शक्तिशाली माना जाता है जो सबसे अधिक आर्थिक रूप से समृद्ध होता है। व्यक्ति का जीवन स्तर भी आर्थिक मजबूती से ही ऊपर उठता है। तभी वह अच्छा भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है। किंतु धन कमाने के लिए व्यक्ति को बहुत संघर्ष करना पड़ता है।

उपन्यास में बनारस के साड़ी बुनकर मजदूरों के अर्थोपार्जन हेतु संघर्ष को बड़ी ही सजीवता के साथ अंकित किया गया है। जिन्हें दो वक्त की रोटी के लिए घंटों काम करना पड़ता है। परंतु

इतने पर भी गिरस्त लोग उनकी बुनी हुई साड़ियों में दोष निकालते हैं और पैसों में कटौती करते हैं। वे उनके द्वारा बुनी साड़ियों को बेचकर दोगुना लाभ कमाते हैं। कथानायक मतीन सारी उम्र इसी तरह के आर्थिक शोषण को झेलता है। उसका बेटा इकबाल बचपन से पिता को शोषण के चक्र में घिसता हुआ देखता है। परिणामस्वरूप वह मार्क्सवाद के रास्ते पर बढ़ता है। वह सबको एक होकर लड़ने के लिए आह्वान करता है। इकबाल कहता है–'यह कटौती, यह साजिश, यह बद-इंतजामी खत्म होनी चाहिए। सरमायादारों की तिड़कमें अब टूटनी चाहिए और आम बुनकरों को उनका हक मिलना चाहिए। हमारे बापों ने भले बर्दाश्त किया पर हम नहीं करेंगे हम एहते जाज (प्रतिरोध) करेंगे।'[6] यहाँ मतीन पुरानी पीढ़ी तथा इकबाल नई पीढ़ी और नए विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। इकबाल बुनकर समाज के साथ हो रहे अन्याय के खिलाफ संगठित रूप से संघर्ष की शुरुआत करता है।

लेखक अधिकारों की लड़ाई में केवल नई पीढ़ी पर ही सारी बागडोर नहीं छोड़ता बल्कि पुरानी पीढ़ी भी इस प्रतिरोध में उनका साथ देती है। बुनकर समाज अपने हक के लिए लड़ते हुए हड़तालें करता है। किंतु जब हड़ताल लंबी खिंचती जाती है और शोषितों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो शोषण का तख्तापलट करने के लिए वे हड़ताल को अनशन का रूप दे देते हैं। लेखक कहता है–'मतीन ने जब देखा कि हड़तालें लंबी खिंच रही है और आम बुनकर घबराते जा रहे हैं तो इकबाल और अल्ताफ को बुलाकर उसने सलाह दी कि हड़ताल को अब अनशन की शक्ल में बदल देना चाहिए। कुछ लोग पारी-पारी से यहाँ अनशन पर बैठें और जिसका जी चाहे काम करता रहे। वरना लड़ाई नाकामयाब हो जाएगी।'[7]

शोषण के खिलाफ नई-पुरानी पीढ़ी का एक साथ मिलकर खड़ा होना बदलाव के लिए क्रांति का प्रतीक है। क्योंकि यदि शोषित जनता को प्रतिरोध की ताकत मालूम हो जाए तो वह स्वयं की मुक्ति के साथ-साथ समाज को भी मुक्त कराने का सामर्थ्य रखती है। ऐसा ही मतीन, इकबाल तथा अन्य बुनकर करते हैं। क्योंकि वे जान चुके हैं कि सहन करने से शोषण समाप्त नहीं होगा इसको खत्म करने के लिए प्रतिरोध ही एकमात्र रास्ता है।

राजनीतिक संघर्ष–राजनीति में सत्ता प्राप्ति के लिए दो विरोधी दलों में खूब संघर्ष होता है। ये राजनेता आम जनता को प्रलोभन देना, बड़े-बड़े वायदे करना, अपना प्रचार-प्रसार करना अर्थात् जो भी करना पड़े कुर्सी के लिए करते हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने भी विवेचित उपन्यास में ऐसे ही दो प्रतिस्पर्धी नेताओं के संघर्ष को व्यक्त किया है–'अल्ताफुर्रहमान भी लोगों की मदद करना चाह रहे हैं पर शरफुद्दीन की मदद बीच पड़ी जा रही है। अल्ताफुर्रहमान को यह अच्छा नहीं लगता आखिर उन्हें भी तो इलेक्शन लड़ना है। अपनी मार्केट वैल्यू बनाने का यही तो एक मौका है। अगर अब चूके तो फिर कहीं के न रहेंगे। अत: वे एक दूसरा तरीका अपनाते हैं। लोगों की चिंता छोड़कर वे अपना सारा दिमाग कौमी एकता का एडिटोरियल लिखने में लगा देते हैं।'[8] इलेक्शन में जीत हासिल करने हेतु जो भी दाँव-पेच किए जा सकते हैं दोनों विरोधी दलों द्वारा किए जाते हैं। परंतु वास्तव में कोई भी जनता का हित नहीं चाहता वे केवल सत्ता हासिल करना चाहते हैं।

प्रशासनिक कार्यालयों में भी आम जनता की कोई नहीं सुनता। एक छोटे से काम के लिए कई दिनों तक चक्कर काटने पड़ते हैं। लेकिन हद तो तब हो जाती है जब काम न बनने पर खाली हाथ लौट जाना पड़ता है। ऐसी ही स्थिति कथानायक मतीन की होती है। बैंक से कर्जा लेने के लिए वह एक सोसायटी बनाता है जिसमें मुश्किल से तीस सदस्य इकट्ठे हो पाते हैं। परंतु जब कागजात

बैंक मैनेजर के सामने रखे जाते हैं तो वह कहता है–'तुम लोग कितनी सोसायटियाँ बनाना चाहते हो? क्या तुम सोचते हो कि सरकार इतनी बेवकूफ है।' इस पर मतीन कहता है–'अरे सरकार देती है इसीलिए लेने आए हैं। कोई आपसे भीख नहीं माँग रहे हैं। मतीन की इच्छा हुई कि मैनेजर साहब को कस-कसकर सुना दे और बाहर निकल जाए।'[9]

उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने मदरसे का जिक्र किया है। जिसमें दो कमेटियाँ बनने पर दोनों में द्वंद्व चल रहा है। दोनों ही मदरसे पर अपना हक जताना चाहते हैं–'मदनपुरा के एक मदरसे में दो कमेटियाँ हो गई हैं और दोनों कमेटियों का दावा है कि मदरसे पर हमारा अधिकार है। नतीजा यह निकल रहा है कि मदरसा बंद है। दोनों मैनेजर मुकदमा लड़ रहे हैं और उस्ताद सड़क पर हैं। सिर्फ एक उस्ताद हैं गफ्फार खान जो मुकदमा लड़ रहे हैं। वे दोनों मैनेजरों की पैरवी एक साथ कर रहे हैं। जिधर से ज्यादा पैसा मिलता है, उधर ही उनकी पैरवी ज्यादा झुक जाती है।'[10]

दो विरोधी कमेटियों के मध्य हो रहे झगड़े में अकसर तीसरे निर्दोष का ही नुकसान होता है। प्रस्तुत पंक्तियों में भी ऐसी स्थिति है जिसमें दो मैंनजरों के मध्य मुकदमा होने के कारण मदरसा ही बंद पड़ा है। ऐसे संघर्ष की स्थिति समाज में आम ही देखने को मिलती है। जिससे नुकसान आम लोगों को उठाना पड़ता है।

धार्मिक संघर्ष–धर्म व्यक्ति को नैतिक आदर्शों पर चलने को प्रेरित करता है। किंतु जब धर्म को संकीर्णताओं में बाँध दिया जाता है, धर्म का पर्याय जब संप्रदाय विशेष को मान लिया जाता है, तो धर्म अपने व्यापक विस्तृत स्वरूप को छोड़कर गौण हो जाता है। दूसरे संप्रदायों, धार्मिक आस्थाओं के प्रति असहिष्णुता और स्वयं के धर्म के प्रति कट्टरता का भाव ही धार्मिक संघर्ष उत्पन्न करता है, और आगे चलकर यही स्थितियाँ घृणा, विद्रोह और धार्मिक दंगों को जन्म देती हैं। लेखक ने भी ऐसी ही स्थिति को चित्रित किया है–'क्षण भर पहले जो नमाजगाह थी वह अब जंगगाह बन गई थी। लेकिन चाहे नमाज हो और चाहे जंग हो, जिस आदमी के जहन में कोई दूसरा ही तूफान भरा हो वह अपनी ही धुन में खोया रहता है।'[11]

फलत: धर्म की आड़ में सभी प्रकार के अनैतिक कार्य और अपराधिक गतिविधियाँ की जाती हैं। जिसके कारण हिंसा, घृणा, दंगे जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उपर्युक्त उदाहरण ऐसी ही स्थिति को चित्रित करता है, जिसमें धार्मिक स्थल जिसे आस्था और विश्वास का केंद्र माना जाता है उसे हिंसा और रक्तपात के कारण युद्ध स्थल बना दिया जाता है।

धर्म में जब अंधविश्वास फैल जाता है तो वह तर्क और बुद्धि को बौना कर देता है। व्यक्ति इन अंधविश्वासों में पड़कर अपना विवेक खो बैठता है। उपन्यास में अलिमुन नामक स्त्री को डॉक्टर द्वारा भैंस का मांस खाने को मना किया जाता है क्योंकि उसे टी॰बी॰ है। परंतु अंधविश्वास के कारण परिवार वाले सोचते हैं कि कुर्बानी का गोश्त कोई नुकसान नहीं करेगा। लेखक के शब्दों में–'उधर अलिमुन की हालत बिगड़ रही है। उसने भी गोश्त खा लिया है। उसे भैंस के गोश्त से परहेज बताया है लेकिन अपने घर में कुर्बानी हो और उसका गोश्त ना खाया जाए ऐसा भला कभी हो सकता है? गुनाह ना होगा! फिर यह भी विश्वास है कि कुर्बानी का गोश्त नुकसान नहीं करता, चाहे जितना खाओ।'[12]

इस प्रकार के अंधविश्वास समाज में अशिक्षित और आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग में अधिक पाए जाते हैं। उपन्यास में डॉक्टर बौद्धिकता का प्रतीक है जिसने अलिमुल नामक स्त्री को भैंस का गोश्त खाने से मना किया है। डॉक्टर का मानना है कि भैंस का गोश्त खाने से उसकी हालत

और खराब हो जाएगी, पर अंधविश्वास से ग्रसित परिवार कुर्बानी का गोश्त उसे खिला देता है। जिससे उसकी हालत बिगड़ जाती है। अत: यहाँ तर्क, बौद्धिकता और धार्मिक विश्वासों के मध्य विरोध की स्थिति दिखाई देती है।

अपने धर्म के प्रति स्वार्थपूर्ण विचारधारा के कारण हिंदू व इस्लाम धर्मावलंबियों में अपने-अपने धर्म को लेकर वैर की भावना पनपने लगती है। जिसके कारण संघर्षपूर्ण वातावरण निर्मित होता है। ऐसी ही स्थिति का चित्रण उपन्यास में कुछ इस प्रकार किया गया है–'सुबह एक और सूचना मिलती है कि इस साल न तो नाटी इमली का भरत-मिलाप होगा और न चेतगंज की नककटइया निकलेगी। इस खबर से मुसलमानों का एक वर्ग बेहद खुश होता है, लेकिन हिंदुओं का एक वर्ग बुरी तरह भड़क उठता है। पचास वर्षों से जो रिवाज चले आ रहे हैं उन्हें बंद करने की जुर्रत आखिर कैसे हुई? जरूर इसमें किसी मुसलमान नेता का हाथ है। और फिर छुरे चलने लगे। आगजनी होने लगी। लगा कि यह बनारस अब बनारस नहीं रह पाएगा।'[13]

ऐसे सांप्रदायिक झगड़े फसाद हर कहीं देखने को मिलते हैं जहाँ एक ओर हिंदू धर्मावलंबी अपने धार्मिक रीति-रिवाजों को अधिक महत्त्व देते हैं तो दूसरे को कम। ऐसा ही मुस्लिम संप्रदाय भी करता है। अंत: अब्दुल बिस्मिल्लाह ने दोनों ही संप्रदायों की धार्मिक संकीर्णताओं का बड़ी ही बेबाकी से उल्लेख किया है। जिससे उनकी धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का परिचय मिलता है।

इस उपन्यास की भाषा की सजीवता एवं रोचकता पाठक को बुनकर समाज के बीच ले जाकर खड़ा कर देती है। ऐसी कलात्मक भाषा के विषय में डॉ॰ ब्रह्मदेव मिश्र का मत है–'उनकी भाषा ही वह औजार है जो उनके पात्रों को सजीव करती है, स्थितियों को प्रासंगिक बनाती है और उनके वैचारिक दृष्टिकोण को धार देती है। लेखक ने वर्णन, व्यंग्य, बिंब, आत्मकथन, चिंतन, स्वप्न, संबोधन आदि भाषा के विविध प्रयोग रूपों का इस्तेमाल इस तरह किया है कि उससे उसके कथ्य का रूपायन विश्वसनीय रूप से हो सकें'[14]

इस प्रकार लेखक ने अपने भाषा प्रयोग के माध्यम से बुनकरों के जीवन संघर्ष को बड़ी ही आत्मीयता एवं वास्तविकता के साथ चित्रांकित किया है। उपन्यास में बनारस के साड़ी बुनकरों के जीवन संघर्ष के साथ-साथ उनके मुक्ति संघर्ष की कहानी को भी बखूबी अंकित किया गया है।

अत: कहा जा सकता है कि विवेचित उपन्यास यथार्थवादी एवं प्रगतिवादी स्वरों को मुखरित करते हुए पूँजीवादी शोषण व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करते हुए बुनकरों की कथा व्यथा का प्रामाणिक दस्तावेज है। उपन्यास में लेखक ने शोषण चक्र और उसके खिलाफ संघर्ष को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक रूपों में उद्घाटित किया है। साथ ही संघर्ष और विद्रोह के जरिए बुनकरों के जीवन और उनके बदलते भाव बोध को भी दर्शाया है। कभी उन्हें सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ संघर्ष करना पड़ता है तो कभी परिवार की आर्थिक स्थिति से दो चार होना पड़ता है, कहीं राजनेता नीतियों में परिवर्तन करके उनकी आशाओं को तोड़ते हैं तो कहीं धार्मिक सांप्रदायिक झगड़े-फसाद के कारण संघर्ष करना पड़ता है। इस प्रकार कई बार पराजित होने के बाद भी उनकी लड़ने और संघर्ष करने की इच्छा और बल समाप्त नहीं होता।

परमानंद श्रीवास्तव उपन्यास के विषय में लिखते हैं–'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' बनारस के साड़ी बुनकरों के कठिन संघर्ष का बयान है।'[15] अर्थात् उपन्यास आदि से अंत तक संघर्ष की गाथा कहता चलता है।

संदर्भ

1. जे॰पी॰ सिंह, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली 2008, पृ॰ 68
2. पूर्णसिंह, अनुवाद डॉ॰ अविनाश शर्मा, संघर्ष एक सामाजिक अध्ययन, युनिस्टार बुक्स प्रकाशन, चंडीगढ़, 2008, पृ॰ 57
3. चंद्रदेव यादव (संपा॰), समकालीन कथा साहित्य एक रुक्न, लेख-बनारस के साड़ी बुनकरों के अटूट संघर्ष का दस्तावेज, भारत भारद्वाज, सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ॰ 49
4. अब्दुल बिस्मिल्लाह, झीनी-झीनी बीनी चदरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ॰ 121
5. वही, पृ॰ 198
6. वही, पृ॰ 192
7. वही, पृ॰ 205
8. वही, पृ॰ 164
9. वही, पृ॰ 102
10. वही, पृ॰ 34
11. वही, पृ॰ 29
12. वही, पृ॰ 92
13. वही, पृ॰ 165-166
14. चंद्रदेव यादव (संपा॰), समकालीन कथा साहित्य एक रुक्न, लेख-अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास : समीक्षात्मक सर्वेक्षण, डॉ॰ ब्रह्मदेव मिश्र, सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ॰ 117
15. चंद्रदेव यादव (संपा॰), समकालीन कथा साहित्य एक रुकन, लेख-शूद्र और साधारण की महत्ता का विवेक, परमानंद श्रीवास्तव, सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1993, पृ॰ 7

पायल सुपुत्री श्री त्रिलोक सिंह
म॰नं॰ 68 **ए, कैनाल कालोनी**
निकट रेलवे क्लब
अमृतसर 143001 **(पंजाब)**
मो॰ 9872505073
payalkatri4321@gmail.com

अदम गोंडवी की कविता 'चमारों की गली' में दलित चेतना

शगुन, शोधार्थी, हिंदी विभाग
प्रो॰ सुचित्रा मलिक, शोध निर्देशक, हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी सम विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)

अदम गोंडवी एक सशक्त जनकवि के रूप में समादृत हैं। इन्होंने अधिकतर अपने विचारों को व्यंग्यात्मक गजलों के माध्यम से व्यक्त किया है। अदम गोंडवी की रचनाओं में हम उनकी प्रखर सामाजिक-राजनीतिक चेतना से परस्पर होते हैं। अपनी संपूर्ण नैतिक सजगता में अदम गोंडवी को जो बात अत्यधिक सालती रही, वह थी भारत में दलितों के साथ होने वाला अन्यायपूर्ण व्यवहार। अदम गोंडवी की दलित चेतना लगातार उनकी रचनाओं में उभरी है। गोंडवी की सुप्रसिद्ध कविता– 'चमारों की गली'[1] में कवि की यह सामाजिक चेतना मुखर होकर सीधे-सीधे एक सामाजिक जंग छेड़ देती है। मंगलेश डबराल ने प्रस्तुत कविता पर कहा है–'कविता जमींदारी उत्पीड़न और आतंक की एक भीषण तस्वीर प्रस्तुत करती है। इस रचनात्मक गुस्से और आवेग से भरी कविता को पढ़ते हुए लगता था जैसे कोई कहानी या उपन्यास पढ़ रहे हों।'[2]

अदम गोंडवी मुख्य रूप से एक प्रगतिवादी साहित्यकार हैं। वर्ग विभाजन, जात-पात, धर्म आदि सामाजिक विषमताएँ उन्हें क्षुब्ध एवं आक्रोशित करती हैं। दलित समाज इस शोषण प्रक्रिया के अंतिम पायदान पर है। यह भी सत्य है कि भारत के संदर्भ में अधिकतर विपन्नता का सीधा संबंध दलित जातियों से रहा है। प्रेमचंद कहते हैं–'संस्कृति अमीरों का, पेट भरों का, बेफिक्रों का व्यसन है, दलितों के लिए दरिद्रों के लिए प्राण रक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है।'[3] अंबेडकर तथा ज्योतिबा फुले के भास्कर प्रभाव के अंतर्गत कई मराठी दलित साहित्यकारों ने रूढ़िवादी जातीय परंपरा की नींव पर सीधे चोट की। हिंदी में दलित लेखन का प्रेरणा बिंदु मराठी का दलित साहित्य रहा है। 1970 के दशक के मध्य में कमलेश्वर के संपादन काल में 'सारिका' पत्रिका ने मराठी के दलित लेखन को हिंदी में प्रस्तुत किया था। फिर सन् 1980 के आसपास मराठी दलित लेखक दया पवार की आत्मकथा–'अछूत' अनूदित होकर आई। 'संचेतना' पत्रिका ने मराठी के दलित लेखन पर विशेषांक निकाला। हिंदी में भी शनैःशनैः दलित साहित्य की दिशा सुनिश्चित होने लगी। ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान आदि की आत्मकथा, उपन्यास, व कविताओं के प्रकाश में दलित चिंतन का स्वरूप और प्रखर होता चला गया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित शब्द के व्यापक अर्थबोध पर कहते हैं, 'भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों व वनों के बीच जीवनयापन करने के लिए वन जनजातियाँ और आदिवासी, जरायमपेशा घोषित जातियाँ–सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियाँ दलित हैं! बहुत कम श्रम मूल्य पर चौबीसों घंटे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मजदूर दलित की श्रेणी में आते हैं।'[4] हर वर्ग में नारी को जो दमन झेलना पड़ा, उसकी प्रतिक्रियास्वरूप आधुनिक युग में सबसे पहले पश्चिम की लेखिकाओं ने आवाज उठाई। सिलविया

 ISSN 0975-735X

प्लॉथ, ऐन सेक्सटन, वर्जीनिया वुल्फ आदि ने नारी को केंद्र में रखकर एक नया संघर्ष शुरू किया। हिंदी साहित्य में कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, मन्नु भंडारी व अन्य लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्थापित किया कि स्त्रियों को पुरुषों द्वारा बनाए गए 'वैल्यूज' अथवा सामाजिक नैतिकता के मूल्य छोड़ देने चाहिए। सन् 1992 में तमिल में प्रकाशित बामा की आत्मकथात्मक रचना 'कारुक्कू' ने दलित चिंतन को एक नया आयाम प्रदान किया। आलोचकों ने दलित-विमर्श एवं स्त्री विमर्श को उत्तर आधुनिकतावाद से भी जोड़कर देखा है। दलित विमर्श पर कृष्णदत्त पालीवाल कहते हैं, 'उत्तर आधुनिकतावाद एकीकृत के बजाय विभिन्नता (difference) को बुनियादी सवाल मानता है और केंद्र से परिधि की ओर चल पड़ता है। ...साथ ही जिन्हें 'सांस्कृतिक संवाद' से दूर रखा गया था, अब 'पावरशिफ्ट' के युग में अपनी पहचान, अपनी आवाज, अपने वर्चस्व के नए समूह बनकर जी-तोड़ संघर्ष करने लगे।'[5]

दलित साहित्य में सामाजिक मूल्यों को मानवीय मूल्यों के आधार पर स्वीकार किया जाता है। इसे हम सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्रचना का साहित्य कह सकते हैं। यहाँ कृत्रिम बंधनों, अतार्किक वर्जनाओं और अमानवीय व्यवस्था सूत्रों के लिए कोई स्थान नहीं होता। बाह्य जगत की गतिविधियों और विश्वासों का प्रभाव दलित साहित्य पर अन्य साहित्य की भाँति ही पड़ता है बल्कि यह रचना प्रक्रिया तो जीवन जगत के यथार्थ से जन्म लेती है। अपनी रचना 'अंत्यज कोरी पासी हैं हम' में अदम गोंडवी ने समाज के जातीय पाखंड और दलितों की दुर्दशा पर करारा व्यंग्य किया है–

अंत्यज कोरी पासी हैं हम
क्यूँ कर भारतवासी हैं हम
छाया भी छूना गर्हित है
ऐसे सत्यानाशी हैं हम।[6]

अदम गोंडवी जाति से दलित नहीं थे पर अपनी संपूर्ण सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ वे दलितों की समस्याओं से लगातार उलझते रहे तथा उन्होंने मानवीय मूल्यों की सीधी लड़ाई लड़ी। जनता ने अपने इस गँवई कवि को सहर्ष अपनाया है। लंबी कविता 'चमारों की गली' की पंक्तियाँ खुलते ही दलितों के जीवन का यथार्थ सामने ले आती हैं–

आइए महसूस करिए जिंदगी के ताप को,
मैं चमारों की गली तक ले चलूँगा आपको।
जिस गली में भुखमरी की यातना से ऊब कर
मर गई फुलिया बिचारी एक कुएँ में डूब कर।[7]

जातीय गुटबंदी के दुर्धर्ष दूरगामी परिणामों के प्रति देश व समाज की हृदय विदारक उदासीनता कवि को बेहद खलती है। यह देश की समतावादी अवधारणा की जड़ पर चोट करता है। अपनी काव्य रचना के रूप में कवि के शब्द अन्याय के इस सोपान को ध्वस्त करने के क्रम में अपनी अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। अदम गोंडवी की यह लंबी कविता दलित चेतना की आंतरिक ऊर्जा से सर्वथा संचालित है। डॉ॰ अंबेडकर के जीवन दर्शन और बुद्ध के तत्त्वज्ञान से प्रेरित दलित साहित्य कुछ जीवन मूल्यों को आधार बनाकर आगे बढ़ता है, महज;

1. समता, स्वतंत्रता, बंधुता, न्याय के जीवन अनुभव, अनुभवजन्य आशय, तथा उस आशय की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति।
2. संस्कृति और धर्म के नाम पर वास्तविकता को छिपाकर रखे गए ढोंग को नकारना।

3. कल्पनाजन्य प्रतिमानो का निषेध।

4. नित्य परिवर्तनीयता के आधार पर जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन।

5. बंधन मुक्त अभिव्यक्ति और अनुभवों का सच्चापन।[8]

'चमारों की गली' का पात्र मंगल दलित समाज का वह संतप्त वीर है जो इन जीवन मूल्यों का प्रतिरूपण करता है और सामाजिक असमानता को चुनौती देता है। यह बात समाज के तथाकथित ठेकेदारों को कतई रास नहीं आती। साहित्यकारों व आलोचकों ने दलितों की यात्रा में जातीय आर्थिक-राजनीतिक शून्यता के अभिशाप के प्रतिफलन को रेखांकित किया है। कर्दम अपनी कविता 'बेमानी है आजादी' में लिखते हैं–

बेमानी हैं उसके लिए
आजादी और लोकतंत्र की बातें
...उसे चाहिए रोटी और सम्मान।[9]

साहित्य बहुधा अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ा हुआ रहता है तथा अपने सामाजिक परिवेश में संपुष्ट होता है। तत्कालीन राजनीतिक चिंतन व व्यवस्था का यथार्थ साहित्य को उसकी समुचित धारा प्रदान करता है। अदम गोंडवी की यह कविता भी साहित्य की स्वच्छंद सक्रिय प्रक्रिया को सच्ची निष्ठा से आत्मसात करते हुए चलती है। दुर्गाप्रसाद गुप्त का मंतव्य है–'हिंदू वर्ण व्यवस्था से पीड़ित समुदाय की वेदना ही हिंदी दलित कविता का स्वर है, जिसका तेवर चेतना के स्तर पर बहुत गहराई से जुड़ा है, जिसकी जड़ में सदियों के अन्याय, अत्याचार और शोषण का इतिहास है।'[10] भारत की जातीय व्यवस्था ने जन्मगत रूढ़ि का अनुपालन जिस तीव्रता व कठोरता से किया, उसी अनुपात में दलित जातियों का देश में दोहन हुआ है। गोंडवी की इस दीर्घ काव्य-रचना में दलितों के पारंपरिक दमन व निर्लज्ज क्रूरता से उनके कुचल दिए जाने की बात है।

मेरा मुँह क्या देखते हो!
इसके मुँह में थूक दो!
आग लाओ और इसकी झोपड़ी भी फूँक दो।[11]

गोंडवी की यह लंबी कविता 'चमारों की गली' मूलत: दलित जाति के हरखू की किशोर वय की कन्या कृष्णा पर केंद्रित है जिसके साथ गाँव के प्रबल वर्ग का एक व्यक्ति बलात्कार करता है। मंगल भी गाँव का ही एक युवा दलित है, जो इस घटना के विरोध में तनकर खड़ा हो जाता है।

बढ़ के मंगल ने कहा काका तू कैसे मौन है
पूछ तो बेटी से आखरि वो दरिंदा कौन है
कोई हो संघर्ष से हम पाँव मोड़ेंगे नहीं
कच्चा खा जाएँगे जिंदा उनको छोड़ेंगे नहीं।[12]

मंगल के विरोध को कुचलने के लिए ठाकुरों के साथ स्थानीय प्रशासन भी अपनी सहभागिता पूर्ण बर्बरता से निभाता है। जब व्यवस्थात्मक तंत्र व सुधार के सभी संयोजक तत्त्व–नेता, प्रणेता, अफसरशाही आदि ऐसी भयाक्रांत कर देने वाली परिस्थितियों में भी अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाते हैं, तब कवि की चेतना इस अजीब एवं खतरनाक अमानुषिकता का मुखर प्रतिरोध करती है। पहली बार सन् 1982 में प्रकाशित इस कविता का आधार तत्कालीन सत्य घटना थी।[13] ऐसी ही घटनाएँ देश में आज भी घटती हैं। संवैधानिक सुरक्षाओं का व्यावहारिक रूपांतरण अत्यंत मंद गति से हुआ है। जब समाज में जातीय अत्याचार होता है, प्रशासन या तो कुंभकर्णी नींद सो जाता है, या

फिर इन कांडों में उसकी मिलीभगत तक होती है।

यह दरोगा जी थे
मुँह से शब्द झरते फूल से
आ रहे थे ठेलते लोगों को अपने रूल से
फिर दहाड़े, इनको डंडों से सुधारा जाएगा
ठाकुरों से जो भी टकराया वो मारा जाएगा।[14]

जीवन मूल्यों का जो पैशाचिक क्षरण कवि उजागर करता है, उसका केंद्र बिंदु देश की जन्मगत जाति व्यवस्था है। 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' के तर्ज पर आर्थिक व राजनीतिक रूप से सदियों से वर्चस्व प्राप्त, शक्ति का असामान्य केंद्रीयकरण करने वाले विशेष उच्च वर्ग के पुरुषों का जातीय घमंड, मानवता को ताक पर रखने का दुस्साहस नित्यप्रति आसानी से जुटा लेता है।

कहती है सरकार
कि आपस में मिलजुल कर रहो
सुअर के बच्चों को अब
कोरी नहीं हरिजन कहो।[15]

कवि अनुभव करता है कि समाज व आम जनता अपने कर्त्तव्यों व नैतिक उत्तरदायित्व से, परंपरा एवं भाग्य के नाम पर छुट्टी पा लेती है। ऐसे में अन्यायी की घोर अराजकता उसके सिर चढ़ जाती है और रोज कहीं-न-कहीं किसी बीभत्स कांड के घटने की एक भयावह गुंजाइश छोड़ जाती है।

भेजता भी है नहीं ससुराल इसको हरखुआ
फिर कोई बाँहों में इसको भींच ले तो क्या हुआ।[16]

कवि ने मानवीय सभ्यता को नपुंसक बना देने वाली इस जातीय विडंबना की क्रूरता पर मंगल के आक्रोश का एक अग्निबाण फेंका है–

कैसे हो सकता है होनी कह के हम टाला करें
और ये दुश्मन बहू-बेटी से मुँह काला करें।[17]

यहाँ मंगल का चरित्र दलित चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण चरण पार करता है। उसमें आत्मविश्वास है। वह न्याय-अन्याय की बात समझता है एवं अपने तथा अपनी जाति के स्वाभाविक मानवीय अधिकारों के लिए खड़ा होता है। मंगल में संघर्ष की ललकार है। जो कृष्णा के साथ हुआ, अक्षम्य था परंतु स्त्री की इस वेदना को सहिष्णुता के नाम पर समाज द्वारा दबा दिए जाने का रिवाज रहा है। रांगेय राघव कृत खंडकाव्य 'पांचाली' में जब युधिष्ठिर जयद्रथ को क्षमा करने की चर्चा करते हैं, तब द्रौपदी की वितृष्णा खुलकर सामने आती है–

इस सहिष्णुता में आग लगा दूँगी मैं
उसका वध करना, मैं कहती हूँ
उसका इतना अभिमान कुचलना होगा।[18]

आज भी नारी के प्रति समाज का दृष्टिकोण सामंतवादी बना हुआ है। मृदुला गर्ग कहती हैं, 'औरत कोई कालीन है, या मूर्ति या फूलों का गुलदस्ता है कि उसकी खूबसूरती देखकर आप उसे हासिल करने को बेचैन हो जाएँ।'[19] नारी सामाजिक शोषण, पारिवारिक रीति-रिवाज और आर्थिक शोषण का शिकार है। प्रेमचंद ने 'गोदान' में मातादीन और सिलिया चमारिन की कथा के द्वारा

सदियों के शोषण का तटस्थ व सूक्ष्म निरूपण किया था। वहीं, डॉ॰ जयप्रकाश कर्दम अपने उपन्यास 'छप्पर' की दलित पात्र कमला पर हुए अत्याचार का पारंपरिक ढाँचा खींचते हैं। अदम गोंडवी की कविता के कथ्य की ही भाँति 'छप्पर' में गाँव के ठाकुर का बेटा, भुल्लन चमार की बेटी अंगूरी को शाम के समय अकेला पाकर उसके साथ जबरदस्ती करने का प्रयास करता है। पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ स्त्री पर नियंत्रण को व्यक्तिगत अधिकार समझा जाता है, वहाँ इस रूढ़िवादिता का सर्वथा नकारात्मक रूप उसके नितांत वस्तुकरण में दृष्टिगत होता है। कविता 'चमारों की गली' मूलत: कथात्मक एवं घटना प्रधान है जहाँ दलित युवती कृष्णा की विषम वेदना वर्तमान परिदृश्य में–आधुनिक लोकतंत्रात्मक भारत में अपनी प्रासंगिकता में सामाजिक चिंतन को उद्वेलित करती है।

आ रही थी वह चली खोई हुई जज्बात में
क्या पता उसको कि कोई भेड़िया है घात में।

* * *

दिन तो सरजू के कछारों में था कब का ढल गया
वासना की आग में कौमार्य उसका जल गया।[20]

दलित चेतना की पूर्व परंपरा में नागार्जुन ने अपनी युगांतरकारी रचना 'हरिजन गाथा' में 27 मई, 1977 को पटना जिले के बेलछी गाँव में दलितों की बस्ती को जला दिए जाने के भयानक दुष्कांड का वर्णन किया है–

हाल ही में घटित हुआ था वो विराट दुष्कांड..
झोंक दिए गए थे तेरह निरपराध हरिजन
सुसज्जित चिता में...[21]

ठीक ऐसा ही संदर्भ अदम की विचारार्थ कविता में भी आता है, जहाँ घटना का केंद्र उत्तर प्रदेश का सरयूपार एक गाँव है–

और फिर प्रतिशोध की आँधी वहाँ चलने लगी
बेसहारा निर्बलों की झोपड़ी जलने लगी...[22]

जातीय आधार पर भेदभाव की घटनाएँ व दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार एक त्रासद सच्चाई है। यह संकल्प कि आजादी के बाद शिक्षा के प्रसार से सभी वर्गों के आचार-विचार व चिंतन में बदलाव आएगा, फिलहाल स्वयं को सिद्ध करने में पीछे रह गया है। गाँव हो या शहर, व्यक्ति पढ़ा-लिखा हो या अनपढ़, देश का आम नागरिक अभी भी जातिगत अस्तित्व के मकड़जाल में उलझा हुआ है। तटस्थता छोड़ मानवीय भावबोध के धरातल पर खड़े होकर ही दलितों के इस भीषण यथार्थ को समझा और समझाया जा सकता है। प्रस्तुत कविता 'चमारों की गली' की नायिका किशोर वय की अल्हड़ युवती है जो इस नृशंस व्यथा की भोक्ता है। कविता में आद्यांत कृष्णा की यह मूक पीड़ा मानवता की चीख बनकर गूँजती है। कविता जातिगत संवेदनहीनता व व्यवस्था की सड़ांध का अतिक्रमण कर दलितों की विपत्तियों, दु:खों और संकटों के अंतहीन कुचक्र का समसामयिक वर्णन करती है।

ये समझते हैं कि ठाकुर से उलझना खेल है
ऐसे पाजी का ठिकाना घर नहीं है, जेल है।[23]

जब कवि स्वयं अपने जिले गोंडा में दलित विरोधी हृदय-विदारक घटना का मुखर साक्षी

बनता है, तो अपने निकट समाज की अवहेलना का शिकार होता है। इस समिधाग्नि में समाविष्ट होने का मूल्य भी कवि पूरी तत्परता से चुकाता है। यह संघर्ष दलितों का है, पर संपूर्ण मनुष्यता को प्रभावित करता है। काव्य-कथानक की नायिका कृष्णा का त्रासद सच समाज की सुप्त चेतना पर एक प्रश्नचिह्न बन गया है।

पूछते रहते हैं मुझसे लोग अक्सर यह सवाल
कैसा है कहिए न सरजू पार की कृष्णा का हाल
उनकी उत्सुकता को, शहरी नग्नता के ज्वार को
सड़ रहे जनतंत्र के मक्कार पैरोकार को
धर्म, संस्कृति और नैतिकता के ठेकेदार को
प्रांत के मंत्रीगणों को, केंद्र की सरकार को
मैं निमंत्रण दे रहा हूँ–आएँ मेरे गाँव में
तट पे नदियों की घनी अमराइयों की छाँव में
गाँव जिसमें आज पांचाली उघाड़ी जा रही
या अहिंसा की जहाँ पर नथ उतारी जा रही।[24]

महान चिंतक व साहित्यकार रविंद्रनाथ ठाकुर के कथन–'साहित्य का उद्देश्य मानव है' को अदम गोंडवी ने अपनी रचनाओं द्वारा चरितार्थ किया है।[25] कविता 'चमारों की गली' लगातार अपने पाठक व समाज से सीधा संवाद व तीखे प्रश्न करती हुई चलती है। डॉ॰ शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी मानते हैं, 'रचनाकार में आत्मविश्वास और शक्ति के परीक्षण का माद्दा जितना होगा, वह परंपरा, समाज और रूढ़ियों से उतनी ही तीव्रता से लड़ सकेगा। वह पंचायत या हुक्का-पानी के बंद होने के डर से सही रास्ता नहीं छोड़ देगा।'[26] कविता के शिल्प की यह विशेषता है कि वह घटना प्रधान होते हुए भी सामाजिक विषमताओं के प्रति संवेदनशील है। शिल्प की गति व लय, शब्दों की सहजता, गीतात्मक प्रबंधमयता एवं कवि की वाकपटुता काव्य को एक अनोखे कलात्मक सामंजस्य में ढाल देते हैं। कवि की नि:शंक भाषा काव्य के विषय को एक प्रखर स्वरूप प्रदान करती है। अपनी भाषा के विषय में अदम गोंडवी कहते हैं, 'मैं न तो हिंदी का विद्वान हूँ, न उर्दू का जानकार। बस हिंदुस्तानी भाषा जानता हूँ। वह भी वाद बाँधने के लिए नहीं, मेड़ तोड़कर प्रवाह बनाए रखने के लिए।'[27] अदम गोंडवी कबीर परंपरा के कवि माने जाते हैं एवं एक सामाजिक गजलकार के रूप में विख्यात हैं। आत्मीयता से लबरेज इस विलक्षण रचनाकार ने अपनी रचनाओं में पारंपरिक विषमताओं एवं समकालीन विसंगतियों का सशक्त विरोध किया। जिस तरह महाकवि निराला, जनकवि नागार्जुन, धूमिल, दुष्यंत कुमार तथा पाश की रचनाएँ भविष्य की सुदृढ़ व्यवस्था कायम करने की संकल्प शक्ति से युवाओं को सींचती हैं, उसी तरह अदम गोंडवी का रचना-संसार भी समाज को जाग्रत करने का वृहत् उत्तरदायित्व अपने दो टूक निर्भीक अंदाज में संपूर्ण प्रतिबद्धता से निभाता है।

संदर्भ

1. अदम गोंडवी, धरती की सतह पर, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2020, पृ॰ 100
2. इंटरनेट, कविशाला https://kavishala-in/kavishala-labs/ai-sahara-ke-vasindom-hama-gamva-se-aye-haim
3. समतामार्ग https://samtamarg-in/2022/04/18/communalism-and-culture-premchand/

4. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली, पृ॰ 44
5. कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर आधुनिकता और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 21
6. अदम गोंडवी, धरती की सतह पर, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली-32, पृ॰ 84
7. वही, पृ॰ 100
8. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली, पृ॰ 50
9. डॉ॰ जयप्रकाश कर्दम, गूँगा नहीं था मैं (कविता-संग्रह), अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 36
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, दिल्ली, पृ॰ 106
11. अदम गोंडवी, धरती की सतह पर, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, पृ॰ 103
12. वही, पृ॰ 101
13. इंटरनेट, कविशाला https://kavishala-in//kavishala-labs/ai-sahara-k--vasindom-hama-gamva-se-aye-haim
14. अदम गोंडवी, धरती की सतह पर, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, पृ॰ 104
15. वही, पृ॰ 102
16. वही, पृ॰ 102
17. वही, पृ॰ 101
18. डॉ॰ उमा शुक्ला एवं डॉ॰ माधुरी खेड़ा, आधुनिक काव्य यें नारी! स्वरूप और प्रतिमा, अरविंद प्रकाशन, मुंबई, पृ॰ 48
19. वही, पृ॰ 58
20. अदम गोंडवी, धरती की सतह पर, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, पृ॰ 100-101
21. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 138-139
22. अदम गोंडवी, धरती की सतह पर, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, पृ॰ 103
23. वही, पृ॰ 104
24. वही, पृ॰ 104
25. डॉ॰ जयप्रकाश कर्दम, दलित अभिव्यक्ति: संवाद और प्रतिवाद, (सं॰ रूपचंद गौतम, पृ॰ 18
26. डॉ॰ शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी, अज्ञेय : कुछ और संदर्भ, रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा, पृ॰ 120
27. इंटरनेट, कविशाला http://kavishala-in//kavishala-labs/ai-sahara-ke-vasindom-hama-gamva-se-aye-haim

फ्लैट नं॰ 204/1
मुरलीधर वाटिका अपार्टमेंट
आईएएस कॉलनी के पश्चिम
थाना- रूपसपुर, पटना 801503 **बिहार**

प्रेमचंद की कहानियों में मध्यमवर्गीय परिवार की स्थिति

सुमलक अपुम, शोधार्थी, हिंदी विभाग
डॉ॰ शिवम चतुर्वेदी, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
अरुणाचल यूनिवर्सिटी ऑफ स्टडीज, नामसाई (अरुणाचल प्रदेश)

समाज में मुख्य रूप से तीन वर्ग होते हैं। इसमें पहला उच्च वर्ग, दूसरा मध्यमवर्ग और तीसरा निम्न वर्ग है। इनमें मध्यमवर्ग के लोग सबसे ज्यादा सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन करते हैं। मध्यमवर्ग पर दूसरों का प्रभाव जल्द ही लग जाता है। दूसरों की नकल करना इनकी गजब की आदत है। आर्थिक अभाव के बावजूद भी यह वर्ग बाहर से धनवान होने का नाटक दिखाता है। इस प्रकार जब उनके अरमान पूर्ण नहीं हो पाते है तब वे मानसिक बीमारी का शिकार हो जाते हैं। मध्यमवर्गीय परिवार मुख्य रूप से उच्च वर्ग की भाँति स्वतंत्र चाहते हैं किंतु समय आने पर अपनी परंपरा की खोल से बाहर नहीं निकल पाते हैं। दूसरों के सामने ये अधिक दिखावा करते हैं। भीतर से कुछ और बाहर से कुछ और होते हैं। बाहरी चेतना तो उन पर काफी कार्य करती है। मध्यमवर्गीय पुरुष व्यवसाय के क्षेत्र में भी काफी दिलचस्प दिखाई देते हैं साथ ही मध्यमवर्गीय औरतें भी इस क्षेत्र में रुचि दिखाती हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी सबसे ज्यादा यही वर्ग भाग लेता है। आप देख सकते हैं कि समाज में अधिकतर मध्यमवर्गीय लोग शिक्षित होते हैं क्योंकि यह वर्ग विभिन्न क्षेत्रों में हिस्सा लेना पसंद करता है। अवसर के साथ इनकी सोच भी परिवर्तित होती है। कुछ मध्यमवर्गीय परिवार पूर्ण निष्ठा के साथ अपना कर्त्तव्य तथा जिम्मेदारियों को निभाते हैं वहीं कुछ अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरों को धोखा भी देते हैं। यह वर्ग काफी सक्रिय होता है। किसी भी स्थिति में मध्यमवर्ग के लोगों अधिक रुचि दिखाई देती है।

प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में मध्यमवर्गीय परिवारों की स्थिति का उल्लेख किया है। कथा सम्राट ने निश्चित रूप से मध्यमवर्गीय लोगों के विषय में बहुत ही गहराई के साथ वर्णन किया है। उन्होंने न केवल मध्यमवर्गीय विषय पर अपनी लेखनी चलाई है बल्कि दलित, अस्पृश्य, किसान, नारी, दांपत्य-संबंधी, राजनीतिक समस्या, आर्थिक समस्या, धार्मिक स्थिति, बाल-विधवा, पर्दा-प्रथा, विधवा समस्या आदि पर भी लेखनी चलाई है। प्रेमचंद ने यथार्थ के धरातल पर उतरकर इन सभी विषयों को पुनः जीवित किया है। सभी कथाकारों ने अपनी कथाओं में काल्पनिक विषयों को लेकर रचना की है साथ ही मनोरंजन-संबंधी विषय पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। हिंदी साहित्य में केवल प्रेमचंद ही एक ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने यथार्थ और आदर्श को लेकर कहानियाँ लिखी हैं। उन्होंने आसपास के परिवेश को ही अपनी कथा का विषय बनाया है। हिंदी साहित्य को नई पहचान दिलाने में उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में मध्यमवर्गीय परिवारों की दशा को बेहतरीन तरीके से चित्रण किया है। वह स्वयं भी मध्यमवर्गीय परिवार में पले-बढ़े हैं अतः इस वर्ग के बारे में उनका काफी ज्ञान रहा है।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में मध्यमवर्गीय परिवारों की स्थिति को दर्शाया है। परिवार में

रहने वाले सदस्यों के साथ सदा से प्रेमचंद आपसी संबंध को अच्छा दिखाते आए हैं। 'बड़े घर की बेटी' कहानी इसका जीवंत उदाहरण है। कहानी की शुरुआत में आनंदी का देवर उस पर अत्याचार करता है क्योंकि उसका देवर उस पर खड़ाऊ फेंकता है। प्रेमचंद ने यहाँ भारतीय संयुक्त परिवार के एकता-संबंधी प्रेम को बनाए रखने की प्रेरणा दी है। प्रेमचंद यह नहीं चाहते कि परिवार आपसी झगड़े से टूट जाएँ बल्कि प्रेमचंद संयुक्त परिवार को सँजोकर रखना चाहते हैं। उस समय भारत में विदेशी संस्कृति का प्रभाव बहुत तेजी से लोगों पर हो रहा था। असल में इसी विदेशी शिक्षा के कारण संयुक्त परिवार धीरे-धीरे लुप्त होते गए हैं। लोग व्यक्तिवाद को अधिक महत्त्व देने लग गए हैं। इसी यथार्थ को देखकर प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में संयुक्त परिवारों के विषय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वर्तमान समय में लोग व्यक्तिवादी बन गए हैं वे अकेले रहना ज्यादा पसंद करने लगे हैं। प्रेमचंद की सोच उस समय भी प्रासंगिक थी और आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। प्रेमचंद सदैव समय और स्थिति के साथ रहने वाले व्यक्ति हैं और उसी के अनुसार अपना कार्य भी करते हैं। प्रेमचंद वर्तमान की व्यक्तिवादी स्थिति से बहुत पहले ही लोगों को सचेत करा चुके हैं। 'बड़े घर की बेटी' कहानी में भी यही स्थिति रही है। परिवार टूटने की कगार पर आ पहुँचा था लेकिन आनंदी की सहनशीलता और उदारता ने टूटे हुए संयुक्त परिवार को बिगड़ने से बचा लिया। प्रेमचंद ने अपनी कहानी में सदा से परिवार के सदस्य के साथ आपसी प्रेम को व्यक्त किया है। कहानी में जब आनंदी को लगता है कि उनका देवर पछता रहा है तब वह अपने देवर लालबिहारी को माफ कर देती है तथा उसे घर से बेघर होने नहीं देती है। इस संदर्भ को देख सकते हैं–'लालबिहारी ने पीछे फिर कर देखा और आँखों में आँसू भरे बोला–'मुझे जाने दो।' आनंदी–कहाँ जाते हो? लालबिहारी–जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे। आनंदी–मैं न जाने दूँगी। लालबिहारी–मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ। आनंदी–तुम्हें मेरी सौगंध, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।' उनकी कहानी 'बड़े घर की बेटी' लोगों के लिए प्रेरणा रही है। उन्होंने आनंदी के किरदार में सहनशीलता, उदारता, संयम, दया, करुणा आदि भावों को दिखाकर अपने महान लेखक होने का प्रमाण दिया है। क्योंकि हर स्त्री आनंदी की तरह कोमल हृदय वाली नहीं होती है। आनंदी की उदारता सच में सराहनीय है। आज की मध्यमवर्गीय परिवार की स्थिति में अगर आप गौर करेंगे तो यह चिंता का विषय होगा। आज की युवा पीढ़ी अपने बुजुर्ग माता-पिता को अपने मार्ग में बाधा समझती है। इतना ही नहीं घर में भाई-भाई भी शादी होने के बाद अलग-अलग बैठना पसंद करते हैं। वर्तमान स्थिति में 'हम दो हमारे एक' का ही नारा मशहूर है, आज ज्यादा मात्रा में लोग अकेला रहना पसंद करते हैं इस प्रकार संयुक्त परिवारों में प्यार का बंधन नाम मात्र का रह गया है। इसी समस्या को लेकर प्रेमचंद ने बहुत पहले संयुक्त परिवार के महत्त्व को सबके सामने अभिव्यक्त किया था। प्रेमचंद का विचार था कि लोग अपनी स्वार्थ भावना को त्यागें तथा सबके साथ मिलकर रहें। यही उनके साहित्य का मुख्य उद्देश्य था।

प्रेमचंद ने अपनी कहानी 'बूढ़ी काकी' में भी मध्यमवर्गीय संयुक्त परिवार को बनाए रखने की प्रेरणा दी है। इस कहानी में भी प्रेमचंद ने टूटते हुए परिवार को फिर से बचाया है। कहानी में रूपा और बुद्धिराम काकी को बहुत सताते हैं। यहाँ तक कि उसे दो जून रोटी भी नसीब नहीं होती है। किंतु कहानी के अंत में जब बूढ़ी काकी को जूठन छाँटते हुए देखते हैं तब रूपा को पाप और पुण्य का एहसास हो जाता है और वह बूढ़ी काकी के प्रति किए गए अमानुषिक व्यवहार के लिए भगवान से क्षमा माँगती है। इस कहानी में भी प्रेमचंद ने एक तरफ परिवार में बुजुर्गों के प्रति

 ISSN 0975-735X

तिरुस्कृत भावना को व्यक्त किया है। लोग अपने मार्ग में इन बुजुर्ग लोगों को रुकावट समझते हैं। कहानी में रूपा और बुद्धिराम की स्वार्थ भावना साफ तौर पर स्पष्ट दिखाई देती है। काकी की सारी संपत्ति को हड़पने के बाद उसे परिवार से वंचित कर देते हैं। कारण है उसके हँसी-खुशी परिवार में काकी को बाधक समझना। वर्तमान समय में हर परिवार की स्थिति यही है। वे अपने सगे संबंधियों को, घर के बुजुर्गों को अपने रास्ते का काटा समझते हैं किंतु किसी ने भी यह महसूस नहीं किया कि इन्हीं के द्वारा ये सब इस दुनिया में आए हैं। क्या कहें? आज सब-के-सब स्वार्थी जो बन गए हैं, अगर समाज के लोग प्रेमचंद द्वारा दिखाए गए रास्ते पर चलते, तो आज हम संयुक्त परिवार में रहकर इसका भरपूर आनंद उठाते। अपितु प्रेमचंद ने कहानी के अंत में रूपा के किरदार में पश्चाताप को दिखाकर संयुक्त परिवार के पवित्र रिश्तों को बरकरार होने दिया। प्रेमचंद अपनी कहानियों में इन मध्यमवर्गीय लोगों को हृदय परिवर्तन होने का अवसर प्रदान करते हैं चाहे वह 'बड़े घर की बेटी' की लालबिहारी, आनंदी हो या 'बूढ़ी काकी' की रूपा और बुद्धिराम। अंत में उनका हृदय परिवर्तन हो जाता है। स्पष्ट रूप में कहें तो प्रेमचंद अपनी कहानियों में प्रेम के धागे को टूटने नहीं देते हैं।

मध्यमवर्गीय परिवारों से संबंधित कहानियों में उन्होंने मानवीय मूल्यों और आदर्श गुणों को बड़ी निष्ठा के साथ पालन करने वाले पात्रों का भी अपने यहाँ जिक्र किया है। साथ ही इन्हीं मध्यमवर्गीय परिवार में कुछ लोगों को बेईमानी करते हुए भी दिखाया गया है। प्रेमचंद की कहानी 'नमक का दारोगा' इसका जीवंत उदाहरण है। इस कहानी के द्वारा प्रेमचंद ने छल-प्रपंचों का खुलकर विरोध किया है। उनकी कहानी लोगों को प्रगति की पथ पर आगे बढ़ने में सहयोग देती है। 'नमक का दारोगा' कहानी में वंशीधर की ईमानदारी, सच्चाई, साफ दिल और कर्त्तव्यनिष्ठा को देखा सकता है। किसी भी परिस्थिति में वंशीधर ने अपनी ईमानदारी को लुप्त होने नहीं दिया। ऐसा लगता है कि प्रेमचंद खुद वंशीधर बनकर अपनी महानता होने का प्रमाण दिखाया है। 'नमक का दारोगा' कहानी में प्रेमचंद ने वंशीधर के व्यक्तित्व में ईमानदारी और सच्चाई को दर्शाकर समाज के शेष लोगों को सच्चाई के मार्ग में चलने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वंशीधर के अपने ही घर में उनके पिताजी द्वारा उन्हें बेईमानी करने का पाठ पढ़ाया जाता है। असल जिंदगी में भी ऐसा ही होता है वेतन तो पूर्णमासी का चाँद जैसा है जो बहुत जल्द ही लुप्त हो जाता है। प्रेमचंद ने मध्यमवर्गीय परिवार की आर्थिक स्थिति को भी बहुत करीब से देखा है। घर-परिवार में बेटियों का विवाह भी एक समस्या होता है। क्योंकि मध्यमवर्गीय परिवार में आर्थिक स्थिति इतना अच्छी नहीं होती है। इसलिए 'नमक का दारोगा' कहानी में वंशीधर के पिता उसे घर की जिम्मेदारियों को बतलाकर बेईमानी का रास्ता अपनाने के लिए आदेश देते हैं–'बेटा! घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लड़कियाँ है, वे घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं।' इस कहानी से मध्यमवर्गीय परिवारों में होने वाले आर्थिक अभाव का यथार्थ स्वरूप देखा जा सकता है क्योंकि यह वर्ग अपनी परंपरा और संस्कृति को अच्छी तरह से पालन करने वाला वर्ग है। एक ओर उच्च वर्ग की भाँति बनने के लिए जिंदगीभर ऋण से दब जाते हैं, जैसे शादी-ब्याह को बड़े धूमधाम से आयोजित करवाने के लिए अपनी चादर के बाहर पाँव पसारने पर बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। ठीक वैसा ही 'नमक का दारोगा' कहानी में वंशीधर के पिता घर की जिम्मेदारियों के बोझ से परेशान होकर अंततः अपने बेटे को बेईमानी करने का पाठ पढ़ाते हैं। किंतु वंशीधर ने अपने मन की शुद्धता को मलिन होने नहीं दिया। वंशीधर ने अपने पद को भी सम्मान दिया है जिसने उन्हें

रोजगार प्रदान किया है। इस कहानी से यह परिणाम निकलता है कि मनुष्य को कभी भी अपने ईमान को खोने नहीं देना चाहिए। यह कहानी आज की युवा पीढ़ी के लिए एक शिक्षा प्रदान करती है कि वे बेईमानी की रास्ते को कभी भी न अपनाएँ। वंशीधर की भाँति सदा सत्य पर अटल रहने वाला नागरिक बनना चाहिए है। 'नमक का दारोगा' कहानी में एक ओर प्रेमचंद ने पंडित अलोपीदीन के किरदार में भ्रष्टखोरी और बेईमानी को दिखाया है। वर्तमान में भी पंडित अलोपीदीन जैसे हजारों लोग होंगे जो लोगों को बेईमानी करने के लिए उकसाते हैं। अगर कहानी में वंशीधर की जगह कोई और होता तो वह धन की लालसा से बेईमानी के रास्ते अपना लेता। किंतु प्रेमचंद ने इस कहानी के जरिए लोगों को सतर्क किया है कि वह हमेशा ईमानदारी के मार्ग को अपनाएँ। कहानी के अंत में पंडित अलोपीदीन का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है। वह भी वंशीधर की ईमानदारी का कायल हो जाता है और उसे अपनी सारी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियुक्त कर देता है। इस प्रकार प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के माध्यम से लोगों को सही राह पर चलने की प्रेरणा प्रदान की है।

अत: प्रेमचंद ने मध्यमवर्गीय परिवार की स्थिति को अपनी कहानियों में दर्शाकर पाठकों को यह एहसास दिलाया है कि उन्हें भी एक योग्य नागरिक बनना है। प्रेमचंद ने मध्यमवर्गीय परिवार में बुजुर्गों के संग कैसा व्यवहार करना है उसका भी जीवंत उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियों में बड़े ही मार्मिक ढंग से लोगों का हृदय परिवर्तन किया गया है। निष्कर्ष रूप में कहें तो उनकी कहानियाँ वर्तमान समय में समाज को एक सीख देती नजर आती हैं।

संदर्भ

1. प्रेमचंद, बड़े घर की बेटी, 1921
2. प्रेमचंद, बूढ़ी काकी, 1921
3. प्रेमचंद, नमक का दारोगा, 1925

Sumlak Apum
Village - Agamgite ,
district-Lower Dibang Valley- 792110 ,
PO/PS Roing (Arunachal Pradesh)
Mob. 8131817992
sumlakapum@gmail.com

ISSN 0975-735X

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य

डॉ॰ सुनीता, सहा॰ आचार्य, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला

साहित्य समाज का प्रतिबिंब है। साहित्य का जीवन से गहरा संबंध है क्योंकि लेखक के विचार व भावनाएँ उसके जीवन से ही उद्‌भूत होती है। लेखक भी मानव समाज का अंग है मानव को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में लेखक अधिक स्पष्टता तथा पूर्णता के साथ देखता है। लेखक जीवन की परतों को खोलकर हमारे सामने रखता है, एक नजरिया देता है तथा हमें सजग और सचेत करता है।

आधुनिक समय में लोकप्रियता की दृष्टि से कथा साहित्य का सर्वाधिक महत्त्व है। कथा साहित्य में जीवन के व्यापक संदर्भों को सूक्ष्मता से चित्रित करने की क्षमता है अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास साहित्य में समाज और जीवन की सरल और सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। मनुष्य के जीवन के समस्त कार्यकलाप पूर्णता के साथ मात्र उपन्यास में चित्रित किए जा सकते हैं। इस प्रकार उपन्यासों को जीवन का एक बड़ा दर्पण कहा जा सकता है। साहित्यकार जिस वातावरण में रहता है जो कुछ समाज में घटित होते हुए देखता है उसी का चित्र साहित्य में करता है।

साहित्य का आधार समाज है। समाज में रहते हुए साहित्यकार को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं उसके रचना-संसार का आधार समाज में पाए जाने वाले मानव संबंध में सामाजिक घटनाएँ ही होती हैं वह अपनी अनुभूति जन्य संदर्भों साहित्य द्वारा वाणी देता है। उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य बनता है कि वह संपूर्ण सामाजिक संबंधों को ईमानदारी से एकत्रित करके समाज के समक्ष प्रस्तुत करें।

साधारण शब्दों में समाज का अर्थ है–'मनुष्यों का समूह मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए तथा विकास करने के लिए सामाजिक संबंधों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं सामाजिक संबंधों को ही समाज का नाम दिया जाता है समाज और मनुष्य का संबंध चोली-दामन के समान है 'व्यक्ति से पृथक समाज की कल्पना की ही नहीं जा सकती समाज से अलग होकर व्यक्ति का जीवन कठिन है।'[1]

वर्तमान समय में समाज का एक नया रूप हमारे सामने आया है। आज पूँजी टेक्नोलॉजी और बाजार में समाज पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया है जिसके फलस्वरूप एक भौतिकवादी सभ्यता का निर्माण हुआ है। साहित्य समाज का दर्पण है समाज में घटने वाली प्रत्येक घटना को साहित्य व्यक्तियों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। साहित्यकार समाज की अच्छाईयों और बुराईयों को पढ़कर अपनी लेखनी के द्वारा साहित्य के रूप में प्रस्तुत करता है तत्कालीन समाज में जैसा परिवेश होगा उसे ठीक उसी रूप में प्रस्तुत करके वह साहित्य रचना करता है वहीं दूसरी ओर उसके साहित्य का प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ता है–'साहित्य समाज का प्रतिबिंब होने के साथ-साथ दीपक भी है जो अपनी जली हुई लौ के प्रकाश से समाज को राह दिखाता है।'[2] इस प्रकार हम

साहित्य को ऐसी जमीन कह सकते हैं जिस पर समाज की वास्तविकता का महल खड़ा होता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज एक ऐसा समूह है जिसमें बहुत से व्यक्ति एवं परिवार आपस में मिल-जुलकर रहते हैं। रामचंद्र वर्मा के अनुसार–'किसी देश या भूखंड में रहने वाले लोग जिनमें सांस्कृतिक एकता होती है समाज कहलाता है।'[3] नालंदा विश्व शब्दसागर में समाज शब्द का अर्थ दिया है–'समूह या गिरोह किसी एक स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही जैसे व्यवसाय करने वालों को समाज कहा जाता है।'[4] समाज तथा व्यक्ति का आपस में घनिष्ठ संबंध है। दुर्गा दीक्षित के अनुसार–'समाज के साथ व्यक्ति का जीवन अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है वही उसके समस्त व्यापारों को व्यक्त करता है।'[5]

समाज व्यक्ति की स्वेच्छा से स्थापित संबंधों की एक परिपूर्ण व्यवस्था है वे संबंध ही दृश्य को अच्छा और बुरा बनाते हैं। नरेंद्र सिंधु के अनुसार–'मानव और समाज का अटूट संबंध है। मनुष्य की ऐसी आवश्यकताएँ होती है जिनकी पूर्ति के लिए उसे दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। अत: वह अपनी रक्षा, जीवन निर्वाह तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज में रहता है।'[6]

साहित्य तथा समाज का गहरा संबंध है। गीता दवे के अनुसार–'साहित्य रचना का लक्ष्य सामाजिक यथार्थ को आदर्शवादी प्रणाली द्वारा प्रस्तुत करना ही है। साहित्य के अंतर्गत समाज की विभिन्न स्थितियों विभिन्न आचार-विचार एवं रूढ़ियों तथा लोक व्यवहारों का चित्रण ही रहता है कोई भी साहित्यकार अपने युग और समाज की चेतना के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। साहित्य तो समाज का दर्पण है उसमें युगीन समाज का प्रतिदिन बढ़ता रहा है।'[7]

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज में जो परिवर्तन आते हैं उनसे उपन्यास का सामाजिक रूप भी प्रभावित होता रहा है। उपन्यासकार प्रत्येक स्तर पर समाज से जुड़ा हुआ होता है जब कोई भी उपन्यासकार अपनी रचनाओं का निर्माण समाज से जुड़कर करता है वही उसका सामाजिक रूप चलाता है। साहित्य की उपयोगिता या उपन्यासकार की सफलता समाज ही निर्धारित करता है।

उपन्यास में जीवन के सभी पक्षों का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया जाता है इसीलिए उपन्यास को गद्य साहित्य की सबसे सशक्त विद्या माना गया है। उपन्यासकार कलात्मकता के समाज के यथार्थ चित्र को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। 'समाज के अभाव में उपन्यासकार तिलस्मी महल में टँगे बेजुबान परिंदों का ही निर्माण कर सकता है जिसमें प्राण तो दूर साँस लेने तक की चेतना नहीं होती मानव चेतना समाज सापेक्ष हुआ करती है और उपन्यास जो मानव चेतना का संवाहक है नितांत समाज निरपेक्ष हो ही नहीं सकता।'[8]

परिवार समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है। 'कृष्णा जून के अनुसार विवाह के आधार पर बनी स्त्री-पुरुष संबंधों तथा उनकी संतान को परिवार की संज्ञा दी गई है।'[9] इस प्रकार पति-पत्नी तथा उनकी संतान को परिवार कहा जाता है। यही मूल परिवार है तथा इसे एकल परिवार भी कहा जाता है। इस मूल की संतानें विवाह करने के पश्चात जब संतान उत्पत्ति करती हैं और वही रहती हैं तो उसे संयुक्त परिवार की संज्ञा दी जाती है। संयुक्त परिवार में परिवार के स्वरूप विस्तृत होते हैं। परिवार में विभिन्न रिश्तों में संबंधों के लोग आपस में एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। पारिवारिक संबंधों में पति-पत्नी, भाई-बहन, माँ-बेटी, पिता-पुत्र संबंधों में कटुता होना स्वाभाविक है। कोई भी परिवार तब तक गठित रह सकता है जब तक उसके सदस्यों में आपसी मतभेद न हो।

परिवारिक संबंधों में सर्वप्रथम पति-पत्नी संबंध आते हैं। दोनों के पारस्परिक मेल-जोल

तथा सहयोग पर ही परिवार की सुख समृद्धि एवं शांति निर्भर रहती है। दोनों का संबंध दीया तथा बाती के समान है एक के बिना दूसरा अधूरा हैं पारिवारिक संबंधों को मृदु बनाने के लिए एक-दूसरे की भावनाओं को समझना तथा सहनशीलता एवं त्याग जैसी गुणों का होना बहुत आवश्यक है।

वर्तमान समय में उच्च वर्ग हो, मध्य वर्ग या निम्न वर्ग, बुजुर्ग हर वर्ग में उपेक्षा का शिकार हो रहे हैं परंतु मध्यवर्ग में बुजुर्गों की स्थिति अधिक भयावह है। आज के भौतिकवादी युग में यह समस्या गंभीर रूप से सामने आ रही है। आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। पश्चिमी देशों में तो विघटन की प्रक्रिया इतनी तीव्र है कि आत्मनिर्भर होते ही युवक स्वयं को माता-पिता से अलग करके अपना परिवार अलग बसा लेते हैं। आज हर दिशा में लोग पश्चिम की देखा-देखी कर रहे हैं। आधुनिक बनने की इच्छा में अपने वृद्ध माता-पिता को अपने साथ रखने में सकुचा रहे हैं। यही कारण है कि अधिकांश मध्यवर्गीय परिवारों में माता-पिता उपेक्षित हो रहे हैं। संयुक्त परिवार की व्यवस्था में यह समस्या इतनी भयानक नहीं थी। वहाँ वृद्धों का आदर होता था तथा वह परिवार के अधिकारी होते थे घर के बुजुर्गों की सेवा करना परिवार के सदस्य अपना अपना कर्त्तव्य समझते थे लेकिन वर्तमान समय में वृद्ध का तात्पर्य यह है कि उसका उपयोग हो गया है वह एक भोग के समान ही है उसे फेंक देना ही उचित है।

मानव के साथ मूल्यों का संबंध काफी लंबे समय से चला आ रहा है। मानव की भावनाओं, इच्छाओं और आदर्शों की ही परिणीति मूल्य के रूप में होती है। मानव ही मूल्यों का सृष्टा है। मानव को अन्य जीवों से मूल्य ही पृथक करते हैं। मूल्य चाहे राजनीतिक हों, सामाजिक हों या सांस्कृतिक सभी का केंद्रबिंदु मानव ही है। हमारे समाज में प्राचीन समय से ही कुछ ऐसे मूल्यों का निर्धारण किया गया है जो मानव के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जैसे नैतिकता, समान, आदर, अच्छा आचरण आदि महत्त्वपूर्ण मूल्य है। आज मूलत: पाश्चात्य सभ्यता की अंधी दौड़ के कारण इन मूल्यों का विघटन हो रहा है। मानव मूल्यों के विघटन का व्यक्ति के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रकार आज मानव में बड़ों के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना न के बराबर रह गई है।

हमारे देश में अतिथि को भगवान के समान माना जाता है तथा उनका आदर-सत्कार करना मानवीय मूल्य में ही आता है। परंतु आज व्यस्तता इतनी बढ़ गई है कि अतिथि को भगवान के समान मानना तो दूर, उन्हें पानी के लिए भी नहीं पूछा जाता है।

संस्कृति को जीवन का मूल आधार कहा जाता है। संस्कृति किसी राष्ट्र अथवा जाति की आत्मा होती है। यह धर्म साहित्य दर्शन संगीत एवं कला के रूप में व्यक्त होती है। विकासकाल से अब तक मानव ने जो समस्त आचार व्यवहार ग्रहण किए हैं उनकी समष्टि ही संस्कृति है। साधारण शब्दों में संस्कृति व मान्यताएँ–परंपराएँ अथवा रीति-रिवाज हैं जो मानवीय जीवन एवं समाज को उचित दिशा में ले जाते हैं। हरदेव बाहरी के अनुसार 'संस्कृति' का अर्थ है–संस्कृत रूप देने की क्रिया सभ्यता आचरणगत परंपरा।'[10]

इस प्रकार संस्कृति वह है जो हमारे युग उसे संचित विचारों एवं सदस्यों को अपने वाली पीढ़ी में प्रवेश करवा जाती है। हेमराज कौशिक के शब्दों में, 'संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है जिसके अंतर्गत मानव के समस्त क्रिया-कलाप, रीति-रिवाज आत्मिक जीवन की शुद्धता एवं समृद्धि आदि चिह्नित किए जाते हैं।'[11] इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्वास, कला, रीति-रिवाज तथा इस प्रकार की अन्य विशेषताओं तथा आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के

रूप में प्राप्त करता है। अपने जीवन को व्यवस्थित रूप में व्यतीत करने के लिए व्यक्ति समाज में रहते हुए एक व्यवस्था स्थापित करता है जो काल गति के साथ विकसित होती रहती है।

संस्कृति और साहित्य का आपस में गहरा संबंध है। दोनों ही एक-दूसरे के संपोषित तथा परस्पर पूरक हैं। अचार्य निशांत केतु के अनुसार, 'कभी संस्कृति के अंतर्गत साहित्य को तो कभी साहित्य के अंतर्गत संस्कृति को व्यवस्थित वर्गीकृत करते हैं। दोनों में कोई वैपरीत्य या वैमनस्य नहीं है। दोनों की अनुकूलता और सौमनस्य के संधि पत्र पर जीते हैं। शिव और राम की तरह दोनों एक दूसरे के गुरु और गौरव हैं। साहित्य की संस्कृति होती है साहित्य की सांस्कृतिक चेतना को लेकर साहित्य की सांस्कृतिक परंपरा तक साहित्य सर्जना के उपजीव्य बनते हैं।'[12] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि दोनों का आपस में गहरा संबंध है तथा साहित्य के लिए संस्कृति धरोहर है।

समकालीनता की यह विशेषता है कि जीवन में सुख-सुविधा तो बढ़ गई है परंतु आंतरिक स्तर पर इंसान खोखला हो रहा है तथा सब रिश्ते औपचारिक बन रहे हैं। हमारे जीवन पर पाश्चात्य जीवन मूल्य का इतना गहरा प्रभाव पड़ रहा है कि हमारी जीवनशैली भी वैसी ही बनती जा रही हैं तथा आपसी संबंध टूट रहे हैं। नई पीढ़ी आत्मकेंद्रित बन रही है। एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व का भाव समाप्त होता जा रहा है। नई पीढ़ी का कोई सामाजिक संबंध नहीं है। उनके पास घरवालों से बात करने तथा साथ बैठकर खाना-खाने तक का समय नहीं है। इस तरह से कहा जा सकता है कि आज की पीढ़ी इतनी व्यस्त है कि उनके पास अपनों के लिए समय ही नहीं है। आज की पीढ़ी इतनी महत्त्वाकांक्षी हो गई है कि उन्हें और कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आज के युवा अधिक धन की चाह तथा दिखावे के कारण विदेशों की ओर रुख कर रहे हैं। अर्थ का महत्त्व आज के समय में मनुष्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। सब एक-दूसरे की देखा-देखी में लगे हुए हैं और अपने लक्ष्य को उसी के अनुरूप ढालने के लिए प्रयासरत हैं।

संदर्भ

1. राजेश रानी, हिंदी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, के॰के॰ प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 7
2. राजेंद्र कुमार, राज्य राघव का उपन्यास-साहित्य और युग चेतना, के॰के॰ पब्लिकेशन दिल्ली, पृ॰ 9
3. रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1969, पृ॰ 417
4. नवल (सं॰), नालंदा विशाल शब्द-सागर आदर्श बुक डिपो, दिल्ली, 1988, पृ॰ 1407
5. दुर्गा दीक्षित, रस सिद्धांत का मूल्यांकन, पुणे विद्यापीठ, पुणे, 1977, पृ॰ 31
6. नरेंद्र संधू, विदेशी भूमि वाले हिंदी उपन्यासों के माध्यम से संबंध देशों का सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन, दीपक पब्लिक जालंधर, प्रथम संस्करण, 2001, पृ॰ 84
7. गीता दवे, पंत काव्य में समाज एवं संस्कृति, गरिमा प्रकाशन, कानपुर, 2002, पृ॰ 16
8. राजेंद्र कुमार, राज्य राघव का उपन्यास-साहित्य और युग चेतना, के॰के॰ पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ॰ 92
9. कृष्ण जून, शिवानी के उपन्यासों में नारी विमर्श, संजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, पृ॰ 60
10. हरदेव बाहरी, हिंदी शब्दकोश, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ॰ 395
11. हेमराज कौशिक, मूल्य और हिंदी उपन्यास, निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ॰ 24
12. निशांत केतु, सचल-सवाक् शब्द हिंदी नव्य निरुक्त कोश, निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण 2008, पृ॰ 11

Mob. 9816339558
lovelythakur19@gmail.com

डॉ॰ दामोदर खड़से की कहानियों में व्यक्त वैयक्तिक चेतना

स्वाति पाल, शोधार्थी, हिंदी
डॉ॰ पी॰ व्ही॰ कोटमे, शोध निर्देशक
के॰ टी॰ एच॰एम॰ महाविद्यालय, नाशिक
सावित्रीबाई फुले विश्वविद्यालय, पुणे

साहित्य वह सशक्त माध्यम है, जो समाज को व्यापक रूप से प्रभावित करता है। साहित्य समाज में व्यक्त रूढ़िवादी तथा पिछड़ेपन जैसी विचारधारा से मुक्त करने का सूत्रपात करता है। लोगों को उद्वेलित करता है। यही कारण है कि चेतना भी समाज के नवनिर्माण में साहित्य की केंद्रीय भूमिका होती है। क्योंकि लेखक चेतना के माध्यम से ही साहित्य और समाज को संस्कारित करता है। समाज में परिवर्पित हो रहे जीवन मूल्य, कालखंड की विसंगतियों, विद्रूपताओं और विरोधाभासों को उजागर कर समाज को संदेश देता है, जिससे समाज में सुधार आता है और सामाजिक विकास को लय मिलती है। साहित्यकार चेतना के माध्यम से साहित्य और समाज को संजीवनी शक्ति प्रदान करके उसकी प्रशस्ति का मार्ग निर्धारित करता है।

पं॰ रामचंद्र वर्मा के अनुसार, 'मन की वह वृत्ति या शक्ति जिससे जीव या प्राणी को आंतरिक (अनुभूतियों, भावों, विचारों आदि) और बाह्य (घटनाओं) तत्त्वों या बातों का अनुभव या भान होता है।'[1] अत: चेतना मन की एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जो बाहरी वातावरण के प्रति भावुक अनुभूतियुक्त होता है। चेतना और मनुष्य का मौलिक संबंध है। चेतना वह विशिष्ट गुण है जो मानव को ओजस्वी और प्रभावशाली बनाते हुए उसके चरित्र का निर्माण करता है। चेतना के कारण ही हम देखते, सुनते, समझते और अनेक विषयों पर चिंतन करते हैं। जिसके माध्यम से हमें सुख-दुख का आभास होता है। चेतना के भिन्न तत्त्व भी हैं जो निम्न हैं–वैयक्तिक चेतना, सामाजिक चेतना, आर्थिक चेतना तथा राजनीतिक चेतना।

वैयक्तिक चेतना–व्यक्ति समाज का वह आधार है जिससे संपूर्ण समाज का निर्माण होता है। व्यक्ति के लिए समाज के बनाए गए कुछ अधिकार और कर्त्तव्य भी होते हैं। जिसका पालन व्यक्ति समाज में रहकर करता है। व्यक्ति का अपना अधिकार और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होना ही वैयक्तिक चेतना कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है जिसके आधार पर वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। वर्तमान समय में व्यक्ति अपने अधिकारों को लेकर सचेत हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप समाज के पुराने रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, कुरीतियों आदि को उतार फेंकता है। क्योंकि अब मानव समाज की थोपी गई परंपराओं का बोझ नहीं ढोना चाहता बल्कि स्वयं सजग होकर अपना अच्छा-बुरा समझते हुए अपने हिसाब से जीवन गुजारना अधिक पसंद करने लगा है।

सामाजिक चेतना–समाज और व्यक्ति दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। समाज के बिना न व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है और न व्यक्ति के बिना समाज की। क्योंकि मानव समाज के

भीतर रहकर सुखी, समृद्ध और प्रगतिशील बनता है अर्थात् समाज में ही मनुष्य का व्यक्तित्व संगठित होता है। जब मानव अपनी सामाजिक परिस्थितियों को देखता है तो उन समस्याओं के प्रति जाग्रत हो अपनी चेतना के द्वारा निवारण की खोज करने लगता है। सामाजिक चेतना के अंतर्गत मानव मन में उत्पन्न होने वाले ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक रूप से परिवर्तन की संपूर्ण भावना समाहित हो जाती है। सामाजिक चेतना व्यक्ति को जीवित रखती है और उसके चरित्र से सामाजिक संगठन मजबूत होता है। क्योंकि व्यक्ति से ही समाज की वास्तविकता का यथार्थ परिलक्षित होता है।

आर्थिक चेतना–व्यक्ति का जीवन विभिन्न आवश्यकताएँ और क्रिया धन से जुड़ी होती हैं। मनुष्य को दैनिक जीवन की पूर्ति के लिए आर्थिक रूप से अर्थ का सहारा लेना ही पड़ता है। धन के अभाव में मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी जरूरतों के अभाव का सामना करना होता है। धनी वर्ग और निर्धन वर्ग के बीच खाई बनती जा रही है। जिसके परिणाम स्वरूप शोषण और शोषित वर्ग बन गए है। आर्थिक रूप से कमजोर मानव अपने जीवन में विभिन्न संघर्ष का सामना करता है। जिससे साहित्यकार अनुभव कर अपनी लेखनी के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

राजनीतिक चेतना–राजनीति उन शक्तियों से जुड़ी है, जो राज्य के शासन उसकी नीतियों और कार्यों को संगठित करती एवं बुनती है। इस तरह राजनीति किसी भी समाज की रूपरेखा तैयार करती है एवं समाज के निर्माण को सुव्यवस्था से स्थापना करने की कोशिश करती है। किंतु साहित्यकार अपने चेतना के माध्यम से राजनीति क्षेत्र में भ्रष्टाचार, गलत नीतियाँ और स्वार्थता को अपने साहित्य में सामान्य जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को अभिव्यक्त करता है।

आज आधुनिककाल में प्राचीन समय से चली आ रही परंपराएँ और रीति-रिवाज धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगी है। नए पीढ़ी के आगमन से हमारे समाज में नई-नई विचारधारा का भी विस्तार हो रहा हैजिसके फलस्वरूप नवीन प्रकार की समस्याएँ भी समाज में अपना पैर पसार रही हैं। जिसे लेखक दामोदर खड़से ने अपनी कहानियों के द्वारा प्रस्तुत कर समाज को अवगत कराया है।

वर्तमान समय में हमारे समाज में पति-पत्नी के संबंधों की समस्या विकराल रूप में दिखाई दे रही है। जहाँ पहले पति-पत्नी विवाह कर एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी होते थे वहीं अब संदेह, लोभ और अविश्वास जैसे भाव पति-पत्नी के इस पवित्र रिश्तों की नींव को हिला रहे हैं। दांपत्य जीवन में उत्पन्न समस्या को लेखक ने 'कोहरे की परत' कहानी में दर्शाया है। इस कहानी में पात्र सुनंदा की शादी राजेश नाम के आदमी से होती है। राजेश अपनी पहली पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण तीन बच्चों की परवरिश के लिए दूसरी शादी करने को राजी होता है। किंतु राजेश सुनंदा से शादी करने से पहले सुनंदा के पिता से बताता है कि उसने नशबंदी का आपरेशन कराया है। इस बात को जानते हुए भी सुनंदा के पिता सुनंदा को कुछ बताए बिना शादी के लिए हाँ कर देते हैं। विवाह के उपरांत जब सुनंदा को मालूम होता है कि राजेश ने नशबंदी का आपरेशन करवाया है। इस बात से सुनंदा और राजेश के रिश्तों के बीच विश्वासघात पनपने लगता है। राजेश सुनंदा से कहता है, 'देखो सुनंदा, मैंने कोई धोखा नहीं दिया। मुझे लगा, तुम्हें सब-कुछ पता होगा इसलिए मैं इस विषय में निश्चित रहा। पहले तो तुम्हारे पिताजी भी चुप हो गए थे। पर इसी बीच छोटी के लिए अच्छा रिश्ता आया। लड़का, घर अच्छा था। तुम्हारे घर की हालत मुझे मालूम थी। तुम्हारे पिताजी को शादी की चिंता थी और स्वीकार करने का उन्होंने आग्रह किया। छोटी के लिए सारे आवश्यक खर्चे मैंने उठाए... मैंने कोई अनुचित लाभ नहीं उठाया... तुम्हारे पिता स्वयं मेरे पास आए

थे। मैं भी उन दिनों अकेला और हारा हुआ अनुभव कर रहा था। तुम्हारे भाई की हरकतों से मुझे रंज भी था। इसलिए मैं एक समझौते के तौर पर यह शादी करने को तैयार हुआ। वैसे तुम्हारे बारे में मुझे सब-कुछ मालूम था...।'[12] इस प्रकार लेखक ने पात्रों के माध्यम से पति-पत्नी के संबंधों में उत्पन्न समस्या को दिखाया है। कभी-कभी किसी के दांपत्य जीवन में बेमतलब की बातों का बतंगड़ इतना बढ़ जाता है कि संबंध विघटन के कगार पर पहुँच जाता है।

आज इस आधुनिक दौर में हमारे समाज में विवाह को लेकर नई पीढ़ी के विचार ही नए हो गए है। पुरातन समय में विवाह के दौरान कितनी रस्में होती थीं। क्योंकि विवाह जैसे रिश्ते से दो परिवार जुड़ते हैं। किंतु आज के समय में पुरानी रस्में लुप्त होकर नई रस्में पैदा होने लगी हैं जो शादी-विवाह को एक खेल की भाँति समझने लगे हैं जिससे जब चाहा विवाह कर लिया और छोटी नोकझोंक हुई नहीं कि रिश्ता तोड़ भी दिया। अब लोग आधुनिक समय में इन पुरानी बातों को भी 'जहाँ शादी कर डोली गई वहाँ से अर्थी ही निकलेगी' गलत मानते हैं। क्योंकि पाश्चात्य पीढ़ी की पाश्चात्य संस्कृति की सोच और रस्मों को मानने वाले इंसान एक ही रिश्ते में बँधकर अपना संपूर्ण जीवन नहीं गुजार सकते। क्योंकि उन्हें अपनी स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की आजादी चाहिए। इस आधुनिक दौर की पीढ़ी बिना विवाह के सूत्र में बँधे पति-पत्नी के रूप में रिश्तों को निभाना चाहती है।

लेखक दामोदर खड़से के 'पराया साथ' कहानी में नायिका की ऐसी ही सोच दर्शाई है। लेकिन कहानी का नायक नायिका को अपने विचार बदलने के लिए उसे समझाता है, 'सब-कुछ विश्वास, आस्था से हासिल किया जा सकता है। फिर देह मात्र माध्यम है, उससे भी ऊँचा है मन ...और मुझे मेरे मन की संवेदनाओं की गहरी परख हो चुकी है। तुम जिसे हमेशा का मिलन कहते हो, उसे सिर्फ विवाह की संज्ञा है। विवाह हर किसी से नहीं किया जा सकता... वैसे मुझे इन रस्मों से कोई लगाव नहीं है।'[13] इस प्रकार लेखक ने अपने पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है कि समाज में विवाह को लेकर इंसान की विचारधारा परिवर्तित होने लगी है।

लेखक ने प्रेम के बदलते रूप को भी अपने कहानियों में अंकित किया है। प्रेम वह होता है जिसमें कोई स्वार्थ छल-कपट न हो जल की भाँति निश्चल हो। किंतु पाश्चात्यीकरण के कारण नवीन पीढ़ी के इंसानों में प्रेम किसी समर्पण की तरह न होकर स्वार्थ की भाँति सिद्ध होता है। दामोदर खड़से ने 'पार्टनर' कहानी के पात्र अमृता के रूप में व्यक्त किया है। अमृता का विवाह सुरेश से होता है किंतु पति को कामों में व्यस्त देख अमृता दुखी होती रहती है। क्योंकि जिस सुखी जीवन की कल्पना अमृता सुरेश को लेकर करती है वह कल्पना अधूरी ही रह जाती है। कब अमृता और सुरेश का मित्र प्रियतम एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं और शादी करने को तैयार हो जाते हैं उन्हें इस बात का भान ही नहीं होता। एक दिन सुरेश को अमृता और प्रियतम के रिश्ते की सच्चाई पता चलती है। तो सुरेश अपनी पत्नी अमृता से पूछता है कि तुमने मेरे साथ छल क्यों किया? किंतु मैं तुमसे प्रेम करता हूँ और यदि तुम्हारी खुशी प्रियतम में है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। अमृता की खुशी के लिए सुरेश अमृता से कहता है, 'तुम आजाद हो। तुम अपना मार्ग स्वयं चुनो।'[14] इस प्रकार लेखक ने प्रेम के बदलते रूप को दर्शाया है जो अब हमारे समाज में तेजी से पैर पसार रहा है।

दामोदर खड़से जी ने समाज में पाश्चात्य संस्कृति के आगमन से मनुष्य के भीतर मोह भंग जैसी उत्पन्न भावना को भी अपनी कहानी में दर्शाया है। आज आधुनिक पीढ़ी के युवा-युवती के मन में पुरानी वस्तु-विचार और कला-संस्कृति आदि की छवि केवल निरर्थक रूप में विद्यमान रह

गई है। उन्हें अपने पूर्वजों से मिली विरासत या माता-पिता की भावना से कोई मोह नहीं होता है। ऐसे ही मोह भंग का दृश्य लेखक के 'जन्मांतर गाथा' कहानी में दिखाई देता है। इस कहानी में दिग्विजय और शकुंतला दोनों पति-पत्नी प्रकृति प्रेमी थे। जिनके भीतर साधारण जीवन व्यतीत करने की भावना थी। बदलते समय के ठाट-बाट, प्रपंच से कोसों दूर सुखी जीवन बिताते थे। लेकिन बेटी क्षितिजा को पूर्ण स्वतंत्रता दिए थे कि चाहे जहाँ रहकर पढाई करे और अपने पसंद के लड़के से शादी करे। क्षितिजा शहर में रहती और जब अपने माता-पिता से मिलने जाती तो घर की जगह गेस्टहाउस में रहती। क्योंकि क्षितिजा का स्वभाव अपने माता-पिता से भिन्न भौतिक चीजों में अधिक था। विवाह के बाद घर की बनावट के बारे में बात करने के लिए क्षितिजा अपने पति हेमंत के साथ अपनी माँ से मिलने जाती है। घर की रचना के बारे में क्षितिजा माँ से कहती है कि 'इस मकान की जगह एक आलीशान बिल्डिंग बनाना फायदे का सौदा होगा। बहुमंजिली इमारत। पैसा ही पैसा और जितनी जगह अभी पापा के पास है, उतनी तो मिलेगी ही... लाखों रुपए भी ऊपर से!'[15] इस प्रकार लेखक ने क्षितिजा के रूप में यह अभिव्यक्त किया है कि संतान को अपनी आकांक्षाओं और सपनों की चाह होती है। जिसे पूर्ण करने के लिए वे अपने माता-पिता की खुशियों का गला घोंटने को भी तत्पर रहते हैं। भौतिक वस्तुओं की चकाचौंध के कारण उन्हें पुरानी परिपाटी की चीजें रास नहीं आतीं।

अत: स्पष्ट है कि इस आधुनिक समय में समाज में फैली दांपत्य जीवन के बीच अविश्वास की भावना, विवाह को लेकर नई विचारधारा और प्रेम की बदलती भाषा और मोह भंग जैसी इन नई समस्याओं को लेखक ने अपने साहित्य के माध्यम से समाज को अवगत कराया है। समय के साथ रिश्ते और बदलते रिश्तों का रूप किस प्रकार परिवर्तित हो रहा है। यह लेखक ने अपनी कहानियों के पात्र सुनंदा, अमृता, सुरेश, रमेश और प्रियतम आदि के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत कर समाज में हो रहे बदलाव से हू-ब-हूपरिचित करवाया है। जो आज के इस नए जमाने के अनुकूल रूपांतरण को अभिव्यंजित कर रहा है।

संदर्भ

1. पं॰ रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी शब्द कोश, पृ॰ 274
2. डॉ॰ दामोदर खड़से, कोहरे की परत, संपूर्ण कहानी संग्रह, पृ॰ 126
3. डॉ॰ दामोदर खड़से, पराया साथ, संपूर्ण कहानी संग्रह, पृ॰ 108
4. डॉ॰ दामोदर खड़से, पार्टनर, संपूर्ण कहानी संग्रह, पृ॰ 142
5. डॉ॰ दामोदर खड़से, जन्मांतर गाथा, संपूर्ण कहानी, पृ॰ 85

Swati Pal
Flat No 10, Ruturang Apartment
Murlidhar Nagar, Pathardi Phata
Nashik-422010 (M.H.)
Mob:8948338406
Palswati07@gmail.com

उषा यादव के कहानी-संग्रह 'वह एक पल' में वृद्ध उपेक्षा

पूनम सिवाच, शोधार्थी
डॉ॰ आशा सहारण, प्रोफेसर, हिंदी विभाग
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक

प्रस्तावना–भारत में औद्योगिक क्रांति आने के बाद धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और सामाजिक स्तर पर परिवर्तन बहुत तीव्रता से हुआ है। पुराने रीति-रिवाज, सामाजिक परंपरा और मानवीय मूल्यों में नया रंग आ गया है। समाज के रिश्ते-नाते, सोच-समझ एकदम से बदलते जा रहे हैं। उषा जी ने भी बदलती हुई परिवेशगत परिस्थितियों और सामाजिक चुनौतियों का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन कर उसकी अभिव्यक्ति को अपने कहानी-संग्रह 'वह एक पल' द्वारा उजागर करने का प्रयास किया है। इनके कहानी-संग्रह 'वह एक पल' में वर्णित कहानियों में भारतीय परिवारों की व्यवस्था के यथार्थ का सूक्ष्मता से चित्रण हुआ है। समाज को विस्तृत तथा जीवित रखने का कार्य परिवार द्वारा ही संभव है। परिवार ही वह प्रथम पाठशाला है, जहाँ मनुष्य जीवन मूल्यों का प्रशिक्षण प्राप्त करता है। उदात्त जीवन मूल्यों की बुनियाद परिवार एवं समाज रूपी इमारत पर टिकी होती है।

भारतीय संस्कृति की वैचारिक और संस्कारिक श्रेष्ठता व उज्ज्वलता के बारे में डॉ॰ मंजू गोयल लिखती हैं कि 'हमारी संस्कृति परिवार, परिवार के विभिन्न सदस्यों, समाज, समाज के विविध अंगों तथा उनके कर्त्तव्यों का बड़ा सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत करती है। यदि हम सचमुच अपनी संस्कृति की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें परिवार से प्रारंभ करना होगा, तभी हम अपने समाज और राष्ट्र के प्रति ईमानदार बन सकते हैं। यदि हमारा परिवार टूट गया और 'मातृ देवो भव', 'पितृ देवो भव, 'आचार्य देवो भव' की परंपराएँ नष्ट हो गईं तो भारतीय संस्कृति की जड़ें मुरझा जाएँगी।'[1]

परंतु बदलती जीवन शैली, आधुनिकीकरण, पाश्चात्य अनुकरण, संकीर्ण मानसिकता, स्वार्थ लोलुपता जैसे विभिन्न कारणों से पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन होकर नई मान्यताएँ स्थापित होने लगी हैं। बदलती धारणाओं के कारण परिवार में विघटन होकर अनेक समस्याएँ पैदा हुई हैं। परिवार के सदस्यों के सुख-दु:ख, टूटते-जुड़ते संबंध, उनकी मानसिक तथा आर्थिक स्थिति के विसंगति बोध से एक नई दैन्य वृति का जन्म हुआ है जिसका नाम है वृद्ध उपेक्षा।

आज परिवार में आत्मीय संबंधों का विलुप्तिकरण चरम सीमा पर है। परिवार में संघर्षमय और कुंठित मनोवृत्तिपरक स्थिति का निर्माण हो रहा है। सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सबसे बड़ा परिवर्तन संयुक्त परिवारों के टूटने और अणु परिवारों की निर्मिति है। किंतु आर्थिक दबाव, पीढ़ी संघर्ष और भौतिक सुख की आसक्ति के कारण आज अणु परिवार भी विघटित होते जा रहे हैं। इन्हीं अणु परिवारों में वर्तमान का मनुष्य अपने माता-पिता तक को घर से बेदखल करने में भी पीछे नहीं है।

उषा यादव ने अपने कहानी-संग्रह 'वह एक पल' के माध्यम से नई और पुरानी पीढ़ी के

संबंधों को अलग-अलग पहलुओं से जोड़कर संतान द्वारा वृद्ध माता-पिता की उपेक्षा और घर से निष्कासन के यथार्थ को चित्रित किया है। लेखिका का मानना है कि वृद्ध उपेक्षा के कारणों में वर्तमान समय में संवेदनाओं का विलुप्त होना मूल कारण है। संवेदना या सहानुभूति मनुष्य के मानस पटल से पैदा होती है और अंतर्मन से होती हुई भावों और विचारों के द्वारा प्रदर्शित की जाती है। औद्योगीकरण के चलते सामाजिक जीवन में बड़ी तेजी से बदलाव आ रहा है। समाज में नई सभ्यता और नए विचार तेजी के साथ प्रस्थापित हो रहे हैं।

डॉ॰ मंजू गोयल समाज में दिन-ब-दिन स्थापित हो रही इस नवीन संस्कारों युक्त आधुनिक व दुष्परिणामी परंपरा को 'वैयक्तिक विघटन' का नाम देते हुए लिखती हैं, 'सामाजिक विघटन की भाँति वैयक्तिक विघटन में भी व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, नैतिक आदर्शों, रूढ़ियों, परंपराओं एवं रीति-रिवाजों की अवहेलना करता है। व्यक्ति के इस अवहेलनापूर्ण आचरण एवं तिरस्कार से संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है जिससे 'वैयक्तिक विघटन' होता है।'[2]

वे आगे लिखती हैं कि 'श्वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के उन सभी व्यवहारों का प्रतिनिधित्व करता है जो संस्कृति द्वारा स्वीकृत प्रतिमानों से इतना अधिक नीचे गिर जाते हैं कि समाज उन्हें अस्वीकृत कर देता है।'[3] इस वैयक्तिक विघटन के फलस्वरूप ही मनुष्य अपने सामाजिक मूल्य, नैतिक आदर्शों, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों को भूलता जा रहा है। इस दुष्परिणामी परंपरा के कारण ही समाज में प्रतिदिन नए-नए दृष्टिकोण बन रहे हैं। एक तरफ तो इंसान 'चाँद' और 'मंगल ग्रह' पर घर बनाने के विषय में बातें कर रहा है तो दूसरी तरफ वह एक छत के नीचे अपने परिवार के सगे-संबंधियों को भूलता जा रहा है। समाज में इंसान अपनी इंसानियत को भूलकर दिखावटी जीवन की ओर बढ़ रहा है।

डॉ॰ उषा यादव ने अपने कहानी-संग्रह 'वह एक पल' में कहानी 'दरख्त के नीचे' के द्वारा संवेदनहीन संतानों द्वारा माता-पिता की उपेक्षा को बड़े ही मार्मिक तरीके से चित्रित किया है। इस कहानी में बूढ़ा जगराम जोकि मथुरा का रहने वाला है। दुकान चलाकर उसने अपने बेटे अविनाश का पालन-पोषण किया था। बड़ा होकर वही संवेदनहीन अविनाश खाँसी की दवाई दिलाने के बहाने अपने पिता बूढ़े जगराम को आगरा में सर्दियों के समय रात सात बजे पीपल के पेड़ के नीचे छोड़कर चला जाता है। संवेदनहीन अविनाश को इतनी भी चिंता नहीं होती कि जिस पिता ने उसको जन्म देकर, पालन-पोषण किया। मैं आज उसको कूड़े-करकट के जैसे ठिकाने लगाने के लिए अनजान शहर में कड़कड़ाती ठंड में मरने के लिए छोड़ आया हूँ।

आधुनिकता के मोह में बँधा संवेदनहीन अविनाश दिखावा करते हुए अपने पिता को कहता है-'दादा (बचपन से पिता के स्थान पर दादा ही कहता है) फिक्र मत करो। रात को तुम्हें लेकर अपने एक दोस्त के यहाँ ठहर जाऊँगा। सुबह सूरज निकलने के बाद ही हम मथुरा लौटेंगे।'[4]

जब अविनाश अपने पिता को लेकर दरवाजे पर खड़ा था तो बहू का कहना था, 'दादा को स्कूटर पर लिए जा रहे हो। पर आहिस्ता से सँभालकर स्कूटर चलाना।'[5]

इसी कड़ी में बात को आगे बढ़ाते हुए बड़ा पोता बोला, 'रास्ते में एक आध जगह ठहर लेना। बाबा को ज्यादा थकाने की जरूरत नहीं है।'[6]

अविनाश के परिवार का यह व्यवहार उनके दिखावटी मुखौटे और संवेदनहीन रवैये को प्रदर्शित करता है। जब पत्रकार संजय फोन पर अविनाश को कहता है, 'मैं आगरा से बोल रहा हूँ। आपके पिताजी के पास उसी पेड़ के नीचे खड़ा हूँ। जहाँ आप कल शाम उन्हें छोड़ गए थे। शायद

आप जरूरी काम में फँस जाने की वजह से उन्हें लेने नहीं आ सके, बताइए अब आप आ रहे हैं या मैं उन्हें मथुरा पहुँचा दूँ?'[7]

संवेदनहीन अविनाश तीखे स्वर में कहता है कि 'ज्यादा हमदर्दी दिखाने की जरूरत नहीं है। तुम अपने काम से काम रखो। बूढ़े को उसके हाल पर छोड़ दो। मरे या जिए हमारा उससे कोई वास्ता नहीं।'[8] अविनाश के ऐसे शब्द आज की पीढ़ी के संवेदनहीन भाव को दर्शाते हैं। उनके लिए माता-पिता जन्मदाता न होकर आज केवल घर में एक कूड़ा-करकट के समान हैं जिनको घर से बाहर फेंकने में ही घर की खुशहाली है।

डॉ॰ उषा यादव ने संवेदनहीन संतान द्वारा माता-पिता की उपेक्षा के यथार्थ को 'तेरहवाँ पृष्ठ' कहानी के माध्यम से भी उजागर किया है। इसमें वृद्ध दंपत्ति प्रोफेसर प्रभाकर और सरला को उनके पुत्र अनूप और पुत्रवधू के द्वारा उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। उनकी बुढ़ापे में सँभाल के लिए वह दिखावा ही करते हैं। जब प्रभाकर की मृत्यु के बाद 'अनाम पुस्तक' को न बेचने के बारे में सरला अपने पुत्र अनूप से कहती है तो वह झिड़ककर अपनी माँ को जवाब देता है कि 'मम्मी तुम इस उम्र में ऐसा बचपना दिखाती हो, शोभा नहीं देता। क्या करोगी उस किताब का? मंदिर में धरोगी? हर रोज पाठ किया करोगी?'[9] हालाँकि यह वही किताब है जिस किताब को पढ़ते हुए प्रभाकर ने अपने प्राण छोड़े थे। सरला इस किताब को प्रोफेसर प्रभाकर की अंतिम निशानी मानकर अपने पास रखना चाहती है।

लेखिका इस कहानी के माध्यम से संवेदनहीन संतान द्वारा माता-पिता की उपेक्षा के यथार्थ को चित्रित करते हुए लिखती हैं कि प्रोफेसर अनूप और उसकी पत्नी के द्वारा वृद्ध दंपत्ति के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। बुढ़ापा वृद्ध दंपति के लिए बेहद कष्टकर जीवन तब हो गया, जब दोनों पौत्र मेडिकल और इंजीनियरिंग की पढ़ाई के लिए दूर शहरों में चले गए। वे घर में बिल्कुल अकेले हो गए। अनूप के बिगड़ैल स्वभाव की वजह से आस-पड़ोस का कोई व्यक्ति इस तरफ झाँकना भी पसंद नहीं करता था। बात करने का मतलब था—अपना अपमान कराना और इसके लिए कोई तैयार नहीं था। प्रभाकर और सरला अपना सारा दिन टीवी की खबरें सुनकर और पत्र-पत्रिकाओं को पढ़कर काटते थे। अनूप और उसकी पत्नी को इन पत्र-पत्रिकाओं का चंदा भेज देने का आग्रह बिल्ली के गले में घंटी बाँधने जैसा था। वे दोनों ही जब तब देखो आग उगलते रहते थे, 'यह दोनों तो हमारे सिर आ पड़े। आखिर कब तक इनकी सेवा टहल करेंगे और वह भी तीन संतान है। बारी-बारी सबके पास जाकर क्यों नहीं रहते।'[10]

लेखिका का कहना है कि आधुनिकता के दौर में संवेदना के विलुप्त होने के कारण मनुष्य अपने परिवार से बिछड़ रहा है जो कि मानव जाति का विनाश की ओर बढ़ता कदम है। हमें इस दृष्टिकोण में बदलाव लाकर नई पीढ़ी को मानवता और अपनेपन के बारे में अहसास करवाने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से नई और पुरानी पीढ़ियों के संबंधों को अलग-अलग पहलुओं से जोड़कर संवेदनहीन संतान द्वारा वृद्ध माता-पिता की उपेक्षा और घर से निष्कासन के यथार्थ को चित्रित किया है।

डॉ॰ उषा यादव ने आधुनिक परिवारों में वृद्ध उपेक्षा के यथार्थ में स्वार्थवृत्ति को भी कारक माना है। आज का समाज आधुनिकता के दौर में स्वार्थवृत्ति में अंधा हो चुका है। वह नदी के प्रवाह की तरह आधुनिक दिशा में बढ़ता जा रहा है और अपने साथ जीवन मूल्य, रिश्ते-नाते, पारिवारिक संबंधों को प्रवाह के साथ बहाता ले जा रहा है। स्वार्थवृत्ति और अर्थ का महत्त्व बढ़ जाने से रिश्तों

की आत्मीयता कम हो गई है जिसके कारण परिजनों के आपसी संबंध भी टूटते जा रहे हैं। घर में माँ-बेटे के संबंध, पिता-पुत्र के संबंध और पति-पत्नी के संबंध स्वार्थवृत्ति के कारण विघटित होते जा रहे हैं। स्वार्थवृत्ति के कारण रिश्तों के मायने ही बदल दिए गए हैं। हमारे पारिवारिक रिश्ते जो कभी जान-प्राण से भी प्यारे थे आज उन्हीं रिश्तों में हमारा दम घुट रहा है। इस स्वार्थवृत्ति से शिथिल पारिवारिक संबंधों की प्रताड़ना का सामना घर में स्थापित बड़े-बूढ़ों यानी बुजुर्गों को सबसे ज्यादा करना पड़ता है। उन्हें घर में कूड़ा-करकट के समान बेकार की वस्तु समझा जाने लगा है। बुजुर्गों के सहानुभूति और त्याग को नजरंदाज कर उनको परिवारों में उपेक्षा के भाव से देखा जाने लगा है।

लेखिका ने स्वार्थवृत्ति से शिथिल पारिवारिक संबंधों को 'वह एक पल' कहानी-संग्रह में संकलित कहानी 'दरखत के नीचे' में बूढ़े जगराम के माध्यम से दर्शाया है। स्वार्थवृत्ति के मोह में अंधे अविनाश और उसके परिवार द्वारा बूढ़े जगराम को घर से निष्कासित कर दिया जाता है। बूढ़े जगराम के घर वापसी की बात को लेकर पत्रकार संजय के फोन करने पर अविनाश तीखी आवाज में उसको धमकाते हुए कहता है, 'तुम अपने काम से काम रखो। बूढ़े को उसके हाल पर छोड़ दो। मरे या जिए हमारा उससे कोई वास्ता नहीं।'[11] यह पंक्तियाँ भले ही सुनने में साधारण लगें, लेकिन इनका अर्थ बहुत गहरा है। अपने आपको बूढ़े जगराम के स्थान पर रखकर देखिए कि किस प्रकार परिवार के संबंध टूटते जा रहे हैं। जिनको अपने हाथों से पालन-पोषण कर बड़ा किया, आज वही संतान अपने घर के बड़े-बूढ़ों को मरने के लिए पीपल के पेड़ के नीचे छोड़कर जा रही है।

अविनाश और उसके परिवार की स्वार्थवृत्ति के कारण घर से निष्कासित बूढ़े जगराम को पत्रकार संजय बताता है कि 'आज की पीढ़ी संस्कारों में नहीं, स्वार्थों में जीती है। घरवाले तुम्हें कितना मन या बेमन से झेलते हैं, इसका कोई पैमाना है तुम्हारे पास? आज सिर्फ उपयोगी चीजों को घर में रखकर, हर अनुपयोगी वस्तु को फेंकने का जमाना। तुम्हारी कोई उपयोगिता है उनके लिए? हो सकता है कि वे तुम्हारे खेत-खलिहान पर मिल्कियत चाहते हों, तुम्हारी जमा-पूँजी हथियाना चाहते हों, तुम्हारी कोठरी पर किसी पोते की निगाह हो, तुम्हारी टोका-टाकी से आजिज आ चुके हों या फिर तुम्हारी रोटियाँ ही उन्हें अखरने लगी हों। बूढ़े-बुजुर्गों के साथ बेटे-बहू के अमानवीय व्यवहार की हमारे यहाँ आए दिन खबरें पहुँचती हैं। कोई मंदिर की सीढ़ियों पर बैठाकर चला जाता है, कोई पुल के नीचे बैठाकर गायब हो जाता है और कोई डाक्टर के यहाँ नंबर लगाने के बहाने.... '[12]

लेखिका ने स्वार्थवृत्ति से दिन-ब-दिन व्यवहार शून्य हो रही नई पीढ़ी का चित्रण बूढ़े जगराम की मर्मांतक व पीड़ा परक स्थिति द्वारा चित्रित किया है। जब रात के समय अविनाश द्वारा आगरा में छोड़ देने पर उसे पत्रकार संजय मिलता है तो पत्रकार संजय, बूढ़े जगराम को उसके अकेला होने की बात बतलाते हुए कहता है, 'देखो बाबा। तुम्हें खुद को मजबूत बनाना है। जो बेटा तुम्हें कड़कड़ाती शीत में मरने के लिए छोड़ गया है। उसे भूल जाओ। मैं तुम्हारे लिए दूसरा ठिकाना बताऊण्त्रा। यहाँ रतनलाल वृद्ध आश्रम में।'[13]

संजय के फोन पर बात करने से अविनाश की सच्चाई सामने आने पर बूढ़े जगराम को बहुत अधिक आघात पहुँचता है। उसके अंतस तल से एक आवाज निकलती है, 'मेरा बेटा खत्म हो गया। मैं कितना अभागा बाप हूँ। मुझे अपने बेटे का खत्म होना अपनी आँखों से देखना पड़ रहा है।'[14]

बूढ़ा जगराम कहता है, 'क्या शरीर का अंत मृत्यु होता है। क्या अंतरात्मा का मरना कोई मायने नहीं रखता।'[15] वह वृद्धावस्था में परिवार से निष्कासन और अपनी एकाकी अवस्था को लेकर

दोनों हथेलियों से मुँह ढापकर रोता है। आज परिवार के सदस्यों का मोल-भाव और मूल्यांकन भी बाजार की वस्तु के मोल-भाव के समान किया जा रहा है। जिसका कारण प्राय: पारिवारिक संबंधों में आत्मीयता का कम होना है। पारिवारिक रिश्तों में स्वार्थवृत्ति दानव की तरह हावी रूप दिखाती जा रही है जिसमें प्रेम का प्रदर्शन दिखावा मात्र रह गया है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि डॉ॰ उषा यादव ने कहानी-संग्रह 'वह एक पल' में संकलित कहानियों के माध्यम से परिवार में वृद्धों की उपेक्षा और उनके देखभाल-संबंधी अनदेखी के कारकों और विसंगतियों का अति सूक्ष्मता से यथार्थ चित्रण किया है। वृद्ध होने पर मनुष्य के अंग शिथिल हो जाते हैं और वह कोई कार्य करने लायक नहीं बचता। वर्तमान मनुष्य अपने माता-पिता को भी कार्यकारी उपयोगिता के माध्यम से जोड़कर देख रहा है। बूढ़े माँ-बाप के कामकाज में अक्षम होने के कारण वर्तमान का मनुष्य उन्हें घर में उपेक्षित भाव से रखता है।

लेखिका का मानना है कि जिस प्रकार वृक्ष से कटी हुई शाखा पर कभी फल-फूल नहीं आते, उसी प्रकार माता-पिता रिक्त घरों में भी संस्कार और सदाचरण जैसे ज्ञानप्रदायक विचार-भाव नहीं आते। वृद्धों का घरों में आदर-भाव भारतीय संस्कृति और संस्कारों की श्रेष्ठता का द्योतक है। संस्कारों के अभाव में कोई भी परिवार तरक्की नहीं कर सकता। विज्ञान ने भले ही कितनी तरक्की कर ली हो लेकिन बच्चा जो संस्कार अपने माता-पिता या घर में वृद्धों से सीख सकता है उन संस्कारों का ज्ञान वह सूचना व प्रौद्योगिकी या फिर किताबों में से नहीं ग्रहण कर सकता। इस प्रकार डॉ॰ उषा यादव ने कहानी-संग्रह 'वह एक पल' में वृद्धों की उपेक्षा के लिए उत्तरदाई कारक का यथार्थ चित्रण करते हुए पाठकों को सचेत करने का भी सार्थक प्रयास किया है।

संदर्भ

1. डॉ मंजू गोयल, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास : सामाजिक विघटन और औपन्यासिक प्रतिफलन, अनुभव प्रकाशन गाजियाबाद, संस्करण 2003, पृ॰ 7
2. वही, पृ॰ 33
3. वही, पृ॰ 33
4. उषा यादव, वह एक पल, के॰के॰ पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृ॰ 10
5. वही, पृ॰ 10
6. वही, पृ॰ 10
7. वही, पृ॰ 18
8. वही, पृ॰ 18
9. वही, पृ॰ 170
10. वही, पृ॰ 164
11. वही, पृ॰ 18
12. वही, पृ॰ 17
13. वही, पृ॰ 17
14. वही, पृ॰ 18
15. वही, पृ॰ 19

Mob. 7206304472
jitendersharma712@gmail.com

जिंदा मुहावरे उपन्यास में देश विभाजन की त्रासदी

स्वालियाबेग आर॰ कोप्पल, शोधछात्र, हिंदी विभाग
प्रो॰ श्रीमती राजु एस॰ बागलकोट, शोध निर्देशिका, हिंदी विभाग
कर्नाटक राज्य अक्कमहादेवी महिला विश्वविद्यालय, विजयपुर

देश विभाजन के बाद दिलों के विभाजन की व्यथा, अमन चैन की लूट और पीड़ा का एक नया युग शुरू हुआ। आजादी के साथ ही देश-भर में एक अशांति का माहौल कायम हो गया। गाँव-बस्तियाँ आग की लपटों में स्वाहा होने लगीं। सर्वनाशी तांडव चारों ओर बरपा रहा। दर्ज की हुई सच्चाइयों में एक बयान यह भी पाया जाता है–मानवता का मुखौटा पिघल रहा था, और अंदर सियार की आँखें उग आई थीं। 15 अगस्त 1947, वह दिन जब देश 200 वर्ष अँग्रेजों की गुलामी से आजाद हुआ, लेकिन जहाँ एक तरफ आजाद मुल्क होने की खुशी थी तो वहीं दूसरी तरफ विभाजन का दर्द भी हिंदुस्तान के नसीब में लिखा जा चुका था। आजादी मिलने के साथ ही देश के दो टुकड़े हो गए। भारत का लगभग 30 प्रतिशत हिस्सा कटकर एक नया मुल्क बन गया। इस मुल्क का नाम पाकिस्तान था। राजधानी दिल्ली एक तरफ आजादी का जश्न मनाने के लिए तैयार हो रही थी। लाल किले पर देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय ध्वज फहराकर देश के स्वाधीन होने की घोषणा की। वहीं दूसरी ओर देश का एक हिस्सा धू-धू कर जलने लगा। हिंदुस्तान बँटवारे की त्रासदी से गुजर रहा था। खुशी का मौका पलभर में खून और दहशत में बदल गया था। कम-से-कम डेढ़ करोड़ लोग अपना घर-बार छोड़ने पर मजबूर हो गए। इस दौरान हुई लूटपाट, बलात्कार और हिंसा में कम-से-कम पंद्रह लाख लोगों के मरने और अन्य लाखों लोगों के घायल होने का अनुमान है। बँटवारे में न सिर्फ देश को बाँटा गया बल्कि लोगों के दिल भी बाँटने की कोशिश हुई। हालाँकि इस दौरान और इसके बाद भी साहित्यकार अपनी कोशिशों में लगे रहे और दोनों मुल्कों के लोगों के बीच के रिश्तों में गरमाहट लाने की कोशिश करते रहे। सियासत से साहित्य आज भी लाहौर और दिल्ली की आवाम में मोहब्बत की बात करती है।

दरअसल, विभाजन का दर्द हो या इस दौरान हुई अमानवीय घटनाएँ, इसकी तस्वीर हिंदी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में बड़े मार्मिक ढंग से उकेरी है। विभाजन को लेकर लिखा गया भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' भी यशपाल के 'झूठा सच' की तरह ही आधुनिक क्लासिक की श्रेणी में रखा जाता है। कृष्णा सोबती का उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान में गुजरात हिंदुस्तान' ऐसा ही एक मार्मिक उपन्यास है, जिसमें विभाजन की त्रासदी का जिक्र है, यह उपन्याय खून से सने उस अतीत की बात कहता हैं, जो अतीत भारत और पाकिस्तान दोनों ही मुल्कों से जुड़ा है। एक ऐसा ही उपन्यास है–जिंदा मुहावरे। नासिरा शर्मा जी का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जिसमें उन्होंने देश विभाजन के पश्चात व्याप्त आशंका, अशांति, संघर्ष तथा विघटन के भावनात्मक पहलुओं को छुआ है।

'जिंदा मुहावरे' दिल्ली से दूर फैजाबाद गाँव में रहनेवाले रहीमुद्दीन के परिवार की कहानी

है। इसमें देश विभाजन के फलस्वरूप हुए दंगे-फसाद से ऊबे हुए लोगों की मानसिक स्थिति को दिखाया गया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत में धर्म के नाम पर विभाजन हुआ और इसके फलस्वरूप भारत में रहे बहुत से मुस्लिम पाकिस्तान चले गए। रहीमुद्दीन का छोटे बेटे निजाम ने विभाजन के समय भारत छोड़कर पाकिस्तान चले जाने का निश्चय किया। अपने माता-पिता, भाई-बहन और सगे संबंधियों को छोड़कर चले जाने के उसके निर्णय को घरवालों ने मना कर दिया। लेकिन निजाम अपना निश्चय उचित मानकर पाकिस्तान चला गया। अपने वतन को छोड़कर दूसरे देश में चले जानेवाले लोगों को वहाँ कई प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता था। निजाम की हालत भी वैसी ही थी।

'जिंदा मुहावरे' में उस मुस्लिम पीढ़ी की भावनाओं को उकेरा गया है जिसने भारत-पाक विभाजन के कारण अपना सारा जीवन शंकाओं और दुविधाओं में व्यतीत किया। विभाजन होने पर भारतीय मुस्लिम युवा वर्ग यह निर्णय नहीं कर पाता उसे भारत में रहना चाहिए या पाकिस्तान में। जो लोग भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गए वे आजीवन समझ न सके कि उनका निर्णय उचित था अथवा नहीं। अपनी मातृभूमि, अपने भारत देश को जान से अधिक चाहने वाला भारतीय मुस्लिम यह जानकर चकित और दुखी हुआ कि उनके लिए पाकिस्तान एक जमीन का टुकड़ा देश से अलग कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में उसे भारत देश में मोह से चिपके रहना व्यर्थ लगा और उसे लगा– 'इससे अच्छा वह टुकड़ा है, जो काटकर दामन में डाल दिया गया हो। अब उसी को पालना और पोसना और अपना समझना होगा।'[1]

भारत छोड़कर पाकिस्तान जानेवाले लोगों को वहाँ भी अनजानेपन, पराएपन और घुटन की अनुभूति ने आ घेरा। इसके साथ ही अपने घर-आँगन की मिट्टी और मित्रों, संबंधियों की यादों ने अलग सताया। तूफान थमते ही लोग अपने ही घर, गाँव और संबंधियों से मिलने के लिए सरकार से वीजा के लिए अनुरोध करने लगे, किंतु उनके हाथ निराशा ही लगी। वे सोचने लगे कि 'यादों के सूँघते-सूँघते इंसान जी तो सकता है, मगर बिल्ली की तरह ठिकाने पर अगर आना भी चाहें, तो हालात उसे इजाजत कब देते हैं कि वह लौट सकें'[2]

बँटवारे ने घर, आँगन के लोगों को बाँट दिया था। माँ-बेटी से, बेटी-माँ से जुदा हो गई थी। बहन-बहन से बिछुड़ गई थी, कहीं बहन भाई की याद में तड़प रही थी, कहीं भाई-भाई से जुदा हो गया था, कहीं बेटा बाप से छिटक गया था, कहीं प्यार भले दिल एक-दूसरे से दूर होकर सिसक रहे थे। कितने दिलों में दर्द था? कितने आँसुओं की बरखा बरस रही थी? इस पीड़ा के तो वही साक्षी थे जो इसमें से गुजर रहे थे। एक कयामत गुजर रही थी उन पर।

नासिरा शर्मा के अनुसार, 'बँटवारा एक अभिशाप है, एक कोढ़ हैं, एक जहर है, एक आग है जिसमें आज भी दिल जल रहे हैं। यह बँटवारा ही है जिसमें दो कौमों के बीच शंका संदेह, अविश्वास के काँटे बिखेर दिए हैं।'[3] कटोर परिश्रम और धैर्य से भारतीय मुसलमानों ने पाकिस्तान में अपनी प्रतिष्ठा का सिक्का जमा लिया तथा सुख-सुविधा की हर वस्तु जुटा ली। फिर भी आज तक वह वहाँ पर मुजाहिर ही कहलाए। व्यापार और बाजार में मुहाजिर की साख जमते देख सिंधी के मन में वैमनस्य जागा और वहाँ भी फयादों ने भयंकर रूप धारण कर लिया तथा एक बार फिर भावनात्मक स्तर से उखाड़ फेंका गया, किंतु वह उस पर कटे पक्षी सा था जो चाहकर भी घर नहीं लौट पाया। कई मुहाजिर पाकिस्तान से निकलकर लंदन, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में जा बसे। जिसे देखकर अन्य मुहाजिर बेबस और विवश हो गए। वे यही सोचते कि बार-बार भागकर कहाँ

जाएँगे। 'नफरत और मोहब्बत के बीच लटकते इंसानों के लिए अपने जज्बात को समझना खुद कितना मुश्किल हो गया कि उसका गम कहाँ से शुरू और खुशी कहाँ दम तोड़ती है।'[4]

बार-बार घर का उजड़ना और बसना बहुत मुश्किल है। मुसलमानों का एक वर्ग ऐसा भी था जिन्होंने भारत में ही रहने का निश्चय किया पर उसे यहाँ रहकर देश के प्रति अपनी ईमानदारी और देश-भक्ति का प्रमाण देना पड़ा, अन्यथा यहाँ पर रहनेवाले हिंदू वर्ग के लोग उसे शंकापूर्ण दृष्टि से देखते। 'जिंदगी बड़ी अजीब तरह से जी रही थी। पूरी तरह न बेखौफ थी, न बदरंग, न इच्छाओं और मुद्दों से भरी थी, न रसभर चटखारेदार रह गई थी। कुछ कम हुआ था।'[5] छोड़कर जानेवालों की कमी उन्हें जीवनपर्यंत एक जख्म की भाँति पीड़ित करती रही। पाकिस्तान जाकर बसने वाले निजाम को जब कई वर्षों के उपरांत भारत में अपने संबंधियों से मिलने और अपने घर-आँगन को देखकर आने का शुभ अवसर मिला तो वह भारतीय मुस्लिम वर्ग की सुख-सुविधा, मान-सम्मान देखकर चकित रह गया। साथ ही देश छोड़कर जाने पर पश्चाताप भी हुआ। 'जाने क्यों उसके दिल में गहरे पछतावे जैसा अहसास उभरा और अजीब सी कमजोरी सारे बदन में फैलने लगी। काश! अम्मा उसे न जाने देती।'[6] इस लंबे समय ने दोनों देशवासियों की सोच में परिवर्तन ला दिया। नई पीढ़ी अपनी जन्मभूमि को ही समझती है।

निष्कर्ष–जिंदा मुहावरे' की संरचना में धरती को मोह लेने वाली बास-गंध के साथ अनुकूल भाषा का जीवंत प्रयोग व रिश्तों के साथ वास्तविक तालमेल ने अलग-अलग समाजों, वर्गों और विचारों को एक सूत्र में जोड़कर प्रमाणित कर दिया कि सभी धाराएँ एकजुट होकर एक मुख्यधारा का निर्माण करती हैं और सांस्कृतिक एकरसता की विरासत को अपने समूचेपन में ठोस धरातल पर खड़ा कर देती हैं। इसी सबके कारण यह रचना तमाम भ्रमों, शंकाओं को निरस्त करते हुए इस सच्चाई को सामने लाती है कि राजनीतिक स्वार्थों के कारण भले ही धरती बँट जाए पर इंसानी रिश्ते नहीं बँटते।

संदर्भ

1. नासिरा शर्मा, जिंदा मुहावरे (उपन्यास), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1994, पृ॰ 9
2. वही, पृ॰ 31
3. नगमा जावेद, जिंदा जीते जागते दर्द का एक दरिया है, जिंदा मुहावरे, संपादक डॉ॰ एम॰ फीरोज अहमद, नासिरा शर्मा विशेषांक, वाङ्मय जून 2009, अनंग प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 107
4. नासिरा शर्मा, जिंदा मुहावरे (उपन्यास), वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 1994, पृ॰ 69
5. वही, पृ॰ 43
6. वही, पृ॰ 118

Mob. 8147482680
SjKappal123@gmail-com

संवेदनात्मक कहानियों की रचनाकार मालती जोशी : एक पाठ

डॉ॰ सिंधु एस॰एल॰, अध्यक्षा, हिंदी विभाग
सरकारी विक्टोरिया महाविद्यालय, पालक्काड, केरल

मालती जोशी ने अपनी कहानियों में जीवन के विभिन्न आयामों को चित्रित किया है। विषय चयन और भाषा शैली में सहजता और सरलता से उनकी कहानियाँ दीप्त हैं। सामान्य लोगों के प्रिय रचनाकार बनने में उनकी रचना दक्षता सहायक बन गई। बच्चों की मनोदशा से लेकर बूढ़ों की जिंदगी तक उनकी रचना के विषय बन गए हैं। 'शापित शैशव' नामक उनकी बहुचर्चित कहानी है। इसमें कहानीकार ने बाल मनोविज्ञान का सूक्ष्म चित्रण किया है। वात्सल्य के विभावानुभाव संचारी संयोग से वंचित बच्चे कितने कठोर बन जाते हैं। जीवन के सबसे मीठे बचपन में ही कडुए रस पीनेवाली बच्ची पारुल का चित्रण करके, कहानीकार ने सुंदर शैशव को अभिशप्त बनाने वाली परिस्थितियों की ओर इशारा किया है। पारुल के बचपन में ही उसकी माँ खो जाती है। आया के द्वारा उसका पालन-पोषण किया जाता है। लेकिन कुछ समय बाद आया को घर से अलग कर दिया जाता है। इससे बच्ची असंतुष्ट है। दादी माँ और नानी माँ के घरों में जी-जीकर उसके बचपन का मिठास नष्ट हो जाता है। बाद में बोर्डिंग में उसकी भर्ती की जाती है। उसको लगता है कि आया से बिछुड़वाकर पिता ने उसके साथ अन्याय किया है। उसके मन में अपने पिता के प्रति जो अलगाव है उसे लगाव में परिणत करना कठिन काम बन गया। उसके सोलहवीं उम्र में होनेवाली पिता की दूसरी शादी भी बच्ची को और अधिक कठोर बना देती है। वह अपने को पिता द्वारा उपेक्षित मानती है और इस मनोदशा में पिता की दूसरी शादी पर वह कोई आपत्ति व्यक्त नहीं करती है।

वास्तव में पिता और बच्ची के बीच में खुला वार्तालाप नहीं हुआ था। पिता अपनी व्यस्तता के कारण बेटी के प्रति अपने दिल में जो प्यार है वह नहीं प्रकट कर पाता है। बेटी तो समझती है कि पिता के मन में उसके प्रति प्यार और लगन नहीं है। उसके मन में बचपन में अपने से अलग किए जाने वाली आया की गहरी छाप पड़ी है। पिता दूसरी शादी करके जिसको घर लाए हैं उनको मम्मी मानने के लिए बच्ची तैयार नहीं है। लेकिन मम्मी पारुल की जिंदगी की शून्यता को प्यार से भर देना चाहती है। पर पारुल अपनी जिंदगी के कठोर अनुभवों के कारण मम्मी के स्नेह को पहचान नहीं पाती। वह सबसे दूर रहना चाहती है। अपने जीवन में हस्तक्षेप करनेवालों के रूप में वह माँ-बाप को दोषी मानती है। यह उसका दोष नहीं है। उसके मन में हमेशा आया की छाया ही है। एकांत जीवन में उसके लिए केवल वही एक सुखद स्मृति है। वास्तविक बातें उसे समझाना आसान नहीं है। अंत में कठिन परिश्रम करके उसको आया से मिलवाया जाता है जो क्षय रोग से पीड़ित है। उनको इस हालत में देखने पर बच्ची के मन में पहले जो विकार था उसमें परिवर्तन आता है। आया की मृत्यु की खबर पाने पर वह कहती है, 'उस दिन उन्हें अस्पताल में देखकर मेरा मन कैसा तो हो गया था। वे बाँहों में भरकर मुझे प्यार कर रही थीं और मैं भागने के लिए छटपटा रही थी। वे मेरी बलाएँ ले रही थीं और मैं मन-ही-मन उन्हें कोस रही थीं... उन्हें ये सब पता तो नहीं

चला होगा न?'[11]

मम्मी का यह कहना उसको दिलासा देता है, 'नहीं बेटे, उन्हें कुछ पता नहीं चला होगा, क्योंकि जो प्यार करते हैं, वे आँख मूँदकर प्यार करते हैं। अपनों की गलतियों देखनेवाली नजर ही उनके पास नहीं होती।'[12] इस कहानी के द्वारा मालती जोशी जीवन का एक बड़ा संदेश देती हैं कि प्यार और लगन के बिना जीवन कठोर है। बचपन वात्सल्य से भर देना माँ-बाप का धर्म है। अनुग्रहीत बचपन को शापित बनाने से माँ-बाप दोषी बनते हैं।

परिणय नामक अपनी कहानी में मालती जोशी शादी के विभिन्न पहलुओं को दिखाने का परिश्रम करती हैं। भारतीय समाज में शादी का प्रधान स्थान है। विवाह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसके द्वारा वंश परंपरा आगे बढ़ती है। लेकिन दहेज के लोभ के कारण विवाह की पवित्रता नष्ट होती है। माता और पिता की इच्छा के विपरीत शादी करने से भी वैवाहिक संबंध बिगड़ जाते हैं। परिणय नामक कहानी में अपने डाक्टर लड़के को लड़की ढूँढनेवाले एक परिवार का चित्रण हुआ है। शादी का अर्थ दहेज, खानदान की महिमा का बखान, आडंबर आदि बातों में घूम जाने पर मन की बातें बोलने का अवसर न लड़की को मिलता है न लड़के को। अगर लड़का पढ़ा-लिखा और उच्च नौकरी पर हो तो बोलने की बात क्या है। लड़के वाले ऐसी लड़की वालों के पीछे हैं कि जहाँ से धन का ढेर मिलेगा। परिणय का मुख्य पात्र जीतू कहता है, 'ममा, जिस दिन कोई लड़की मुझे भा जाएगी, मैं तुम्हारे सामने लाकर खड़ी कर दूँगा। तुम चिंता मत करो।'[13] पर घरवालों ने अपने डाक्टर पुत्र की शादी की दौड़भाग में बड़े घर की बेटी को दुल्हन बनाने का इरादा किया। सारे के सारे इंतजाम में लगे जाते हैं। लेकिन लड़की तो अपने फुफेरे भाई के साथ भाग जाती है। सारे परिवार में कलंक लगाने का अनुभव होता है। अंत में लड़का अपने मनपसंद एक निर्धन और निस्सहाय लड़की से शादी करने का निश्चय करता है। कहानी की चरमसीमा फिल्मी जैसे चित्रित करके अधिक आकांक्षा देने में कहानीकार ने जो क्षमता दिखाई है, वह उल्लेखनीय है। अस्पताल में पड़ी अनु की माँ की बुरी हालत देखने पर डाक्टर को लगा कि उनके अंतिम क्षण आए हैं। वह अनु से शादी करना चाहता है-'ममा, क्या तुम इस लड़की को बहू के रूप में स्वीकार कर सकोगी?'[14] उसके इस प्रश्न में जीवन की सच्चाई है। जिंदगी केवल दिखावा नहीं, उसकी गहराई जाने बिना आगे बढ़ना भविष्य में दिक्कतें पैदा कर देता है। अपना जीवन साथी कौन बनेगा, इसका निर्णय कौन करेगा, इस सवाल का उत्तर ही परिणय की बुनियाद है।

'कैलक्युलेशन' नामक कहानी में नई पीढ़ी की जिंदगी का खुला चित्रण है। प्यार मन की गहराई से होता है लेकिन आज धन-दौलत की कीमत ही प्यार का मूल्य है। दिल से दिल लगाकर कौन आज बातें करता है। सब गाड़ी, बंगला, धन, सोना आदि के पीछे हैं। पिंकी के मन में अपनी सहेली के भाई के प्रति प्यार था। लेकिन डाक्टर लड़के अपनी बैचमेट डाक्टर लड़की से ही शादी करते हैं। पिंकी का कहना है, 'पापा, आजकल लोग नाप-तोलकर ही प्यार करने लगे हैं न?'[15]

सब लोग कैलक्युलेशन करके शादी का इरादा करते हैं और करवाते हैं। 'वैसे भी टूटकर प्रेम करनेवाली पीढ़ी अब रही कहाँ। वे लोग तो कब के इतिहास बन गए।'[16] इस कहानी के द्वारा बदलनेवाली दुनिया और मानव की संकल्पनाओं की ओर लेखिका इशारा करती हैं।

पिता नामक कहानी में साधारण रूप से कहानियों में दीखनेवाले पिता के रूप से बिलकुल भिन्न एक पिता को मालती जोशी ने चित्रित किया है। 'पिता नहीं रहे, बाबा, बाबूजी, डैडी, पापा- कुछ भी नहीं। जब भी जिक्र हुआ, सिर्फ पिता ही कहा गया है, पिताजी भी नहीं। शायद उतने

सम्मान के भी वे अधिकारी नहीं थे।[7] अपनी पत्नी और संतानों को छोड़कर दूसरे बसेरे ढूँढनेवाले पिता का अस्तित्व उनके मन से कब से मिट गया था। पिता के प्यार-दुलार से वंचित दोनों बेटियाँ, सुमिता और नमिता अपना भविष्य बनाने के लिए खुद परिश्रमी थीं। यहाँ पिता के बीमार पड़ जाने पर चाचा लोग पत्नी को खबर देते हैं और उनकी मृत्यु की खबर भी। स्वस्थ रहने पर किसी की याद नहीं थी। यौवन की सारी मस्ती खो जाने पर बीवी और बेटियों की याद आई। यहाँ लेखिका पुरुषों के स्वार्थी चरित्र और शोषण पर व्यंग्य और क्रोध भी व्यक्त करती हैं। पिता की मृत्यु की खबर देनेवाले चाचा से दोनों बेटियाँ पूछती हैं, 'जिस तत्परता से आपने अपने भाई की बीमारी और अब मृत्यु की खबर पहुँचाई है, उसी तत्परता से कभी हमारी भी खोज-खबर ली होती।'[8] यहाँ बरसों से अपने पिता और रिश्तेदारों से उपक्षित औरत का क्रोध और गर्जन अभिव्यक्त है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को सम्मान मिलना मुश्किल की बात है। पढ़ी-लिखी, कामकाजी औरत होने पर भी का पति द्वारा वह पीड़ित होती है। दूसरी संतान एक लड़की होने के कारण अधिक पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं। अपने भाई के परिवार से भी तिरस्कार मिलने पर वह और अधिक स्वावलंबी होती है। इस कहानी के माध्यम से महिलाओं को आत्मनिर्भर होने की आवश्यकता की प्रेरणा मिलती है। पति-पत्नी जीवन रथ के पहिए हैं, एक साथ चलना है। लेकिन पति अपने अहं के कारण पत्नी पर अपना अधिकार थोपना चाहता है। उसकी खुशी के लिए पत्नी को अपनी खुशियाँ छोड़नी पड़ती हैं। उसको अपनी जिंदगी रसोई के मसाले-हल्दी में लपेटकर रखनी पड़ती है।

'अंतिम संक्षेप' नामक कहानी में पति-पत्नी के बीच के संबंध और उसमें आने वाली दरारों को चित्रित किया गया है। अपने बेटे मनीष और बहू महिमा के जीवन की समस्याओं को दूर करने के लिए माताजी भरसक कोशिश करती हैं । बेटे और बहू के बीच में पड़कर बच्चों का और उनका भी चैन नष्ट होता है। अंत में वे कहती हैं–'पति, ताले में कैद करके रखने की चीज नहीं है। उसे तो मन की डोर से बाँधना पड़ता है। वह चाहे कहीं भी भटकता रहे, बसेरे के लिए अपने ठिकाने पर ही लौटकर आता है।'[9]

पति-पत्नी के बीच परस्पर प्रेम होना अति आवश्यक है। पति-पत्नी का एक-दूसरे पर शक करना परिवार की नींव को हिला देता है। कहानीकार ने इसी बात का चित्रण इस कहानी में किया है।

'आखिरी शर्त' नामक कहानी में परंपरा से विद्रोह करने तथा धैर्य न रखने के कारण अपने अरमानों को झकझोर देने के लिए विवश नारी की कथा कही गई है। इस कहानी में कुसुम और उसकी दीदी का चित्रण किया गया है। दीदी अपनी बेटी मधु की शादी जल्दी-से-जल्दी कर देना चाहती हैं। जबकि मधु आई॰ए॰एस॰ की प्रीलिस परीक्षा की तैयारी कर रही है, वह इतनी जल्दी शादी नहीं करना चाहती। यह बात जब कुसुम को पता चलती है तो वह अपनी दीदी को समझाने की कोशिश करती हैं–'पीढ़िया बदल गईं, पर हमारी मान्यताएँ वहीं की वहीं हैं। हम उन्हें अम्मा-बाबूजी कहते थे, बच्चे हमें मम्मी-पापा कहते हैं। बस इतना ही फर्क आया है बाकी सब वैसा का वैसा ही है। ...अरे, वाह! तुम्हारी गोल्ड मेडलिस्ट बिटिया की हौसला अफजाई भी गुनाह हो गया? हर साल बेचारी मेरिट लाती रही है। ऐसी जहीन लड़की आई॰ए॰ऐस॰ न बनेगी तो और कौन बनेगा!'[10]

लेकिन घर आने पर कुसुम को जब यह पता चलता है कि उसकी बेटी अपनी पढ़ाई छोड़कर भरतनाट्यम् की गन शिक्षा करने के लिए तीन साल के लिए मद्रास कला केंद्र में जाना चाहती है तो वह बेटी का वहाँ जाने की इजाजत नहीं देती। वह जानती है कि हिंदुस्तानी लड़के स्टेज

पर नाचने वाली लड़कियों को देखना तो पसंद करते है, पर उनसे शादी करना पसंद नहीं करते– '...मैं हिंदुस्तानी लड़कों की मनोवृत्ति को आपसे ज्यादा समझती हूँ। मैं जानती हूँ कि अपने को अत्याधुनिक कहनेवाले युवक भी पत्नी को स्टेज पर नाचते नहीं देख सकते। कला की प्रशंसा करना एक बात है, कलाकार से शादी करना एकदम दूसरी।'[11]

माँ के कहने पर बेटी अपना विरोध प्रकट करती है, 'शादी, शादी, शादी' शीतल एकदम चीख पड़ी, बंद करो ममा!, बोर हो गई हूँ मैं तो। क्या लड़की के करियर की यही आखिरी शर्त है? शादी! ओ गोड!'[12]

अंत में अपनी बेटी से अपने बारे में विचार सुनकर कुसुम शर्म से मुँह ढक लेती है।

इस प्रकार अपनी अपनी दीदी को नसीहत देने वाली कुसुम किस प्रकार रूढ़ियों के जाल में फँसी हुई है। इस चित्रण के द्वारा कहानीकार ने स्पष्ट किया है कि प्रगतिवाद-सुधारवादी होने का ढोंग करने वाले संघर्ष का मैदान छोड़कर समझौतावादी बनते हैं। उनका प्रगतिवाद औरों के आचरण के लिए होता है।

'साजिश' कहानी में एक शादीशुदा लड़की द्वारा स्वयं पैदा की गई समस्याएँ उसके घर में तनाव का कारण बन जाती हैं। 'पाँच साल के वैवाहिक जीवन में मुश्किल से एक साल शांति से गुजरा होगा। पता नहीं कब क्या हो जाता है और वह अपनी लड़की को गोद में उठाकर यहाँ चली आती है।'[13] शादी के बाद भारत के अधिकांश परिवारों में यह समस्या होती है कि लड़की अपने ससुरालवालों से झगड़ा करके मायके आती है। इन दिनों में अम्मा ही अपनी बेटी का सहारा है। 'दुखियादारी बेटी के लिए अम्माँ उन दिनों कुछ ज्यादा ही तरल हो जाती है। अम्मा रोज पम्मी को लेकर रिश्तेदारों के यहाँ निकल जाती हैं और रिक्शे-तांगे में ढेर सारा रुपया फूँक डालती हैं। पम्मी का मन बहलाने के लिए निम्मी को ठेल-ठालकर उसके साथ सिनेमा या पार्क में भेज देती हैं। इन सब कार्यक्रमों के लिए शीला को ही पैसे देने पड़ते हैं, और वह भी खुशी-खुशी। नहीं तो अम्मा का पारा चढ़ जाता है।'[14] पम्मी हमेशा अपने ससुराल से मायके आती है और वहाँ पूरा तनाव फैलाती है। घरवाले उसके कारण परेशान हैं। उसके कारण उस घर के अन्य लोगों का काम तक रुक जाता है। घर का जो बजट है उसमें गड़बड़ियाँ आती हैं। छोटी की शादी अब होनेवाली है। इसी बीच पम्मी अपनी परेशानियाँ बताकर मायके आती है। अंत में पिता निस्सहाय होकर कहते हैं,'पम्मी बेटे, हम लोग तुम्हारे जन्म के जिम्मेदार हैं। कर्म तो तुम्हें अपने खुद ही झेलने होंगे। सुख-दुख जो भी हो, अपने घर में ही सहो बिटिया। कल को तुम यहाँ आकर बैठ जाओगी, तो बताओ, निम्मी को कौन स्वीकारेगा?'[15]

कुछ दिन बाद पम्मी को ससुराल भेजे जाने पर पिता को लगा कि अगर उसको कुछ हो गया तो इस साजिश में वे भी बराबर के हिस्सेदार हैं। इस प्रकार पम्मी की जिंदगी ससुराल और मायके के बीच की दौड़ में खो जाती है। अंत में वह सहन का प्रतिरूप बनकर जीवन के आखिरी क्षण तक जीती है।

मालती जोशी ने इस कहानी के माध्यम से एक गंभीर समस्या को उठाया है कि ससुराल में स्वयं को असुरक्षित महसूस करने वाली लड़कियों का भविष्य मायके में भी सुरक्षित नहीं है। तब उनकी रक्षा किसके हाथ में है? लेखिका ने इस प्रश्न के हल का सुझाव भी दिया है कि ऐसी लड़कियों को खुद अपने भविष्य को बनाना है, उनकी रक्षा उनके अपने हाथों में है। उन्हें आत्मनिर्भर बनना होगा।

'बहुरी अकेला' वास्तव में नारी के मन का सूक्ष्म चित्रण है। इसकी मुख्य पात्र कॉलेज की अध्यापिका है जिसकी शादी चौंतीस वर्ष की उम्र में हुई है। उसके पति का दूसरा विवाह है और दो बच्चे भी हैं। अपना तबादला लेकर अपना घर बसाने की इच्छा उसके अंदर है। लेकिन उसका पति भी इसी ओर ध्यान नहीं देता है। इस विषय में दोनों के बीच ऐसा वाद-प्रतिवाद चलता है, 'बहू! अब तुम आकर जल्दी से अपना घर-बार सँभालो और मुझे छुट्टी दो'। पर वे बड़ी प्रैक्टिकल हैं। उन्हें यही व्यवस्था रास आ गई है। घर में इनका एकछत्र शासन में भी बना रहता है और बेटे को कोई परेशानी ही नहीं होती। वह आदर्श बेटा बना रहता है, आदर्श पिता बना रहता है और उसकी साप्ताहिक आनंद-यात्रा भी निर्विघ्न चलती रहती है।

'आनंद-यात्रा वाह तुम क्या सोचती हो तुम कोई हुस्नपरी हो जिसके लिए मैं दीवानावार चला आता हूँ।'

'मैं हुस्नपरी होती तो चौंतीस साल तक अनब्याही न बैठी रहती। और न ही दो बच्चों के बाप से शादी करती।'[16]

अपने पति से ही मन तोड़नेवाली बातें सुनकर प्रतिक्रिया के बिना वह रह नहीं सकती। उसको लगा कि आखिर यह शादी किसके लिए हुई? पति सप्ताह के अंत में आकर साथ रहता है और घर में रखी चीजों को अमुक-अमुक कारण बताकर ले जाता है। उसका फ्लैट और जी॰पी॰एफ॰ का नोमिनी कौन हैं, ये सब जानना पति की इच्छा है। 'पर महीने भर पहले ब्याही औरत भविष्य के सपने रखती है। उसे वसीयत के बारे में सोचना जरा अच्छा नहीं लगता। बदली हुई परिस्थिति में शायद मैं खुद इस विषय में पहल करती। पर आपकी उतावली देखकर वितृष्णा हो आई।'[17]

अपनी पत्नी की कमाई पर नजर रखनेवाले पुरुष के मन में कभी भी प्यार नहीं होगा। वह उसे केवल एक कमाई वस्तु के रूप में देखता है। यह जानकर ही वह अपने पति से कहती है, 'कुछ आलोचना इस बात पर होगी कि शायद अम्माजी ने ही समझाया होगा कि कमाऊ बीवी से बनाकर चलना चाहिए।'[18] शादी का एक साल पूरा होने पर वह अपने मित्रों और पड़ोसियों को खाना देना चाहती है। लेकिन पति को इस दिन की याद भी नहीं थी। वह अपने सब रिश्तेदारों और मित्रों के जन्मदिन, विवाह वार्षिक दिन आदि का ख्याल रखता है। लेकिन अपनी बीवी के जन्मदिन की याद नहीं। उसका स्कूटर दुर्घटना होने पर भी पति उसकी सांत्वना देने के लिए साथ नहीं रहता।' सामने वही खिड़की थी, जहाँ से मैंने उन्हें जाते हुए देखा था। मुझे लगा, वे मेरे घर से ही नहीं, जीवन से भी चले गए हैं।'[19] लेखिका की नजर इतनी सूक्ष्म है कि जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम समस्याओं को अत्यंत संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। पात्र चित्रण में उनकी कलम अत्यंत भावात्मक है और संवादों की शैली कितना भाव गंभीर है, एक स्त्री के दिल को झकझोर करनेवाली बातें कहने वाले पति से पत्नी का जवाब कितने प्रतिरोधी स्वर में मालती जोशी ने लिखा है।

मालती जोशी की कथा शैली से ही पाठक वशीभूत हुए हैं। इनके संबंध में कहानीकार श्रीमती सुधा अरोड़ा ने लिखा था-'मालती जोशी पाठकों में सर्वाधिक लोकप्रिय और समीक्षकों द्वारा सर्वाधिक उपेक्षित कथाकार हैं। सर्वाधिक लोकप्रियता की बात अतिशयोक्ति हो सकती है परंतु समीक्षकों की उपेक्षावाली बात सौ फीसदी सच है। मेरी सीधी-सादी नितांत घरेलू कहानियों को श्रेष्ठजन कोई तवज्जों नहीं देते। उन्हें हाशिए पर डाल दिया जाता है या यों कहें कि एक तरह से खारिज कर दिया जाता।'[20] ऐसी समीक्षा का समय तो अब चला गया है क्योंकि उनकी कहानियाँ हाशिएकृत नहीं होनी चाहिए। साहित्यिक रचनाओं की सफलता उसकी प्रचुरता और संप्रेषणीयता में

है। मालती जोशी की कहानियों को पूर्ण रूप से पढ़े और समझे बिना आलोचक उपेक्षात्मक नजर डालते थे। आज उनकी कहानियाँ सभी पीढ़ियों के लोगों द्वारा स्वीकृत हैं।

निष्कर्ष–घरेलू होने पर भी उनकी कहानियाँ सामाजिक संदेश देनेवाली हैं। समाज की बुनियाद परिवारों में निहित है और पारिवारिक संबंधों को मजबूत बनाए रखना सामाजिक प्रगति एवं कल्याण के लिए आवश्यक है। टूटे हुए पारिवारिक संबंध सामजिक पतन का कारण भी होते हैं। इसलिए मालती जोशी की कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिए नहीं पारिवारिक संबंधों को समझकर और समझाकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरणादायक हैं। मानवीय संवेदनाओं के अतुल्य कहानीकार के रूप में मालती जोशी का नाम कालजयी है। आजकल उनकी रचनाओं में होनेवाली चर्चाएँ, शोध कार्य आदि उनकी कलात्मक श्रेष्ठता का दृष्टांत है।

संदर्भ

1. मालती जोशी, मालती जोशी की लोकप्रिय कहानियाँ, प्रभात पैपरबैक्स, नई दिल्ली, 2021, पृ॰ 184
2. वही
3. वही, पृ॰ 14
4. वही, पृ॰ 34
5. वही, पृ॰ 40
6. वही
7. वही, पृ॰ 41
8. वही, पृ॰ 48
9. वही, पृ॰ 147
10. वही, पृ॰ 69
11. वही
12. वही
13. वही, पृ॰ 121
14. वही
15. वही, पृ॰ 125
16. वही, पृ॰ 79
17. वही, पृ॰ 87
18. वही, पृ॰ 81
19. वही, पृ॰ 90
20. वही, भूमिका

Mob. 9995479519
sindhubhiravisankaramangalam@gmail.com

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में चित्रित बाल मनोविज्ञान

डॉ॰ अनिता रानी, सहा॰ प्रोफेसर, हिंदी
राजकीय महिला महाविद्यालय, रेवाड़ी

बालक समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। वे हमारा भविष्य हैं। आज उद्योग, व्यापार, शिक्षा, चिकित्सा आदि सभी क्षेत्रों में मनोविज्ञान की आवश्यकता बढ़ रही है। लेकिन समाज में बच्चे असुरक्षित हैं और उन्हें सही दिशा निर्देशन की जरूरत है जिससे प्रगति का पथ प्रशस्त हो। धीरे-धीरे बच्चे बढ़ते हुए किशोर, किशोर से युवा एवं युवा से प्रौढ़ बनते हैं। इन सभी अवस्थाओं में माता-पिता, शिक्षकों और मित्रों का सहयोग अनिवार्य है।

बाल्यावस्था जीवन की पहली अवस्था है जो सजगता एवं सचेतन मन की मांग करता है। इसमें माता-पिता, शिक्षक, मित्र एवं रिश्तेदार यथा समय अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे सभी हस्तक्षेप करते हुए जीवन की आधारशिला रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। 'किंतु दु:ख का विषय है कि आज भी 30-40 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के गंभीर शिकार हो जाते हैं जिसके कारण उनका शारीरिक, मानसिक, गामक, बौद्धिक, संज्ञानात्मक, सृजनात्मक व्यक्तित्व एवं कल्पना आदि विकास ठीक से नहीं हो पाता है।'[1]

कुछेक बच्चे पारिवारिक और अन्य समस्याओं के कारण पथभ्रष्ट हो जाते हैं। वे बचपन को बर्बाद कर सड़कों पर कूड़ा बीनते हैं। वहीं कुछ बच्चे आंतरिक प्रेरणा, लग्न एवं साहस के साथ मंजिल प्राप्त करते हैं। वे मेहनत, आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प शक्ति से असंभव को संभव बनाते हैं। वे समाज में मशाल बनकर अनेक छात्र-छात्राओं का पथ-प्रदर्शन करते हैं। ऐसे बालक हमारे समक्ष मौजूद है जिनका नाम श्यौराज सिंह बेचैन है जो हजारों बच्चों का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष के पद पर कार्यरत हैं।

हम अपने दैनिक जीवन में मनोविज्ञान का प्रयोग करते हैं। इसमें मानसिक प्रक्रियाओं, अनुभवों एवं विभिन्न संदर्भों में व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान का फलक विस्तृत है। इसमें विचारधाराओं के प्रमुख संप्रदाय संरचनावाद, प्रकार्यवाद, व्यवहारवाद, गेस्टाल्ट स्कूल, मनोविश्लेषण, मानवतावादी मनोविज्ञान एवं संज्ञानात्मक मनोविज्ञान आदि आते हैं। वही बाल मनोविज्ञान भी मनोविज्ञान की एक शाखा है जिसके अंतर्गत बालकों के व्यवहार एवं अंतर्मन का अध्ययन किया जाता है। इसका उद्देश्य बालकों का सर्वांगीण विकास होता है। आधुनिक विद्या शाखा के रूप में मनोविज्ञान पाश्चात्य विज्ञान से अधिक प्रभावित है।

क्रो एवं क्रो के अनुसार, 'बाल मनोविज्ञान वह मनोवैज्ञानिक अध्ययन है जो व्यक्ति के विकास का अध्ययन गर्भकाल के प्रारंभ से लेकर किशोरावस्था के प्रारंभिक अवस्था तक करता है।'

थॉमसन महोदय के अनुसार, 'यह सभी को एक नई दिशा प्रदान करने का कार्य करता है एवं उसे उचित रूप प्रदान करने का कार्य करता हैं। जिससे विकास की दिशा को उचित रूप दिया जा सकें'

बाल मनोविज्ञान की विशेषताएँ

* इसका केंद्रबिंदु बालक होता है।
* इसके अंतर्गत बालकों के व्यवहार का अध्ययन मनोवैज्ञानिक पद्धति के आधार पर किया जाता है।
* यह छात्रों के विकास को उचित दिशा प्रदान करने का कार्य करता है।
* बाल मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की ही एक शाखा है। जिसका विकास एवं उपयोग आधुनिक समय में अधिक किया जाता है।
* इसके अंतर्गत बालकों के व्यवहार में हो रहे परिवर्तन को जानकर उसको सही दिशा प्रदान करने हेतु विभिन्न योजनाओं का निर्माण किया जाता है।

बाल मनोविज्ञान के सिद्धांत

1. **मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत**–इस सिद्धांत का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रायड द्वारा किया गया है। इनके अनुसार व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपनी क्षमताओं में वृद्धि करने का कार्य करता है। यह सिद्धांत आधुनिक समय का प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है।

2. **व्यवहारवादी सिद्धांत**–इस सिद्धांत का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक जॉन डॉलर एवं पी॰जे॰ नीर द्वारा किया गया था। इस सिद्धांत के अनुसार बालकों के व्यवहार के आधार पर बालकों की मनोदशा को आसानी से समझा जा सकता है। अर्थात् उनकी आवश्यकता एवं उनके मन-मस्तिष्क में चल रहे द्वंद्व को आसानी से पहचाना जा सकता है।

3. **संज्ञानात्मक सिद्धांत**–इस सिद्धांत का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक गेस्टाल्ट द्वारा किया गया था। इस सिद्धांत के अनुसार बालकों की बुद्धि एवं ज्ञान में हो रहे परिवर्तनों के आधार पर उनके व्यवहार में भी परिवर्तन आता रहता है।

बाल मनोविज्ञान की शिक्षा में उपयोगिता

आधुनिक शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की प्राप्ति करने एवं शिक्षा को प्रभावशाली बनाने हेतु बाल मनोविज्ञान को शिक्षा में सम्मिलित किया जाना अति आवश्यक हो गया है। यह पाठ्यक्रम, समय-सारणी, विद्यालयी कार्यक्रम, सह-पाठ्यक्रम सामग्री के चयन आदि में अपनी सक्रिय भूमिका निभाता है। आधुनिक शिक्षा में हो रहे बदलावों का कारण भी यही है।

शिक्षा को बाल केंद्रित बनाने का कारण छात्रों को उनकी रुचि के अनुसार शिक्षा प्रदान करवाना है जिससे वे अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार अपना बौद्धिक विकास कर सकें। यह सभी बाल मनोवैज्ञानिक पद्धति के बलबूते ही संभव हो पाया है।

यह मनोवैज्ञानिक पद्धति छात्रों के व्यवहार में हो रहे अवांछनीय बदलावों को उचित दिशा प्रदान करने का कार्य करती है। जिससे उनमें हो रहे विकास की प्रक्रिया को तीव्र किया जा सकें यह राष्ट्र के विकास एवं उसके चरित्र निर्माण में अपनी अहम भूमिका निभाती है। सामाजिक आवश्यकताओं और शिक्षा के वास्तविक लक्ष्यों के निर्माण करने एवं छात्रों के मानसिक, बौद्धिक विकास को उचित दिशा एवं गति प्रदान करने का कार्य इसके अंतर्गत ही किया जाता है।

आधुनिक बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुरूप छात्रों के व्यवहार एवं उनकी मनोस्थिति में निरंतर बदलाव आ रहा है। अपितु उनको उचित दिशा दिखाने एवं उनकी विकास की गति को तीव्र करने हेतु बाल मनोविज्ञान को अपनाना एवं शिक्षा में इसे लागू करना आवश्यक हो गया है। जिससे उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाया जा सकें बाल मनोविज्ञान में बालकों के विकास,

व्यवहार, अभिवृत्ति एवं रचनात्मक परिवर्तनों आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें मन, व्यवहार और उसकी वृत्तियों को समझा जाता है। वहीं विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं जैसे प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, चिंतन, कल्पना एवं तर्कशक्ति आदि का भी अध्ययन किया जाता है।

हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथाओं का आना परंपरागत एवं कलात्मक अभिव्यक्तियों के प्रति नकार का परिणाम है। दलित लेखकों एवं लेखिकाओं ने अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज कराते हुए दलितों के योगदान को चिह्नित किया। पहली आत्मकथा मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' मानी जाती है। इसमें मेरठ के इतिहास को खँगालने के साथ-साथ दलित जीवन की तल्ख एवं दर्दनाक जीवनानुभूतियों को पेश किया है। इसी क्रम में श्यौराजसिंह बैचेन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' सन् 2010 में प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने बाल मजदूरी के अनुभवों के साथ अपने साहस, मेहनत एवं सफलता की कहानी लिखी है। वहीं समाज में दलितों के जीवन की तस्वीर पेश की है। उनका बचपन सामान्य बालक की तरह नहीं रहा। असमय पिता की मृत्यु, आर्थिक तंगी, पिता का सौतेला व्यवहार, शारीरिक एवं मानसिक उत्पीड़न आदि ऐसे कारण हैं जो बालक श्यौराज को मजबूत बनाते हैं।

एक बाल मजदूर बनकर अपनी शिक्षा को जारी रखना बड़ी बात है। जब खुद का पेट भरना, तन खुद ढकना तो शिक्षा जैसे प्रश्न बेमानी है। लगभग सभी दलित बच्चों के समक्ष रोटी का प्रश्न सबसे बड़ा होता है क्योंकि हमारी सामाजिक व्यवस्था का क्रम ही कुछ ऐसा है जिसके चलते एक दलित बच्चा अनपढ़ रहने को मजबूर है वहीं अगर कोई पढ़-लिख भी जाए तो व्यवस्था से संतुलन बना पाना मुश्किल हो जाता है।

दलित बच्चे का बचपन होता ही नहीं शायद। वह बचपन से हिंदू एवं दलित के प्रश्न को लेकर सशंकित रहता है। स्कूल रूपी संस्थान से टकराते यह प्रश्न जीवंत हो उठता है कि तुम कौन हो, तुम्हारी जात क्या है? यह प्रश्न शमशान तक बना रहता है तो दलित बच्चे के लिए उभर पाना कैसे संभव है। वे भी अपनी पहचान को लेकर चिंतित रहते हैं। बचपन से आघात-प्रतिघात सहते बड़े होते हैं। आगे जाकर वे अंतर्मुखी, संवेदनशील और सशक्त व्यक्तित्व के धनी बनते हैं। अपनी मानसिक उलझनों और अंतर्द्वंद्वों से घिरे रहते हैं। संपूर्ण आत्मकथा में वे अपनी प्रगति को लेकर सोचते रहते हैं। उनके पिता की असमय मृत्यु, गरीबी और आर्थिक विपन्नता के चलते उन्हें बाल मजदूर बनना पड़ा। इस समस्त यात्रा में अनेक ऐसे पड़ाव आते हैं जिसमें उसकी सूझबूझ, साहस, विद्रोही व्यक्तित्व, क्षमताओं और आत्मविश्वास का परिचय मिलता है।

पिता की मृत्यु के कुछ महीनों बाद, माता का पुनर्विवाह करा दिया जाता है। बालक श्यौराज अपनी माता के साथ जाता है। वहाँ सभी उसे हीन दृष्टि से देखते हैं। उसे हमउम्र के लड़के दोयम दर्जे का समझते हैं। वहाँ भेदभाव के कारण वह उपेक्षा का शिकार होता है। हमारे समाज में सौतेले बेटे या बेटी को स्वीकृति, सम्मान और बराबरी का दर्जा मिल नहीं पाता। हमारे समाज में तलाकशुदा या विधवा औरत से लोग रिश्ता जोड़ लेते हैं लेकिन उसकी संतान को तनाव, विचलन और उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। इसके कारण बच्चे विद्रोही, अंतर्मुखी, विक्षिप्त, गिरते मनोबल एवं असफलताओं का शिकार होते हैं। सभी बच्चे स्थितियों को सँभाल नहीं पाते। बालक श्यौराज का अंतर्मुखी होना, बिस्तर गीला करना, तनावग्रस्त रहना आदि परिणाम सामने हैं। 'आपका बंटी' उपन्यास में अपनी उम्र से आगे सोचने वाला बंटी परीक्षा में फेल हो जाता है। इसमें ऐसे असंख्य व्यवहारों का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ बालक श्यौराज की चिड़चिड़ाहट, सांवेगिक

अस्थिरता को समझा जा सकता है। वहीं 'आपका बंटी' उपन्यास में माता के दूसरे विवाह से बंटी विक्षिप्त और अलगाव की स्थिति में आ जाता है।

बालक श्यौराज दिनभर मजदूरी करता। वह रात को खाना पकाकर पढ़ाई करता। रात को चौपाल पर बैठकर किताबों में छपने बिकने वाले गीतों को गाता। उसे कबीर एवं रैदास के लोक प्रचलित भजन कंठस्थ थे। सारी मुश्किलों के बाद भी उसने पढ़ने-लिखने का अभ्यास नहीं छोड़ा। सामाजिक दबाव के माहौल में भिखारी (श्यौराज के पिता) ने उसका प्राथमिक विद्यालय में दाखिल करा दिया। बालक श्यौराज कुछ ही दिनों में भी पहली किताब के सारे अक्षर पहचान गया। विपरीत परिस्थितियों में उसने हिम्मत नहीं छोड़ी। उसकी इच्छाशक्ति प्रबल होती चली गई। श्यौराजसिंह ने अपनी आत्मकथा में लिखा है–

'पिटते रहने के कारण मेरे मन में इस कथित पिता के प्रति दूर के किसी अजनबी के बराबर भी आदर नहीं रह गया था। जैसे भिखारी देखता कि मैं अब खाली होने वाला हूँ, तभी वह दूसरा काम गिना देता।'[2]

अपने पढ़ने के शौक के विषय में वे लिखते हैं–

'किताबों के शौक ने मुझे अम्मा से फिर झूठ बुलाया। हालाँकि अम्मा की कमाई में मेरी भी कमाई शामिल थी। मेरा झूठ और जानकारी का रहस्य फूलसिंह बखूबी जानता था।'[3]

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्राइड का मानना है कि 'बाल्यावस्था भावी जीवन की आधारशिला प्रस्तुत करती है, बालक बचपन में जो कुछ भी अपने माता-पिता व परिवारजनों से सीखता है, उसकी अमिट छाप जीवनपर्यंत उसके व्यक्तित्व में झलकती है।'[4]

बात बात पर झिड़कना, मार-पीट, गाली-गलौच, डाँट-फटकार आदि बच्चे में नकारात्मकता उत्पन्न करते हैं। उसके व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इसी नकारात्मकता की झलक श्यौराजसिंह की आत्मकथा में मिलती है। वे कई बार तनावग्रस्त एवं चिंतित हो जाते थे। लेकिन जैसे-जैसे उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन हुआ परिपक्वता आती गई। उनके प्रयासों में तीव्रता आने लगी। उनमें तर्कशक्ति और क्षमताओं का विकास होने लगा। वे आत्मविश्वास से परिपूर्ण हाकर स्वयं सम्मानित महसूस करने लगे।

बालश्रम करते हुए अपनी पढ़ाई जारी रखते हैं। उन्होंने परिस्थितियों से समझौता नहीं किया। उनकी पढ़ाई और ममता की कीमत माँ को चुकानी पड़ी। अनगिनत बार भिखारी ने उनकी माँ को आँगन में मार-मारकर बिछा दिया। फिर भी उनकी पढ़ने के प्रति ललक कम नहीं हुई। वे अप्रत्यक्ष रूप से अपनी माँ पर ही गुस्सा प्रकट करते थे। उन्होंने अपनी शिक्षा को जारी रखने हेतु कोई काम नहीं छोड़ा जैसे जूते पॉलिश करना, नींबू बेचना, दिहाड़ी मजदूरी करना, खेतों में पानी देना आदि सभी काम अपने पेट और पढ़ाई के लिए किए। वे लिखते हैं–

'नवीं पास होने के बाद मैं अधिक समय प्रेमपाल सिंह के घर और खेतों पर काम के लिए समय दे रहा था। मेरा मन कहता था कि मुझे बहुत ही दुर्लभ चीज (शिक्षा) जिसे मैं अपने खून के बदले प्राप्त करना चाहता था, मिल रही थी। मुझे इससे अधिक किसी चीज की ख्वाहिश नहीं रखनी चाहिए। आखिर मैं तो पढ़-लिखकर बाल गुलामी से आजाद हो ही जाऊँगा।'[5]

बालक श्यौराज में किशोरावस्था में पढ़ाई के प्रति ध्यान केंद्रित करने की क्षमता पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। वे अमूर्त चिंतन करने लगे थे। अपनी बाल मजदूरी को समाप्त करने हेतु पढ़ाई में दिन-रात ध्यान देते थे। उनमें बाल्यावस्था की चंचलता समाप्त हो गई थी। उनका ध्यान

 ISSN 0975-735X

घर-परिवार और बाहरी परिस्थितियों पर कम रहने लगा था। वे लिखते हैं–

'मैं इतना जानता था कि मेरी कोशिशें बाँझ नहीं रहीं। मैं अछूत सर्वहारा, मेरे पास था ही क्या खोने को? शरीर की मेहनत बेच देता था और पेट भरता था। स्कूल जाने से पहले श्रम-शोषण की नदियों के कई घाटों का पानी पी चुका, कई तरीके के अनुभवों से गुजर चुका था मैं।'[6]

प्रत्येक समस्या के विषय में प्रश्न करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। उनकी स्मरण शक्ति विकसित होने लगी थी। वातावरण से ज्ञान प्राप्त करते हैं। धीरे-धीरे उनमें एक बालकवि जन्म लेता है। वे तुकबंदी बनाकर कविताएँ लिखते हैं। वे परिस्थितियों से उपजी भावनाओं को शब्द देते हैं–

रस के भरे, रसीले नींबू दस के दो,
पंद्रह के दो, हँस के ले लो भाई
हँस के ले लो।[7]

संपूर्ण आत्मकथा में बालक श्यौराज की दृढ़ इच्छाशक्ति, प्रखर बुद्धि एवं निर्णय क्षमता की झलक मिलती है। वे अपनी सकारात्मक सोच, मेहनतकश व्यक्तित्व एवं अदम्य जिजीविषा के चलते दसवीं पास करते हैं। उनमें बाल्यावस्था से कलात्मक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। उनका पहला लेखकीय अनुभव सरदार जी के कहने पर लघु नाटिका लिखना था। सरदार जी को वचन देकर वे लघु नाटिका तैयार करने में जुट गए। उन्होंने दो दिन जोड़-तोड़कर नाटिका लिखकर सरदार जी को सौंप दी थी जिसका शीर्षक था–'शहीदों की सीख'। उन्होंने संवाद बच्चों को समझा दिए। इसमें भगतसिंह, राजगुरु एवं सुखदेव की शहादत के बारे में लिखा था। बाद में पता चला कि उस नाटक को प्रथम पुरस्कार मिला।

इस तरह कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि बालक श्यौराज में आत्मविश्वास, दृढ़ निश्चय एवं प्रखर बुद्धि की झलक मिलती है। वे परिस्थितियों से डगमगाए नहीं। उन्होंने अपने बालश्रम के बल पर अपनी पढ़ाई पूरी की। स्कूल एवं कॉलेज में रहते हुए शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान हासिल किया। इस आत्मकथा के माध्यम से उनके विलक्षण ज्ञान, सूझबूझ, कलात्मकता एवं तर्क-वितर्क की शक्ति का ज्ञान होता है। उन्होंने अपनी उम्र से आगे की सोच रखते हुए परिस्थितियों को मात देकर जीत का आगाज किया। अपनी सकारात्मक सोच के चलते परिस्थितियों के बीच समायोजन बनाया। वे सभी के लिए प्रेरणास्रोत हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ वृंदासिंह, बाल विकास एवं बाल मनोविज्ञान, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007, पृ॰ 01
2. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 68
3. वही, पृ॰ 141
4. डॉ॰ वृंदासिंह, बाल विकास एवं बाल मनोविज्ञान, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2007, पृ॰ 4
5. श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ॰ 316
6. वही, पृ॰ 325
7. वही, पृ॰ 215

मकान नं॰ 1655, **सेक्टर**-4
रेवाड़ी (हरियाणा)
मो॰ 9416744868
anitarani3132@gmail.com

मानुष हौं तो वही 'रसखान' बसों, ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन : कृष्णभक्त कवि रसखान

डॉ॰ अवधेश कुमार, अतिथि शिक्षक, हिंदी विभाग
डॉ॰ हरीसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म॰प्र॰)

प्रस्तावना–रसखान कृष्णभक्त कवि थे। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन वैष्णव भक्ति में लीन होकर कृष्ण के भजन गाते हुए गोकुल की गलियों में गुजार दिया। हिंदी काव्य जगत के ब्रजभाषा प्रेमी कृष्णभक्त कवि रसखान का जन्म सन् 1548 ई॰ में पिहानी में हुआ था, जोकि दिल्ली के समीप स्थित है। भक्त रसखान का मूल नाम सैयद इब्राहिम था। विद्वानों में इनके जीवनकाल को लेकर मतभेद है, लेकिन अनेक विद्वानों का अभिमत है कि ये दिल्ली के पठान सरदार थे। स्पष्ट है कि 'प्रेमवाटिका' में उन्होंने अपने को शाही खानदान का बताया है, 'देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान। छिनहिं बादसा बंस की ठसक छाड़ि रसखान।' उक्त दोहे से यह अर्थ प्रतीत होता है कि इनका संबंध दिल्ली के पठान बादशाहों की वंश परंपरा से ही रहा है। निस्संदेह इनका पालन-पोषण राजकीय परंपरा के अनुसार ही हुआ होगा। परंतु, मुगल-पठान संघर्ष के कारण वे दिल्ली छोड़कर, कृष्ण की नगरी ब्रज चले आए थे। रसखान स्वभाव से सरल, सहज और प्रेमी हृदय के व्यक्ति थे। प्रारंभ में इनका प्रेम लौकिक था, किंतु विट्ठलानाथ जी के संपर्क में आने पर उनका लौकिक प्रेम भगवान कृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम में बदल जाता है और इस प्रकार संसार से उन्हें विरक्ति हो गई। विट्ठलनाथ जी के प्रभाव से रसखान उनके शिष्य बनकर कृष्णभक्ति में उन्मुख हो गए। वे जितना कृष्ण के रूप सौंदर्य पर मुग्ध थे, उतना ही उनकी लीला भूमि ब्रज के प्राकृतिक सौंदर्य पर मोहित थे। जीवन के शेष भाग में रसखान कृष्ण-भक्ति से ओत-प्रोत सरस और मार्मिक रचनाएँ करते रहे। ब्रजभूमि और ब्रजराज के दीवाने रसखान लगभग 79 वर्ष की आयु में सन् 1628 में स्वर्गधाम सिधार गए। आज भी इनकी समाधि मथुरा जिले में महाबन में स्थित है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा कहते हैं कि 'मुसलमान होते हुए भी रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की जो भावना प्रदर्शित की है, वह हिंदी साहित्य में चिरस्मरणी रहेगी।'[1] हिंदी साहित्य में रसखान की दो रचनाएँ प्रकाश में आती हैं–'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान'। 'प्रेमवाटिका' में दोहे हैं और 'सुजान रसखान' में कवित्त और सवैये।

रसखान, ब्रजवासी कृष्णभक्त कवि थे। अत: उनकी भक्ति-भावना पर विचार करने से पूर्व हमें ब्रज के अन्य कृष्णभक्त कवियों की भाव-भूमि को समझना होगा। रसखान से पूर्व जितने भी कवियों इस भूमि में रहकर कृष्णभक्ति की उपासना की है, उन्होंने कृष्ण से लेकर उनकी मातृभूमि की रज, पशु-पक्षी, नदी, पहाड़ और वन इत्यादि की महत्ता से परिचित और प्रेमभाव से समर्पित होकर कृष्ण का लीलागान किया है। यही परिपाटी कृष्णभक्त कवि रसखान भी अपनाते हैं। कृष्ण भक्ति में शुद्ध प्रेम की महिमा की अनुभूति करके ही वे काव्य-सृजन करते हैं। रसखान प्रेम के दो रूप स्वीकार करते हैं–शुद्ध प्रेम और अशुद्ध प्रेम। वे कहते हैं कि शुद्ध प्रेम, सहज भावना से उत्पन्न

 ISSN 0975-735X

होता है और अशुद्ध प्रेम स्वार्थ भावना से युक्त होता है। सही अर्थों में यह जीवन-मुक्ति की अवस्था है। तभी तो ज्ञानी संत और भक्त प्रेम और ईश्वर में विभेद नहीं करते हैं। रसखान का मत है कि, 'शुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि' अर्थात् शुद्ध प्रेम धारण करने वाला भक्त अपने आराध्य से कोई कामना नहीं रखता है। प्रेम के संदर्भ में वे लिखते हैं–

ज्ञान, ध्यान, विद्या, मती, मत, विश्वास, विवेक।
बिना प्रेम सब घूर है, अग जग एक अनेक।[2]

देखा जाए तो रसखान की भक्ति काव्य के आलंबन अतुलित रूप सौंदर्य संपन्न श्रीकृष्ण हैं, जिनकी रूप छवि और मधुर लीलाओं ने संपूर्ण ब्रज की गोपियों को प्रेमोन्मत्त कर दिया। रसखान जब दिल्ली के सत्ता संघर्ष और मार-काट से ऊबकर शांति की खोज में वृंदावन पहुँचे तो वह श्रीकृष्ण की छवि को देखकर ठगे से रह गए। उस क्षण उनके नेत्रों और हृदय में कृष्ण की जो छवि समाई, वह जीवनभर नहीं निकली और रसखान उसी छवि में डूबे हुए सरस कवित्तों की रचना करके अपनी भावाभिव्यक्ति करते रहे। कृष्ण दर्शन के बाद रसखान की जो दशा हुई, उसका वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया–

प्रीतम नंद किशोर, जा दिन ते नैननि लग्यौ।
मन पावन चितचोर, पलक ओट नहिं सहि सकौं।

रसखान का उद्देश्य कृष्ण-विषयक रागात्मिका वृत्ति की अभिव्यक्ति और कृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण करना है। विभिन्न वृत्तियों के हृदयस्पर्शी और लीलाओं की प्रभावशीलता के लिए उद्दीपनकारी वातारण की दृष्टि अनिवार्य है। आलंबन के कारण जाग्रत भाव उद्दीपन विभावों के अभावों में रसात्मक नहीं हो सकता। कृष्ण के चित्रण को हृदयग्राही रूप देने के लिए उनकी लीलाओं को सरस बनाने वाले वातावरण विद्यमान हैं। रसखान का मानना है कि भक्ति या प्रेम संसार के सभी कर्मों में सबसे श्रेष्ठ है। जीवन में भक्ति पक्ष के आलावा दूसरे अन्य विधानों में अहंकार बना रह सकता है या उसका फिर से उदय हो सकता है। परंतु भक्ति-दशा में चित्त के द्रुत हो जाने पर अहंकार के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। भक्ति रागात्मक वृत्ति है, संकल्प-विकल्पात्मक, मन स्वभावत: रागात्मक है। वह इंद्रियों के माध्यम से विषयों की ओर प्रवृत्त रहता है। इस दृष्टि से प्रेम सब प्रकार के भावों से श्रेष्ठ है। इसका प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर-विषयक प्रेम का उदय होने पर काम-भावना, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि अपने-आप प्रेम भावना से तिरोहित हो जाते हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है–

काम क्रोध मद मोह भय लोभ द्रोह मात्सर्य।
इन सब ही तें प्रेम है परे, कहत मुनिवर्य।[3]

'प्रेमवाटिका' में रसखान ने प्रेम की जो विशेषताएँ बतलाई हैं वे लौकिक प्रेम और पारलौकिक प्रेम पर समान रूप से लागू होती हैं। जीवन-दर्शन के कर्म मीमांसा को समझने सुधीजनों मानते हैं कि जीव की जीवन-साधना का सबसे बड़ा लक्ष्य संसार के बंधन से मोक्ष है। कर्म, ज्ञान आदि इसी साध्य के साधन हैं। भक्ति की विलक्षणता इस बात में है कि वह साधन भी है और साध्य भी। यही बात का निहितार्थ रसखान बखूबी जानते हैं। उनका कहना है कि प्रेम कारण भी है और कार्य भी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रेम या भक्ति के लिए किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतंत्र है, अपने में पूर्ण है–

कारज-कारन रूप यह, प्रेम अहै रसखान।

कर्ता कर्म क्रिया करन, आपहि प्रेम बखान।[4]

रसखान ने प्रेम-मार्ग को सीधा भी कहा और टेढ़ा भी। कमलनाल से भी क्षीण तथा खड्ग की धार से भी कराल बतलाते हैं। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि एकांगी, सहज और स्वाभाविक प्रेम होना सरल नहीं, बल्कि दुर्लभ है। यदि हुआ भी तो उसका अंत तक निर्वाह करना बड़ा कठिन है। उनका मत है कि प्रेम को प्राप्त करने के लिए तप या योग की भाँति किसी दुष्कर साधना की जरूरत नहीं है, बल्कि हृदय को समझाने की बात है। इस अर्थ में रसखान को कृष्ण और उनकी गोकुल नगरी से शुद्ध प्रेम हो गया था। शुद्ध प्रेम के संदर्भ में रसखान का मत है कि वह प्रेम जिसके प्राप्त हो जाने पर बैकुंठ या ईश्वर की भी इच्छा न रह जाय, उसे शुद्ध प्रेम समझना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं कि 'जहि पाये बैकुंठ अरु, हरिहू की नहिं चाहि। सोइ अलौकिक, सुद्ध, सुभ, तरस, सुप्रेम कहाहि।' इसी का प्रतिफल है कि उन्हें कृष्ण और उनकी गोकुल नगरी से इतना मोह बना हुआ था। ब्रज की धूल में ही श्रीकृष्ण ने अनेक बाललीलाएँ की हैं, जिसका सुंदर और मनोहर चित्र इन्होंने अपनी आँखों में बसा लिया है। इसीलिए उनका मन ब्रज की धरती और उसकी संस्कृति में रच-बस गया है। यथा–

धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं आँगना पग पैजनियाँ कटि पीरी कछोटी।
वा छबि को रसखानि, विलोकत वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सौं लै गयौ माखन रोटी।[5]

रसखान का समय में शोषण, संघर्ष और अत्याचार का भी बोलबाला था। उस समय के लोग सत्ता से डरे हुए थे। समाज और परिवार में स्त्रियों को खुलकर जीवन जीने की आजादी नहीं थी। ऐसे समय में रसखान श्रीकृष्ण की ब्रजभूमि में रहकर वहाँ की भूमि में जन्मी स्त्रियों के पारिवारिक और सामाजिक प्रतिरोध से भी प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि में यहाँ की भूमि में मानवता की उर्वरा शक्ति निहित है, इसलिए भी यह माटी रसखान को अधिक प्रिय है। ब्रजभूमि के इस प्रयोजन का उल्लेख वे गोपियों के द्वारा फागलीला के माध्यम से चित्रित करते हैं। जैसे–

वाही दिन वारौ वानक वनि, आयौ सखी आज।
गावत तेरी रझी भावती, सग लिए सुघर समाज।
सासु ननद की कानि करौ जनि, उठ किन खेली फाग।
अँखियाँ सखियाँ सुफल करौ किन, इन नैनन के भाग।
कान परी जब तान मोहिनी, तबहूँ तजी कुल कानि।
इतरु हँसी वृषभान नंदिनी, उतरु हँसे रसखानि।[6]

इस पद में रसखान कहते हैं कि ब्रज की एक गोपी दूसरे सखियों से होली खेलने को प्रेरित करती हुई कहती है कि हे सखी! कृष्ण ने आज फिर उसी दिन वाली वेशभूषा धारण कर अपने शरीर को सजाया है। वह अपने साथ अपने साथियों का सुंदर समाज लेकर तेरे प्रेम के गीत गा रहा है। इसलिए यह सुंदर अवसर है कि तुम अपनी सास और ननद का भय छोड़कर, उनके साथ फाग यानी होली खेलो। यहाँ रसखान दूसरे सखी के माध्यम से कहते हैं कि हे सखियों यह अवसर बड़े सौभाग्य से मिला है, अत: कृष्ण के साथ होली खेलकर अपनी आँखों को सफल करो। इस प्रकार कृष्ण और राधा की इस मनोहर छवि को देखकर रसखान अपने को धन्य मानते हैं। यहाँ ब्रज की स्त्रियों के सामाजिक प्रतिरोध से भी रसखान बेहद प्रभावित हैं।

कृष्णभक्त कवि रसखान को 'रस की खान' भी कहा जाता है। इनके काव्य में भक्ति एवं शृंगार रस दोनों की व्यापक प्रधानता है। वे कृष्ण के सगुण और निर्गुण निराकार रूप दोनों के प्रति श्रद्धावनत हैं। रसखान के सगुण कृष्ण वे सारी लीलाएँ करते हैं, जो कृष्णलीला में प्रचलित रही हैं। यथा–बाललीला, रासलीला, फागलीला, कुंजलीला आदि। उन्होंने अपने काव्य की सीमित परिधि में इन असीमित लीलाओं को बखूबी बाँधा है। उनका विचार है कि भगवान के प्रति परम प्रेम का उदय होने पर भक्त की सारी कर्मेंद्रियाँ, ज्ञानेंद्रियाँ, मन और प्राण सब ईश्वरनिष्ठ हो जाते हैं। उसे इन सबकी सार्थकता केवल इस बात में दिखाई देती है कि ये सब अपना उपयोग केवल भगवान की महिमा के कीर्तन, श्रवण आदि में करें। वे कहते हैं कि रसखान वही है, जो श्रीकृष्ण में परम अनुराग रखे। इस संबंध में उनका यह सवैया द्रष्टव्य है–

बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै अरु पाइ वही जु वही अनुजानी।
जान वही उन आन के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यौं रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सों है रसखानि।[7]

वस्तुत: निश्छल प्रेमाभक्ति के परम अनुयायी रसखान प्रेम मार्ग की सहजता के कायल हैं। उनके जीवन दर्शन का निहितार्थ है कि 'मिलिए सब दुरभाव बिना रहिये सतसंग उजागर में। रसखान गुबिन्दहि यों भजिये जिमि नागरि को चित गागर में।' अर्थात् दुर्भाव रहित होकर और सत्संग करते हुए श्रीकृष्ण में अपने मन को वैसे ही लगाना चाहिए, जैसे जल भरते समय पनिहारिन का ध्यान गागर पर होता है। ठीक उसी प्रकार भक्ति के संबंध में हमारी धारणा भी यही होनी चाहिए। हालाँकि इस संसार में सभी प्रकार के प्रेम चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक उनकी यह विशेषता है कि प्रेमी केवल अपने प्रेमपात्र से ही प्रेम नहीं करता, बल्कि उस प्रेमपात्र से संबंध रखने वाली प्रत्येक वस्तु उसे अत्यंत प्रिय लगने लगती है; रसखान की भी यही दशा है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वे कृष्ण की लकुटी और कामरी पर तीनों लोकों का राज्य त्यागने को तैयार हैं, नंद की गायों को चराने में वे आठों सिद्धियों और नवों निधियों के सुख को भुला सकते हैं, ब्रज के वनों एवं उपवनों पर सोने के करोड़ों महल निछावर करने को प्रस्तुत हैं। प्रमाण स्वरूप यह सवैया देखिए–

वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहू पुर को ताजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
ए रसखानि जबै इन नैनन तैं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक ये कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।[8]

जीवन-मुक्ति के विषय में रसखान की भावना अन्य भक्तों से बिलकुल निराली थी। उनका प्रेम केवल श्रीकृष्ण से ही नहीं था, बल्कि उनकी जन्मभूमि में रहने वाले समस्त प्राकृतजन प्राणी ग्वाले, गोपियाँ, गायों, नदी तथा वन इत्यादि से था जो कृष्ण के साथ नित्यलीला में अपना समावेश करते थे। वे जीवन मुक्ति के बाद सदैव कृष्ण के साथ रहना चाहते हैं। इसीलिए वे कहते हैं–

मानुष हौं तो वही रसखान बसों, ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरी को जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हों तो बसेरो करों मिली कालिंदी कूल कदंब की डारन।[9]

अर्थात् रसखान का श्रीकृष्ण की जन्मभूमि ब्रज के प्रति अनन्य प्रेम था। वे चाहते हैं कि यदि

मुझे अगली योनि में मानव जन्म मिले तो मैं ब्रज के गोकुल गाँव में रहूँ। यदि पशु का जन्म हो तो नंद की गाय बनूँ, यदि पत्थर का जन्म मिले तो गोवर्धन पर्वत की शिला बनूँ और यदि पक्षी का जन्म मिले तो यमुना तट पर उगे हुए कदंब वृक्ष की डालों पर बैठकर आनंद के साथ चहचहाता रहूँ। 'राधा-माधव सखिन संग, बिरहत कुंज-कुटीर। रसिकराज रसखानि तहँ, कूजत कोइल कीर।'[10] यानी ब्रज की भूमि में पुनः राधा-कृष्ण अन्य गोपी-ग्वालों के साथ कुंज-कुटीरों में विचरण करें और वहाँ पर रसिकराज रसखान कोयल तथा तोते के रूप में कूँजता रहे। यही नहीं, रसखान को अपने आराध्य श्रीकृष्ण की भूमि से इतना प्रेम है कि उसके कण-कण पर ये समस्त सिद्धियों और समृद्धियों को न्यौछावर करने की क्षमता रखते हैं, 'कैसा यह देश निगोरा, जग होरी ब्रज होरा'। रसखान अपने प्रिय आराध्य के रूप में उसी प्रकार एकाकार हैं, जिस प्रकार गोपियाँ थीं। यह स्पष्ट हो जाता है कि रसखान न तो मुक्ति की कामना करते थे और न केवल हृदय में भक्ति धारण करके मानसिक उपासना चाहते थे। वरन् वे सच्चे प्रेमी-भक्त की भाँति सदा अपने प्रिय-आराध्य के साथ जीवन जीने के इच्छुक थे। इसलिए वे अपने पुनर्जीवन की प्राप्ति मानव रूप गोकुल में चाहते हैं। अब वे बादशाही कुल में जन्म नहीं लेना चाहते हैं। गोकुल में रहकर ये अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ ब्रजभूमि में लीलाकर करके अपना जीवन साकार करना चाहते हैं। ब्रजभूमि में जीवन की साकारता के स्वप्न को लेकर वे कहते हैं कि–

मोर पखा सिर ऊपर राखियौं, गुंज की माल गले पहिरौंगी।
ओढ़ि पीतांबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी।[11]

इस प्रकार रसखान के भक्तिकाव्य पर ध्यान देने से पता चलता है कि सामान्य और विशेष दो प्रकार के दृश्यों द्वारा परिस्थिति निर्माण करने वाले कवियों में प्रथम कोटि के कवि हैं। इनकी भक्तिमयी रचना का रसपान करने के लिए अधिक ज्ञानी होने की आवश्यकता नहीं है। अल्प शिक्षित मानव भी इनके काव्य का रसास्वादन कर सकता है। प्रवाहमय सरस और सरल भाषा इनके भक्तिकाव्य की मुख्य विशेषता है। कृष्ण छवि वर्णन में रसखान का अनूठा प्रेम-सौंदर्य झलकता है। अन्य कवियों की तरह रसखान का शृंगार वर्णन अश्लीलता को नहीं प्राप्त होने पाया, बल्कि इनका शृंगार मूल्यों की सीमा के भीतर ही है। निश्चित रूप से जीवन का पूर्ण समर्पण ही रसखान की कृष्णभक्ति की सफलता है।

निष्कर्ष–निस्संदेह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के कृष्णभक्त कवियों में रसखान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और इनकी कृष्णभक्ति हृदय की मुक्त साधना है। डॉ॰ विजयेंद्र स्नातक इनके बारे में लिखते हैं कि 'इनकी भक्ति हृदय की मुक्त साधना है और शृंगार वर्णन भावुक हृदय की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। इनके काव्य इनके स्वच्छंद मन के सहज उद्‌गार हैं।' इस तरह रसखान के भक्तिकाव्य में ब्रजभूमि में जन्मे श्रीकृष्ण के प्रति सच्ची भक्ति और भावनाओं की तीव्रता गहनता तथा तन्मयता को देखकर भारतेंदु जी ने कहा था, 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदू वारिये।' निश्चित रूप से रसखान बड़े विद्यानुरागी अध्ययनशील कवि थे। इनका सांसारिक जीवन ही कृष्ण प्रेम में परिवर्पित होकर प्रगाढ़ हो गया था। ये कृष्णभक्ति से केवल प्रभावित ही नहीं थे, बल्कि स्वयं भी सच्चे कृष्णभक्त थे। गोकुल की भूमि से इनका लौकिक प्रेम था और कृष्ण के सौंदर्य, वेशभूषा, मुरली तथा लीलाओं पर मुग्ध और जी-जान से न्यौछावर हो गए थे।

संदर्भ

1. डॉ॰ राजेंद्र यादव (संपादक), भक्तिकाल : वाणी और विचार, विजय बुक्स, सुभाष पार्क, नवीन

शाहदरा, दिल्ली-110032, संस्करण-2017, पृ॰ 235
2. डॉ॰ रामकुमार वर्मा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, आठवाँ संस्करण-2010, पृ॰ 576
3. चंद्रशेखर पांडे, रसखान और उनका काव्य, हिंदी साहित्य प्रेस, प्रयाग, संस्करण शक-1884, पृ॰ 68
4. प्रो॰ देशराज सिंह भाटी, रसखान ग्रंथावली सटीक, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1996, प्रेम वाटिका, 14, पृ॰ 324
5. वही, पृ॰ 47
6. डॉ॰ भगीरथ मिश्र, हिंदी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पहली आवृत्ति-2014, पृ॰ 63
7. प्रो॰ देशराज सिंह भाटी, रसखान ग्रंथावली सटीक, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1996, पृ॰ 344
8. प्रो॰ देशराज सिंह भाटी, रसखान ग्रंथावली सटीक, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1996, सुजान रसखान, 3, पृ॰ 157
9. प्रो॰ देशराज सिंह भाटी, रसखान ग्रंथावली सटीक, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1996, सुजान रसखान, सवैया-252, पृ॰ 315
10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, आठवाँ संस्करण-2012, पृ॰ 129
11. प्रो॰ देशराज सिंह भाटी, रसखान ग्रंथावली सटीक, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1996, पृ॰ 335
12. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, आठवाँ संस्करण-2012, पृ॰ 130

Mob. 8853309388
awadheshkkt@gmail.com

शंकर शैलेंद्र की कविताओं में सामाजिक विषमता का स्वरूप

लक्ष्मण कुमार पंकज, शोधार्थी, हिंदी विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

हिंदी साहित्य को शंकर शैलेंद्र ने काफी कुछ दिया है। सही मायने में कहे तो एक गीतकार के रूप में शैलेंद्र की ख्याति बहुत फैली लेकिन एक कवि के रूप में हिंदी साहित्य में उन्हें जो स्थान मिलना चाहिए था वह प्राप्त नहीं हुआ। इसका मूल कारण यह है कि उनके गीत, फिल्मों से होकर सामान्य लोगों तक पहुँचते रहे, स्वीकृत किए जाते रहे, लेकिन कविताओं की ओर बहुत अधिक ध्यान शैलेंद्र खुद भी नहीं दे सके और आमजन तक पहुँचने में भी गीतों की तुलना में कविताएँ काफी पीछे रहीं। समय-समय पर शैलेंद्र कविताएँ लिखते तो रहे लेकिन उसके प्रकाशन और प्रसार में गीतों की तुलना में उदासीनता लक्षित होती है। उनकी कविताओं को देखने के क्रम में सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उनकी कविताओं का स्वर जनोन्मुखी है। उनकी कविताओं में सामान्यजन की आवाज बुलंद है। सामान्य जन के हितों की रक्षा के लिए वे उसी तरह आवाज उठाते रहे जैसे नागार्जुन जैसे जनकवि प्रतिबद्ध होकर जनता के हित की बात करते रहे। शैलेंद्र को जनकवि के रूप में कई आलोचकों ने रेखांकित किया है।

शंकर शैलेंद्र ने अपनी कविताओं में समाज में फैली विषमता को काफी बारीकी से रेखांकित किया है। समाज के पिछड़ेपन का एक बड़ा कारण यह है कि पूँजी पर कुछ गिने-चुने लोगों का अधिकार है। श्रमिक वर्ग श्रम करता है लेकिन उसे अपने श्रम का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होता। बड़े-बड़े महल, कल-कारखाने खड़ा करने वाले श्रमिक मुश्किल से दो वक्त की रोटी जुटा पाते हैं जबकि उसके मालिक को अकूत संपत्ति का अधिकार मिल जाता है। अन्न उपजाने वाले परिश्रम करके पेट भरने योग्य अन्न ही प्राप्त कर पाते हैं लेकिन उनके अन्न का व्यापार कर व्यापारी वर्ग कोठी भर लेता है। जो व्यक्ति धरती पर जीवन का संचार करता है, वही दुखी रह जाता है और राजनीतिक साँठगाँठ से फल-फूल रहा पूँजीपति व्यक्ति दिन-रात अपनी संपत्ति बढ़ाता रहता है। शंकर शैलेंद्र की प्रसिद्ध कविता है, 'इतिहास' जिसमें वे लिखते हैं–

वे अन्न-अनाज उगाते/ वे ऊँचे महल उठाते,
कोयले लोहे सोने से/ धरती पर स्वर्ग बसाते,
वे पेट सभी का भरते/ पर खुद भूखों मरते हैं।[1]

भारतवर्ष में यह समस्या शंकर शैलेंद्र के समय में भी बरकरार थी और आज भी आजादी के इतने वर्षों बाद जस-की-तस बनी हुई है। जो व्यक्ति अर्थात् किसान दूसरों का पेट भरता है, वह खुद ही भूखा मरता है। कभी महाजन के कर्ज से दबकर तो कभी बैंक के कर्ज से परेशान होकर आत्महत्या करने को मजबूर हो उठता है वहीं दूसरी ओर बड़े-बड़े पूँजीपति बैंक से कर्ज लेकर ऐशोआराम करते हैं और जब बैंक को लौटाने की बारी आती है तो देश छोड़कर भाग जाते हैं। मुश्किल यह है कि शासन की बंदूक सदैव श्रमिकों की ओर ही तनी रहती है, उन पूँजीपतियों का

 ISSN 0975-735X

वह बाल भी बाँका नहीं कर पाते हैं जो देश की संपत्ति लूट कर भाग जाते हैं। देश की संपत्ति को लूटने में शासन और पूँजीपति दोनों की साँठ-गाँठ छुपी हुई नहीं है। पूँजीपति अपना जाल बिछाते हैं, शासन उन्हें सह देता है और तब वे जनता को लूटकर अपना घर भर लेते हैं–

शासन की भूख न मिटती/ शोषण की भूख न मिटती,
ये भिन्न-भिन्न देशों में/ छलके व्यापार सजाते,
पूँजी के जाल बिछाते,/ ये और और बढ़ जाते।[2]

पूँजी के इस विषम विभाजन पर शैलेंद्र के भीतर की आग जब सुलगती है तब वह उसी तरह विप्लव के गीत गाते हैं जैसे कभी निराला ने गाया था। वे संघर्षशील लोगों को आवाज देते हैं कि जो सत्ता के सुख में या पूँजी की मखमली बिस्तर में चैन की नींद सोते हैं उनसे किसी परिवर्तन की उम्मीद नहीं की जा सकती है। समाज में कोई सार्थक परिवर्तन यदि लाना है तो इसके लिए आमजन को ही प्रयास करना होगा। जिसकी रोटी हराम हुई है, उसे ही रोटी के लिए संघर्ष करना होगा। उनका कहना है कि जुर्म के सिंहासन को जब तक हिलाया नहीं जाएगा तब तक सिंहासन पर आरूढ़ व्यक्ति सामान्यजन के हित की बात नहीं सोचेगा। वही समय था जब एक ओर राष्ट्रकवि दिनकर लिख रहे थे, 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' वहीं दूसरी ओर शंकर शैलेंद्र जुल्म के सिंहासन को हिला देने की बात कर रहे थे। शंकर शैलेंद्र की कविता भीतर की आग को बाहर उतारने की बात करती है। उनका आक्रोश आमजन को सुलगाने का सार्थक प्रयास करता है कि व्यक्ति अपने हित के लिए तोप का मुँह मोड़कर रख दे–

तू औ' मैं हम जैसे अनगिनत इस बार अगर मिल जाएँ
तोपों के मुँह फिर जाएँ, जुल्म के सिंहासन हिल जाएँ
ओ जीते जी जलनेवाले, अंदर भी आग जला।[3]

प्रगतिशील धारा के कवियों की दृष्टि में मार्क्सवाद सर्वाधिक तर्कसंगत विचारधारा के रूप में स्वीकृत है। रूस की क्रांति को कवियों ने सार्थक रूप में लिया, मार्क्सवाद से प्रभावित होकर अनेक कवियों ने समाज में शोषक और शोषितों के बीच की बारीक रेखाओं को उजागर किया और शोषितों के हित की वकालत करते हुए सशक्त क्रांति का आह्वान किया। मार्क्सवाद के सिद्धांत को मानने वाले साहित्यकारों ने स्पष्ट रूप से अपना मत प्रकट किया कि केवल मीठी बोली से सामाजिक विषमता का उपचार संभव नहीं है, इसके लिए सामाजिक क्रांति ही एकमात्र रास्ता है। वे रूस की क्रांति और उसके परिणाम से काफी सकारात्मक विचार रखते थे। शैलेंद्र ने 'चुनौती' शीर्षक अपनी कविता में लिखा है–

वहाँ सुतार लुहार हुए मिल मैनेजर
राजा नहीं रंक बैठा सिंहासन पर
जिनका खून-पसीना, उनका राज बना
स्वर्ग इसी धरती पर, नया समाज बना
हुआ रूस में सच सपना इंसानों का।[4]

रूस की क्रांति को सफल होते देखकर लोग आशान्वित हुए और उनके भीतर यह उम्मीद जगी कि जैसे वहाँ पूँजीवाद और राजतंत्र को नष्ट कर सामान्य जनता के द्वारा शासन व्यवस्था और पूँजी के संचालन की जिम्मेदारी उठाई गई वैसे ही अन्य स्थानों पर भी समाज की विसंगति को दूर करने का सार्थक प्रयास किया जा सकता है।

शंकर शैलेंद्र की मूल चेतना जनवादी रही है। जनकवि नागार्जुन की तरह उनके भीतर भी व्यंग्यात्मक लहजे में राजनीतिक क्षुद्रता पर चोट करने की क्षमता स्पष्ट दिखाई देती है। नागार्जुन ने जिस चुटीले लहजे में लिखा था, 'आओ रानी हम ढोएँगे पालकी, यही हुई है राय जवाहरलाल की' उसी लहजे में शंकर शैलेंद्र लिखते हैं–

मुझको भी इंग्लैंड ले चलो, पंडित जी महाराज,
देखूँ रानी के सिर कैसे धरा जाएगा ताज।[5]

समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता घोषित करते हुए शैलेंद्र कहते हैं कि जब तक धरती बंधन से मुक्त नहीं हो जाती है, मानव का जीवन क्रंदन से मुक्ति नहीं पाई जाती है, तब तक मैं लड़ता जाऊँगा, उनके अधिकार की बात करता जाऊँगा। यह हर कवि की प्रतिबद्धता होनी चाहिए। हर साहित्यकार की प्रतिबद्धता होनी चाहिए कि वह तब तक जनता की आवाज मुखरित करते रहें जब तक की शासन और सत्ता में बैठे लोग उस आवाज को सुनकर भयभीत न हो उठें। भारतीय समाज कई स्तर पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट दिया गया है। इसमें आर्थिक विसंगति तो है ही जातिगत विसंगति का भी भीषण रूप देखने को मिल जाता है। समाज में हर तरफ असमानता फैली हुई है, इस सामाजिक स्थिति को देखकर शैलेंद्र न सिर्फ दुखी होते हैं बल्कि उनका विद्रोह भी जाग्रत हो उठता है और उसी विद्रोह से आवाज आती है–

जब तक जीवन न मुक्त होगा क्रंदन से
जब तक धरती न मुक्त होगी बंधन से
मैं समरांगन में रक्त-श्वेद से लथपथ
बढ़ता जाऊँगा, लड़ता ही जाऊँगा।[6]

जीवन को देखने का अपना अलग नजरिया लेकर शैलेंद्र बढ़ते रहें। वे मनुष्य के जीवन को किसी किताब या सरकारी दस्तावेज से आँकने के बजाय यथार्थ की धरातल पर उतरकर परखना ज्यादा मुनासिब समझते रहे। वास्तव में जनता का जीवन वैसा ही नहीं होता है जैसा कि अखबार या समाचारों में दिखलाया जाता है या सरकारी आँकड़े प्रस्तुत करते हैं। सरकारी आँकड़े या समाचार की आँखें जिस समय सामान्य जनजीवन को सुखमय देख रही होती हैं, उस समय भी एक साहित्यकार समाज के बीच घुसकर उसकी बेचैनी को महसूस करता है, उसे जानने-परखने का काम करता है। गोरख पांडेय ने जब लिखा, 'तुम्हारे फाइलों में शहर का रंग गुलाबी है, ये आँकड़े झूठे हैं, ये बातें किताबी हैं, तब जाहिर तौर पर यह घोषित कर दिया जाता है कि जो आँकड़े सरकारी रूप से प्रस्तुत किया जाते हैं वह हकीकत नहीं होते हैं और साहित्यकार यहीं आकर अपना मूल कर्त्तव्य निभाता है। वह सरकार और जनता के बीच खड़े रहकर जनता की समस्याओं को सरकार और शासन तंत्र तक पहुँचाने का कार्य करता है। यह कार्य एक सच्चा साहित्यकार निष्पक्ष रहकर करता है या उसका पक्ष जनता की ओर झुका रहता है न कि शासन की ओर। शैलेंद्र ने सदैव जनता के बीच यथार्थ को परखने का कार्य किया और उस यथार्थ को कविता में आवाज दी। सच को परखने और जीवन को देखने का अपना नजरिया स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है–

दोस्त मेरे जिंदगी मैंने देखी है
नीले-लाल-हरे चश्मों से नहीं
हृदय की फटी-फटी आँखों से
आत्मा की पलक नुची आँखों से

जिंदगी मैंने देखी है।[7]

जाहिर तौर पर जिंदगी की वास्तविकता को वही देख सकता है जो किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं हो। इसी ओर इशारा करते हुए शैलेंद्र ने लिखा कि मैंने जीवन को लाल, नीले या हरे चश्मे से न देखकर हृदय की आँखों से देखने का कार्य किया है।

एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि शंकर शैलेंद्र की दृष्टि सिर्फ आर्थिक या राजनीतिक विषमता की ओर नहीं जाती है, वे समाज को हर रूप से समानता की धरातल पर खड़ा देखना चाहते हैं और यह तभी संभव है जब समाज अलग-अलग रूप में कटा हुआ नहीं हो, संगठित हो और समाज के विकास की बात करता हो। भारतीय समाज को देखा जाए तो यह पूँजीपतियों के हाथों तो पीड़ित है ही, सरकारी तंत्र के द्वारा भी पीड़ित है और आपसी रंजिश के कारण भी दुख भोगने को विवश है। समाज जाति, धर्म, संप्रदाय, भाषा, बोली, क्षेत्र आदि अनेक आधार पर बँटा हुआ है। ऐसे में समाज का कल्याण संभव नहीं है, समाज अपने हित की बात तभी कर सकता है, वह पूँजीपतियों और शासनतंत्रों को तभी हिला सकता है जब आपसी मतभेद को भुलाकर समाज और राष्ट्र के विकास की बात करे। शंकर शैलेंद्र सांप्रदायिक विभाजन जो कि निश्चित रूप से राजनीतिक षड्यंत्र है, को उठाते हुए कहते हैं–

मस्जिद की आजान,/ गिरिजाघर के घंटे,
और मंदिरों के शंख/ एक साथ सुनाई देने लगते हैं
उस समय धरती का केवल एक ही रंग होता है।[8]

नागार्जुन अपनी एक कविता में लिखते हैं, 'लौटे हैं टिकट मार के, आए दिन बहार के' कविता राजनीतिक षड्यंत्र का पर्दाफाश करती है। उसी तरह शंकर शैलेंद्र की कविता '15 अगस्त के बाद' इस कलई को खोलकर रख देती है कि किस तरह से जनता के सामने तो रामराज्य का ढोल बजाया जाता है लेकिन दिन-प्रतिदिन बढ़ती महँगाई आमजन को जीने नहीं देती है। चारों तरफ खुलकर लूट मचा हुआ है और जो काले बाजारी बनिया हैं अर्थात् पूँजी के स्वामी हैं उसे देश की राजधानी दिल्ली में आरूढ़ किया जाता है, देश की बागडोर उनके हाथों में सौंप दी जाती है और फिर वे अपने अनुसार देश की संपत्ति का बंदरबाँट करते हैं। यह कविता कालजई कविता के रूप में देखी जा सकती है क्योंकि इस कविता में व्यक्त भाव आज से 50-60 वर्ष पहले भी प्रासंगिक थे और आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

राम राज्य का ढोल बजाया,/ नेता ने कंट्रोल उठाया,
काले बाजारी बनियों को–/ दिल में, दिल्ली में बैठाया
खुल्लम-खुल्ला लूट मच गई/ महँगाई ने रंग दिखाया।[9]

भारतीय संविधान के निर्माण के समय भले ही परिकल्पना समाजवाद की की गई, वास्तविक रूप में भारतीय समाज की त्रासदी यह रही कि भारत का स्वरूप पूँजीवादी बनकर रह गया। पूँजीवाद को बढ़ावा देने में सरकार और शासन तंत्र ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सरकारी योजनाओं ने सदैव पूँजीपतियों के लाभ को साधने का कार्य किया, देश में बिचौलिए की कमाई बढ़ गई जो उपजाने वाले और खाने वाले के बीच में खड़ा होकर महँगाई बढ़ाने और समाज को पीछे की ओर धकेलने का कार्य करता रहा। धूमिल ने भी लिखा कि एक व्यक्ति रोटी बेलता है, एक व्यक्ति रोटी खाता है और एक ऐसा भी व्यक्ति है जो न तो रोटी बेलता है और न ही रोटी खाता है, बल्कि वह रोटी से खेलने का कार्य करता है। यही स्थिति है कि देश में हर ओर महँगाई बढ़ी हुई

है, हाहाकार मचा हुआ है और बिचौलिए सरकार और अफसरों की शह पाकर उन तक उनका हिस्सा पहुँचाकर समाज को लूटने में लगे हुए हैं। इन लुटेरों से जनता को सावधान करते हुए शैलेंद्र ने 'हड़ताल के गीत' शीर्षक कविता में लिखा है–

सावधान ऐसे लोगों से जो बिचौलिया होते
और हमारे बीच सदा जो बीज फूट के बोते
और कि जिनके दम पर अफसर-मालिक चैन से सोते
देखेंगे उनको भी जो हैं सरकारी दलाल।[10]

निष्कर्ष रूप में शंकर शैलेंद्र की कविताओं पर दृष्टि डालते हुए हम आसानी से यह देख पाते हैं कि उन्होंने आमजन की समस्याओं और सामाजिक विषमता को केंद्र में रखकर अनेक कविताएँ लिखी हैं। उनकी कविताएँ सामाजिक विषमता को लेकर आक्रोश की कविताएँ प्रतीत होती हैं और जनता की दुर्दशा पर उसकी वकालत करने वालों का आक्रोश जायज है। यह आक्रोश नागार्जुन में दिखता है, धूमिल में दिखता है, गोरख पांडे में दिखता है, दिनकर में दिखता है। यही आक्रोश है जो किसी कवि को जनकवि सिद्ध करता है। जनता की समस्याओं को रूपायित करने में शैलेंद्र की कविताएँ जिस रूप में सार्थक प्रमाणित हुई हैं वह उन्हें जनकवि के रूप में प्रमाणित करने में सर्वदा सफल है। उनकी कविताओं में सामाजिक विषमता का जो यथार्थ चित्रित है उसके आईने में हम राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक हर स्तर पर सामाजिक विषमता को देख पाते हैं और उसके समाधान की राह भी दिखाई देती है।

संदर्भ

1. शंकर शैलेंद्र, अंदर की आग, संपादक-रमा भारती, इतिहास (कविता), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2013, पृ॰ 29
2. वही, इतिहास (कविता), पृ॰ 31
3. वही, अंदर भी आग जला (कविता), पृ॰ 35
4. वही, चुनौती (कविता), पृ॰ 39
5. वही, मुझको भी इंग्लैंड ले चलो (कविता), पृ॰ 43
6. वही, अंदर की आग, पृ॰ 17
7. वही, जिंदगी मैंने देखी है (कविता), पृ॰ 62
8. वही, अवसर भोर की हल्की नीली रोशनी (कविता), पृ॰ 70
9. वही, पंद्रह अगस्त के बाद (कविता), पृ॰ 77
10. वही, हड़ताल के गीत (कविता), पृ॰ 150

Mob. 9934170149
lkpankaj091@gmail.com

हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता के प्रतिमान

डॉ॰ दीपक कुमारी, सहायक प्रोफेसर, हिंदी-विभाग
चौधरी बंसीलाल विश्वविद्यालय, भिवानी (हरियाणा)

आज का युग भले ही तकनीकी व प्रौद्योगिकी से जुड़ा हुआ है परंतु मानवीय संवेदना के बिना मानव जीवन क्षणिक है। हिंदी साहित्य ने सदैव ही समाज में उपदेशक व मार्गदर्शक का काम किया है तथा समाजिक समस्याओं के साथ-साथ समाधान भी दिया है। हिंदी साहित्य इतिहास की बात करें तो यह हर काल में अपने देशकाल और वातावरण को बाँधकर आगे बढ़ा है और जनता की चितवृत्तियों के साथ सामंजस्य भी स्थापित किया है। हिंदी साहित्य की प्रासंगिकता के प्रतिमान पर विचार करने से पूर्व 'प्रासंगिकता' व 'प्रतिमान' का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

'प्रासंगिकता' का अर्थ है–प्रसंग से संबंध रखने वाला, प्रसंग प्राप्त या जैसे–प्रासंगिक कथा-वस्तु। अर्थात् प्रासंगिकता कोई सूचना, क्रिया या चीज किसी मामले या मुद्दे से कितना संबद्ध है।[1]

प्रतिमान का अर्थ है–परछाई, प्रतिमा, प्रतिमूर्ति, चित्र, नमूना, मानक, स्टैंडर्ड आदि।[2]

इस प्रकार साहित्य की प्रासंगिकता भूतकाल से लेकर वर्तमान में भी मानव जीवन की प्रतिमा या परछाई बनी हुई है। साहित्य मानव को मशाल लेकर रास्ता दिखाने का कार्य करता है। साहित्य के माध्यम से हमारी संवेदना व्यापक हो जाती है जिससे हम समाज, राजनीति, संस्कृति, अतीत, वर्तमान और आस-पास के परिवेश को अधिक बेहतर समझने के योग्य हो पाते हैं।

आज के तकनीकी व वैज्ञानिक युग में अकसर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि साहित्य हमारी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता और न ही मानव जीवन का पोषण करता है फिर साहित्य प्रासंगिक है या नहीं। कोई भी साहित्य मानव का पेट चाहे न भरे, वह मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहना अवश्य सिखाता है। प्रासंगिकता का अर्थ कि वह वस्तु जो समाज के विकास में कोई ऐसा योगदान दे पाती है या नहीं जो समाज के लिए अपरिहार्य हो। यदि हम हिंदी साहित्य की बात करें तो यह अपनी हर कसौटी पर न केवल अतीत में खरा उतरा है बल्कि वर्तमान में भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर रहा है।

साहित्य की प्रासंगिकता का पहला प्रतिमान है–मनुष्य को संवेदनशील बनाने की क्षमता। साहित्य का सबसे बड़ा योगदान यह होता है कि वह पाठक को संवेदनशील बनाता है। संवेदनशीलता भावुकता का पर्याय नहीं है। संवेदनशीलता का अर्थ है उसके प्रति भावात्मक संबंध महसूस करना जो पीड़ा में है। साहित्य की शक्ति इसमें है कि वह पाठक को भी इस समस्या व पीड़ा के प्रति संवेदनशील बना देता है। संवेदनशीलता वह क्षमता है जिससे मनुष्य अपने आस-पास के परिवेश तथा प्रकृति में विद्यमान अन्य प्राणियों की वेदनाओं को महसूस कर सकें दूसरों के दुख में दुखी होने की क्षमता ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। हिंदी साहित्य अपनी इसी क्षमता के कारण आज भी प्रासंगिक है। यदि हम आदिकवि वाल्मीकि के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो क्रोंच पक्षी के प्रति

उनकी संवेदना ने ही उनको आदिकवि की उपाधि प्रदान की है। 'गोदान' और 'दिव्या' जैसे उपन्यास तथा 'हरिजन गाथा' जैसी कविताएँ भी इसी संवेदन क्षमता को जाग्रत करती हैं।

साहित्य की प्रासंगिकता का दूसरा प्रतिमान यह है कि वह न सिर्फ वैचारिक स्तर पर प्रगतिशीलता को धारण करता है बल्कि अपने समय की प्रगति का विरोध करने वाली रूढ़िवादी और यथास्थितिवादी वैचारिकता का पुरजोर खंडन भी करता है। हिंदी साहित्य पर युग के आधार से दृष्टिपात करें तो हर युग में ऐसा हुआ है। आदिकाल में सिद्ध, नाथ और जैन कवि जिस विचारधारा को लेकर चल रहे थे वहीं अमीर खुसरो का साहित्य बिल्कुल भिन्न नजर आता है। मध्यकाल में कबीर ने जाति-पाति व सांप्रदायिकता का खंडन करने का प्रयास किया। मध्यकाल के भक्त कवियों की रचनाएँ आज भी मानवता को संकीर्णता से ऊपर उठाने का काम कर रही हैं। साहित्य इन रूढ़ियों को समाज से बाहर निकालने का संदेश देता है।

साहित्य की प्रासंगिकता का तीसरा प्रतिमान यह है कि समाज में आवश्यक परिवर्तनों के लिए सक्रिय रूप से सहायक होना चाहिए। साहित्य समाज का दर्पण है लेकिन इसके साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन का भी आह्वान करने वाला होना चाहिए। समाज के कमजोर पक्ष को पहचानकर उसके परिवर्तन के लिए हस्तक्षेप करना भी साहित्य की प्रासंगिकता को दर्शाता है। 'भारत-भारती' जैसी रचनाओं का मूल स्वर राष्ट्रीय था इस रचना को पराधीनता के विरुद्ध पूरे देश को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए याद किया जाता है।

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वो कौन? भारतवर्ष है।[3]

इसी प्रकार अँग्रेजी शासन को उखाड़ने के लिए जयशंकर प्रसाद ने 'चंद्रगुप्त' नाटक में भारतीयों को जागरूक करने के लिए बहुत से गीतों का चित्रण किया है–

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुंद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला, स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है-बढ़े चलो बढ़े चलो।[4]

साहित्य न सिर्फ जीवन की विसंगतियों का चित्रण करता है बल्कि आदर्श समाज के निर्माण के लिए प्रतिमान भी उपलब्ध करवाता है। समाज जब संक्रमण के दौर से गुजरता है तो उसके सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही होता है कि वह किन मूल्यों, नैतिक आदर्शों व प्रतिमानों को स्वीकार करे। यहाँ पर साहित्य की भूमिका समाज को उचित मूल्य प्रदान करने की होती है। साहित्य में यह चेतना विशेष रूप से देखने को मिलती है।

औरों को हँसते देखो मनु हँसों और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।[5]

साहित्य का चौथा प्रतिमान यह है कि वह जीवन की मूलभूत समस्याओं की पहचान करता है। हालाँकि समस्याओं की बात तो आमजन भी करता है लेकिन साहित्यकार के पास वह सूक्ष्म दृष्टि होती है जिससे वह उपरी परत की बात न करके मूलभूत समस्या को उठाता है। 'अँधेरे में' मुक्तिबोध की एक लंबी कविता है जिसके माध्यम से मुक्तिबोध कहते हैं कि ऐतिहासिक परिवर्तन

के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी ही हैं इसलिए 'अँधेरे में' कविता बार-बार विविध प्रसंगों में इस बुद्धिजीवी वर्ग का पर्दाफाश करती है। मुक्तिबोध के अनुसार अवसरवादिता, दोहरापन और सामान्यजन के विश्वासघात बुद्धिजीवी वर्ग की विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा वह इतिहास की गति को बाधित करता है। इस संदर्भ में उन्होंने बुद्धिजीवी वर्ग के संस्कार, उसकी निष्क्रियता एवं तटस्थता का बार-बार चित्रण किया है–

अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया!!
बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड़ गए
करुणा के दृश्यों से हाय! मुँह मोड़ गए,
बन गए पत्थर;
बहुत-बहुत ज्यादा लिया,
दिया बहुत-बहुत कम;
मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम!![6]

साहित्य का पाँचवाँ प्रतिमान यह है कि साहित्य स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने वाला होता है जो उसे मानव समाज के लिए प्रासंगिक बनाए रखता है। मनुष्य कोई मशीन नहीं होता है जो भौतिक सुख-सुविधाओं का गुलाम हो। उसका मूल स्वास्थ्य उसके मस्तिष्क प्रसन्न रहे। साहित्य मनोरंजन के साथ मनुष्य का नैतिक उत्कर्ष का माध्यम भी बनता है।

आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबंध में बताया है कि साहित्य कोई नैतिक संदेश तभी दे सकता है जब वह पाठक के मन को मनोरंजन से बाँध सकें इसी दृष्टि से हिंदी के कई साहित्यकार बहुत अधिक सफल भी सिद्ध हुए।

साहित्य का छटवाँ प्रतिमान यह है कि साहित्य मानव को कर्म करने की शक्ति प्रदान करता है। कर्म ही मानव का भाग्य बनाता और मिटाता है। उदाहरण के लिए सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की 'तोड़ती पत्थर' कविता में एक गरीब मजदूर महिला को कर्म के प्रति दृढ़ एवं समर्पित भाव को देख सकते हैं–

वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार पेड़
वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत-मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार
सामने तरु मालिका, अट्टालिका, प्राकार।[7]

साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान समाज को सही दिशा देना है। साहित्यकार सामाजिक विसंगतियों की पहचान कर लेता है तथा उसके विरोध में आम आदमी को तैयार करने में सक्रिय रूप से भागीदारी निभाता है।

साहित्य का एक अनिवार्य धर्म यह भी है कि वह स्वस्थ मंनोरंजन के माध्यम से पाठक के

मन में रागात्मकता का संचार करता है तथा सुंदर जीवन जीने की ललक पैदा करता है।

हिंदी साहित्य की एक और महत्त्वपूर्ण देन यह भी है कि उसने समय के अनुकूल नए-नए विचारों को उत्पन्न करने में सक्रिय भूमिका निभाई है। तुलसी ने भक्तिकाल में पहली बार गरीबी जैसी समस्या पर विस्तृत चिंतन किया है। भारतेंदु ने साम्राज्यवाद के खिलाफ वैचारिक लड़ाई लड़ी है। हिंदी कविता पाठक को विचारों की ऊर्जा से संपन्न करना चाहती है।

साहित्य की प्रासंगिकता का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमान है कि वह समाज की विरासत का रक्षक सिद्ध होता है। वह न केवल भाषा का संरक्षक है बल्कि भाषा के माध्यम से समाज के इतिहास, संस्कृति तथा संचित सृजनशीलता को भी संरक्षित करता है।

साहित्य समाज का जीवंत चित्र होता है। यदि हम गोदान का उदाहरण लें तो होरी, धनिया, सेमरी व बेलारी जैसे संदर्भ भले ही काल्पनिक हों परंतु होरी का संघर्ष एक आम किसान के वास्तविक संघर्ष का द्योतक है। इस प्रकार हम साहित्य के माध्यम से अपने जीवन में संपूर्णता लाने का प्रयास कर सकते हैं।

साहित्यकारों में सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रतिमान

साहित्यकार की स्वाधीनता उसको अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने की प्रेरणा देती है। यही कारण है कि हमें विभिन्न प्रकार का साहित्य देखने को मिलते हैं लेकिन इन सबके बावजूद साहित्यकारों में एक सामाजिक प्रतिबद्धता भी होनी चाहिए। समाज के प्रति कर्त्तव्यों व मर्यादा का पालन भी करना चाहिए। वर्तमान समय में साहित्य रचना बहुत तेज गति से हो रही है। साहित्यकारों को अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह सोच-समझकर करना चाहिए तथा वर्तमान परिवेश को देखते हुए पूर्ण ईमानदारी के साथ साहित्यिक कृतियों को सरस व रोचक बनाते हुए मानवीय गुणों के साथ समरसता के भाव को भी आत्मसात करना चाहिए। आज के परिवेश में जीवन की गति बहुत तेज हो गई है जिसमें लोग हर चीज को व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं और हर वस्तु में स्वार्थ साधना चाहते हैं। लोगों में निस्वार्थ प्रवृत्ति, ईमानदारी, सहानुभूति का भाव, सहायता के लिए आगे बढ़ना जैसे गुणों की मात्रा कम हो गई है। ऐसी स्थिति में धैर्य, लग्न एवं एकाग्रता से पूर्ण समर्पित भाव से साहित्य रचना की जाएगी तो निश्चित ही आज के साहित्यकार अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में पूर्णत सफल होंगे।

युवा पीढ़ी को दिशा देने का कार्य

आज की युवा पीढ़ी हर तरफ से हताशा का सामना कर रही है। उन्हें अपने जीवन में बहुत सारी प्रतियोगी परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। कम समय में अधिक पाने की लालसा भी मनुष्य को स्वार्थी बना देती है। ऐसी आधुनिकता के सैलाब में बहने वाली युवा पीढ़ी को सही दिशा देने का काम साहित्य ही कर सकता है। आधुनिक युवा पीढ़ी का आकर्षण काफी उलझन भरा है। युवा पीढ़ी को इस बात को समझाने के लिए साहित्यकार अपनी लेखनी के माध्यम से उन्हें सही राह में लाने के लिए सक्षम हैं। साहित्यकारों की स्वाधीनता ही उसके मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने की प्रेरणा देती है। यही कारण है कि हमारे सामने विविध प्रकार का साहित्य आता है जिसमें समाज का कोई भी वर्ग हो सकता है। सामाजिक समस्याओं के सरोकार का साहित्य ही समाज को केंद्र में रखकर विभिन्न प्रकार के विमर्शों को सामने लाता है। इन सब बातों के उपरांत भी साहित्यकारों में एक सामाजिक प्रतिबद्धता होनी चाहिए। समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों व मर्यादा का पालन भी करना चाहिए। वर्तमान समय में साहित्य की रचना बहुत तेज गति से हो रही है परंतु सोशल मीडिया

के आगमन से पाठक समुदाय कम होता जा रहा है। अतः साहित्यकारों को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को सोच-समझकर वर्तमान परिवेश को देखते हुए पूर्ण ईमानदारी के साथ साहित्यिक कृतियों को सरस व रोचक बनाते हुए मानवीय गुणों के साथ समरसता के भाव को भी आत्मसात करना चाहिए। वर्तमान परिवेश में युवा पीढ़ी की जीवन शैली में भी काफी बदलाव आया है और मानसिकता में भी। इस कारण उनके जीवन का उद्देश्य अपने स्वार्थों की पूर्ति करना है और युवाओं में मानवीय गुण भी बहुत कम हो गए हैं। ऐसी परिस्थितियों में वर्तमान परिदृश्य को ध्यान में रखकर साहित्य रचना की जाए तभी साहित्य सही अर्थों में युवा पीढ़ी का सही मार्गदर्शन कर पाएगा।

साहित्य ने सदैव ही मानवीय संवेदनाओं के साथ युवाओं को मार्गदर्शन का कार्य किया है। साहित्य समाज को केंद्र में रखकर मानव के अस्तित्व को बनाए रखने में काफी सहायक है।

संदर्भ

1. डॉ॰ हरदेव बाहरी, राजपाल हिंदी शब्दकोश, प्रकाशन राजपाल एंड संस, 1590 मदरसा रोड कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृ॰ 551
2. वही, पृ॰ 533
3. श्री मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, प्रथम संस्करण-1912, पृ॰ 13
4. जयशंकर प्रसाद, चंद्रगुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, पृ॰ 137
5. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, कला मंदिर, 1987, नई सड़क, दिल्ली-110006, पृ॰ 52
6. गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, पृ॰ 141
7. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, राग विराग, संपादक-रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, पृ॰ 118

Mob. 9467405913
kumarideepka1982@gmail.com

साहित्यिक इतिहास और सामाजिक इतिहास का संबंध

अंजु बाला, असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

साहित्य एक जीवंत प्रक्रिया है, साथ ही निरंतर प्रवाहमय। इसमें लोकमानस की चितवृत्तियाँ शब्दबद्ध होती हैं, जिन्हें भावी पीढ़ी के लिए सँजोकर रखा जाता है। साहित्य, शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ के विषय में विभिन्न शब्दकोशों का लगभग एक ही अर्थ रहा है। सर्वप्रथम 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' में साहित्य का व्युत्पतिपरक अर्थ इस प्रकार मिलता है–(सहित+व्यय) सहित का भाव एक साथ होना, रहना या वाक्य में परस्पर सापेक्ष पदों का एक क्रिया में अन्वित होना। गद्य और पद्य सभी प्रकार के उन ग्रंथों का समूह जिसमें सार्वजनित हित-संबंधी स्थायी विचार लक्षित रहते हैं। वे सभी लेख, ग्रंथ आदि जिन का सौंदर्य, गुण, रूप या भावुकतापूर्ण प्रभावों के कारण समाज में आदर होता है। यहाँ साहित्य में सर्वाहित अथवा 'वसुधैवकुटुंबकम्' का आदर्श ही मुख्य हैं अर्थात् लोकमानस् के समस्त हितों का साक्षी साहित्य भारतीय संस्कृति कोश के अनुसार–साहित्य का शाब्दिक अर्थ होता हैं, शब्द और अर्थ का साथ होना। परंतु बड़े रूढ़ अर्थ में इसका आशय मनुष्य के विचारों की अभिव्यक्ति हैं। 650 ई॰ लगभग से इस शब्द का प्रयोग 'शास्त्र', और 'काल' दोनों के लिए होने लगा था, प्राचीन आचार्यों ने शास्त्र के दो भेद किए है–अपौरुषेय और पौरुषेय। अपौरुषेय–में वेदांग, व्याकरण छंद, अलंकार आदि की गणना की गई और पौरुषेय में पुराण, न्याय मीमांसा, स्मृति आदि की।

'काव्य' के अंतर्गत कविता, नाटक, उपन्यास आदि का समावेश था। इस प्रकार समस्त लिपिबद्ध मानव ज्ञान 'साहित्य' के अंतर्गत आता था। इसके लिए दूसरा समानार्थी शब्द था–'वाङ्मय', परंतु कालांतर में साहित्य और 'वाङ्मय' समानार्थी नहीं रह गए। अब साहित्य में ललित या सरस रचनाओं का ही समावेश होता है जैसे–कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक। अन्य रचनाएँ जैसे–इतिहास, राजनीति, दर्शन, विज्ञान आदि की गणना वाङ्मय के अंतर्गत मानी जाती है। वाङ्मय अधिक व्यापक शब्द है और साहित्य की रचनाओं की भी इसके अंतर्गत गणना होती है।

'साहित्य' शब्द 'व्यापक अर्थ का बोधक होने के साथ-साथ मनुष्य के भावों और विचारों की भी समष्टि है। 'हिंदी साहित्य कोश' में कहा गया है कि 'आज 'साहित्य', शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के लिटरेचर (Literature) की भाँति व्यापक अर्थ में होने लगा है। इसके अंतर्गत रस का साहित्य–कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि की गणना तो होती रही है, ज्ञान का साहित्य भी समाविष्ट कर लिया जाता है, जैसे–इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र से संबद्ध पुस्तकें भी 'साहित्य' कह दी जाती हैं साथ ही साहित्य शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ–'सहितस्य भाव: साहित्यम्' में भी इसकी व्यापकता का संकेत मिलता है। 'साहित्य' शब्द को परिभाषित करते हुए हिंदी साहित्य कोश में कहा गया है–'साहित्य का अर्थ हैं शब्द और अर्थ का

 ISSN 0975-735X

यथावत सहभाव, अर्थात् साथ होना। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है। साहित्य की यह परिभाषा अत्यंत व्यापक है और इसमें मनुष्य की सारी बोधन और भावन चेष्टा समाविष्ट हो जाती है तथा समस्त ग्रंथ-समूह साहित्य के अंतर्गत आ जाते हैं। साहित्य मनुष्य के भावों तथा विचारों की समष्टि है।'

साहित्य में गद्यात्मक अथवा पद्यात्मक रचनाओं के साथ-साथ हित युक्त होने का भाव भी निहित है। 'वृहत् हिंदी कोश' में साहित्य का अर्थ इस प्रकार है–साथ, संयोग, मेल, वाक्य में पदों का सापेक्ष संबंध गद्यात्मक या पद्यात्मक रचना लिपिबद्ध विचार, ज्ञान आदि ग्रंथों का समूह, वाङ्मय (लिटरेचर) काव्यशास्त्र, हितयुक्त होने का भाव।' साहित्य रागात्मक संबंध स्थापित करने के साथ-साथ साधारणीकरण अथवा 'संप्रेषणीयता' का भी महत्त्वपूर्ण साधन कहा जा सकता है जिससे हमारी भाव परिधि निरंतर विस्तृत होती जाती है। इसलिए साहित्य को ललित साहित्य भी कहा जाता है जिसके लिए प्राचीन भारत में 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ।

स्पष्टत: साहित्य एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा भाव के साथ तथा भाषा का भाषा के साथ ही मिलन नहीं होता वरन् मानव का मानव के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ तथा बाह्य का अंतर के साथ मिलन होता है। यद्यपि साहित्य मनुष्य की मानसिक सृष्टि का प्रतिफलन है तथापि इतना निश्चित है कि सभी की मुद्रित साम्रगी साहित्य नहीं कहीं जा सकती। मनुष्य के लिए स्थायी मूल्य की रचनाएँ ही साहित्य की परिधि में समाहित मानी जाती हैं।

साहित्य मानव के आंतरिक भावों पर प्रहार करता है उसके अंतर को किसी-न-किसी रूप में अवश्य छू लेता है। जबकि साहित्य से इतर ग्रंथों, जिसमें बौद्धिकता की प्रधानता होती है, में मनुष्य की बुद्धि को झकझोरने की क्षमता होती है।

साहित्य अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ में समस्त जनमानस के हितों का साक्षी है अर्थात् सर्वाहित का द्योतक और ज्ञानराशि से परिपूर्ण शब्द और अर्थ का व्यंजनकारी सामजस्य साहित्य है जिसमें बुद्धि तत्त्व के साथ-साथ भावों की भी प्रधानता होती है। अपने विस्तृत अर्थ में यदि साहित्य-राजनीति, भूगोल, चिकित्सा, दर्शन, इतिहास, विज्ञान आदि का समावेशित रूप है तो यह भी मनुष्य के हितों का समर्थनकारी रूप है अर्थात् इसमें भी मानव-जाति के लिए हितकारी ज्ञानराशि संचित है।

इतिहास का अर्थ–शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है–'ऐसा ही था, या ऐसा ही हुआ।' इससे दो बातें स्पष्ट हैं–एक तो यह कि इतिहास का संबंध अतीत से है, दूसरे यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुत: आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अत: संक्षेप में अतीत के किसी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन-विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि कालविशेष या काल-क्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है।

'इतिहास' शब्द स्थायित्व का बोधक है जिसके विस्तृत क्षेत्र में समाज, धर्म, साहित्य, संस्कृति तथा कला आदि विषय समाहित हैं। मूल रूप से अतीत और वर्तमान के बीच अंतक्रिया की अविच्छिन प्रक्रिया से इतिहास का आविर्भाव होता है जिसमें ऐतिहासिक स्रोतों, अभिलेखों तथा

विविध घटनाओं की जानकारी उपलब्ध रहती है। प्रत्येक युग में परिस्थित्यनुसार दृष्टि परिवर्तन होना संभव है। फलत: किसी भी विषय अथवा वस्तु के स्वरूप की स्थिति भी परिवर्तनशील रहती है। इतिहास भी ज्ञान है, इतिहास अतीत तथा वर्तमान के बीच सेतु है, आदि मत इतिहास की परिवर्तित स्थिति के ही परिचायक हैं–प्रत्येक कवि अथवा लेखक की भाँति इतिहासकार भी अपने युग से संबद्ध होता है। युगीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक घटक मिलकर इतिहास के स्वरूप निर्माण में विशेष भूमिका निभाते हैं। साथ ही ये घटक इतिहास लेखन हेतु भी महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व के रूप में भी सामने आते हैं। साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है अत: वह इतिहास से भी विविध प्रकार से संबद्ध होता है। इतिहास ही वह माध्यम है जिसके द्वारा जीवन तथा जगत के विविध संदर्भों को जानने का अवसर मिलता है, साथ ही इसके माध्यम से अब ज्ञान राशि पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होती रहती है।

साहित्येतिहास का अर्थ–'साहित्येतिहास' दो शब्दों–'साहित्य + इतिहास' से मिलकर बना है। 'साहित्य' मानव की भावात्मक अभिव्यक्ति है जिसका संबंध किसी वर्ग, संप्रदाय ज्ञान, विज्ञान विशेष से न होकर संपूर्ण मानवीय चित्तवृत्तियों से है जिनमें हित-अहित तथा सुख-दु:खात्मकता निहित है। इतिहास बाह्य जगत् तथा उसके परिणामों की व्याख्या के साथ-साथ अतीतकालीन कार्यव्यापारों की जानकारी भी प्रस्तुत करता है अर्थात् विगत की घटनाओं और गतिविधियों का सिल-सिलेवार ब्यौरा इतिहास के पिटारे में बंद होता है। भौतिक जगत और उसके परिणामों में मानवीय सुखात्मक और दु:खात्मक अनुभूतियों का परिष्कार सहित अभिव्यक्त रूप साहित्येतिहास कहलाता है। दूसरे शब्दों में साहित्येतिहास वह साहित्यिक विधा है जो हमें मानवता के क्रमिक विकास में साधक विविध आयामों से परिचित कराती है। डॉ॰ शिवकुमार के अनुसार–'साहित्य के इतिहास से तात्पर्य देश-काल के आयाम में विकसित साहित्य की समग्रता से भी है तथा भाषा द्वारा उसके व्याख्यात्मक विवरण से भी।' साहित्येतिहास विगत के रचनाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का आईना है जिसे देखकर भावी पीढ़ी वर्तमान की राह पर अग्रसर होती है। यह साहित्य की बहुत बड़ी देन है जो हमें आदिकालीन चरित काव्यों, वीर-गाथा काव्यों आदि की संपूर्ण जानकारी प्रदान करता है तथा उनकी एक निश्चित और सुदृढ़ परंपरा होने का ज्ञान आगामी पीढ़ी को कराता चलता है। साहित्य के विकास, परिवर्तन, विभाजन आदि का बोध कराने में साहित्येतिहास की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साहित्येतिहास को ज्ञान का एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र साधन मानते हुए डॉ॰ लक्ष्मीनागर पांडेय ने लिखा है–'कोश कृत संग्रह, कवि नामावली, काल, क्रमानुसार ग्रंथों का अध्ययन और उनकी आलोचना उसी प्रकार साहित्येतिहास नहीं हैं जिस प्रकार सम्राटों के नाम और कृत्य, योद्धाओं के वीरदर्पपूर्व आख्यान, युद्धों की तिथियाँ, प्रशासनिक सुधारों की तालिकाएँ इतिहास नहीं हैं। साहित्येतिहास अपनी सामग्री का उपयोग करते हुए भी इन सबसे ऊपर मानव जाति को अपने को पहचानने के लिए ज्ञान का एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र साधन है।'

डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने गूढ़ता से साहित्येतिहास पर विचार किया है। वे साहित्येतिहास और कक्षा में पढ़ाए जाने वाले सामान्य इतिहास में बहुत अंतर मानते हैं और सच पूछो तो इन दोनों में जमीन-आसमान का अंतर है। सामान्य इतिहास पाठक को सरलता से भूतकालीन घटनाओं और कार्यव्यायों से परिचित कराते हुए देश, जाति, समुदाय, वर्ग आदि के संबंधों परिवर्तनों का बोध करा देता है। कहीं-कहीं पर यदि यह इतिहास किसी घटना विशेष अथवा परिवर्तन विशेष का उल्लेख करने पर चूक जाता है तो भी यह इतिहास उतना ही प्रभावशाली होता है किंतु साहित्येतिहास में

 ISSN 0975-735X

रचनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पहलुओं पर विचार किया जाता है। साहित्येतिहास लेखन उत्कृष्ट ज्ञान और पांडित्य का निदर्शन है। इसे मात्र साहित्य का पुनराख्यान अथवा विगत का इतिवृत्तात्मक विश्लेषण, कवियों के व्यक्तित्व कृतित्व का संकलन, साहित्य में प्रयुक्त भाषा का सूक्ष्म विवेचन, साहित्यिक आंदोलन का विकासक्रमानुसार ब्यौरा मानकर युक्ति युक्त नहीं है। साहित्येतिहास लेखन का उद्देश्य न तो किसी संस्कृति का प्रचार करना है और न ही रचनाकार को एक सधा हुआ अथवा भेजे हुए कलाकार के रूप में पेश करना वरन् इसका ध्येय है। सदियों पुराने, विगत के गर्त में समाएँ हुए साहित्य को उसकी मूल्यवता के साथ प्रस्तुत कर भावी पीढ़ी को उससे अवगत कराना, क्योंकि यह समस्त मानवतावाद के लिए हितकारी होता है, यह जनता की चितवृत्तियों का प्रतिबिंब होता है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्य की परंपरा के साथ इनके सामंजस्य को साहित्येतिहास की संज्ञा से अभिहित किया है–'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।'

साहित्यिक विद्वानों ने साहित्येतिहास के संबंध में अपने-अपने विचार प्रवाह को प्रस्तुत किया है। कतिपय विद्वान इसे युग विशेष के लेखक-समूह तथा कृति समाष्टि के इतिहास के रूप में देखते हैं वे मात्र कवि नामावली, मिथयावली, जीवनी, समीक्षा आदि को साहित्येहिहास मानने के पक्ष में नहीं हैं। अपने इस पक्ष और परिभाषा को वे सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से उपेक्षा का शिकार मानकर 'साहित्य इतिहास को ढीले सूत्र में गुँथी हुई आलोचना के रूप में भी देखते हैं। अर्थात् उनका मानना है कि उनके इस विचार पर सिद्धांत और व्यवहार दोनों में ध्यान न देने के निमित्त साहित्येतिहास एक ढीले सूत्र में गुँथी हुई आलोचना का रूप ग्रहण कर लेता है। दूसरी ओर कतिपय विद्वान साहित्येतिहास को सामान्य मानव इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं क्योंकि साहित्येतिहास एक निश्चित क्रमबद्ध और सुदृढ़ ऐतिहासिक बोध है जो न केवल राष्ट्रीय भाषागत विशिष्टताओं का उल्लेख करता है अपितु वह युग विशेष की प्रवृत्तियों के विकास की चेतना का अनुसंधान भी प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। साहित्येतिहास को जीवित मानव समाज की विकास के रूप में वर्णित करते हुए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'साहित्य का इतिहास वस्तुतः उनके लेखकों और कवियों के उद्‌भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादिकाल प्रवाह में निरंतर प्रवहमान जीवित मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार कवि और काव्य संप्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य हैं मनुष्य, जो प्राणधारा माना अनुकूल प्रतिकूल अवस्था से बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है। उसको समझने के लिए भी हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।'

साहित्येतिहास किसी निश्चित दायरे में सिमटी कोई वस्तु अथवा संकल्पना नहीं हैं वरन् उसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। वह रूढ़ प्रतिमानों पर स्थापित की जाने वाली कोई जड़ अथवा स्थिर प्रक्रिया भी नहीं है। साहित्येतिहास का फलक विस्तृत है। वह न तो वर्तमान से पलायन का साधन है न केवल अतीत के अंधानुकरण अथवा आराधन की पद्धति। चूँकि साहित्य की निर्मित के मूल में समाज तथा उससे जुड़े विविध पहलू विद्यमान रहते हैं। इसलिए साहित्येतिहास भी विविध संदर्भों

में मानव से संबद्ध अवधारणा है। उसमें केवल भाषा, समाज, कला, संस्कृति तथा दर्शन का इतिहास ही नहीं हैं, वह मानव जाति का इतिहास है। साहित्येतिहास को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में लिखते हुए डॉ॰ मैनेजर पांडेय ने उसे अतीत तथा वर्तमान की सीमाओं से निरंतर तथा विकासशील प्रक्रिया के रूप में विवेचित किया है–'साहित्य का इतिहास न तो वर्तमान से पलायन का साधन है और न अतीत की अराधना का मार्ग, वह न तो अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ने का फल है और न वर्तमान के कटु यथार्थ के देश से बचाने वाला कल्पनालोक साहित्य का इतिहास अतीत की विलुप्त रचनाओं और रचनाकारों के उद्धार का केवल साधन नहीं है... वह न तो रचना और रचनाकार संबंध तिथियों और तथ्यों का कोश है और न कविवृत संग्रह मात्र। साहित्य का इतिहास ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक और सौंदर्यशास्त्रीय साहित्यानुशीलन का संग्रह भी नहीं है। साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा, साहित्य की निरंतरता और विकासशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास लिखना असंभव है। वस्तुत: उपर्युक्त मत साहित्येतिहास के मूल में साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा को महत्त्वपूर्ण मानना है।

साहित्येतिहास की अवधारणा विषयक पाश्चात्य चिंतन में भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। वहाँ साहित्येतिहास को ज्ञान की शाखा तथा मानवता के क्रमिक विकास का अध्ययन माना गया है। इसके अतिरिक्त यह युगीन संदर्भों से जुड़ी वह महत्त्वपूर्ण कड़ी है जो अतीत और भविष्य को जोड़ती हुई वर्तमान की व्याख्या करती है तथा उसे दिशा प्रदान करती है। साहित्य को जीवन की प्रति कृति मानते हुए बेकन ने साहित्येतिहास को इस प्रकार परिभाषित किया है–

'Record of the live of men of letters, the influence of the life about them and of their lives in books and the writing themselves.'

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन विश्लेषणोपरांत कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विकासात्मक तथा तर्कसंगत अध्ययन, अनुशीलन है जिसके मूल में विविध दृष्टियाँ तथा मानवता से जुड़े विविध आयाम विद्यमान रहते हैं।

भाषा, साहित्य और इतिहास का संबंध

1. साहित्य का इतिहास भाषा के इतिहास से जुड़ा होता है। यदि व्यक्ति को अपनी भाषा नहीं मालूम तो वह साहित्य नहीं लिख सकता।

2. भाषा का इतिहास समाज के इतिहास से जुड़ा हुआ।

3. साहित्य का इतिहास साहित्यिक कृतियों का इतिहास है और साहित्यिक कृतियाँ भाषा में रची जाती है।

4. साहित्यिक कृतियों का अस्तित्व और बोध इतिहास के बाहर नहीं होता साहित्यिक कृतियों की भाषा में रचनाकार की सृजनशीलता व्यक्त होती है। इसलिए रचनाओं की भाषा का रचनाकार से जुड़ा ये वैयक्तिक पक्ष होता है, लेकिन साहित्यिक कृतियों की भाषा का आधार व्यापक सामाजिक जीवन की भाषा है, इसलिए कृतियों की भाषा का एक अनिवार्य सामाजिक पक्ष होता है। साहित्यिक कृतियों की भाषा के वैयक्तिक और सामाजिक रूपों का समाज, संस्कृति और भाषा के इतिहास से गहरा संबंध होता है।

5. साहित्य का मूल आधार भाषा और समाज है। यही कारण है कि साहित्य का इतिहास का जो साहित्य लिखेगा वह भाषा के इतिहास की उपेक्षा नहीं करेगा।

6. भाषा का इतिहास समाज के जीवन, संवेदनशीलता, चिंतन, सृजनशीलता और विकास

का इतिहास होता है साहित्यकार जब समाज को अपने इतिहास में लाता है तो उसे अपनी अनुभूतियों में ढालता है। इस कारण साहित्य समाज का पुनर्सृजन करता है। साहित्य जीवन के समाज से संबंधित है वह इसके मूल्यों को आधारित करता है।

मार्क्स के अनुसार, 'भाषा एक व्यावहारिक चेतना है जैसे मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक जीवन के क्रिया-व्यापार, अनुभव और चिंतन से विकसित होती है, वैसे भाषा का विकास होता है। भाषा अपनी प्रकृति और प्रयोजन में सामाजिक होती है।'

भाषा के परिवर्तन और विकास का समाज के परिवर्तन और विकास से गहरा संबंध होता है। साहित्य के इतिहास में समाज और भाषा के परिवर्तन, परंपरा और विकास का संबंध प्रकट होता है—साहित्य का इतिहासकार अलग-अलग कृतियों की भाषा, एक कृतिकार की सभी कृतियों की भाषा और उस युग की साहित्य की भाषा की विशिष्टताओं को समझता है। वह कृतियों और रचनाकारों के युग-विशेष के समाज की भाषा के संबंध का विवेचन करता है। इतिहासकार भाषा, साहित्य, संस्कृति और समाज के इतिहास की वैचारिक यात्रा करते हुए भाषा, समाज और साहित्य के इतिहस के आपसी संबंध का बोध प्राप्त करता है। इस व्यापक ऐतिहासिक चेतना के कारण ही वह कृतियों, रचनाओं और एक युगविशेष की साहित्यिक भाषा के स्वरूप की पहचान कर पाता है। फिर भी देश और देश और काल के समाज, जीवन, चेतना की सापेक्षता में ही भाषा और साहित्य के इतिहासकार को समझा जा सकता है। भाषा का इतिहास अंतत: समाज, संस्कृति और साहित्य का इतिहास होता है, इसलिए भाषा और साहित्य के इतिहास के आपसी संबंध को न समझने वाला साहित्य का इतिहासकार रचनाओं और रचनाकारों की कृतियों का साहित्यशास्त्रीय वर्गीकरण करता हुआ जो इतिहास लिखता है, वह व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक संबंध से विच्छिदन होने के कारण साहित्य के विकास के स्वस्रोत, प्रक्रिया और प्रयोजन को उद्घाटित नहीं कर पाता है।

साहित्य और समाज का संबंध

साहित्य और जिस समाज में उसकी रचना हुई उस समाज के संबंध का एक निरूपण यह है कि साहित्य अपने समाज का ब्यौरा प्रस्तुत करता है। महान साहित्यकार मानव स्वभाव और मनुष्य की स्थिति के बारे में अपनी अंतर्दृष्टियाँ प्रस्तुत करते हैं, कमतर साहित्यकार दैनंदिन घटनाओं का विश्वसनीय वृतांत प्रस्तुत करते हैं। दोनों ही समकालीन साधारण अनुभव का वृतांत इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि साधारण पाठकों को अपनी स्थितियों और उनके समाधान अथवा अपनी प्रतिक्रियाओं का बोध हो जाए। जब पाठक का ध्यान अपनी निजी कठिनाइयों से किसी औपन्यासिक चरित के सामने कर्म के कौन-कौन विकल्प खुले हैं और इन्हीं के विस्तार से स्वयं अपनी परिस्थितियों का सामना करने का मार्ग खोजा जा सकता है।

सफल होने के लिए उपन्यासकार को ऐसे ही चरित्रों का अंकन करना होगा जिन्हें पाठक समाज पहचान सके और जिनके साथ तादात्म्य का अनुभव कर सकें वांछित पाठक समाज उपन्यास में दिखाई गई परिस्थितियों से परिचित होगा और परिचय की यह भावना इससे और भी बढ़ जाएगी कि उपन्यासकार सामान्य, सामाजिक, अनुभव से चयन करके ऐसा ब्यौरा प्रस्तुत करेगा जो पहचान में आ सकता है। इस प्रकार साहित्य तादात्म्य बोध कराने के लिए ऐसे मूल्यों और प्रतीकों का उपयोग करता है जिनके सहारे पूरे समाज और समाज के भीतर किसी एक बिरादरी से पाठक की तादात्म्य हो सकता है। दूसरे शब्दों में साहित्य ऐसी संस्कृतियों का एक कोश होता है

जिनके सहारे कोई बिरादरी अपनी अस्मिता पहचानी है और निर्णय करती है कि औचित्य क्या है? व्यक्तियों को कैसे आचरण करना चाहिए, कि न्याय और अन्याय का निर्णय कैसे होना चाहिए, समाज का क्या रूप होना चाहिए इत्यादि। साहित्यकार लिखते समय अपने समाज का एक दस्तावेज भी प्रस्तुत कर सकते हैं। लेकिन अधिसंख्य लेखकों का मुख्य उद्देश्य यह नहीं होता। अगर साहित्य केवल दैनंदिन जीवन की पुन:सर्जना भर होता तो लेखकों को लिखते रहने की प्रेरणा बहुत कम मिलती। यह काम तो बिन चालक का मूवी कैमरा बखूबी कर सकता है। यह साहित्य की बहुत ही संकीर्ण परिभाषा होगी। साहित्य रचना की प्रेरणा असंख्य रूप ले सकती है।

इस प्रकार साहित्य और समाज के संबंधों को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत समझा जा सकता है–

1. **साहित्य में समाज या साहित्य की सामाजिकता**–साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन का आरंभ समाज से साहित्य से संबंध की खोज के साथ हुआ था। इस चिंतन के विकास में अग्रमामी भूमिका निभाने वाली क्रांतिकारी नारी मादाम स्तेल ने साहित्य की उत्पत्ति में समाज की भूमिका और समाज पर साहित्य के प्रभाव का विवेचन किया था। उन्होंने साहित्य के जातीय स्वरूप और समकालीन राजनीति से उसके गहरे संबंध को विशेष महत्त्व दिया था। इस चिंतन को अधिक व्यवस्थित रूप देने वाले तेन ने भी साहित्य की सामाजिक भूमिका और उसके जातीय चरित्र पर बल देते हुए उसे समाज के बारे में ज्ञान का प्रमुख स्रोत माना। विश्व में साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन साहित्य से समाज को दो स्तरों पर जोड़ता था। एक तो समाज को साहित्य की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का निर्धारण करने वाली शक्ति के रूप में और दूसरे साहित्य को समाज के दर्पण के रूप में, वह चिंतन विधेयवाद से प्रभावित था। इसमें समाज को साहित्य का संबंध निर्धारणवादी ढंग से देखा जाता था। इसलिए समाज और साहित्य के बीच कार्य-कारण संबंध मान लिया जाता था। उस दृष्टिकोण की मुख्य मान्यता यह थी कि साहित्य समाज का दर्पण है, जिसमें समाज प्रतिबिंबित होता है। उस समय के विचारक साहित्य से समाज के बारे में ज्ञान प्रापत करने के लिए साहित्य की अंतर्वस्तु के विश्लेषण को पर्याप्त मानते थे। हिंदी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में दर्पणकारी दृष्टिकोण खूब प्रचलित था। उस युग के लेखकों ने बार-बार साहित्य को समाज का दर्पण कहा है।

दुनिया में मनुष्य अकेला नहीं होता; उसके चारों ओर प्रकृति होती है, समाज होता है। उसकी आदिम प्रवृत्तियाँ तथा प्रजातिगत विशेषताएँ भौतिक-सामाजिक परिस्थितियाँ, घटनाओं, आदि से प्रभावित होती हैं, कभी पुष्ट होती हैं कभी बदलती हैं। यूनान और रोम की विशिष्ट प्राकृतिक परिस्थिति से बड़ों के निवासियों को स्वभाव बना है और उसी स्वभाव की अभिव्यक्ति उनकी संस्कृति, कला तथा साहित्य में हुई है। इस प्रकार साहित्य में सामाजिकता स्वयं ही आ जाती है। मैनेजर पांडेय के अनुसार, 'साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता। इसलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से अलग नहीं हो सकता, साहित्य सामाजिक रचना है, साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है। साहित्यिक कर्म की पूरी प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार का ही एक विशिष्ट रूप है, इसलिए साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास में जुड़ा होता है। साहित्य का इतिहास व्यापक सामाजिक इतिहास का अंग है।'

2. **पाठक समुदाय के बीच साहित्य**–आज के युग में लेखक और पाठक का संबंध पहले की तुलना में बहुत बदल गया है। पहले, कवि सीधे समाज को संबोधित करता था। जब साहित्य मौखिक था तब श्रोता से संवाद और सहज था, जब विलिखित हुआ तो पाठक अस्तित्व में आया,

सामंती समाज में कवि को अपने श्रोता और पाठक से सीधा संबंध था। वह उनके लिए लिखता था जिनको जानता था। पहले का लेखक अपने वास्तविक पाठकों के लिए लिखता था, लेकिन पूँजीवादी युग में लेखक संभावित पाठकों के लिए लिखता है। आज का लेखक अपने पाठक को ठीक से नहीं जानता क्योंकि लेखक और पाठक के बीच बाजार मौजूद है। बाजार में कृति एक वस्तु की तरह होती है। यह जरूर है कि कृति पर कृतिकार के व्यक्तित्व की छाप होती है जो कि बाजार की दूसरी वस्तुओं पर नहीं होती। लेकिन यह जब भी संकेत से अधिक महत्त्व नहीं रखती। बाजार में आते ही कृति अपने कर्ता से स्वतंत्र हो जाती है और पाठक से उसका वस्तुगत संबंध हो जाता है। यही कारण है कि आजकल कृति से पाठक से संबंध को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। कृति से पाठक के संबंध का एक और पहलू भी है। रचना रचनाकार की चेतना की उपज ही नहीं होती वह चेतना पैदा भी करती है। तात्पर्य यह है कि रचना अपने पाठक पैदा करती है। जिस समय छायावादी कविता ने पाठकों की चेतना को बदला, अपने लिए जगह बनाई किंतु उससे पहले छायावादी कविता के निंदक ही अधिक मौजूद थे।

3. **साहित्य समाज का दर्पण है**–प्राय: माना जाता है कि फ्रांसीसी विचारक तेन (1828-93) साहित्य के समाजशास्त्र के प्रवर्तक हैं। फ्रांस में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की परंपरा व्यवस्थित रूप में मादाम स्तेल (1766-1817) की पुस्तक 'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबध पर विचार' (1800 ई॰) से शुरू हुई। मादाम स्तेल क्रांतिकारी विचारों की पहली महिला थीं। वे नेपोलियन की तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष और अपनी सक्रिय राजनीतिक गतिविधियों के कारण फ्रांस छोड़ने पर मजबूर हुईं। फ्रांस से भागकर वे जर्मनी चली गईं। वहाँ उन्होंने कला और साहित्य संबंधी जर्मन चिंतन, विशेषत: समकालीन चिंतन को आत्मसात किया, जिसकी अभिव्यक्ति उनके साहित्य चिंतन में हुई। 'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार' नामक पुस्तक इसी प्रक्रिया की देन है। मादाम स्तेल ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है, 'मैंने साहित्य पर धर्म, नैतिकता और कानून के प्रभाव तथा सब पर साहित्य के प्रभाव की जाँच-परख का प्रयत्न किया है।' यह समाज से साहित्य के संबंध की खोज की नई दृष्टि और पद्धति है। मादाम स्तेल की पुस्तक में ऐसी अनेक मान्यताएँ हैं जिनको तेन ने बाद में विकसित किया था।

तेन साहित्य के ज्ञानात्मक मूल्य को स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि साहित्य में समाज प्रतिबिंबित होता है। यह उनके साहित्य के समाजशास्त्र का तीसरा पक्ष है। साहित्य को सामाजिक दस्तावेज मानने या साहित्य को समाज का दर्पण समझने की धारणा उनके साथ जुड़ गई है। तेन के अनुसार साहित्य के अध्ययन से उसके रचनाकाल के मनुष्यों की भावनाओं के रूप, विचारों की गति और जीवन की दशाओं को बोध होता है। उसमें प्राय: अपने युग और कभी-कभी प्रजाति की आत्मा का मनोविज्ञान भी प्रगट होता है। तेन के अनुसार साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति का विशेष महत्त्व है। उन्होंने लिखा है कि किसी रचना की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर है कि उसमें भावों की व्यंजना कैसी है। साहित्य का मुख्य कार्य है–भावों को मूर्तरूप में व्यक्त करना। किसी कृति में महत्त्वपूर्ण भावों की जितनी बेहतर अभिव्यक्ति होगी, साहित्य में उसका स्थान उतना ही ऊँचा होगा, क्योंकि जो लेखक एक राष्ट्र और युग की समग्र जीवन पद्धति की जितनी अधिक और अच्छी तरह व्यंजना करता है, उतना ही अधिक वह अपने राष्ट्र और युग की भावनाओं का केंद्र बनता है।

4. **समाज और इतिहास का संबंध**–समाज केंद्र में होता है। समाज का संबंध इतिहास

और साहित्य से भी है। जिसमें भाषा की मुख्य भूमिका होती है। समाज की जैसी उत्पादन पद्धति होती है मुख्यत: वैसा ही समाज होता है। वैसे ही उसके विचार, सिद्धांत, राजनीतिक, सामाजिक संस्थाएँ होती हैं। सामाजिक व्यवस्था जैसी होती है वैसा ही समाज होता है। हमारा समाज भिन्न-भिन्न समुदायों से बनता है। हमारे समाज में जातियाँ तथा उपजातियाँ होती हैं। जातियाँ वर्ग में रूपातंरित हो गई हैं। जैसा मनुष्य का आधार होता है वैसे ही उसके विचार होते हैं। समाज में जाति या उसका जैसा सामाजिक आधार होता है उसकी विचारधारा वैसा ही होती है। हर व्यक्ति के राजनीतिक विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। समाज के इतिहास का विकास उत्पादकों के विकास का इतिहास है। इसलिए सामाजिक इतिहास के नियमों का सुख मनुष्य के मस्तिष्क में या समाज के विचारों और मतों में नहीं मिल सकता। वह मिलेगा उस इतिहासिक युग के प्रचलित समाज की उत्पादक पद्धति में और उसे समाज के आर्थिक जीवन में ढूँढना चाहिए।

इतिहास के बिना हम समाज का अध्ययन नहीं कर सकते। इतिहास के द्वारा हम यह देखते हैं कि समाज का विकास कैसे हुआ, उसी प्रकार इतिहासकार साहित्य का अध्ययन करता है तथा देखता है कि पहले साहित्य की प्रवृत्तियाँ क्या थीं? उनका विकास किस प्रकार हुआ? इतिहास साहित्य का मूल्यांकन करता है। यह बताता है कि इसमें क्या मूल्य तथा विचार रहे हैं। उसका जन्म कैसे हुआ, उसका विकास कैसे हुआ, इसका अध्ययन इतिहास करता है। इतिहास वर्तमान केंद्रीय होता है वह इतिहास बतलाता है जिससे हम भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। साहित्य यह बतलाता है कि हमारा अगला इतिहास कैसा होगा।

द्विवेदी जी कहते हैं, 'इतिहास जीवन मनुष्य के विकास की जीवनगाथा होता है, जो काल प्रवाह से नियत् उद्घोष होने वाली नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-गाथा का चित्र प्रस्तुत करता है और जो काल के पर्दों पर होने वाले नए-नए दृश्यों को सहज प्रवाह से उद्घाटित करता रहता है। (हिंदी साहित्य का आदिकाल)।

5. **लेखक की सामाजिक स्थिति**–साहित्य के इतिहास लेखन में लेखक की भूमिका तीन बिंदुओं पर केंद्रित होती है–

1. लेखक किस सामाजिक वर्ग से आ रहा है।
2. क्या लेखक अपने वर्ग से अतिक्रमण करता है।
3. लेखक की विचारधारा कौन सी है।

साहित्य इतिहास संबंधी धारणा

1. इतिहास का तथ्य और अतीत के साथ संबंध होता है इन्हीं के आधार पर इतिहास लिखा जाता है।

2. इतिहास का लक्ष्य यह होता है कि उसके अध्ययन द्वारा हम यह अध्ययन कर सके कि हमारी संस्कृति, समाज, मूल्य कैसे थे, तथा अपने दुर्गों को देखकर भी भविष्य में पुन: अच्छा साहित्य लिख सकें।

3. इतिहास बोध या ऐतिहासिक दृष्टि बिना इतिहासबोध के साहित्य इतिहास लिखना कठिन है। जैसे द्विवेदी जी की दृष्टि है 'परंपरा की खोज'। अत: इतिहास दृष्टि द्वारा ही साहित्य का इतिहास लिखा जाता है।

4. इतिहास चेतना का जागरण है।

निष्कर्ष-इस प्रकार साहित्य, समाज और इतिहास एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं जिसमें भाषा

प्रमुख होती है। साहित्य तथा समाज का संबंध गहरा होता है समाज में पाठक, लेखक आदि होते हैं इन सबसे साहित्य का संबंध होता है। समाज और इतिहास भी नए साहित्य लिखने की प्रेरणा देते हैं। इतिहास वर्तमान केंद्रित होता है जो भविष्य के लिए भी आधार प्रदान करता है।

संदर्भ

1. शिवकुमार मिश्र, साहित्य और सामाजिक संदर्भ
2. राजेंद्र प्रसाद, साहित्य, शिक्षा और संस्कृति
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास
4. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास
5. मैनेजर पांडेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि
6. डॉ॰ विमलचंद्र पांडेय, भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास
7. रजनी दिसोदिया, साहित्य और समाज कुछ बदलते सवाल
8. डॉ॰ आर॰आर॰ पटेल, साहित्यिक पत्रिकाएँ और सामाजिक बोध

ए-23, **असोला फतेहपुर बेरी**
नई दिल्ली-110074
मो॰ 9999895208
anjubalaslcedu@gmail.com

हिंदी कहानियाँ और विकलांगों की समस्याएँ

डॉ॰ पुनीत कुमार, शोध निर्देशक, हिंदी विभाग
छाया, शोधार्थी, हिंदी विभाग
स्टारेक्स विश्वविद्यालय, गुरुग्राम

वर्तमान युग विमर्शों का युग है। हमारे समाज में जो कुछ भी घटित होता है, उसका वर्णन साहित्य में अवश्य आता है। क्यूँकि साहित्य एक ऐसा माध्यम है जो समाज में बदलाव लाने में समर्थ है। अपनी कलम के माध्यम से साहित्यकार प्राचीनकाल से आज तक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करते रहे हैं। समाज में कितनी ही ऐसी समस्याएँ रही हैं, जिन पर साहित्य के माध्यम से विचार-विमर्श होते रहे हैं। चाहे वह किसान विमर्श हो, दलित विमर्श हो, किन्नर विमर्श हो अथवा विकलांग विमर्श हो। विकलांगों के संदर्भ में हमारा साहित्य प्राचीनकाल से ही आवाज उठाता रहा है। लेकिन यह विमर्श बहुत कम मात्रा में देखने को मिला। एक विकलांग व्यक्ति को समाज में रहते हुए किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यह बात उठाने का प्रयत्न हमारे अनेक साहित्यकारों ने किया है। हिंदी कहानीकारों ने अपनी अनेक कहानियों में विकलांगों की समस्याओं से जनसामान्य को अवगत कराने का प्रयत्न किया है।

समाज में कितनी ही ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका निवारण साहित्य के माध्यम से किया गया है। किसान समस्या, आदिवासी समस्या, स्त्री समस्या, यहाँ तक की दलित वर्ग की समस्या को भी साहित्य में स्थान देकर उनका निवारण करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन्हीं समस्याओं में एक समस्या है 'विकलांगजनों की समस्या'। हालाँकि विकलांगों का वर्णन प्राचीनकाल से ही साहित्य में होता रहा है। फिर भी यह वर्णन बहुत ही कम मात्रा में हुआ है। आज भी विकलांगजन समाज में उपेक्षित सा जीवन बिता रहे हैं। 'विकलांग' शब्द के पर्याय अनेक शब्द हैं। डॉ॰ गोपालशरण पांडेय जी ने एक स्थान पर कहा भी है कि 'भारतीय साहित्य में विकलांग पोगंड, व्यंग्य, न्युनांग, न्युनाधिकांग, हीनाधिकांग, अंगहीन, व्यसनांग, व्यासनिन शब्दों की चर्चा आई है।'[1]

निशक्त, अंग बाधित, अपंग, पंगु, अपाहिज, हेंडीकेप्ड, डिसेबल्ड एवं दिव्यांग। ये भी विकलांग शब्द के पर्याय माने जाते हैं। 'विक्लाह: विकृत: न्यून: अपूर्ण: अक्षम: अल्पक्षम: शरीरांग या मंदबुद्धि वाले प्राणी को विकलांग कहते हैं।'[2]

साहित्य में प्राचीनकाल से ही विकलांगता का वर्णन हुआ है। आदिकाल से लेकर वर्तमान तक साहित्य में विकलांग पात्रों के वर्णन मिलते रहे हैं। आदिमानव जब जंगलों में रहता था, तब जंगली पशुओं अथवा पेड़ों पर चढ़ने के कारण विकलांगता का शिकार हो जाता था। भारतीय संस्कृति और पुराणों में भी कहा गया है कि मानव जीवन की सफलता और सुख शांति तथा मोक्ष, स्वर्ग प्राप्ति से नहीं बल्कि, दीन-दुखियों की सेवा से प्राप्त होता है। अनेक शास्त्रों में भी दरिद्रों, भूखे-प्यासे प्राणियों, अपाहिजों, बेसहारा लोगों की सेवा को ही सर्वोत्तम माना गया है। अत: विकलांगों को आत्मनिर्भर बनाकर सामान्य मानव जैसा जीवन जीने के लिए प्रेरित करने का दायित्व समाज तथा साहित्यकारों पर

 ISSN 0975-735X

ही है। विकलांगता की यह अवधारणा प्राचीनकाल से ही हिंदी साहित्य में विद्यमान रही है। सन् 1995 में पारित विकलांग कानून के प्रथम अध्याय की दूसरी धारा में अलग-अलग प्रकार से परिभाषा दी गई है। जिनमें विकलांगता के निम्न प्रकार बताए गए हैं– नेत्रहीनता, अल्पदृष्टि, नि:शक्त, कुष्ठरोग के कारण विकलांग, श्रवणबाधित व्यक्ति, अस्थिविकलांग व्यक्ति, मानसिक विकलांग, बौद्धिक विकलांगता, आत्मिक विकलांगता, अंगाघात, अंधापन, वाचाघात, दिमागी पक्षाघात, वृधत्व तथा अंगों का ऐंठना आदि। उक्तलिखित विकलांगता के अनेक कारण हो सकते हैं।

प्राकृतिक तथा गर्भदोष के कारण, अज्ञानता तथा अर्थाभाव, मनोसामाजिकता, मनुष्य निर्मित, गुणसूत्र-संबंधी विकार, सड़क दुर्घटना, अवैज्ञानिक तरीके से प्रसव, एक ही खून के रिश्ते में की गई शादियाँ, युद्धकांड, कुपोषण का प्रभाव, कृषि प्रधानता, चिकित्सा सुविधाओं की कमी, आनुवांशिक विकार। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विकलांगता का कोई सीमित कारण न होकर अनेक कारण हो सकते हैं। विकलांगों को केवल समाज पर ही नहीं बल्कि, माता-पिता भाई-बहन, चाचा-चाची अथवा परिवार के अन्य लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है। हमारे समाज में काफी बड़ी संख्या में विकलांग लोग उपस्थित हैं। लेकिन, उनसे भी अधिक संख्या उन लोगों की है, जो शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग लोगों की उपेक्षा करते हैं। वास्तव में विकलांग तो वे लोग हैं, जो सकलांग होकर भी विकलांगों को उपेक्षा व अपमान की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन हमारे साहित्य ने प्राचीनकाल से ही विकलांगों को स्थान दिया है। चाहे सतयुग हो या त्रेता, द्वापर या कलियुग सभी युगों के साहित्य में विकलांग लोगों ने अपना स्थान बनाया। प्राचीनकाल से ही साहित्य में ऐसे अनेक चरित्र आए हैं, जिन्होंने विकलांग होते हुए भी समाज में अपना स्थान बनाया। क्योंकि हमारा समाज विकलांगों को लेकर कितना संवेदनशील है इसके लिए हमें साहित्य को परखना पड़ेगा।

वर्तमान में साहित्यकार विकलांगों के अधिकारों के लिए साहित्य के माध्यम से आवाज उठा रहे हैं। कितनी ही कहानियाँ, उपन्यास, जीवनियाँ ऐसी हैं जो विकलांगों को आधार बनाकर लिखी गई हैं। हिंदी में ऐसी अनेक कहानियाँ हैं, जो विकलांगों की समस्याओं को उजागर करती हैं। विकलांग व्यक्तियों और उनके परिवारजनों का संघर्ष और उनकी समस्याओं को कहानी का कथ्य बनाने की प्रवृत्ति स्वतंत्रता के पश्चात् के कहानीकारों में मुख्य तौर पर देखने को मिली। इन कहानीकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को उठाया। जैसे–गरीबी, अशिक्षा, जागरूकता का अभाव, इलाज के अभाव के कारण जागरूकता का होना, विकलांगों के लिए चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं की उन्हें जानकारी न होना। सरकार द्वारा चलाई जा रही अन्य योजनाओं का प्रसार-प्रचार तो व्यापक स्तर पर हो जाता है, लेकिन विकलांगों के लिए चलाई जा रही योजनाओं का विज्ञापन कम ही होता है। रचनाकार एक संवेदनशील प्राणी होता है। हिंदी साहित्य में दलित, स्त्री और पिछड़े वर्गों के सशक्तिकरण को ध्यान में रखकर जिस प्रकार का साहित्य लिखा गया है, विकलांगजनों से संबंधित ऐसी रचनाओं का आज भी अभाव है। आज हमारे समाज में अनेक विकलांग व्यक्ति शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा से समाज के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान कर रहे हैं। साहित्यकार आज इन उपलब्धियों से अनभिज्ञ क्यों हैं?

हिंदी कहानी और विकलांग

विकलांग को अन्य नामों से पुकारना–रामदरश मिश्र की 'सीमा' नामक कहानी में सीमा एक लड़की है, जिसके पैर नहीं हैं। पैरों से असहाय होने के कारण वह न तो बच्चों के साथ खेल पाती है, न ही कहीं जा पाती है। परिवार में और बाहर सब उसे लँगड़ी कहकर पुकारते हैं। वह पूरा

दिन अकेलेपन में रहती है और सोचती है–पता नहीं कब अम्मा आएँगी? वह बुदबुदाती है और खुद को कोसते हुए कहती है–'बेचारी इतने दिनों बाद तो निकलीं हैं, वह भी काम से, अभागी तेरे कारण तो वह कहीं निकल नहीं पाती हैं। बोझ तू सबके सिर का बोझ बनी हुई है।'[3]

विकलांग के प्रति परिवारजनों की चिंता–प्रकाश मनु की 'लावनी की आँखें' कहानी में लावनी एक सात-आठ साल की लड़की का नाम है। चेचक से उसकी आँखें चली गईं। समय पर उसका इलाज नहीं हुआ। लावनी बहुत अच्छा गाती थी। बाद में वह एक संगीतज्ञ बन गई। एक दिन लावनी की माँ चिंतित होकर कहती है कि 'हे राम कितनी लंबी जिंदगी है, भला कैसे काटेगी लावनी? जिनके पास आँखें हैं, वे भला कैसे समझेंगे कि आँखों के बगैर जिंदगी कितनी अँधेरी है, कितनी स्याह।'[4]

विकलांगों की दयनीय आर्थिक स्थिति–अनेक ऐसी कहानियाँ देखने में आती हैं, जहाँ विकलांगों की आर्थिक स्थिति इसलिए खराब है, क्योंकि वे व्यक्ति विकलांग हैं। मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'पत्नी से पति' विकलांगता से संबंधित कहानी है। इस कहानी में वर्णित विकलांग चरित्र भीख माँगकर पैसे कमाता है और अपनी कमाई के पैसे वह देश सेवार्थ दान में दे देता है। वह अपनी पत्नी और बच्चों की सेवा न करके देश के हित में कार्य करता है। इस व्यक्ति के माध्यम से सिर्फ विकलांगों को ही नहीं बल्कि स्वस्थ मानव को भी प्रेरणा मिलती है।

विकलांगों के प्रति सम्मानबोधक शब्द–जयशंकर प्रसाद जी की कहानी 'मधुआ' में मानव हृदय को बेधने वाली पीढ़ा का वर्णन हुआ है। उनकी एक अन्य कहानी 'बेड़ी' में एक अंधे व्यक्ति का चरित्र सामने आता है। एक नौ-दस वर्ष का लड़का लाठी का सहारा लेकर चलता है। वह भीख माँगकर अपना गुजारा करता है। प्रसाद जी के शब्दों में 'अंधे को अंधा न कहकर सूरदास के नाम से पुकारने की चाल मुझे अच्छी लगी। इस संबोधन में दीन के अभाव की सहानुभूति और सम्मान की भावना थी, व्यंग्य न था।'[5]

विकलांग की असहायता–प्रसाद जी की 'दुखिया' नामक कहानी में भी विकलांग व्यक्तित्व चित्रित है। रामगुलाम नामक एक बूढ़ा व्यक्ति है। उसको खाना खिलाने तक का काम उसकी बेटी करती है। एक बार जब मोहन उससे पूछता है कि रामगुलाम बहुत दिनों से दिखा नहीं। तब उसकी बेटी बोलती है कि उनकी आँखों से दिखाई नहीं पड़ता।

जीवन में शिक्षा का महत्त्व–'डॉल नहीं गुड़िया कहिए' कहानी में बिन्नी नामक एक लड़की पोलियो के कारण जिसके शरीर का आधा हिस्सा बेजान हो गया। लेकिन, इलाज से कैलीपर्स की सहायता से चलने लगी। उसने एक महाविद्यालय में अध्यापन कार्य शुरू किया। लेकिन, कुछ समय बाद उसके पैर फिर से खराब हो गए वह घर में ही रहने लगी। बिन्नी ने गुड़ियों के कपड़े बनाकर बेचने के लिए वेबसाइट लॉन्चिग की। अब वह बंद कमरों में थमे कदमों से दुनिया को जीतने लगी। बिन्नी कहती है कि 'कभी-कभी मैं तो निराशा के पलों में सोचती थी कि मेरा बेजान शरीर भी इन रबर की गुड़ियों की तरह ही तो है। जिनके अंगों को मोड़कर परिधान पहनाकर, तैयार करके एक जगह बैठा दिया जाता है।'[6]

विकलांग विवाह की समस्या–निर्देश निधि की कहानी 'जीकाजि' में तेजस और रीवा बचपन के दोस्त हैं। तेजस को एक बार तेज बुखार के कारण आधे शरीर को लकवा मार गया। रीवा तेजस से विवाह के लिए बोलती है। लेकिन, रीवा के घरवाले अब अपाहिज तेजस से किसी भी प्रकार का रिश्ता नहीं रखने देना चाहते। रीवा की माँ कहती है कि तेजस अब तेरी शारीरिक जरूरत

को पूरा नहीं कर सकता। उसकी माँ कहती है कि शरीर की भी जरूरत होती है रीवा। जिस शरीर की बात तुम कर रही हो माँ वह शरीर दुरुस्त है उसका।

विकलांगता के परिवारजनों का दुःख–स्वाति तिवारी की कहानी 'विद्यावती' में विद्यावती एक औरत के घर की बहू है। उसकी शादी एक मानसिक विकलांग व्यक्ति से कर दी गई। विद्यावती एम॰ए॰ पास थी। उसका पति मानसिक विकलांग था। वह उसे छोड़कर भाग जाता है। फिर भी विद्यावती अपनी चिंता को भूलकर आजीवन अपने ससुराल वालों की सेवा करती है। लेखक कहता है कि 'मैंने अफसोस जाहिर किया, यह तो बड़ा अन्याय है। पर गृहस्थी की गाड़ी को केवल एक पहिया खींचे? कितना मुश्किल है। फिर यहाँ तो विद्यावती पर पूरी गृहस्थी का भार ही नहीं बल्कि, दूसरे पहिए के बोझ को भी घसीटना है।'[7]

मानसिक विकलांगों से दुर्व्यवहार–हमारे समाज में मानसिक विकलांगों से बहुत दुर्व्यवहार किया जाता है। हृदयेश की कहानी 'पागल कबीरदास' इस तथ्य को उजागर करती है। कबीरदास नामक एक मानसिक विकलांग व्यक्ति, जो अपने जीवन की किसी निजी घटना के कारण पागल हो गया था। समाज उसके साथ बहुत ही अमानवीय व्यवहार करता है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए गए कुकर्म का इल्जाम भी उसी पर डाल दिया जाता है। अंततः कबीरदास को मार दिया गया।

बुजुर्ग विकलांगों की देखभाल की समस्या–विकलांग व्यक्तियों के सेवा करने से जब घर के सदस्य ही मना कर देते हैं, तो उनकी दुर्दशा हो जाती है। रामदरश मिश्र की कहानी 'बहुत देर कर दी' में नंदकिशोर और उसकी पत्नी का नाम शारदा है। इनका बेटा 'समीर' विदेश चला जाता है। एक दिन हृदयाघात से नंदकिशोर की मृत्यु हो जाती है। शारदा भी सदमे में मर जाती है। 'नंबर मिल गया समीर को फोन किया गया। वह दो दिन बाद आया। माँ-बाप की लाश उसी तरह पड़ी हुई थी।'[8]

विकलांग स्त्री का शोषण–कुसुमलता मालिक की 'सचेतक' कहानी में एक शालू नामक अंधी लड़की है। उसका प्रेमी संजय उससे झूठे प्यार के वादे करके निरंतर उसका शारीरिक शोषण करता है। शादी के नाम पर वह टालमटोल कर देता था। अंत में शालू सब-कुछ समझकर उसे अपने घर से हमेशा के लिए निकाल देती है। अतः इस कहानी में एक विकलांग स्त्री के शोषण को उजागर किया गया है। 'अंधता का उपभोग किया जा सकता है। उसे निभाया नहीं जा सकता। जब तुम यह समझ लोगी, तब तुम चमकती बिजली नहीं, खिलती धूप होगी।'[9]

अनाथ विकलांग पर अत्याचार–'गाँठ' कहानी में कुसुमलता मलिक ने बताया है कि गंगाराम और उसकी पत्नी चमनो है। चमनो उस पर बहुत अत्याचार करती है। उसे खाने-पीने को कुछ नहीं देती। एक दिन वह रोहित को कुएँ में धक्का दे आती है। जान बचने पर रोहित ने एक बात गाँठ बाँध ली थी कि वह सब-कुछ देखेगा पर बोलेगा कुछ नहीं। अपने अंधेपन की लाचारी के कारण वह भाभी की चालाकी को समझ नहीं पाता है 'छोटे को लगा सच में भाभी बहुत अच्छी है। आज तो उसे दूध पीने पर डाटा तक नहीं। दुनिया को न देख पाने वाली उसकी आँखें अंतःकरण के विरुद्ध चक्षुओं से दुनिया के छल-प्रपंच को देख पाने में असमर्थ थीं।'[10]

'उपहार' कहानी में जया और विजया दो बहनें हैं। विजया अंधी होने के बावजूद बहुत सुंदर है। जया के बाँझपन के कारण उसका पति दूसरी शादी अंधी विजया से करता है। विजया जब अंधकन्या विद्यालय से अपनी पढ़ाई पूरी करके घर आती है तो घरवाले उससे परायों जैसा व्यवहार करते हैं। कोई भी उसकी परवाह नहीं करता। उसको बेसहारा मानकर उसकी मौसी कह रही थी कि

'विजया का किसी जरूरतमंद के साथ विवाह कर दो, अपना घर होगा इसका जीवन किसी के सहारे बीत जाएगा।'[11]

अत: हम कह सकते हैं कि विकलांगता के अनेक प्रकारों के कारण विकलांग लोगों की समस्याएँ भी विभिन्न प्रकार की होती हैं। मानव जाति, परिवेश, आर्थिक स्थिति, लिंग आदि से भी विकलांगता किसी-न-किसी प्रकार से संबंधित होती है। लेकिन प्रत्येक मनुष्य को यह ध्यान में रखना चाहिए कि विकलांग व्यक्ति भी समाज का अंग हैं। अगर विकलांगता के कुछ प्रकारों को छोड़ दें तो विकलांग व्यक्तियों में भी सामान्य मानव की तरह सोचने, समझने, कार्य करने एवं महसूस करने की क्षमता होती है। उन्हें भी समान अधिकार मिलने चाहिए। क्योंकि भारतीय संविधान भी किसी नागरिक से भेदभाव की इजाजत नहीं देता। लेकिन प्राय: देखने में आता है कि विकलांग पात्रों एवं उनके परिवार वालों में अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता है। उनमें जागरूकता का अभाव है। सरकार तथा गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा चलाई जा रही योजनाओं और उनसे प्राप्त होने वाले लाभों से भी वे अवगत नहीं हैं। विकलांगों की समस्याओं से संबंधित जो साहित्य लिखा जा रहा है। वह भी बहुत कम मात्रा में है। आज इसे अधिक व्यापक और समृद्ध बनाने की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. डॉ॰ विनय कुमार पाठक, नि:शक्त चेतना, पृ॰ 92
2. डॉ॰ विनय कुमार पाठक, विकलांग विमर्श, पृ॰ 155
3. संध्या कुमारी, जीवन संग्राम के योद्धा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, पृ॰ 17
4. सम्यक् ललित, बावजूद, श्वेतवर्णा प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 92-93
5. जयशंकर प्रसाद, संपूर्ण कहानियाँ, पृ॰ 171
6. सम्यक ललित-बावजूद, श्वेतवर्णा प्रकाशन, नई दिल्ली, 24 नवंबर 2021, पृ॰ 62
7. संध्या कुमारी, हौसले की उड़ान, मोनिका प्रकाशन, पृ॰ 174
8. संध्या कुमारी, हौसले की उड़ान, मोनिका प्रकाशन, पृ॰ 10
9. कुसुमलता मालिक, कही-अनकही, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2018, पृ॰ 92
10. वही, पृ॰ 86
11. वही, पृ॰ 16

छाया
गाँव भिरावटी, तहसील-नूँह (मेवात)
पोस्ट ऑफिस-भिरावटी 122103
मो॰ 7827066545
chhayaraghav786@gmail.com

'दीवार में एक खिड़की रहती थी' का भाषा वैशिष्ट्य : कथा कहन की नवीन शैली

रवि कुमार पाण्डेय, शोधार्थी
प्रो॰ सुचित्रा मलिक, शोध निदेशक, हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार (उत्तराखंड)

समकालीन हिंदी कथाकारों में विनोद कुमार शुक्ल एक उल्लेखनीय नाम है। हिंदी कथासाहित्य परंपरा में शुक्ल जी का पदार्पण आठवें दशक में हो जाता है। इन्होंने अपने उपन्यास लेखन के द्वारा हिंदी कथा साहित्य को सृजनात्मकता का नया आयाम दिया। भाषा के स्तर पर इन्होंने हिंदी साहित्य के पाठक वर्ग को एक नवीन 'भाषाई कौशल' से परिचित कराया। लेखक के उपन्यास आस्वादन के लिए पाठक की संजीदगी की माँग करते हैं। इनके उपन्यास ठहराव के साथ पढ़ने तथा पुनर्पाठ की माँग करते हैं। वैसे तो इनके लगभग आधा दर्जन उपन्यास प्रकाशित हैं जिसमें से तीन विशेष रूप से अपने नवीन भाषायी कौशल और शिल्प की वजह से चर्चित रहे हैं। 'नौकर की कमीज', 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' व 'खिलेगा तो देखेंगे'। इन उपन्यासों को विनोद जी ने इस प्रकार एक नए शिल्प कौशल और अद्वितीय सृजनात्मकता के साथ रचा है कि आलोचक भी इसके लिए एक 'नवीन आलोचना शैली' की बात करते हैं।

'शिल्प और कल्पनाशीलता की ताजगी से उन्होंने रूढ़िग्रस्त भाषा को नया और अभूतपूर्व शुभ संस्कार दिया है।'[1] 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' इसी तरह के भाषा शिल्प के साथ रचा गया व साहित्य अकादमी से पुरस्कृत विशिष्ट उपन्यास है। अपने लेखन के शुरुआती दौर में कवि-कथाकार विनोद कुमार शुक्ल अपने उपन्यासों में किए गए भाषायी व सृजनात्मक प्रयोगों के कारण विवादित रहे परंतु लेखक द्वारा प्रयोग में लाई गई असाधारण कथा भाषा और भाषाई स्तर पर किए गए बहुविध प्रयोगों ने हिंदी उपन्यास की 'कहन शैली' को विकसित ही किया है। वस्तुतः उपन्यास 'दीवार में खिड़की रहती थी' किसी तरह के वाद से प्रेरित नहीं है अपितु सभी वादों और प्रतिबद्धताओं से मुक्त होकर सहज भाव से जीवन के विविध परतों और संवेदनाओं तथा सामान्य जीवन में निहित 'जीवन के जादू' को उद्घाटित करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति तथा उसके व्यापक प्रसार के कारण मानव समाज में आए मूल्यों में परिवर्तन, विडंबनाग्रस्त यथार्थ, जटिल एवं विखंडित व्यक्तित्व तथा कथ्य एवं रूप दोनों के स्तर पर नए रचनात्मक प्रयोगों के द्वारा पकड़ने का प्रयास करता है। विनोद कुमार शुक्ल अपने इसी सृजनशीलता के कारण 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में यूटोपिया रचते नजर आते हैं। इस उपन्यास के बारे में विष्णु खरे लिखते हैं, 'इस उपन्यास में कोई महान घटना, कोई विराट संघर्ष, कोई युग-सत्य, कोई उद्देश्य या संदेश नहीं है क्योंकि इसमें वह जीवन, जो इस देश की वह जिंदगी है जिसे किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में निम्नमध्यवर्गीय कहा जाता है, इतने खालिस रूप में मौजूद है कि उन्हें किसी पिष्टकथ्य की जरूरत नहीं है। यहाँ खलनायक नहीं हैं किंतु मुख्य पात्रों के अस्तित्व की सादगी, उनकी निरीहता,

उनके रहने, आने-जाने, जीवन-यापन के वे विरल ब्यौरे हैं जिनसे अपने-आप उस क्रूर प्रति संसार का अहसास हो जाता है जिसके कारण इस देश के बहुसंख्य लोगों का जीवन वैसा है जैसा कि है।'[2]

इसी उपन्यास के अनुकथन में विष्णु खरे लिखते हैं, 'विनोद कुमार शुक्ल में पारंपरीणता और प्रयोगधर्मिता, ठोसपन और गीतात्मकता, गद्यता और पद्यता का अद्वितीय सामंजस्य हैं।'[3]

इस उपन्यास में लेखक ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विडंबनाओं को और उनके विसंगतियों को कहन के एक ऐसे नवीन अंदाज में उकेरा है कि वे अब तक ज्ञात किसी भी परिचित शैली में नहीं समा पाते हैं। इसलिए कई बार आलोचक विनोद जी के लेखन पर टिप्पणी करते हुए इसे जादू की या जादू से बनी हुई दुनिया कहते हैं। स्वयं लेखक के शब्दों में कहा जाए तो–'जादुई दुनिया' नहीं हकीकत में सुख की दुनिया कहना चाहिए। यथार्थ के सच के पीछे लोग हाथ धोकर पड़े हैं। जबकि अधिकतर यथार्थ जानलेवा हो जाता है। यथार्थ को सहज बनाते हैं जब कल्पना या फैंटसी का साथ लेते हैं।'[4]

दरअसल एक अर्थ में 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यासकार के स्वयं के जीवन से अंतर्संबंधित उपन्यास है। 'लेखे में लेखक का जीवन होता है। आत्मकथात्मकता को छू भी रहा होता है। कविता में 'मैं' से मैं नहीं बच सका। उपन्यास में भी। 'मैं' में किसी दूसरे की बात भी अपनेपन से उसी तरह कहते हैं जैसे अपनी बात, यानी मेरी। वह कम होता है। मैंने पात्रों की भाषा को लेखक की भाषा रखा है।'[5]

दरअसल, यह उपन्यास घरेलू प्रेमाख्यान और निम्न मध्यवर्ग के सुखों-दुखों को चित्रित करने वाला गद्य में काव्यभाषा की विशेषताओं से युक्त एक विलक्षण उपन्यास है। इस संपूर्ण उपन्यास में संगीत की लय एवं ध्वनि है, कथा के बहुआयामी परतदार स्तर है जिसको पढ़ते हुए पाठक संजीदगी के साथ बहुत गहरे रचना से जुड़ता चला जाता है। पात्रों की समस्याओं को जिस कल्पनात्मक समाहार शक्ति के साथ लेखक ने ऐसे बारीक ढंग से पिरोया है कि उससे उपन्यास का वैशिष्ट्य निकलकर आता है। संजीदगी के साथ व ठहरी हुई दृष्टि से देखने पर इस उपन्यास में निहित 'भाषा के जादू' वह उसके वैशिष्ट्य व नवीन रूपों को देखा जा सकता है।

भाषा प्रयोग के स्तर पर इस उपन्यास की एक प्रमुख भाषागत विशेषता 'आकांक्षा की भाषा' का प्रयोग है। इसका प्रयोग समूचे उपन्यास में द्रष्टव्य है। यह भाषा के साथ-साथ शिल्प के स्तर पर भी नवीन प्रयोग है। विष्णु खरे उपन्यास के अनुकथन में इसको व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं, 'उपन्यास में एक अद्‌भुत भाषा वह है जिसमें बोलने वाला और सुनने वाला बारी-बारी कहते कुछ हैं और सुनते कुछ और हैं और यह एक और ही अर्थबाहुल्य स्निग्धता को जन्म देता है।'[6] उपन्यास में इस आकांक्षा की भाषा को देखते ही बनता है। उपन्यास के एक प्रसंग में इसके तीन मुख्य पात्र–रघुवर प्रसाद, सोनसी व बूढ़ी अम्मा का वार्तालाप है–

पत्नी ने पूछा, 'बस स्टैंड से रिक्शे में आए थे?'

'नहीं पैदल आया था।' पत्नी ने सुना रघुवर प्रसाद घोड़े पर आए थे।

'हाथी नहीं मिला' पत्नी ने पूछा। रघुवर प्रसाद ने सुना कि पत्नी पूछ रही है–रिक्शा नहीं मिला था।[7]

एक अन्यत्र प्रसंग में रघुवर प्रसाद ने कहा, 'बूढ़ी अम्मा मैंने चाय अब तक नहीं पी।' बूढ़ी अम्मा ने सुना रघुवर प्रसाद ने कहा है, 'घंटे दो घंटे के लिए सोनसी को काम करने के लिए बुला लिया करो।' रघुवर प्रसाद ने कहा, 'बूढ़ी अम्मा क्या पूरा जंगल बुहारती हो?' बूढ़ी अम्मा ने सुना

रघुवर प्रसाद ने कहा 'पूरी दुनिया बुहारती हो।'[8]

यह रघुवर प्रसाद, सोनसी और बूढ़ी अम्मा की आकांक्षाओं को व्यक्त करती हुई नवीन जादुई भाषा है जो उनके अंदर की दबी हुई चाहतों तथा किसी वस्तु या किसी सुंदर स्थिति को पालने की बेचैनी को अभिव्यक्त करती है। योगेश तिवारी अपनी पुस्तक 'विनोद कुमार शुक्ल खिड़की के अंदर और बाहर' में इस आकांक्षा की भाषा को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'यहाँ भाषा में आकांक्षा को पिरो दिया गया है। आकांक्षा को अलग से कहना नहीं पड़ रहा है। भाषा वह काम खुद कर ले रही है।'[9]

इस प्रकार लेखक अपने इस उपन्यास में भाषा के माध्यम से 'अभावों में भाव का जीवन' उपन्यास में मूर्त करते हैं।

'गद्य में काव्यात्मकता' का स्वर 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास का एक और नवीन भाषायी पहलू है जिसकी चर्चा सर्वाधिक हुई है। ऐसा नहीं है कि विनोद कुमार शुक्ल ने बिलकुल पहले-पहल इस तरह की भाषा का प्रयोग अपने कथा-साहित्य के क्षेत्र में किया है– 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, रेणु आदि के उपन्यासों में भी एक प्रकार की काव्यात्मकता देखने को मिलती है। पर विनोद कुमार शुक्ल के यहाँ यह काव्यात्मकता काफी मुखर रूप में मौजूद है।'[10] लेकिन उनका यह प्रयोग पहले के कई कथाकारों के द्वारा किए गए प्रयोगों से बहुविध स्तर पर अलग है। चूँकि विनोद कुमार शुक्ल एक कवि भी हैं तो स्वभावत: उनके गद्य में भी काव्य की लयात्मक अनुगूँज अनायास ही दिखाई देती है। वस्तुत: उपन्यास में काव्यात्मकता का जो आभास है वह काव्य न होकर शिल्प की ताजगी का ही एक आयाम है। सामान्य सहज पात्रों और उनके जीवन तथा रोजमर्रा की साधारण घटनाओं का लेखक ने जैसा सर्जनात्मक रूपांकन उपन्यास में किया है उसमें काव्यात्मक के स्वर सहज रूप से घुल-मिल गए हैं। 'विनोद जी का वाक्य विन्यास उपन्यास विधा की अपनी आंतरिक रचनात्मक माँग के तहत गद्य का ही रहता है, पर उसमें अंतर्निहित लय मूलत: उनके कवित्व से नाभिनालबद्ध है।'[11] इस तरह से विनोद कुमार शुक्ल का यह उपन्यास भाषा के स्तर पर उपन्यास और कविता के बीच की खाई को पाट देता है। उपन्यास को पढ़ते हुए किसी बेहद मधुर और सुंदर-सी कविता को पढ़ने की अनुभूति होती है। इस काव्यात्मक उपन्यास में चर-चराचर जगत काव्य में निहित प्राकृतिक सौंदर्य की तरह सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। काव्यात्मक भाषा के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

'रात के बीतने से जाता हुआ अँधेरा शायद हाथी के आकार में छूट गया था। ज्यों-ज्यों सुबह होगी हाथी के आकार का अँधेरा हाथी के आकार की सुबह होकर बाकी सुबह में घुल-मिल जाएगी।'[12]

'ऐसा था कि ये दोनों जागे थे और सब-कुछ नींद में झूम रहा था। पेड़ नींद में पेड़ थे। तालाब नींद में तालाब था। आकाश नींद का आकाश था। पक्षी नींद के थे। वातावरण नींदमय था।'[13] संक्षेप में कहा जाए तो यह कविता में उपन्यास का उदाहरण है।

इस उपन्यास की एक अन्य भाषागत विशेषता 'नक्काशीदार भाषा' का प्रयोग है। योगेश तिवारी इस संदर्भ में लिखते हैं, 'उपन्यास का गद्य भी प्राकृतिक बारीक नक्काशी का नमूना तो माना जा सकता है, पर वह बेलबूटेदार नक्काशी का उदाहरण नहीं है। यहाँ साधारण भाषा में साधारण जीवन को असाधारण ढंग से पिरोया गया है।'[14] वस्तुत: विनोद कुमार शुक्ल शब्दों को माँज कर, निखारकर, उन्हें चमकाकर और रंग-रोगन के साथ उनका परिष्कार कर बिना किसी जल्दबाजी या

हड़बड़ाहट के अपने कथा-संसार में बहुत ही धीमे से गिरा देते हैं। 'नक्काशीदार भाषा' और 'शब्दों के कलात्मक जादू' के द्वारा विनोद जी उपन्यास में मधुर संगीत की निष्पत्ति करते हैं जो किसी भी रूप में निरर्थक नहीं है। इसे केवल शब्दों की बाजीगरी नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में देखो तो एक जगह रघुवर प्रसाद व सोनसी फुसफुसाहट भरी बातचीत करते हैं–

'क्या हम अपने आप खिड़की से बाहर जा रहे हैं।'

'नहीं खिड़की का बाहर अंदर आ रहा है।'

'तालाब पहले आया फिर तालाब का किनारा आया।'

'पगडंडी पहले आई फिर धरती आई।'

'तारे पहले आए फिर आकाश आया।'

'पेड़ का हरहराना पहले आया फिर पेड़ आए।'

'फिर तेज हवा आई।'

'महक आई।'

'महक के बाद फूल खिले।'[15]

'अमूर्त में मूर्त की कल्पना' तथा भाषा के माध्यम से अलौकिक जादुई यथार्थपरक 'स्वप्नलोक' की रचना इस उपन्यास की ऐसी अनूठी विशेषता है जिसको पढ़कर पाठक केवल एक सुखद आश्चर्य ही व्यक्त कर सकता है, ठीक-ठीक कुछ बता नहीं सकता। सृजनात्मकता के ताजेपन से सिंचित लेखक का यह उपन्यास अपनी सहज साधारणता में भी पाठक वर्ग को असाधारण होने का एहसास कराता है। साथ ही हिंदी साहित्य के पाठक वर्ग को कथा-शिल्प को देखने और अनुभूत करने की एक नवीन दृष्टि प्रदान करता है।

इस उपन्यास में लेखक ने भाषा के स्तर पर क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग करने से भी परहेज नहीं किया है। जैसे–मकोई, कप-बसी, पोलका, पैर-पट्टी, फज्जर आदि। लेकिन क्षेत्रीय या आंचलिक शब्दों की भरमार नहीं है कि वह पाठकों को चुभने लगे।

भाषा के अन्य नवीन प्रयोगों के पहलुओं के तहत उपन्यास में 'उपशीर्षकों' को देखा जा सकता है। जैसे उपन्यास का एक उपशीर्षक–

'रात-भर अँधेरे का इतना साथ था कि दिन का उजाला बहुत उजाला लग रहा था। लगा कि एक सूर्य से इतना उजाला नहीं हो सकता, दो सूर्य होंगे।' एक अन्य उपशीर्षक–'दृष्टि के जल से बुझकर सूर्य चंद्रमा हो गया था। और अल्पना का बना हुआ कमल पानी में तैर रहा था।'

हिंदी उपन्यास में इस तरह का सुंदर-संगीतात्मक भाषायी प्रयोग शायद ही किया गया हो। विनोद कुमार शुक्ल का यह उपन्यास अपने सर्जनात्मक कौशल के रूप में हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक मील का पत्थर है।

संदर्भ

1. आजकल, जनवरी 2022, पृ॰ 13
2. विनोद कुमार शुक्ल, दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ॰ 168 (अनुकथन से)
3. वही, पृ॰ 169 (अनुकथन से)
4. योगेश तिवारी, विनोद कुमार शुक्ल : खिड़की के अंदर और बाहर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ॰ 86

5. वही, पृ॰ 85
6. विनोद कुमार शुक्ल, दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ॰ 169 (अनुकथन से)
7. वही, पृ॰ 34
8. वही, पृ॰ 70
9. योगेश तिवारी, विनोद कुमार शुक्ल : खिड़की के अंदर और बाहर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ॰ 60
10. वही, पृ॰ 38
11. http://gadyakosh.org/gk/विनोदकुमार_शुक्ल_के_उपन्यासों_का_समाजशास्त्र_/_रवि_रंजन
12. विनोद कुमार शुक्ल, दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ॰ 108
13. विनोद कुमार शुक्ल, दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ॰ 67
14. योगेश तिवारी, विनोद कुमार शुक्ल : खिड़की के अंदर और बाहर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा॰लि॰, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ॰ 58
15. विनोद कुमार शुक्ल, दीवार में एक खिड़की रहती थी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ॰ 100
16. वही, पृ॰ 139
17. वही, पृ॰ 36

Mob. 9870363218
pandeyraviias333@gmail.com

महिला आत्मकथाओं में यथार्थ की प्रासंगिकता

डॉ॰ राम किशोर यादव, सहायक आचार्य, हिंदी
श्री कृष्ण पीजी महाविद्यालय, गोविंदगढ़, जयपुर (राज॰)

साहित्य के केंद्र में स्त्री और पुरुष दोनों का समान समावेश हिंदी, अँग्रेजी और अन्य भाषाई लेखन में सदा से ही रहा है। यदि साहित्य से किसी एक को हटा दिया जाए तो शायद साहित्य का सृजन संभव नहीं। इसी कारण नारी जीवन की गहराइयों से जितनी परिचित लेखिकाएँ हैं उतनी शायद कोई और नहीं। यही कारण है कि साहित्य सृजन की दुनिया में नारी अनुभूतियों को परिभाषित करने का सबसे प्रामाणिक कार्य लेखिकाओं ने किया है। साहित्य में ऐसी गहरी संवेदना रखने वाली लेखिकाओं की कमी नहीं है। लेखन के प्रति गंभीर महिलाओं ने आत्मकथा विधा में अभिव्यक्ति को प्रामाणिक और सशक्त करने का सफल प्रयास किया है। इसलिए आत्मकथा में अनुभूति की सच्चाई रूपी शक्ति का पुट अधिक होता है।

महिला रचनाकारों ने अनेक आत्मकथाएँ लिखी हैं। जिनमें–'लगता नहीं है दिल मेरा' (कृष्णा अग्निहोत्री), 'बूँद बावड़ी' (पद्मा सचदेव), 'एक थी रामरती' (शिवानी), 'पिंजरे की मैना' (चंद्रकिरण सौनरिक्सा), 'एक कहानी यह भी' (मन्नू भंडारी), 'कस्तूरी कुंडल बसै' (मैत्रेयी पुष्पा), 'हादसे' (रमणिका गुप्ता), 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (मैत्रेयी पुष्पा), 'जमाने में हम' (निर्मला जैन), 'आप हुदरी' (रमणिका गुप्ता) और 'अन्या से अनन्या' (प्रभा खेतान) आदि प्रमुख हैं। शिवपूजन सहाय लिखते हैं–जब तक 'मातृ-जाति अधोगति में पड़ी रहेगी, पुरुष-समाज सजग होकर भी उठने का बल न पा सकेगा! केवल नगरों की स्त्रियों में ही जागृति फैलाने से देशोन्नति की समस्या हल न होगी।'[1] शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि किस प्रकार सामाजिक समरसता और उन्नति संभव है।

'लगता नहीं है दिल मेरा' में कृष्णा अग्निहोत्री पुरुष सत्तात्मक समाज की विपरीत परिस्थितियों में जीने को विवश हैं। वह अपने निर्भीक लेखन के रूप में ख्यात हैं। लेखिका अपने पति से संघर्ष करती है, पति से तलाक लेती है और फिर तीन लड़कियों के पिता से विवाह करके भी अपनी अस्मिता की रक्षा नहीं कर पाती, तो दूसरे पति से विच्छेद करके बच्चों की समस्या से संघर्ष करती नजर आती है। डॉ॰ सरजूप्रसाद मिश्र जी का मानना है कि 'लगता नहीं है दिल मेरा, वही कह सकता है, जिसकी जिंदगी और परिवेश उजड़े दयार-सी हो गई हो।'[2]

'बूँद बावड़ी' में पद्मा सचदेवा का जीवन संघर्षों की गाथा है, इसमें लेखिका जीवनभर अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत है। बचपन में पिता का देहांत, दीप साहब से प्रेम, फिर उनसे शादी और शादी के बाद ससुराल में अनेक परेशानियाँ उनका पीछा नहीं छोड़ती हैं। स्वयं पति का शराब पीना और फिर उनसे छुटकारा पाना, शादी के बाद बीमार होकर अस्पताल में तीन वर्ष गुजारना आदि घटनाओं से आत्मकथा का ताना-बाना बुना गया है। लेखिका ने लिखा है–'मैं अपने गाँव की अकेली लड़की हूँ जिसने आठ जमातें पास की हैं। जिस दिन रिजल्ट निकला, हम बड़े खुश थे। पर

 ISSN 0975-735X

उस दिन पुलिस मेरे भाई को पता नहीं क्यों पकड़कर ले गई। सबने कहा लड़कियों को पढ़ाने का यही अंजाम होता है।'[13]

'एक थी रामरती' की शिवानी अपनी आपबीती को नारी पात्रों, संगीत प्रेम, पहाड़ी संस्कृति और विधवा जीवन जैसे दृश्यों में विभक्त करती हैं। उन्होंने जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को स्थान देते हुए संक्षिप्त जीवनगाथा लिखी है जिसमें लेखकीय जीवन, विद्यार्थी जीवन और विधवा जीवन विशेष उल्लेखनीय है।

'पिंजरे की मैना' संघर्ष गाथा की मार्मिक अभिव्यक्ति लेकर ओजस्वी एवं प्रखर व्यक्तित्व की धनी चंद्रकिरण सौनरिक्सा की जीवन गाथा है। सामाजिक व्यवस्थाओं से संघर्ष करती लेखिका साहित्यिक जगत में कदम रखती है। प्रस्तुत आत्मकथा में लेखिका पहले खुद और फिर दूसरों के लिए संघर्ष करती नजर आती है। आत्मकथा में तीव्र विरोध रूढ़ि परंपराओं के प्रति विवेच्य है।

'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी साहित्यिक जगत में प्रवेश तो पा लेती हैं किंतु उनका संघर्ष अनवरत जारी रहता है। एक साहित्यकार से शादी और फिर विच्छेद करके आर्थिक स्वतंत्रता के लिए नौकरी करती हैं। पति प्रदत्त अनेक यातनाओं की शिकार लेखिका अपने आपको विवश अनुभव करती हैं। समानांतर जीवन की त्रासदी की गाथा लेखिका स्वयं अपने पाठकों तक पहुँचाती हैं। लेखिका के पिता द्वारा उनकी काया के संबंध में तिरस्कार भाव था–'मैं काली हूँ, बचपन से दुबली और मरियल भी थी। गोरा रंग पिताजी की कमजोरी थी सो बचपन में मुझसे दो साल बड़ी, खूब गोरी, स्वस्थ और हँसमुख बहिन सुशीला से हर बात में तुलना और फिर उसकी प्रशंसा ने ही क्या मेरे भीतर ऐसे गहरे हीनभाव की ग्रंथि पैदा कर दी कि नाम, सम्मान और प्रतिष्ठा पाने के बावजूद आज तक मैं उससे उभर नहीं पाई।'[14]

'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' आत्मकथाओं में मैत्रेयी पुष्पा अपनी और अपनी माँ की जीवनगाथा लिखती हैं। स्त्री विमर्श के लिए दस्तावेज बनी दोनों आत्मकथाएँ साहित्य जगत में अपना विशिष्ट योगदान रखती हैं। पहले माँ कस्तूरी की संघर्ष गाथा और खुद की संघर्ष गाथा विरचित प्रस्तुत आत्मकथाओं को संघर्षगाथा का नाम दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। लेखिका पीएच॰डी॰ करना चाहती थी लेकिन अनेक नाजायज तरीकों से इसे रोक दिया गया, वह पीएच॰डी॰ नहीं कर सकी। पति के मित्र डॉ॰ सिद्धार्थ से उनका मिलना पति डॉ॰ शर्मा को सहन नहीं होता है और वह कहता है, 'तुम्हारी अदा पर लोग मरने लगे हैं। तुम इतनी भोली नहीं जितना मैं समझता था।'[15]

'हादसे' और 'आप हुदरी' दोनों रमणिका गुप्ता की आत्मकथाएँ हैं। 'हादसे' में प्रारंभिक जीवन का संघर्ष आदिवासी और मजदूरों के साथ चित्रित हुआ है तो 'आप हुदरी' में व्यक्तिगत जीवन की बेबाक अभिव्यक्ति है। हिंदी की शायद प्रथम महिला आत्मकथा होगी जिसमें इतनी बेबाकी से निजी जीवन को चित्रित किया गया है। लेखिका अपने बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक की सभी घटनाओं को पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त करती हैं। वे लिखती हैं–'मैंने कभी अपने यौन शोषण का आरोप किसी पर नहीं लगाया चूँकि मैं या तो उसमें भागीदार रही या विरोध में डटी रही।'[16]

'जमाने में हम' के विवेचन में निर्मला जैन के साहित्यिक जीवन का चित्रण प्रस्तुत हुआ है। साहित्यिक यात्रा में जिन-जिन व्यक्तित्वों से लेखिका का सरोकार हुआ उसका वर्णन इस आत्मकथा में किया गया है। साहित्य जगत की आंतरिक गतिविधियों का एवं बाहरी परिवेश का वर्णन इस

आत्मकथा में ईमानदारी से किया गया है।

'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान स्त्रीवादी लेखिका हैं। आत्मकथा में लेखिका स्त्री विमर्श की प्रमुख हस्ताक्षर बनकर उभरी हैं। अपने निर्भीक लेखन एवं बेबाक अभिव्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं तो आर्थिक आत्मनिर्भर होने की एक मिसाल। पुरुष मनोवृत्ति को रेखांकित करती इस आत्मकथा में स्त्री के विकास एवं उन्नति की राह खुद बनाती गाथा का चित्रण प्रस्तुत हुआ है। लेखिका प्रभा खेतान औद्योगिक जगत में अपना नाम देश-विदेश में व्यवसायी के रूप में बना पाने में सफल रही हैं। आर्थिक आत्मनिर्भरता की मिसाल बनी लेखिका अपने दम पर उच्च शिखर तक यात्रा तय करती हैं। संघर्षों को जीवन का हिस्सा बनातीं, नयी परंपरा का रास्ता प्रशस्त करतीं, व्यापार जगत की उच्चाइयों को स्पर्श करती हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में कभी सफल तो कभी असफल नजर आतीं प्रभा खेतान पुरुष द्वारा दी जिंदगी में खुश हैं। इस आत्मकथा में सारी गलतियाँ लेखिका की ही मानी जाती हैं। इसी दृष्टिकोण को केंद्र करके लेखिका ने प्रहार भी किया है–'क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, मैं विधवा नहीं क्योंकि कोई दिवगंत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रंडी भी नहीं...क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती।'[7]

आलोच्य आत्मकथाओं में नारी समस्याओं को रेखांकित करते हुए उनके उचित प्रबंध की कल्पना प्रस्तुत हुई है। नारी समस्याओं में सामाजिक परंपराओं के निर्वाह की समस्याएँ अभिशाप रही हैं जिनमें दहेज एवं विवाह की समस्या को परिलक्षित करते हुए उसके मूल्यांकन की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। नारी समस्या आज की उपज न होकर प्राचीन परंपराओं की रीति से आधुनिक समय में यथावत बनी हुई है। उनके अभिशाप से नारी जीवन बाधित एवं शोषित रहा है। पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी स्वतंत्रता का दमन प्राचीन समय की देन रहा है जिसकी उपयोगिता वर्तमान समय में अप्रासंगिक प्रतीत होती है।

इन सभी आत्मकथाओं में समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थितियों का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। नारी अस्मिता को सदियों से ही उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा है। समाज के सभी नियम नारी पर ही थोपे गए हैं। नारी को समाज ने वह अधिकार एवं सम्मान नहीं दिए, जो मानव को प्रकृति प्रदत्त प्राप्त हुए हैं अपितु समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई माने जाने पर भी उस पर अनेक प्रतिबंध लगा दिए गए हैं। स्त्री नाम से ही एक अलग जाति बना दी गई हैं। जब स्त्री समाज को मुख्यधारा से पृथक् किया गया तो परिवार में भी उसे उपेक्षित किया गया।

'हिंदू कोड बिल 1955 ई॰' में पारित हुआ, इसमें महिलाओं के लिए अनेक कानूनी अधिकार थे जो स्त्री अधिकार की दिशा में उठाया गया यह पहला कदम था। 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन के पश्चात महिलाओं की राजनीति में सक्रिय भूमिका सुनिश्चित हुई। आज प्रत्येक क्षेत्र में महिलाएँ पुरुषों से बराबरी ही नहीं अपितु कुछ क्षेत्रों में उनसे आगे निकल रही हैं जो हम अनेक युगों से स्त्री अस्मिता, स्त्री संघर्ष, स्त्री अधिकार की कहानियाँ पढ़ते-सुनते आए हैं। वह आज साकार होती नजर आ रही है। इतिहास में अनेक महिलाओं के उदाहरण शोषण, अन्याय और उत्पीड़न के आज भी दर्ज हैं। मैत्रेत्री, गार्गी, द्रोपदी और मीरा से लेकर मथुरा, दिल्ली, हैदराबाद तक न जाने कितनी महिलाएँ शोषण का शिकार हुई हैं।

वहीं आज स्त्रियाँ पुरुष सत्तात्मक समाज के विरुद्ध अपनी अस्मिता, अपने अस्तित्व एवं अपने अधिकार हेतु लड़ाइयाँ लड़ रही हैं और समाज के समक्ष एक मिसाल कायम कर रही हैं। स्त्रियों से उनके अधिकार छीनना पुरुष समाज की सोची-समझी साजिश रही है। स्त्री अधिकार से

हमारा तात्पर्य स्त्री स्तवंत्रता, स्त्री समानता, स्त्री शिक्षा इत्यादि से है। शिक्षा का अधिकार सभी अधिकारों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा ही वह साधन है जो व्यक्ति को पशुत्व से अलग करता है और आत्माभिव्यक्ति के लिए पूरी तरह तैयार करती है। पुरुष समाज स्त्री शिक्षा से आशंकित है क्योंकि वह जानता है कि यदि स्त्री शिक्षित हो जाएगी, तो वह अन्याय का प्रतिकार करेगी। पुरुष समाज द्वारा जो तिरस्कार, प्रताड़ना और अपमान उसे दिया गया है, उन्हें पुनः उसी समाज को वापस लौटाया जाएगा। वर्षों से अपनी मौनवृत्ति तोड़ती 21वीं सदी की ये सभी लेखिकाएँ अपनी खोई अस्मिता, अस्तित्व, अधिकार एवं आत्मसम्मान हेतु लड़ाइयाँ लड़ रही हैं धारदार हथियार से नहीं अपितु कागज और कलम को अपना हथियार बनाकर। इसी शृंखला में मैत्रेयी पुष्पा, मन्नू भंडारी, रमणिका गुप्ता, प्रभा खेतान, चंद्रकिरण सौनरिक्सा, कृष्णा अग्निहोत्री, पद्मा सचदेवा, निर्मला जैन और शिवानी आदि लेखिकाओं की आत्मकथाओं को पढ़ना रुचिकर लगा। वहीं उनकी आपबीती को सुनकर हृदयस्पर्शी संवेदनाओं ने अंतर्मन की गहराईयों को छू लिया। आधुनिक समकालीन समय में लिखी ये आत्मकथाएँ स्त्री चेतना और स्त्री विमर्श की एक नई नींव मजबूत कर रही हैं।

अपनी निजी जिंदगी को इस तरह सार्वजनिक करती आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में नारी की निरक्षरता, गरीबी और दुर्बलता का लाभ उठाकर उसे भेड़, बकरियों की भाँति ब्याह मंडी में बेच दिया जाता है। 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा में प्रभा खेतान स्वयं आत्मनिर्भर होने पर भी समाज में अपने आत्मसम्मान को पाने के लिए आजीवन संघर्ष करती रहती हैं। गतिशील महिला होने के बावजूद भी उन्हें अपने जीवन में अधूरापन महसूस होता है। लोक लाज एवं समाज में अपनी इज्जत चली जाने के भय से अविवाहित प्रभा खेतान गर्भपात कराती हैं, सूनी माँग, सूनी गोद का दुःख उम्रभर झेलती हैं, खुलकर अपने आपको डॉ॰ सर्राफ की प्रेमिका घोषित करती हैं। समाज द्वारा फिर भी उन्हें बेशर्म और निर्लज्ज स्त्री का ताज मिला जबकि वह निर्भीक और बोल्ड आत्मस्वीकृति की मिसाल बनीं।

शिक्षा पाने का अधिकार सभी को है, फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष दोनों समान अधिकारी हैं। फिर क्यों समाज के दोहरे मापदंडों में स्त्री उलझी है, उसे अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए संघर्ष तो कभी अपनी इज्जत दाँव पर लगानी पड़ती है। ऐसा ही एक उदाहरण मैत्रेयी पुष्पा बनीं, जिन्होंने शिक्षित होने के लिए सभी कीमतें चुकाई हैं। उनका यौन शोषण ज्ञान के प्रकाश में जाने की कीमत बना। प्रिंसिपल और उनके सगे-संबंधियों ने उनकी शुचिता को बार-बार खंडित किया। शिक्षित होकर कलम उठाती हैं तो अपने जीवन के उजले पक्ष ही नहीं, अपितु धुँधले पक्ष को भी उजागर करती हैं। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' आत्मकथा आपबीती बनती है, जिसे पढ़कर पुरुष समाज उन पर आरोपों की बौछार करने लगता है परंतु लेखिका निर्भीक होकर अनेक कहानी एक उपन्यास भी इसी पृष्ठभूमि पर लिखती हैं। जिनमें पुरुष समाज को उसका आइना दिखाती हैं, आइने में अपने समाज की सूरत देखकर पुरुष समाज के होश उड़ जाते हैं। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' समाज के सामने एक गंभीर सवाल रखती है कि क्या हम भी अपनी बहन-बेटियों को ऐसी शिक्षा देनी चाहेंगे, जहाँ उनकी शुचिता को खंडित किया जाता हो? मैत्रेयी पुष्पा के द्वारा रखे सवाल का जवाब देने में हम इक्कीसवीं सदी में निरुत्तर हैं। आधुनिक समय में अनेक परितर्वन हो रहे हैं परंतु फिर भी कुछ क्षेत्रों को छोड़कर आज भी कई क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति में सुधार अपेक्षित है।

'एक कहानी यह भी' की मन्नू भंडारी, 'अन्या से अनन्या' की प्रभा खेतान, और 'आप

हुदरी' की रमणिका गुप्ता सरीखी स्त्रियाँ स्वेच्छा से विवाह करके 'चयन की स्वतंत्रता' की उदाहरण बनती हैं। मन्नू भंडारी तो समाज की उन स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो अपनों से बिना विवाद के अलग हो जाती हैं और समानांतर जीवन जीती हैं।

वर्तमान समय में नारी किसी घर के किसी कोने में सिमटकर नहीं बैठी है अपितु वह सारी चौखटे लाँघकर देश-विदेश तक पहुँच रही हैं। देश की राजनीति में ही नहीं बल्कि विदेश की राजनीति में भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। नारी का योगदान परिवार, समाज, देश और विश्व में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहा है। राष्ट्रीय निर्माणों में सहयोग दे रही हैं। शिक्षित नारी मानवी बनकर आत्मसम्मान से जीने की राह पर अपने कदम बढ़ा रही हैं।

वर्तमान समाज में तलाक-विच्छेद और परिवार विखंडन की समस्या समाज में उभर रही हैं। नारी समाज के संघर्ष उसके जीवन से खत्म नहीं हो रहा है, मानो संघर्ष ही नारी जीवन का पर्याय बन गया है। कई बार पुरुषों की हवस का शिकार होती स्त्री को आत्महत्या तक का कदम उठाना पड़ता है। समय के साथ हमें भी बदलना चाहिए स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण पुराने हो गए हैं उन्हें बदलाव की आवश्यकता है। स्त्रियों के प्रति समाज में सकारात्मक दृष्टिकोणों को विकसित करना चाहिए और यह सब तभी संभव है जब अपने परिवार में बेटों को स्त्री सम्मान के लिए प्रेरित करेंगे। हमारा यह लघु प्रयास भविष्य में सुखद परिणाम की आधारशिला बनेगा। तभी हम मैथिलीशरण गुप्त विरचित पंक्ति–

अबला जीवन हाय तुम्हारी यहीं कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में है पानी।

को पूरी तरह बदल सकने में जब हम सफल होंगे तब ही सच्चे अर्थों में हम इन आत्मकथाओं की प्रासंगिकता समझ सकेंगे।

संदर्भ

1. निर्मला जैन, निबंधों की दुनिया : शिवपूजन सहाय, ग्रामीण स्त्रियों की दशा, (सं॰), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ॰ 49
2. सरजू प्रसाद मिश्र, हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2011, पृ॰ 69
3. पद्मा सचदेवा, बूँद बावड़ी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999, पृ॰ 208
4. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ॰ 18
5. मैत्रेयी पुष्पा, गुड़िया भीतर गुड़िया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ॰ 11
6. रमणिका गुप्ता, हादसे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 54
7. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ॰ 12

 ISSN 0975-735X

अमरकांत की कहानियों में सामाजिक समस्याएँ

सुदेश कुमारी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक

किसी भी कवि या लेखक को बनाने में एक समाज का बहुत बड़ा हाथ होता है। समाज में फैली बुराइयों, कुरीतियों को दूर करने में जो इनका विरोध करता है, वह एक क्रांतिकारी कहलाता है। जो समाज का सुधार करना चाहता है, वह समाज सुधारक एवं जो इन सबको अपनी लेखनी के माध्यम से लिखकर उस युग को बतलाता है और आने वाले समय के लिए सँभालकर रखता है, वह साहित्यकार कहलाता है। इसीलिए कहा है कि समाज मनुष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, जिसके बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं।

गिंडिग्स के अनुसार, 'समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग और व्यक्ति परस्पर है।'

अरस्तु के अनुसार, 'जो मनुष्य कहता है कि मैं समाज के बिना अपने साधनों को स्वयं जुटा सकता हूँ वह मानव नहीं है।' जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य समाज से जुड़ा हुआ है और उसे अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए समाज पर निर्भर रहना पड़ता है।

विभिन्न समाज शास्त्रियों एवं विद्वानों ने समाज की परिभाषा अपने ढंग से दी है। रत्नाकर पांडेय के मतानुसार, 'पशुओं से भिन्न लोगों के संघ या समूह को समाज कहते हैं।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाज का संबंध सामाजिक संबंधों से है, जिसके अंतर्गत विभिन्न जाति धर्म के लोग अपने-अपने ढंग से एक समूह में आते हैं। मनुष्य को समाज का अभिन्न अंग माना जाता है। मनुष्य को अपने भरण-पोषण के लिए समाज पर निर्भर रहना पड़ता हैं। ईश्वर द्वारा समाज का निर्माण नहीं किया गया है। समाज मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। समाज का जन्म किसी समझौते या विशेष उपलब्धि के कारण नहीं हुआ। इसका जन्म तो स्वत: हुआ और इसका क्रमश: विकास होता गया।

समाज से संबंधित समस्याओं को सामाजिक समस्याएँ कहते हैं। समाज में घटनाओं, भावनाओं तथा विचारों का घटित होना ही सामाजिक समस्याएँ हैं। सामाजिक समस्याएँ देश और मनुष्य के सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग हैं। कोई भी व्यक्ति कभी भी सामाजिक समस्याओं से पूर्णत: मुक्त नहीं रहा है और न ही भविष्य में रहेगा।

अमरकांत की कहानियों में हमें सामाजिक समस्याओं का यथार्थ वर्णन मिलता है। परिवार को समाज की धुरी माना जाता है। अमरकांत की कहानियों में परिवार से जुड़ी समस्याओं का वर्णन किया गया है। अमरकांत ने अपनी कहानियों में बेकारी व बेरोजगारी की समस्याओं को उजागर किया है। अमरकांत की 'डिप्टी कलेक्टरी', 'मूस', निर्वासित, हत्यारे, मकान, दर्पण, बहादुर, जोकर, दो चरित्र, जिंदगी और जोंक, नौकर आदि अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें सामाजिक समस्याओं को दिखाया गया है।

'बेरोजगारी की समस्या' स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समाज में काँग्रेस घास की तरह पूरे देश में फैल गई है जिसका दंश निम्न, मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे नौजवानों को झेलना पड़ रहा है। अमरकांत की 'घर' और 'इंटरव्यू' शीर्षक कहानियाँ इस समस्या को उजागर करती हैं। 'घर' शीर्षक कहानी में बेरोजगार युवक का चित्रण किया गया है, 'वह एक दुबला-पतला, लंबा और साँवला-सा नौजवान था, जो एम०ए० पास करके दो वर्ष से बेरोजगारी की समस्या से ग्रस्त है... एम०ए० करने व टाइप सीखने के बाद भी उसे काम नहीं मिलता तो वह आहत होकर रोजगार के दफ्तर को बेकारी का दफ्तर कहने लगा।'

इसी तरह से 'इंटरव्यू' शीर्षक कहानी में नवयुवकों की मानसिकता तथा उम्मीदवारों की चयन प्रक्रिया का यथार्थ वर्णन इस प्रकार किया है, 'मौटे तौर पर वहाँ तीन श्रेणियों के नवयुवक उपस्थित थे। पहली श्रेणी में ऐसे लोग थे, जिनकी योग्यता अधिक से अधिक इंटरमीडिएट तक की थी। दूसरी श्रेणी में खोटे सिक्कों की तरह बेचलतू वकील, होमियोपैथी डॉक्टर, वैध तथा हकीम थे। तीसरी श्रेणी में कुछ ऐसे खानदानी विद्यार्थी थे, जिनकी आर्थिक स्थिति तेजी से बिगड़ रही थी और उनके घरवालों ने उन्हें यहाँ जबरदस्ती भेजा था।'

'दांपत्य जीवन की समस्याएँ' अमरकांत की कहानियों का केंद्र रहा है, इसमें मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं को दर्शाया गया है। अमरकांत की कहानियों में निम्न निर्धन वर्ग में पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, सास-बहू के संबंधों के बीच दूरी तनाव, कड़वाहट आदि का यथार्थ वर्णन मिलता है। इनकी विकट परिस्थिति का प्रमुख कारण आर्थिक दरिद्रता है। आर्थिक अभाव संबंधों के बीच टकराव व संघर्ष उत्पन्न करता है।

'निर्वासित' कहानी में गंगू के परिवार व पत्नी के बीच टकराव की स्थिति अकाल व आर्थिक विपन्नता बनती है। वह कहता है, 'उसी समय मुझे बुखार आने लगा था। दो महीने तक मैं इसी तरह चारपाई पर पड़ा रहा। मैं खाना पूरा न मिलने पर मेहरारू और बच्चों को गालियाँ देता। एक दिन शाम को मेहरारू बाबू लोगों के यहाँ से आई तो उसका हाथ खाली था। बच्चे भूख से बिलबिला रहे थे। मैं गुस्से से चिल्लाकर बोला—हरामजादी अपना तो वहाँ लुक-छिपकर गड्ढा भर आती है। यहाँ आकर बहाना बनाने लगती है। मेहरारू क्रोध से लाल होकर अपनी छाती पीटती हुई बोली, 'हाँ खाती हूँ। क्या कर लेगा, आज साफ सुन ले—मैं तेरा गड्ढा नहीं भर सकती।'

इसी प्रकार से 'स्वामी' शीर्षक कहानी में पति-पत्नी के बीच संदेह से उत्पन्न दुष्परिणामों को उजागर किया गया है। इस कहानी में मनोहरलाल अपनी नीलिमा के चरित्र पर संदेह करता है कि उसके नौकर हरिया से अनैतिक संबंध हैं। संदेह के कारण अपने परिवार का विनाश कर डालता है। जैसे 'वह घर आने पर खोद-खोदकर पूछते हैं कि वह दिन-भर क्या करती रही? कभी-कभी वह अचानक कचहरी से लौटकर दोपहर को घर आते, सिर्फ यह देखने कि नीलिमा किसी के साथ हँस-बोल तो नहीं रही है। देखते-ही-देखते वह घर एक चमन से कब्रिस्तान बन गया।'

'निर्धनता' अमरकांत की कहानियों का केंद्र बिंदु रहा है। निर्धनता भारतीय समाज की सबसे बड़ी विडंबना है। इसे अमरकांत ने अपने आस-पास के समाज में बड़ी ही गहराई से देखा व महसूस किया है। जहाँ निर्धनता होती है। वहाँ सभी कुछ विद्रूप होता है। व्यक्ति का रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, आचार-व्यवहार सभी कुछ उस निर्धनता से प्रभावित होता है। कहानियों में निर्धनता का जहाँ चित्रण आया है। वहाँ उसके परिवेश को भी जीवंत रूप में चित्रित किया है। 'दोपहर का भोजन' कहानी में इस रूप का चित्रण इस प्रकार है, सारा घर मक्खियों से भिनभिना रहा है। आँगन

 ISSN 0975-735X

की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टँगी थी, जिसमें पेबंद लगे हुए थे।'

इसी प्रकार 'डिप्टी क्लेक्टरी' में निर्धनता के वातावरण का चित्रण अत्यंत प्रभावशाली ढंग से हुआ है–सारे घर में मुर्दानी छाई हुई थी। छोटे से आँगन में गंदा पानी, मिट्टी, बाहर से उड़कर आए सूखे तथा गंदे कागज पड़े थे और नाबदान से दुर्गंध आ रही थी। ओसारे पर पड़ी पुरानी बंसहट पर बहुत गंदे कपड़े पड़े थे और रसोई से उस वक्त भी धुआँ उठ-उठकर सारे घर की साँस को घुटा रहा था। कहीं कोई खटर-पटर नहीं हो रही थी और मालूम होता था कि घर में कोई है ही नहीं।'

'भुखमरी' की समस्या भी अमरकांत की कहानियों की विशेष समस्या है। कहानीकार अमरकांत ने अपनी 'कुहासा' नामक कहानी के माध्यम से अभावग्रस्त ग्रामीण परिवेश का चित्रण किया है। कहानीकार ने अकाल से उत्पन्न गाँव वालों की अभाव और भुखमरी की स्थिति को देखा, भोगा और उसकी यथार्थ रूप में सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। उदाहरण के लिए–सावन का महीना था पर आकाश में बादल का नामोनिशान तक नहीं था। तारे जगमग कर रहे थे। हवा तेज चल रही थी जैसे हाकड़। आषाढ़ भी बिन बरसे ही बीत गया था। खेती चौपट हो गई थी...। जब चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी और गरीब लोग दाने-दाने को तरस कर घासपात खाने लगे थे।'

विवाह पूर्व प्रेम संबंधों से उत्पन्न संघर्ष भी अमरकांत की कहानियों में देखने को मिलता हैं। अमरकांत की कहानी 'असमर्थ हिलता हाथ' की प्रमुख पात्र मीना अपने भाई के दोस्त दिलीप से प्रेम कर बैठती है। तो परिवार में तहलका मच जाता है। मीना का भाई चिल्लाता हुआ कहता है, 'मैंने आईंदा तुमको कभी उसके साथ देख लिया तो मार डालूँगा। मैं नहीं जानता था कि वह आस्तीन का साँप है।' तथा दूसरी तरफ उसकी माँ भी अपना आक्रोश प्रकट कर चीखती हुई कहती है, 'हे भगवान। इसने हमारी इज्जत चौराहे पर फोड़ दी है। मैंने पैदा होते ही इसका गला क्यों न घोट दिया। अब इसका पढ़ना-लिखना बंद।'

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि निसंदेह अमरकांत जीवन के धरातल से जुड़े हुए साहित्यकार हैं। उन्होंने निम्न मध्यवर्गीय समाज की जीवंत समस्याओं को देखा, परखा व स्वयं भोगा है। इसीलिए उनकी कहानियों में आत्मीयता झलकती है। उनकी कहानियों में हमें एक ऐसे समाज की यथार्थ झाँकी मिलती है, जिन्हें प्राय: अन्य साहित्यकारों ने अनदेखा कर दिया है। अत: अमरकांत की समस्त कहानियाँ सामाजिक सरोकार की कहानियाँ हैं। सामाजिक समस्याओं की कहानियाँ हैं, सामाजिक चेतना की कहानियाँ हैं जो तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं।

संदर्भ

1. नवल, नालंदा विशाल शब्द सागर, आदर्श बुक डिपो, दिल्ली, संस्करण 2027, पृ॰ 1169
2. अटल, हेरी, एम॰, अनु॰ अटल योगेश, समाजशास्त्र, कल्याणी पब्लिशर्स, दिल्ली, 1970, पृ॰ 3
3. संपूर्णानंद, समाजवाद, काशी विद्यापीठ, बनारस, संस्करण 2004, पृ॰ 19
4. अमरकांत की संपूर्ण कहानियाँ, खंड-2, पृ॰ 136
5. वही, खंड-1, पृ॰ 06
6. वही, खंड-1, पृ॰ 336
7. वही, खंड-1, पृ॰ 303
8. वही, खंड-1, पृ॰ 53
9. वही, खंड-1, पृ॰ 88
10. वही, खंड-2, पृ॰ 150
11. वही, खंड-2, पृ॰ 06
12. वही, खंड-2, पृ॰ 06

मो॰ 9992811828
sudesh223344@gmail.com

कश्मीरी पंडित : कल, आज और कल

राहुल कुमार यादव, शोध छात्र, हिंदी विभाग
डॉ॰ रश्मि कुमारी, विभागाध्यक्ष हिंदी
कु॰ मायावती राज॰ महिला पी॰जी॰ कालेज,
बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर (उ॰प्र॰)

कथाकार चंद्रकांता अपने उपन्यासों में एक परिवार की कहानी के माध्यम से जैसे वर्तमान का पूरा चित्र ही खींच देती हैं। कश्मीरी पंडितों की समस्याओं की पृष्ठभूमि में उनके उपन्यास अपनी सांस्कृतिक जड़ों से विच्छिन्न मनों की पीड़ा तथा भूमंडलीकरण से बौराए हमारे मौजूदा वक्त की कथा है। एक तरफ लोग मजबूरन नए दौर के प्रवाह में अपनी जड़ों से उखड़ रहे हैं तो दूसरी तरफ वर्तमान में जीना एक वैश्विक स्पर्द्धा होता जा रहा है। 'भूमंडलीकरण में कुछ लोगों के हित सध जाते हैं, आमजन के बारे में कोई नहीं सोचता। इतिहास साक्षी है, कहीं कुछ गलत होता है तो विरोध के स्वर उठते हैं और नया दौर शुरू हो जाता है।'[1]

किसी भी व्यक्ति या परिवार के लिए अपना घर त्यागना आसान नहीं होता। घर को त्यागना मतलब अपने मूल जड़ों से उखड़ जाना, अपनी अस्मिता को खो देना। घर केवल ईंट और पत्थरों से मिलकर नहीं बनता बल्कि उसके साथ व्यक्ति या परिवार की भावनाएँ जुड़ी होती हैं, जो कि आजीवन उसके साथ संबंध रखती है। 'मेरा उच्चारण मेरे छूटे हुए देश की याद दिलाता है। मैं वो शब्द बोलती हूँ जो मेरे हैं ही नहीं, जिन्हें मेरी माँ ने कभी नहीं बोला होगा।...गैर भाषियों के बीच अपनी भाषा का मोह कितना सालता है, यह बांग्ला बोलने को तरसती तसलीमा नसरीन से पूँछकर भी देखना होगा कभी।'[2]

कश्मीर जिसे भारत का स्वर्ग कहा जाता रहा है, उसी स्वर्ग में एक गली बसती है जिसका नाम है–'ऐलान गली'। इस गली में कभी न मिटने वाला तमस है, जहाँ कचरा, सीलन और कीचड़ है। तत्पश्चात् इसमें रहने वाले एक-दूसरे के लिए जीने वाले मनुष्य हैं। गली के लोग जीवनपर्यंत दूसरों को बोझ ढोने में जीवन की सार्थकता समझते हैं। कश्मीर बदल रहा है। जिस कश्मीर में पानी में नमक की तरह घुल-मिलकर रहने वाले हिंदू-मुसलमान रहते हैं वहीं इस गली में नमक गलने से इंकार कर रहा है। गली के लोग इस परिवर्तन का अनुभव तो कर रहे हैं, लेकिन इसे रोकने में असमर्थ हैं। इन सबके बावजूद इस गली में किसी को दुत्कारने का दस्तूर भी नहीं है। यही यहाँ के लोगों की जिजीविषा का रहस्य है, सारी उम्र ऋण से मुक्त होने की कोशिश जारी रहती है, तब तक जब तक कि आखिरी ऋण नहीं चुकाया जाता। यहाँ अपनी जिंदगी अपने लिए कोई नहीं जीता बल्कि दूसरों का ऋण उतारने के लिए जीता है। इस गली में चोर भी पैर रखने से डरते हैं। तभी तो वे कहते हैं, 'अमुक गली बड़ी मनहूस जगह है–वहाँ जो भी चोर कदम रखेगा, जान से हाथ धोएगा, वहाँ अरुंधती-सी मर्दमार औरतें बसती हैं।'[3]

गलत को सभी कश्मीर वासियों के साथ हुआ है जो वहाँ से निकाल दिए जाने के बाद

 ISSN 0975-735X

अपने घर से बेघर होकर अपने ही देश में शरणार्थियों जैसी जलील और कष्ट भरी जिंदगी जीने के लिए मजबूर हुए हैं। नंगे आकाश और निष्ठुर व्यवस्था के बीच घुट-घुटकर मरना और जीने की आशा में साँसे बरकरार रखना सीखा। तभी तो प्रभा कहती है–'माँ, इस देश में करिश्मे और रिश्ते जरूरत के हिसाब से ही होते और बनते हैं।'[14]

खेती-किसानी और उद्योगों की बर्बादी के चलते कश्मीर से बड़ी संख्या में लोगों का विस्थापन गाँवों से शहर तथा कश्मीर से अन्य प्रदेशों में हुआ। 1931 के समय पाया गया कि ज्यादातर लोग अपने पैतृक कामकाज नहीं कर रहे हैं। इन विस्थापितों ने रेशम खानों और दूसरी जगहों पर काम तलाशने की कोशिश की लेकिन उनकी भी अपनी सीमाएँ थीं। दुनिया कितनी भी बड़ी हो कितनी भी सुंदर हो, वह पराई थी, अपनी नहीं हो सकती थी। 'कुलभूषण के लिए उनका देश उनका स्वर्ग था और उनका घर उनका मंदिर। वहाँ पुरखों की आत्मीय सौंध, आशीर्वाद और स्मृतियाँ थीं। अपनी वितस्ता और अपने आस्था-स्थल थे।'[15]

तूफान ठहरने के बाद का दृश्य यो तो बड़ा स्पष्ट लगता है लेकिन धूल और गर्द की एक परत सी जम जाती है तथा तेज हवा और बारिश देखने की अभ्यस्त आँखों को यह शांति-भरा दृश्य देखने के लिए फिर से समायोजन करना होता है। कितने दिन, महीने तथा वर्ष बीत गए। प्रभा ने गिनना ही छोड़ दिया है–नई जगहों में अपनापन तलाशते भी बाहरी जन होने के त्रास और आगत के दिन। अपने हक की गुहार करते जुलूसों के हताशा वाले दिन। 'दिल्ली में विस्थापित कश्मीरी रैलियाँ निकाल रहे हैं, टी॰वी॰ उनके हताश आक्रोश को कैमरे में कैद कर रहा है। एक शॉट यहाँ, दूसरा जम्मू के कैंपों और डेढ़ कमरों वाली खस्ताहाल रिहाइशों पर। उदास धूसर आँखों वाले निरीह अधेड़ अपनी जन्मभूमि से विस्थापित होने की भयावह से करुण होती दास्तानें सुना रहे हैं।'[16]

घाटी छोड़कर जाने वाले पंडितों की संख्या पर कोई एकमत नहीं है। कश्मीरी पंडित समूह और दक्षिणपंथी हिंदू यह संख्या चार लाख से सात लाख तक बताते हैं, लेकिन यह संख्या वास्तविक संख्या से बहुत अधिक है। इसका कारण यह भी समझना चाहिए कि आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ने पर उन्हें नियंत्रित करने के क्रम में सुरक्षा बलों की ज्यादतियों से पंडितों के भीतर उत्पन्न भय का मनोभाव। इस बात पर कोई विवाद नहीं हो सकता कि विस्थापन के बाद पंडितों को कितनी बड़ी त्रासदी झेलनी पड़ी। उस समय आश्वासनों के बावजूद जम्मू, दिल्ली तथा अन्य राज्यों में उनका कोई स्वागत नहीं किया गया बल्कि उन्हें अपनी समस्याओं को स्वत: झेलने के लिए छोड़ दिया गया। थोड़ी बहुत उन्हें जम्मू के बाहरी इलाकों मुथी कैंप, ट्रांसपोर्ट नगर, स्टेडियम कैंप तथा भटावालिया कैंप में जगह दिया गया। 'हालाँकि यह बता देना प्रासंगिक होगा कि कश्मीरी विस्थापित पंडितों को मिलने वाला प्रतिमाह मुआवजा भारत में अब तक किसी विस्थापन के लिए दिये गए मुआवजें से अधिक है।'[17]

वैसे भी अतीत का राग गाने की आदत बूढ़ों को खूब होती है। ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में देश के युवाओं के सामने लगातार नए आश्चर्यों में खुलता वर्तमान है। अपनी नीदों में उन्हें हरे-भरे चीड़-देवदार नहीं बल्कि पाइन, ओक और डॉगवुड के विस्तार बीच एक उदास आदमी नजर आता है–अपनों की विकल खोज में आहतें टोहता। 'दरअसल गलतियाँ हुईं बार-बार। शासक फेल हो गए कश्मीर का मसला हल करने में। जब-जब कड़े फैसले लेने की दरकार थी, तब-तब सरकार ने अपीजमेंट पॉलिसी अपनाई वरना बांग्लादेश वॉर में पाकिस्तान की शर्मनाक हार के वक्त कश्मीर का मसला हल हो सकता था...।'[18]

पलायन का असर यह हुआ कि जम्मू और कश्मीर की राजनीति से पंडित बाहर हो गए। वे जहाँ भी जाकर के बसे वहाँ पर अपने गाँव-जवार को चाहकर भी नहीं भूल पा रहे थे। 'गलीवाले शायद सपने रात को न भी देखते, या देखते तो सुबह होने तक उन्हें भूल जाते; क्योंकि उन्हें काफी कुछ याद रखने की हिदायतों के साथ बहुत कुछ भूलने का मंत्र भी पढ़ाया जाता था।'[9] सन् नब्बे के उस उथल-पुथल को देखा जाए तो कश्मीरी पंडितों की दुविधाएँ स्पष्ट थी। क्योंकि पाकिस्तान समर्थित हिजबुल मुजाहिद्दीन और अन्य संगठनों के होते जाने के साथ-साथ भारत के आजादी के नारों में बदलाव होता जा रहा था। इस स्थिति में आजादी की किसी लड़ाई में बाकी कश्मीरी जनता के साथ होना उनके लिए असंभव ही था। हालाँकि एक समय प्रेमनाथ बजाज जैसे कई कश्मीरी पंडितों द्वारा पाकिस्तान का समर्थन करते देखा गया लेकिन बदलते हालात में इस्लामी पाकिस्तान कश्मीरी पंडितों के लिए कोई विकल्प नहीं हो सकता था। मसला कुछ भी हो परंतु उनकी निष्ठा भारत तथा भारतीय सैनिकों के प्रति होना चाहिए था।

कश्मीर की जटिल राजनीति में किसी भी सवाल का जवाब सीधे तौर पर नहीं ढूँढा जा सकता। घाटी के उस झंझावात के बावजूद कश्मीरी पंडितों के एक हिस्से ने वहाँ से पलायन न करने का निर्णय लिया था। ऐसे कश्मीरी पंडितों के संगठन 'कश्मीरी पंडित संघर्ष समिति' के अध्यक्ष संजय टिक्कू के अनुसार, 'कश्मीर में 2011 में रह रहे कश्मीरी पंडितों की संख्या लगभग 3400 है। टिक्कू बताते हैं कि 'धमिकयाँ और हिंसा तो कश्मीर में आम है लेकिन पिछले 20 सालों में कश्मीरी पंडितों के खिलाफ चार बड़ी घटनाएँ हुईं, हालाँकि जैसा पलायित कश्मीरी पंडित कहते हैं, सामूहिक हत्या या जेनोसाइड जैसा कुछ नहीं है। उनका मानना है कि पंडित संगठनों द्वारा पिछले बीस सालों में 3000 या 4000 हिंदुओं की हत्या की बात दुष्प्रचार है।'[10]

जो व्यक्ति सीधा रास्ता छोड़ अचीन्ही पगडंडियों पर खुद को धकेल, बिना यह सोचे कि रास्ता कंटियल या भूल-भूलैया वाला हो सकता, ऐसे दिल और दिमाग से दुरूस्त व्यक्ति की आंतरिकता में सेंध लगाना असंभव है। विस्थापन से उत्पन्न तमाम परेशानियों और स्मृतियों में शौक से बनाई कलात्मक कॉटेज-बाड़ी ने नए सिरे से जीना शुरू किया। आतंकी माहौल में लोगों का वहाँ रहकर अस्तित्वहीनता के कुहरीले भविष्य की आशंका से भयभीत होना स्वाभाविक ही था। वे नई शुरुआत की मंशा से अपने वजूद के साथ जीने का ख्वाब देखने लगे। धीरे-धीरे लोगों को विश्वास सा होने लगा कि उनके तमाम विस्थापित बंधु सत्ताधारियों की राजनीति का शिकार हो गए हैं। उनकी निस्पृह आवाज अब किसी भी न्यायालय तक नहीं पहुँचेगी। 'प्रदेश में तालिबानियों की धमकियाँ थीं, प्रशासन में ऐतिहासिक ढुलमुल नीतियाँ। विस्थापित त्रिशंकु की स्थिति में।'[11] इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी विस्थापित पंडितों के घर वापसी की उम्मीद बर नहीं पाई। विस्थापितों द्वारा अपनी तरफ से आवाजें उठाई, धरने दिए, तथा आश्वासन भी पाए यहाँ तक की कभी-कभी लाठियाँ भी खाई। तीज-त्यौहारों के दिन कश्मीरी पंडित परिवारीजनों ने इस दिन वादी में मनाए जाते उत्सवों और त्यौहारों को याद कर भावुक भी हो जाते।

वर्तमान भूमंडलीकरण के दौर से गुजर रहा है लोग यंत्रवत होते जा रहे। लोगों की भावनाएँ और संवेदनाएँ शून्य होती जा रही हैं। 'आजकल, लगता है लोगों में दया करुणा नहीं रही। उन मृतकों के परिजनों की आँखों में कैसा निराश बियाबान उतर आया था। सच तो यह है प्रभा ऐसे क्रूर हादसों में भी मदद करने वाले बिरले ही हैं। ज्यादा तो तमाशबीन ही होते हैं।'[12] आधुनिक न्याय व्यवस्था में पूरी तरह से झोल दिख रहा है। दिन-ब-दिन हत्या-हिंसा के बहशी कांड देशभर में हर

सेकेंड होते रहते हैं। इसके लिए लोगों द्वारा विरोध की आवाज उठती है तथा लोग सड़कों पर उतरकर न्याय की गुहार लगाते हैं पर न्याय व्यवस्था पर इसका कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता। सिर्फ न्याय दिलाने का भरोसा भर दिया जाता है।

कई सालों से कश्मीरी पंडितों ने जो दहशतगर्दी भोगी है, खून-खराबों में अपनों को खोया है, विस्थापन की त्रासदी झेली है उन्हें अब हक दिलाने का समय आ गया है उनके घावों पर मरहम लगाने का समय क्योंकि वर्तमान सरकारें उन्हें इंसाफ दिलाने की लगातार कोशिशें कर रही हैं। अब तक 'कश्मीरी पंडितों ने सात बार विस्थापन की त्रासदी भोगी है। बार-बार वे बेघर हुए, जुल्मों के शिकार हुए। तेरहवीं सदी में पंडितों के कुल ग्यारह घर ही बचे थे, पर वे दोबारा बस गए।'[13]

इतने साल शरणार्थी बनकर जीने की जिल्लत से राहत पाकर अपनी अस्मिता के आलोक में वे फिर से जिएँगें, क्योंकि इतनी बार विस्थापित होकर भी वे खत्म नहीं हुए, उनमें 'शिरीष के फूल' की तरह अदम्य जिजीविषा शक्ति भरी है, सिसीफस की तरह गिर-गिरकर उठने की हिम्मत तो उनके इतिहास के पन्नों में दर्ज है।

संदर्भ

1. चंद्रकांता, समय-अश्व बेलगाम, राजकमल पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पृ॰ 14
2. मनीषा कुलश्रेष्ठ, शिगाफ, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृ॰ 12
3. चंद्रकांता, ऐलान गली जिंदा है, राजकमल पेपर बैक्स, तीसरा संस्करण, नई दिल्ली, पृ॰ 17
4. चन्द्रकांता, समय-अश्व बेलगाम, राजकमल पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पृ॰ 147
5. वही, पृ॰ 63
6. वही, पृ॰ 81
7. अशोक कुमार पांडेय, कश्मीर और कश्मीरी पंडित, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, छठां संस्करण, पृ॰ 324
8. चंद्रकांता, समय-अश्व बेलगाम, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृ॰ 99
9. चंद्रकांता, ऐलान गली जिंदा है, राजकमल पेपर बैक्स, तीसरा संस्करण, नई दिल्ली, पृ॰ 69
10. अशोक कुमार पांडेय, कश्मीरनामा, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ॰ 409
11. चंद्रकांता, समय-अश्व बेलगाम, राजकमल पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, पृ॰ 45
12. वही, पृ॰ 47
13. वही, पृ॰ 198

राहुल कुमार यादव पुत्र हरि गोविंद यादव
ग्राम-अर्गुपुर खुर्द, पोस्ट-सराय मोहिउद्दीनपुर
जिला-जौनपुर (उ॰प्र॰) 223103
मो॰ 8948894838
rahulyadav65885@gmail.com

उषाकिरण खान के कथासाहित्य में लोकजीवन की सामाजिक समस्याएँ

अल्का कुमारी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
प्रो॰ सुचित्रा मलिक, शोध निदेशक, हिंदी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार (उत्तराखंड)

उषाकिरण खान का कथासाहित्य लोकजीवन के संपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालता है। लेखिका ने अपने साहित्य में बिहार के मिथिला व मगध प्रदेश के साधारण जनजीवन को आधार मानकर अपने साहित्य की रचना की है। इनका साहित्य इस क्षेत्र में निवास कर रहे साधारण लोक के जीवन में प्रतिदिन प्रतिपल घटने वाली घटनाएँ तथा उससे उपजी समस्याओं का प्रस्तुतीकरण है। इनके उपन्यास तथा कहानियों में प्रमुख रूप से जाति, धर्म, रोजगार और प्रकृति प्रदत्त समस्याओं का बड़ी ही संवेदना के साथ चित्रण हुआ है।

लोकजीवन अपनी नैसर्गिक प्रकृति और संस्कृति के लिए जाना जाता है। लोक अपने सरल-सहज जीवन में मग्न रहता है। लोक मानव का जीवनयापन प्रकृति पर निर्भर है। लोक अपने आसपास के सीमित संसाधनों में ही प्रसन्न रहता है। लोकजीवन प्राकृतिक संपदा से समृद्ध व संपन्न रहता है परंतु प्रकृति पर निर्भरता के कारण लोक का जीवन अधिकतर समय संघर्षमय बना रहता है। लोकजीवन का आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है जिसकी संरचना में जाति धर्म और वर्ग मुख्य भूमिका में आते हैं। जिसमें जाति प्रथा सबसे पहले स्थान पर आती है। लोक समाज में जाति को अधिक महत्त्व दिया जाता है जिसके कारण समाज में असमानता की स्थिति बनी रहती है। उषाकिरण खान ने उपन्यास 'फागुन के बाद' में गाँव में सदियों से चली आ रही जातीय परंपरा से उपजी लोक की मन:स्थिति को दर्शाया है। लोक समाज में विभिन्न जाति वर्ग की अपनी अलग-अलग समस्याएँ हैं। एक समाज के भीतर दो जातियाँ हैं ब्राह्मण और मुसहर। लोक समाज में ब्राह्मण जाति उच्च कुल की मानी जाती है तथा मुसहर जाति निचले वर्ग की। ब्राह्मण और मुसहर दोनों जातियाँ एक ही समाज में स्थापित है परंतु दोनों के रीति-रिवाज में बहुत अंतर है। इसी लोक समाज में मुसहर कन्या पति की मृत्यु पर दुबारा घर बसा सकती है परंतु ब्राह्मण कन्या नहीं। अपनी इस दुर्दशा पर दइया कहती है, 'नहीं जानकी, तुम कुँआरी हो। तुम्हारी शादी होगी। भगवान न करे तुम्हारे साथ यदि यह हादसा हो भी जाए तो तुम फिर से अपनी माँग भर सकती हो। हम ब्राह्मण कन्या तो जीवनपर्यंत ऐसे ही रहेंगी।'[1] ब्राह्मण जाति की विधवाएँ आम जीवन नहीं जी सकती। लोक जीवन में उच्च कुल की विधवाओं को जीवनभर यातना सहनी पड़ती है। उपन्यास 'फागुन के बाद' में दइया के द्वारा विधवा समस्या उभरकर आई है।

कहानी 'हँसि-हँसि पनवा खियओले बेइमनवाँ' में ग्रामीण समाज में हो रहे जातीय संघर्ष को लेखिका अंकित करती है। यह बिहार के मगध क्षेत्र के ग्रामीण समाज की कहानी है जहाँ उच्च कुल तथा निम्न कुल की दीवार समाज में मौजूद है। मुन्ना बाबू कहानी का प्रमुख पात्र है जो उच्च

 ISSN 0975-735X

कुल का जमींदार है अपनी भाभी तथा पत्नी के साथ गाँव में रहता है। मुन्ना बाबू निम्नवर्गीय की स्त्रियों का अपहरण व हत्या अपने साथियों के साथ मिलकर करता है। घर में एक आदर्श पति व देवर के रूप में मुन्ना बाबू का बड़ा नाम है। गाँव में नीची जाति की स्त्रियों की हत्या से बड़ी भाभी सशंकित है। 'तुम्हारा डर वाजिब है भौजी, लेकिन क्या तुम्हारा बाबू मुन्ना सिंह वैसा आदमी है। जो गलती करेगा वही फल पाएगा न। हम तो मजूर लोग को अपना भाई-बंधु समझते हैं और गाँव की औरत को घर की इज्जत। अब डर दिल से निकाल दो। सब ठीक है।' आदर्श ग्रामीण का मुखौटा ओढ़े वह भीतर ही भीतर निम्न जातियों की स्त्रियों का शोषण करता है। ग्रामीण समाज में बड़ी जातियों द्वारा नीची जातियों की औरतों तथा कामगारों का शोषण उनकी मानसिक विकृति को दर्शाता है। जाति को लेकर यहीं मानसिक विकृति कहानी 'सत्यापन' में खुलकर सामने आई है। 'कैसी विडंबना है। मालती कुसमी के मालिक की बेटी है। मालती की हवेली में कुसमी का बचपन बीता। मालती के पुराने कपड़े पहनकर कुसमी बड़ी हुई।' उच्च जाति की मालती के पति और बच्चे और निम्न जाति की कुसमी के पति जातीय हिंसा की भेंट चढ़ चुके हैं। 'उसी रात लौटकर आए मलिकान पहुँच गए इस टोले पर। ननका छुतहरा तो गाँव छोड़कर भाग गया, बचे हुए भले मानुष उनके जलते हुए क्रोध की आग में स्वाहा हो गए। नथुनी ने लाख पैर जोड़े वे नहीं माने। दो खंड में काट दिया मलिकानों ने। कुसमी की दुनिया ही उजड़ गई। घृणा का बीज अंकुरित हो गया। क्रोध की खाद पड़कर बड़ी तेजी से बढ़ गया। दूसरी खेप थी मलिकानों की, औरत-मर्द-बच्चे, कोई नहीं बख्शे गए। जब तक बंदूक-राइफल वाले जुटें दर्जनों जाने चली गईं। सचिन बाबू भी उसमें एक थे उनके दोनों बच्चे भी भेंट चढ़ गए। मालती उस वक्त बाथरूम में थी, सो बच गई।[12] गाँव में उच्च जाति और निम्न जाति के बीच हुई हिंसक झड़प ने कईयों की जान ले ली। प्राचीन युग से चल रहे जातीय द्वंद्व की परिणति यह है कि समाज मंत जातीय असमानता आज भी कायम है। समाज में मानवीय संबंधों के बीच जातीयता की दीवार खड़ी हो गई है जिसके कारण लोक में जाति वर्ग की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

उच्च-नीच कुल की मानसिकता ने लोक समाज को युद्ध का मैदान बना दिया है यहाँ आए दिन जाति के नाम पर किसी-न-किसी मनुष्य की बली चढ़ती है। इस जातीय संघर्ष में सबसे अधिक हानि नीची जाति को उठानी पड़ती है। समाज में इनके प्रति अछूत की भावना इन्हें समाज की मुख्य धारा में आने नहीं देती है। तत्कालीन समय में जातीय संरचना समाज की बड़ी समस्या है। कहानी 'हीरा डोम की वापसी' में उषाकिरण खान जातीय संरचना का इस प्रकार उल्लेख करती हैं, 'एक ओर अँग्रेजों के जमानेवाले बँगले हैं, बँगलों में अभिजात बाशिंदे हैं तो दूसरी ओर संपूर्ण नगर के स्वास्थ्य के लिए सफाई की जिम्मेदारी निभानेवालों की डोम बस्ती है।' आज भी नगर तथा ग्रामीण समाज के दोनों स्थान पर डोम जाति को अछूत की नजरों से देखा जाता है। इनकी बस्ती सदैव मुख्य गाँव समाज से अलग बसाई जाती है। ग्रामीण जीवन के साथ-साथ नगरीय जीवन में भी जातिगत भेदभाव देखा जा सकता है। लेखिका 'हीरा डोम की वापसी' कहानी में नगर की जातिगत व्यवस्था तथा अभिजात वर्ग का निचली जाति के लोगों पर अत्याचार का चित्रण करती हैं। पात्र 'ठकेता' डोम जाति का है और वह अभिजात वर्ग के एक साहब के यहाँ काम करता है। साहब के घर से सोने की चेनवाली घड़ी गुम होने पर सारा आरोप ठकेता के सर पर लगा दिया जाता है। निम्न जाति का होने के कारण उस पर सारा दोष मढ़ दिया जाता है। लगातार थाना में हो रही प्रताड़ना से ठकेता दम तोड़ देता है। यहाँ एक डोम जाति का निर्दोष ठकेता उच्च वर्ग के प्रपंच

में फँस अपनी जान से हाथ धो बैठता है। कहानी 'हीरा डोम की वापसी' जातीयता के नाम पर हो रहे निम्न जातियों के साथ अन्याय का मार्मिक प्रस्तुतीकरण है।

भारतीय संस्कृति में धर्म का स्थान सबसे ऊपर माना गया है। इसके बिना भारतीय समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। धर्म वैदिक समाज तथा लोक समाज दोनों में समान रूप से उपस्थित है। 'समस्त मानव जाति की मूलभूत अनुभूतियों का एक सुंदर स्वरूप है धर्म।' धर्म का संबंध मानव समाज के अंतर्मन से है। विद्वानों के अनुसार जिससे लौकिक जीवन में, संसार में अभ्युदय हो सभी का कल्याण हो, सभी का उत्कर्ष हो, वही धर्म माना गया है। अर्थात् जिसमें संपूर्ण मानव समाज का कल्याण निहित हो वही धर्म है। 'धर्म' शब्द अपने-आपमें व्यापकता लिए हुए है। समस्त संसार में मानव समाज किसी-न-किसी धर्म का अनुपालन करता है तथा उसके बनाए गए नियमों का पालन करता है। वह धर्म ही है जिसने मानव को दया, करुणा, क्षमा, सेवा आदि मानवता का पाठ पढ़ाया है। भारतीय संस्कृति में धर्म से जुड़ी सभी विधि-व्यवहार, उत्सव-त्यौहार, पर्व, रीति-रिवाजों को धार्मिक प्रकिया द्वारा ही निभाया जाता है। धर्म के अनुसार ही किसी व्यक्ति को गुरु, पंथ, संप्रदाय चुनने का अधिकार मिलता है। धर्म भारतीय मानव के जीवन का आधार है जिस पर मानव का समस्त आदर्श टिका है। समय के साथ ब्राह्मणों तथा उच्च कुल के स्वार्थलिप्सा ने धर्म के संपूर्ण रूप बदल दिया है। परिणामस्वरूप धर्म में आए विकृति के कारण धर्म का सात्विक रूप समाज से धीरे-धीरे समाप्त हो गया है। धर्म के नाम पर समाजिक कुरीतियों ने धर्म का रूप ले लिया। वर्तमान समाज में धर्म बिकाऊ हो गया है। आज भगवान की पूजा-अर्चना वही व्यक्ति कर सकता है जिसने सबसे अधिक दान दिया हो। लोकजीवन में धर्म के विकृत स्वरूप ने विकराल रूप ले लिया है जिसके कारण सामान्य जन धर्म के नाम पर किए गए पाखंड का शिकार हो जाते हैं। लोक समाज में साधारण मनुष्य मृत्यु उपरांत भी धर्म के कर्ज से नहीं उबर पाता है तथा इनका कर्ज इनकी अगली पीढ़ी को चुकाना पड़ता है। कहानी 'हमके ओढ़ा द चदरियाँ हो, चलने की बेरिया' में कोकाई एक गरीब किसान है जो कबीर पंथ में विश्वास रखता है। कबीर जो समस्त संसार में समानता तथा सर्वधर्म समभाव की भावना को प्रश्रय देते थे। आज उन्हीं के नाम पर ग्रामीण समाज में धर्म का बाजार स्थापित हो गया है। 'अगहन में गोसाई साहब गाँव आए तो यह भी चढ़ावा लेकर साहेब बंदगी करने पहुँचा। गुरु ने पहुँचते ही आड़े हाथों लिया। 'कोकाई, तूने बैल कसाई को बेचा सुना है, पराच्छित करना पड़ेगा।' उन्होंने फरमान जारी किया। 'नहीं गोसाई साहेब नहीं, हम नेवला गाँव के किसान के हाथ बैल बेचकर आए थे।' 'गलत बात, तेरा बैल कसाई ले जा रहा था, दस मुंड देखा है। बोलो, कौन-कौन देखा है?'[13] इससे पहले की कोकाई प्रायश्चित करे, कोकाई दंड भरने से पहले ही वज्रपात की चपेट में आकर चिर निद्रा में सो जाता है। जिसका खामियाजा कोकाई के परिवार को भुगतना पड़ता है। 'भंडारा चूँकि साधुओं का था, सो शुद्ध घी का हलुआ-पूड़ी, बुंदिया-दही का प्रसाद रहा। संस्कार के वक्त ही साधु के प्रतिनिधि ने बड़े बेटे फेंकना से कहा, 'तुम कोकाई को अग्नि कैसे दोगे? साकंठ जो हो, पहले कंठी धारण करो; साधु की पैठ होगा, वरना. ..' रोता हुआ अबूझ फेंकना कंठी धारण कर बैठ गया। बारहवीं का भोज समाप्त हुआ। गले गमछा डालकर फेंकना-बुधना साधुओं के सामने खड़ा हुआ। 'साहेब, हम ऋण से उऋण हुए की नहीं?' कान उऋण सुनने के लिए बेताब थे। 'नहीं रे फेंकना, तेरी ऋण-मुक्ति कहाँ हुई? गोसाई साहेब ने दो साल पहले पचहत्तर मुंड साधु का भोज-दंड दिया था। नहीं पूरा कर पाया बेचारा। यह तुम्हें ही पूरा करना पड़ेगा। उऋण होना है तो यह सब करना पड़ेगा।'[14] कोकाई के दाह संस्कार के बाद बेटों

ने उधार लेकर भंडारे का आयोजन किया तथा जमीन गिरवी रखकर कोकाई के पुत्रों ने दूसरी बार साधुओं के लिए भोज का आयोजन किया। कोकाई को साधुओं द्वारा दिए गए सजा का दंड कोकाई के पुत्रों को अपना घर जमीन आदि सब-कुछ गिरवी रखकर चुकाना पड़ा तथा जीवनभर कोकाई का परिवार साहुकारों का कर्जदार बन गया। धर्म के प्रतिनिधि माने जाने वाले पंडे-पुरोहित ब्राह्मण लोकजन की श्रद्धा का लाभ उठाकर भोले-भाले गरीब ग्रामीण जनता को ठगते हैं तथा उनका शोषण करते हैं। लेखिका ने इस कहानी में ग्रामीण समाज में बढ़ते धार्मिक पाखंड का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। उषाकिरण खान ने ग्रामीण समाज में कबीरपंथ में आए पाखंड को अपने उपन्यास 'गई झुलनी टूट' में भी दर्शाया है। स्त्री पात्र घांटों कबीरपंथ से जुड़ी हुई है, एक बाबा के कहने पर घंटों शतचंडी का बड़ा भारी यज्ञ करवाती है जिससे कबीर मठ के गोसाई जी नाराज हो जाते हैं तथा पंद्रह सौ मुंडों को शुद्ध घी में पूरी, साग, मिठाई खिलाने का सजा सुनाते हैं। घंटों धर्म की अंधभक्ति में गोसाई जी से क्षमादान के लिए भंडारे का भव्य आयोजन करती है। लेखिका लोक समाज में धर्म के भीतर आ रही विकृतियों को उजागर करती हैं। धर्म में बढ़ रहे आडंबर तथा पाखंड से लोकजीवन में धार्मिक शोषण की समस्या बढ़ रही है।

लोकजीवन अपनी प्राकृतिक समृद्ध सुंदरता के लिए जाना जाता है। ग्रामीण जगत नगरीय सभ्यता से दूर प्राकृतिक परिवेश में जीता है और अपने समस्त कार्य-व्यापारों के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहता है। जहाँ कृषि आवास और रोजगार आदि लोक की समस्त जीवन प्रणाली प्रकृति आधारित होती है। लोकजीवन का संपूर्ण आधार कही जाने वाली प्रकृति लोक की जीवनदायिनी है परंतु ग्रामीण जीवन में प्रकृति के आशीष के साथ प्रकृति का प्रकोप भी झेलना पड़ता है। कृषि आधारित लोकजीवन प्रकृति के प्रकोप से अकसर विपन्नता की स्थिति पर पहुँच जाता है। फसलें बाढ़ और सूखे की चपेट में आकर बर्बाद हो जाती हैं। गाँव में रहने वाले बड़े और छोटे किसानों की हालत बद से बदतर होती चली जाती है। बाढ़ मिथिला की सबसे बड़ी समस्या है। जो हर साल आकर लोकजीवन में आर्थिक विपन्नता लाती है। बाढ़ की समस्या को उषाकिरण खान अपने प्रमुख उपन्यास 'फागुन के बाद' में रेखांकित करती हैं। उपन्यास 'फागुन के बाद' बाढ़ तथा उससे गाँव में आए दुर्दिन का बयान है। बाढ़ के कारण गाँव में 'धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता गया था कि गाँव -इलाके का दुर्दिन चल रहा है। हर साल कोसी-कमला की बाढ़ फसल लीलने लगी। लोग विपन्न होने लगे। अधिक-से-अधिक किसान बंगाल और मोरंग धान काटने, जूट धोने जाने लगे है।'[5] मिथिला में बाढ़ की समस्या, हजार समस्याओं को उत्पन्न कर देती है। जैसे–आवास की समस्या, अनाज की कमी से भुखमरी, पशुधन हानि तथा आर्थिक विपन्नता आदि। उपन्यास 'फागुन के बाद' में अल्हुआ सुथनी खा के लोग गुजर-बसर कर बाढ़ के उपरांत सब-कुछ नष्ट होने से भुखमरी तथा रोजगार की समस्या उत्पन्न हो जाती है फलस्वरूप ग्रामीण जनों के शहर की ओर पलायन से गाँव के गाँव खाली हो जाते हैं। गाँव के अधिकतर युवा मोरंग और बंगाल धान काटने व जूट धोने निकल जाते हैं तथा कुछ युवा महानगरों में मजदूर बन अपना परिवार चलाते हैं। गाँव में बच जाते है केवल महिलाएँ व बुजुर्ग जिसका उल्लेख कहानी हमके 'ओढ़ा द चदरिया हो, चलने की बेरिया' में हुआ है। कोकाई के बेटे के ये कहने पर कि क्या करोगे चौमासा घर में रहकर तब कोकाई कहता है–'अरे, रहकर देखो कि क्या किया जाता है! हर साल बाढ़ में खेत-खलिहान डूब जाते हैं। गाय-बैल के लिए घास क्या अकली बेलसंडीवाली काटेगी? अब अलौंत ब्याई गायों को हरे चारे के बिना चंगा कैसे रखा जा सकता है? बहुओं को घास काटने भेजें? वे भी बच्चे वाली हैं।'[6]

लेखिका ने बाढ़ की विभिषिका झेल रहें गाँव में चारों ओर से आने वाली समस्याओं को चिह्नित किया है। मिथिला में हर साल बाढ़ एक त्रासदी बनकर आती है और बाढ़ की चपेट में आने वाले कई सारे गाँव का जीवन लील लेती है। बाढ़ व बेरोजगारी की समस्या का लेखिका ने अपने उपन्यास 'पानी पर लकीर', 'फागुन के बाद', कहानी 'कौस्तुभ स्तंभ', 'साबुत मुरत', 'जलधार' आदि में संक्षिप्त मगर प्रभावी रूप से वर्णन किया है। उषाकिरण खान ने अपने कथासाहित्य में मिथिला लोकजीवन में व्याप्त प्रमुख समस्याओं जाति, धर्म प्राकृतिक आपदा तथा उससे उपजी बेरोजगारी व आर्थिक विपन्नता को बहुत ही सजीवता से प्रस्तुत किया है।

लोकजीवन में महामारी बोलकर नहीं आती और जब आती है अपने साथ कई जिंदगियाँ लील जाती है। लेखिका ने बाढ़ के बाद ग्रामीण समाज में फैलनेवाली महामारी का उल्लेख अपने कथासाहित्य में बड़ी ही संजीदगी के साथ किया है। 'फागुन के बाद' में ठाकुरगाँव में हैजे की बीमारी फैलने से बड़ी हवेली की कन्यादानी बेटी जगदम्मा हैजे का भेंट चढ़ गई थी। दूसरे साल बाढ़ आने बाद कार्तिक में मियादी बुखार से मनीराम की बालिका वधू चल बसी। इसी तरह कहानी 'कौस्तुभ-स्तंभ' में मलेरिया से मंगल बहू के ससुर के साथ पति और तीन बेटे चल बसे थे। गाँव में महामारी काल का रूप लेकर आती है तथा अपने साथ कई जिंदगियाँ लेकर चली जाती है इसके प्रकोप से कोई नहीं बचता। लेखिका महामारी के बाद गाँव के वातावरण एवं परिवेश का भयावह चित्रण प्रस्तुत करती हैं, 'मलेरिया से कांखते गाँव में लोग बचे ही कहाँ थे? कुछ मर-मरा गए, कुछ परदेश चले गए। पूरे पाँच सौ की आबादी वाले गाँव में कुल पच्चीस आदमी रह गए थे। पूरे हवा की साँय-साँय और टिटहरी की चीत्कार के अलावा इनसान का क्रंदन मात्र रह गया था। पालने वालों के अभाव में ढोर-डंगर भी नहीं रहे।'[7] मलेरिया हैजा बाढ़ के बाद फैलने वाली ऐसी महामारियाँ हैं जो गाँव के गाँव नष्ट कर देती हैं। गाँव में प्राथमिक अस्पताल तथा स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध नहीं रहने कारण जनहानि का सामना करना पड़ता है। लेखिका ग्रामीण जगत में महामारी की समस्या को बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से अपने कथासाहित्य में उतारा है।

उषाकिरण खान अपनी कहानियों में समाज में परिवर्तित होते मूल्यों को इंगित करती हैं। वर्तमान तकनीकी युग में बुजुर्ग लोग समाज से अलग-थलग पड़ गए हैं। उनको समाज में एक वस्तु की तरह समझा जाता है। साहित्यकार उषाकिरण खान अपनी कहानी 'मोती-बे-आब' तथा 'साँझ भई' में बुजुर्गों के अकेलेपन की समस्या पर प्रकाश डालती हैं। पाश्चात्य सभ्यता ने संयुक्त परिवारों को समाप्त कर दिया है तथा उसके स्थान पर एकल परिवार ने जगह ले ली है। अर्थ जमा करने की लालसा ने बुजुर्गों को काम न आने वस्तु का रूप दे दिया है। अपने साहित्य में लेखिका ने इस समस्या का उल्लेख किया है। 'मोती-बे-आब' नगर के एक प्रतिष्ठित कवि की कथा है जो अपनी मानसिक शक्ति खो चुका है। कवि के पुत्र कवि को वस्तु समझते हैं केवल कवि का पोता ही उनकी सेवा करता है। भारत सरकार की तरफ से सम्मान तथा नकद राशि की घोषणा के बाद ईनाम लेने में पहला हाथ कवि पुत्रों का होता है। दूसरी कहानी 'साँझ भई' ग्रामीण परिवेश में बुजुर्गों की समस्या पर आधारित है। बदमिया एक स्वाभिमानी महिला है जिसने अपने पति के मरने के बाद अपने बच्चों को मजदूरी कर पाला। वही बच्चे आज बदमिया के बुढ़ापे में उससे कन्नी काट रहे हैं। बदमियाँ के तीन बेटे थे परंतु तीनों बेटों में किसी ने बदमियाँ को नहीं रखा। बेटों ने घर के तीन हिस्से किए बदमियाँ के हिस्से आया केवल अकेलापन। उस अकेलेपन में भी उसके साथ मालकिन थी जिससे वह घंटों सुख-दुख की बात करती थी परंतु बीमारी से मालकिन के मृत्यु ने

बदमिया को भीतर से तोड़ दिया। बुढ़ापे का कोई सहारा न देख बदमियाँ ने अपने आपको फाँसी लगा ली। बदमियाँ जिल्लत की जिंदगी को छोड़कर मृत्यु चुनती है। लेखिका ग्रामीण जीवन में नगरीय सभ्यता के प्रवेश के बाद बदलते लोकजीवन में बुजुर्गों में अकेलेपन की समस्या का उल्लेख करती हैं।

लोकजीवन में संचार सुविधाओं की कमी, यातायात की असुविधा से ग्रामीण आधुनिक जीवन से नहीं जुड़ पाते। शिक्षा तथा अन्य मूल सुविधाओं के लिए ग्रामीण समाज को नगरों पर निर्भर रहना पड़ता है। यहाँ प्रारंभिक शिक्षण सुविधाओं के अभाव के कारण ग्रामीण मानसिक रूप से भी अति पिछड़े होते हैं। शिक्षा के अभाव में लोक समाज के मानसिक पिछड़ेपन को लेखिका अपने उपन्यास 'फागुन के बाद' में दर्शाती हैं। जानकी एक मुसहर कन्या है जो अपने समाज की पहली कन्या है जिसने मैट्रिक पास किया है। उसकी सर्पदंश से अस्कस्मात मृत्यु के परिणामस्वरूप समस्त मुसहर जाति की शिक्षा में निषेध लग जाता है। झगड़ू 'मालिक, तू लोग हमारी बेटी को पढ़ा-लिखाकर खा गए। ...कसम खाते हैं, आपके चरण छूकर, किसी मुसहरनी को अब पढ़ने नहीं देंगे। जय हो दीनाभ्रदी, जय लुकेश्वरी![8] शिक्षा के अभाव में अंधविश्वास लोक समाज में अपनी जड़ें जमा लेता है जिसका प्रकटन लेखिका ने 'फागुन के बाद' उपन्यास में किया है। ग्रामीण जीवन में शिक्षा की रोशनी न पहुँच पाने की वजह से गाँव समाज में भ्रम और अंधविश्वास की समस्या बनी रहती है। साहित्यकार ने अपनी रचना से समाज में व्याप्त कुसंगतियों और असमानताओं को सामने रखा है। लेखिका सामाजिक घटनाओं से उपजी विसंगियों तथा उससे उपजी भविष्यगत समस्याओं पर दृष्टि डालती हैं। लेखिका लोक समाज के भीतरी पक्षों में समाजजनित समस्याओं को परत-दर परत खोलती हैं। इन्होंने अपने कथासाहित्य में लोकसमाज के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप को दिखाकर लोकजीवन के स्याह पक्ष को भी उद्धृत किया है। लेखिका कथासाहित्य में ग्रामीण परिवेश तथा वातावरण में उपस्थित सभी समाजिक तथा प्रकृतिक समस्याओं का उल्लेख करती हैं। लेखिका अपनी कहानी कौस्तुभ स्तंभ, साबुत मूरत, पानी की दीवार में बाढ़ जैसी आपदा के चले जाने के बाद वातावरण में फैली भयावह शांति जैसे दृश्यों का सजीव चित्रण करती हैं। इन सभी आपदा विपदा में लोक सभी समस्याओं से जूझते हुए अपनी गति में सदैव चलायमान रहता है और सामाजिक आर्थिक और प्राकृतिक आपदा सहते हुए अपना हिस्से का श्रम करता रहता है। जिस गति से लोक विपदाओं में उजड़ता है उसी दुगनी गति से लोक प्रकृति का सहचर्य पाकर पुनः भूमि पर बसता भी है।

संदर्भ

1. उषाकिरण खान, फागुन के बाद, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2020, पृ॰ 180
2. उषाकिरण खान, कासवन (कहानी-संग्रह), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1998, पृ॰ 128
3. उषाकिरण खान, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ॰ 134
4. वही, पृ॰ 135
5. उषाकिरण खान, फागुन के बाद, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2020, पृ॰ 20
6. उषाकिरण खान, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ॰ 132
7. वही, पृ॰ 40
8. उषाकिरण खान, फागुन के बाद, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2020, पृ॰ 192

कार्यशील महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का अध्ययन : जिला हजारीबाग (झारखंड) के विशेष संदर्भ में

पुष्पा कुमारी, शोधार्थी, पीएच॰डी॰, समाजशास्त्र विभाग
डॉ॰ राज कुमार, शोध निर्देशक
सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग,
आइसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखंड)

महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं, इस परिवर्तन की प्रक्रिया में महिलाओं की स्थिति में दिन-प्रतिदिन गिरावट आती रही है। धार्मिक रीति-रिवाजों ने महिलाओं के अधिकारों को पुरुषों के अधीन छोड़ दिया, जिससे पुरुषों ने उन्हें कभी बराबरी का अधिकार नहीं दिया। शिक्षा जैसे अधिकारों से पूर्णरूप से वंचित करते हुए, उनके सारे अधिकार छीन लिए गए। स्वतंत्रता के पश्चात संवैधानिक कानूनी अधिकार मिलने से महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए नीतियों का निर्माण किया जाने लगा। कानूनी अधिकारों के साथ-साथ आधुनिकीकरण, नगरीकरण, औद्योगिकीकरण से महिलाओं को घर से बाहर निकलने की आजादी मिली। इस आजादी ने महिलाओं को हर क्षेत्र में पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने के अवसर मिले। समकालीन समय में देखा जाए तो समाज के हर क्षेत्र में अपनी भागीदारी दे रही हैं। महिला सशक्तिकरण के दौर में महिलाओं ने घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर स्वयं कार्यशील महिला होने का गौरव हासिल किया है और समाज की स्थिति को बदलने का बीड़ा उठाया है। समाज में, माँ, बेटी, बहु, और पत्नी के रूप में पहचानी जाने वाली महिला ने अपनी परंपरागत छवि को तोड़ा है। समकालीन समय में महिला ने अपनी एक अलग पहचान बनाई है। उसने पुरुषों के बराबर अवसर तथा सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व कानूनी अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। कार्यशील महिलाओं की स्थिति का आंकलन करना बहुत ही कठिन कार्य है, क्योंकि प्रत्येक महिला किसी-न-किसी रूप में कार्यशील होती है। परंतु घरेलू महिला के कामकाज का आर्थिक मूल्य न होने के कारण उसे कामकाजी की श्रेणी में नहीं रखा जाता है। झारखंड राज्य में देखा जाए तो यहाँ पर आदिवासी महिलाओं की स्थिति मुख्यधारा के समाज से काफी बेहतर है।

शोध-पत्र का उद्देश्य

* कार्यशील महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करना।
* कार्यशील महिलाओं के साथ होने वाले घरेलू हिंसा का अध्ययन करना।

शोध प्रविधि–उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्रस्तुत पत्र को प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों से प्राप्त आँकड़ों के द्वारा तैयार किया गया है। साक्षात्कार को प्रमुख शोध प्रविधि के रूप में रखकर आँकड़ों एवं सूचनाओं को संकलित करने के लिए प्रश्नावली एवं अवलोकन शोध उपकरणों को आधार बनाया गया है। अध्ययन का विषय कार्यशील महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक

 ISSN 0975-735X

स्थिति से संबंधित है, साथ ही कार्यशील महिलाओं के साथ होने वाले घरेलू हिंसा का अध्ययन करना है, इसलिए आवश्यक था कि किसी ऐसे क्षेत्र का चुनाव किया जाए जहाँ कार्यशील महिलाएँ हों। इसलिए उद्देश्यपूर्ण निदर्शन के माध्यम से हजारीबाग जिले के दो प्रखंडों सदर और बड़कागाँव का चुनाव किया गया। प्रखंडों से सिर्फ बभनवै, मोरांगी, मुकुंदगंज, खपरियावाँ, हरहद, बड़कागाँव, महुगाईं खुर्द, हरली, सलैया, एवं मासीपीढ़ी गाँव को चयनित किया गया है। प्रत्येक गाँव से 50 कार्यशील महिलाओं पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया है। जिसमें सरकारी, अर्द्धसरकारी एवं गैर-सरकारी में कार्यरत कार्यशील महिलाओं को लिया गया है।

विभिन्न कालों में महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति

भारतीय समाज की सबसे प्राचीन सभ्यता, सिंधु सभ्यता है। इस सभ्यता से जो प्रमाण मिले हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उस सभ्यता में महिलाओं को पूजनीय माना जाता था। समाज में महिलाओं को उच्च स्थान प्राप्त थे। सिधु सभ्यता से प्राप्त साक्ष्यों एवं मातृशक्ति के प्रतीकों के रूप में मातृदेवी के चित्र समाज में उनके स्थान को निर्धारित करते हैं। सभ्यता में नारी को उर्वरा के प्रतीकों के रूप में पूजा जाता था। (पांडेय-1983: 27) ऋगवैदिक काल में भले ही पितृसत्तात्मक समाज का बोलबाला था, लेकिन महिलाओं की स्थिति प्रतिष्ठित एवं सम्मानित थी। इस कल में पत्नी के लिए 'जायेदस्तम' शब्द का प्रयोग किया जाता था। जिसका तात्पर्य होता है पत्नी ही गृह है। (विघलंकर-2017: 161) उत्तर वैदिककाल में पूर्व के कालों की अपेक्षा महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन देखने को मिलने लगे। धार्मिक रूप से महिलाओं को उपनयन संस्कार से वंचित कर दिया, जिसके कारण उनकी रक्षा में बाधा उत्पन्न होने लगी। ऐतरेय ब्राह्मण में कन्याओं के जन्म की निंदा की जाने लगी। मैत्रायणी संहिता में महिलाओं को धूत एवं मदिरा की श्रेणी में रखा गया। (वाशम-1996: 40) महिलाओं को इस काल में विधवा पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त था, परंतु यह मात्र पुत्र प्राप्ति के लिए, क्योंकि पिता की संपत्ति पर अधिकार सिर्फ पुत्र का ही होता था। इसलिए पुत्र प्राप्ति पर अधिक जोर दिया जाता था। (झाँ, श्रीमाली-2001: 232) सूत्रकाल में महिलाओं को निम्न समझा जाने लगा साथ ही स्वतंत्रता के योग्य नहीं समझा गया। बाल्यावस्था पिता की संरक्षण में, यौनावस्था पति के संरक्षण में एवं वृद्धावस्था पुत्र के संरक्षण में बिताने की बात कहीं गई। महिलाओं को पुरुषों पर आश्रित होना पड़ा। (जैन-1987: 40) मौर्यकाल में महिलाओं की स्थिति पूर्ववत कालों की तरह ही रही, स्वयंवर प्रथा, विशेष परिस्थितियों में विवाह विच्छेद के अधिकार प्राप्त थे, परंतु इन्हें भोग-विलास एवं संतानोपत्ति का साधन माना जाता था। (थापर-1993: 85) गुप्त काल में महिलाओं की स्थिति में थोड़ा-बहुत परिवर्तन देखने को मिलता है, जैसे कि उनके जन्म को दुर्भाग्य का कारण नहीं समझा गया। महिला का पद माता एवं पत्नी के रूप में ऊँचा समझा गया, महिला को रत्न एवं विरप्रसविनी नाम से संबोधित किया जाता था। (शास्त्री-1966: 190) इस काल में पर्दा प्रथा प्रचलन में नहीं थी, परंतु घूँघट शब्द का प्रचलन मिलता है। कुलीन वर्ण की महिलाएँ घर के बाहर जाने पर अपना मुँह ढककर चलती थीं। (श्रीवास्तव-1966: 15) पूर्वमध्यकाल में महिलाओं के अधिकारों एवं स्थिति में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जैसे कि सामाजिक व्यवस्था को अत्यंत कठोर बना दिया गया। जिससे सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक, एवं आर्थिक व्यवस्था का पतन होने लगा, और साहित्य एवं ललित कलाओं में महिलाओं को भोग्य के रूप में प्रदर्शित किया जाने लगा। (पांडेय-1991: 189) राजपूत काल में महिलाओं को सम्मान तो मिलने लगा, लेकिन विधवाओं को घृणा की दृष्टि से देखा

गया, आज भी राजपूत परिवारों में विधवाओं को विधवा पुनर्विवाह करने की आजादी नहीं है। (शर्मा-1981: 78)

भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही महिलाएँ पुरुषों के अधीन रही हैं, चाहे वे शिक्षित हो या अशिक्षित रही हों। महिलाओं के जीवन में परिवर्तन ब्रिटिश शासन काल से प्रारंभ होता है, क्योंकि इस काल में शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया। जिससे महिलाओं ने अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगी। आधुनिकीकरण, पश्चमीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण, विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा का प्रचार व प्रसार आदि की प्रक्रियाओं ने परंपरागत भारत को परिवर्तित कर दिया। जिसके फलस्वरूप जातिप्रथा, विवाह, खानपान पर प्रतिबद्ध, पर्दा प्रथा आदि कठोर नियमों में कमी आने लगी है। भले ही समाज आधुनिक परिवेश की बात करें, लेकिन आज भी लोगों की विचारधारा महिलाओं के प्रति पूर्णत: बदली नहीं है। पुरुष आज भी महिलाओं को उनके परंपरागत रूप में ही देखना पसंद करते हैं कि महिलाएँ पत्नी धर्म का निर्वहन करें। महिलाएँ सहायक के रूप में अपने पति के कार्यों में हाथ बँटाएँ, बच्चों का लालन-पालन करें, एक सुगृहिणी बनकर घर-बार सँभाले व उसकी देखभाल करें। शहरों एवं महानगरों में कार्यशील महिलाओं की स्थिति बेहतर हुई है। इनकी सामाजिक व आर्थिक प्रस्थिति में परिवर्तन आए हैं।

शोध पत्र में हजारीबाग सदर की कार्यशील महिलाओं का चुनाव किया गया है। साथ ही शोध पत्र को पूर्ण करने के लिए असंभावित निदर्शन के प्रकार जिसे सुविधाजनक निदर्शन कहते हैं का प्रयोग किया गया है। चयनित कार्यशील महिलाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि का तथ्य परक विवरण प्रस्तुत किया गया है। कार्यशील महिलाओं के संबंध में साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से उनकी, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण किया गया है।

कार्यशील महिलाओं की आयु संबंधी स्थिति

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि सर्वेक्षित कार्यशील महिलाओं में 3.4% महिलाएँ 20 वर्ष से कम आयु वर्ग की हैं, 21 से 25 वर्ष की आयु वर्ग में कार्यशील महिलाओं का 13.6% है, 26 से 30 वर्ष की आयु का 30.6% है, 31 से 35 वर्ष की आयु का 33.8% है, तथा 35 वर्ष या उससे अधिक आयु वाली कार्यशील महिलाओं का 18. 6% है। इस प्रकार ग्राफ से ज्ञात होता है, कि अधिकांश सर्वेक्षित कार्यशील महिलाएँ 31 से 35 आयु वर्ग की हैं, तथा 20 वर्ष से कम आयु की कार्यशील महिलाएँ सबसे कम हैं। ग्राफ से पता चलता है कि आज भी महिलाओं को समाज में कार्यशील होना पसंद नहीं करते हैं। भले ही वे शिक्षा के क्षेत्र में आगे हों लेकिन आज भी वे शादी से पहले नौकरी या अन्य व्यवसाय में कार्यशील नहीं हो सकती हैं, क्योंकि समाज द्वारा बनाई गई प्रथाओं का आज भी पालन किया जाता है।

कार्यशील महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 13% कार्यशील महिलाएँ प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हैं, 16.2% महिलाओं ने माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त की है, साथ ही कार्यशील महिलाओं में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का स्तर शून्य है, वहीं स्नातक में 31.4% एवं स्नातकोत्तर में 19.6% शिक्षा प्राप्त हैं। 12.6 प्रतिशत ऐसी महिलाएँ भी हैं जिन्होंने व्यावसायिक शिक्षा भी प्राप्त की है, परंतु अध्ययन में 7.2% ऐसे महिलाएँ पाई गईं जो निरक्षर हैं। अत: उपर्युक्त तथ्यों से पता चलता है कि कार्यशील महिलाओं में शिक्षा का स्तर अधिक है। शिक्षा के साथ-साथ महिलाएँ कार्यशील भी दिखाई दे रही हैं, क्योंकि बिना शिक्षा के महिलाओं का

कार्यशील होना नामुमकिन है।

कार्यशील महिलाओं की वैवाहिक स्थिति

विवाह मानव समाज की अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रथा एवं सामाजिक संस्था है, यह समाज के निर्माण करने वाली सबसे छोटी इकाई है, तथा परिवार का मूल तत्त्व है। विवाह दो लोगों के बीच अधिकारों और उत्तरदायित्वों को स्थापित करता है। विवाह के उपरांत व्यक्ति की निर्णय क्षमता, विचारशीलता आदि प्रभावित होती है। कार्यशील महिलाओं की विचारशीलता निर्णय आदि की स्थिति को जानने के लिए उत्तरदाताओं से यह प्रश्न किया गया है। क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 71.2% कार्यशील महिलाएँ विवाहित हैं, तथा 28.8% कार्यशील महिलाएँ अविवाहित हैं। शोध अध्ययन में अधिकतर कार्यशील महिलाएँ विवाहित हैं।

कार्यशील महिलाओं की जाति-वार स्थिति

शोध पत्र में जाति के आधार पर निदर्शन किया गया है, जिसमें सामान्य जाति की महिलाओं के साथ-साथ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़ा वर्ग की कार्यशील महिलाओं का चुनाव किया गया है। क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है, कि 17.6% कार्यशील महिलाएँ सामान्य जाति से हैं, 31.2% अनुसूचित जाति से हैं, 7.4% अनुसूचित जनजाति से हैं, 43.8% कार्यशील महिलाएँ पिछड़ा वर्ग से आती हैं। अध्ययन में पाया गया है कि सबसे ज्यादा कार्यशील महिलाएँ पिछड़ा वर्ग एवं अनुसूचित जाति से हैं।

कार्यशील महिलाओं की पारिवारिक संरचना

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि कार्यशील महिलाओं में से 70% एकल परिवार से आती हैं, जबकि संयुक्त परिवार से आने वाली महिलाओं का प्रतिशत 30 है। अत: अध्ययन से ज्ञात होता है कि कार्यशील महिलाएँ एकल परिवार में रहना ज्यादा पसंद करती हैं।

कार्यशील महिलाओं के प्रति समाज का नजरिया

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 57.8% कार्यशील महिलाओं के प्रति समाज के लोगों का नजरिया अच्छा है, जबकि 24.4% महिलाओं के प्रति सामान्य नजरिया है, वहीं 10.8% तथा 4% महिलाओं के प्रति समाज के लोगों का नजरिया संदेहजनक एवं अच्छा नहीं है। उत्तरदाताओं का कहना था, कि समाज के लोग कार्यशील महिलाओं को बदचलन समझते हैं, वे अपने पति और परिवार के प्रति व्यवहार अच्छा नहीं रखती हैं। आज कार्यशील महिलाएँ परिवार के आर्थिक सहयोग में हाथ बँटा रही हैं, लेकिन समाज में आज भी उनको पुरुषों के बराबर सम्मान के नजरिए से नहीं देखा जा रहा है।

परिवार के महत्त्वपूर्ण निर्णय में कार्यशील महिलाओं की भागीदारी

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि कार्यशील महिलाओं के घर में महत्त्वपूर्ण निर्णय 91.2% उनके पति/पिता के द्वारा लिए जाते हैं, जबकि 8.8% महिलाओं का कहना है कि महत्त्वपूर्ण निर्णय स्वयं या उनकी माता लेती हैं।

कार्यशील महिलाओं के जीवन में बदलाव

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 87.6 प्रतिशत कार्यशील महिलाओं के जीवन में अच्छे परिवर्तन देखने को मिले हैं। आज वे घर की

आर्थिक स्थिति में बराबर की भागीदारी निभा रही हैं, जिससे उन्हें परिवार में सम्मान के नजरिए से देखा जाता है, लेकिन 12.4% ऐसी महिलाएँ हैं, जिनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया है, वे सिर्फ आय का साधन मानी जाती हैं, उनका जीवन आज भी दकियानूसी प्रथाओं पर चलने के लिए मजबूर हैं।

कार्यशील महिलाओं की राजनीतिक चुनावी प्रक्रिया में भागीदारी

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 27 प्रतिशत कार्यशील महिलाएँ चुनावी प्रक्रिया में भाग लेती हैं, लेकिन 62% महिलाएँ ऐसी हैं जो चुनावी प्रक्रिया में भाग नहीं लेती हैं, क्योंकि उनका कहना है कि मुझे अपने कामों से समय नहीं मिलता है। 11% ऐसी महिलाएँ हैं, जो राजनीति में कभी-कभी अपनी भागीदारी देती हैं।

कार्यशील महिलाओं द्वारा राजनीतिक पार्टियों का समर्थन

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 91.4% कार्यशील महिलाएँ राजनीतिक पार्टियों का समर्थन करती हैं, क्योंकि राजनीतिक पार्टियों की नीतियों के कारण ही उन्हें कार्यशील बनने का अवसर मिला है। 4% ऐसी महिलाएँ हैं जिनका कहना है, कि राजनीतिक पार्टियों की वजह से उन्हें कार्यशील के अच्छे अवसर नहीं मिल पाए हैं, क्योंकि जातीय आधार पर नीतियों का लाभ नहीं मिला है। 4.6% ऐसी महिलाएँ हैं जो कभी-कभी राजनीतिक पार्टियों का समर्थन करती हैं।

कार्यशील महिलाओं के साथ होने वाले घरेलू हिंसा

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 75.4% कार्यशील महिलाओं के साथ उनके पति/पिता द्वारा घरेलू हिंसा की जाती है, क्योंकि पति/पिता को लगता है की वे अपनी पत्नी/बेटी की आर्थिक आय से कम कमाते हैं। इसलिए पति-पत्नी, पिता/बेटी में झगड़े और मार-पीट आदि होने लगती है। 21.8% ऐसी महिलाएँ हैं, जिनके साथ सास-ससुर द्वारा घरेलू हिंसा होती है, उनका कहना है कि उनकी आर्थिक आय पर सास-ससुर का हक है। ज्यादातर घरेलू हिंसा विवाहित महिलाओं के साथ होती है। 2.8% ऐसी महिलाएँ हैं जिनके साथ उनके बच्चों द्वारा हिंसा की जाती है। बच्चों को अपनी आर्थिक आय न देने पर कभी-कभी मार-पीट करने लगते हैं।

घरेलू हिंसा के कारण

क्षेत्र अध्ययन से कार्यशील महिला उत्तरदाताओं से प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 29.2% ऐसी महिलाएँ हैं, जो घर में आर्थिक मदद न देने पर उनके साथ घरेलू हिंसा होती है। 2.8% ऐसी महिलाएँ जो घर की देखभाल न कर पाने के कारण उनके साथ हिंसा का कारण बनती है। 31.2% महिलाओं का कहना है कि कार्यशील होने के कारण बच्चों की देखरेख नहीं कर पाते हैं, क्योंकि बच्चों की देखरेख सिर्फ महिलाओं की जिम्मेदारी है, इस कारण घर में हिंसा होती रहती है। 18. 8% महिलाओं का कहना है, कि उनके पति/पिता द्वारा शराब पीकर मारपीट करते हैं, उनको लगता है कि हम कार्यशील हैं और दूसरे पुरुषों के साथ अनैतिक व्यवहार रखते हैं, इसलिए पति/पिता शाम को शराब पीकर मारपीट करते हैं।

निष्कर्ष–समाज में महिलाओं का स्थान पुरुषों के समान होना चाहिए, क्योंकि दोनों समाज रूपी रथ के दो पहिए हैं। महिलाएँ अपनी कार्यशीलता और शिक्षा से अबला से सबला होने का प्रयास कर रही हैं। जैसे-जैसे महिलाएँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई हैं वैसे-वैसे उनकी

 ISSN 0975-735X

सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं। महिलाओं को सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का पूर्ण अनुभव तब होगा जब उन्हें आगे बढ़ने का अवसर दिया जाएगा। जब-जब उन्हें अवसर मिला है उन्होंने अपनी दक्षता का पूर्ण परिचय दिया है, लेकिन भारतीय समाज ने इनके हितों को अनदेखा किया है। जिसके कारण आज भी इंटकी अधिकांश जनसंख्या को समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था और उसमें महिलाओं की समस्याओं को देखते हुए जरूरी है कि सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर इनके प्रतिनिधित्व को बढ़ाया जाए। आजादी के 75 वर्ष के बाद भी इनकी सक्रियता कम दिखाई पड़ रही है, इसलिए सामाजिक एवं राजनीतिक सक्रियता के प्रति गंभीर प्रयास करने की आवश्यकता है।

संदर्भ

1. राजेंद्र पांडेय, (1983), भारत का सांस्कृतिक इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ॰ 27
2. सत्यकेतु विघलंकार, (2017), भारत का इतिहास, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, पृ॰ 161
3. ए॰एल॰ वाशम, (1996), शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, पृ॰ 40
4. द्विजेंद्रनारायण झा, कृष्णमोहन श्रीमाली, (2001), प्राचीन भारत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ॰ 232
5. कैलाश चंद्र जैन, (1987), भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, मध्य प्रदेश हिंदी अकादमी ग्रंथ, भोपाल, पृ॰ 40
6. रोमिला थापर, (1993), भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 85
7. नीलकंठ शास्त्री, (1966), ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृ॰ 190
8. नीरज श्रीवास्तव, (1966), मध्यकालीन भारत प्रशासन, समाज एवं संस्कृति, ओरियंट ब्लैकस्वान, पृ॰ 15
9. सुष्मिता पांडेय, (1991), सामाजिक आर्थिक व्यवस्था एवं धर्म, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ॰ 189
10. रामशरण शर्मा, (1981), सोशल चेंजिंग इन अर्ली मेडविल इंडिया, नई दिल्ली, पृ॰ 78

राजस्थान री विरासत : लोकसंस्कृति

डॉ॰ वीणा छंगाणी, आचार्य
अपेक्स विश्वविद्यालय, जयपुर
अम्बालाल चौधरी, शोधार्थी, राजस्थानी भाषा
अपेक्स विश्वविद्यालय, जयपुर

राजस्थान री लोक संस्कृति अनोखी अर ऐतिहासिक है। आ राज्य रे रंगीन इतिहास ने दर्शावे है। लोकसंस्कृति सू अभिप्राय प्रदेश या छेत्र स्थान विसेस रा तत्त्व है जिका उण खेतर री संस्कृति ने प्रत्यक्ष अर परोक्ष रूप सू व्यक्त करै। ज्यां वठै का निवासिया री परंपरावां अर मान्यतावां, रूढ़िया अर लोकविश्वास, रीति-रिवाज, रहन-सहन, लिंवार-उच्छब, तीरथ-मेला, लोकगीत अर लोकनृत्य, धार्मिक, नैतिक मान्यतावां किस्सा-कहानियाँ, लोकोक्तियाँ आद उण खेत्तर विसेस री संस्कृति ने प्रदर्शित व्है।

लोकसंस्कृति रा तत्त्वां में मिनख जीवण सूं संबंधित क्रियात्मक, भावात्मक अर सिरजणात्मक अनुभूति रौ समावेश मानियो जावे स इण संस्कृति री तुलना अेक भवन सूं की जा सके हैं जिणा री भाँति-भाँति खिड़कियाँ हैं, जिणसुं स्वच्छ, सीतल हवा प्रवेस कर लोकजीवण ने हमेस प्रफुल्लित राखे। लोकसंस्कृति रा नियामक तत्त्वों ने समझण वास्तै श्रीमती शार्लट सोफिया जी कयों है के आ लोकसंस्कृति अेक जातिबोधक सबद री भांत प्रतिष्ठित है। जिकी पिछड़ी जातियों माय अर समुन्नत जातियां रै असंस्कृत समुदाय माय चावा है। इण में लोकविश्वास, रीति-रिवाज, कहाणिया अर कहावतां आद आवे है। प्रकृति रै चेतन अर जड़ जगत रै संबंध में मानव सुभाव अर मिनखा कृत पदारथा रै संबंध में भूत-प्रेतां री दुनिया अर मानखे रै विसे में जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, संगुन, रोग अर मिरत्यु रै संबंध में आदिन अर असभ्य विस्वास इणारे खेतर में आवै हैं। देसकाल री सीमा ऊपर उठ रवै ओ साहित सार्वदेशिकत्ता अर सार्वकालिकता ने ओढ़या राखे है।

लोकविश्वास–लोकविश्वास 'लोक' अर 'विश्वास' दोय सबदां सू बण्यो है, जिणरौ अरथ है–लोकमान्य विस्वास अर वे विश्वास जिका लोक स्वीकार के लेवे अर जिण ने लोक मान्यता मिल जावे है, लोक विस्वास केवीजे। ओ सगलो संसार लोक विस्वास दो ईज दुजो नाव है। यू भी कयो जा सके के आ दुनिया लोक विस्वास माथै टिक्योंणी है। आद पुरातन सूँ लोक विस्वास री अक लांबी परंपरा है। लोक विस्वास आछा अर बुरा दोनू तरे रा होवे हैं। इण आछा-बुरा लोक विस्वासाँ ने सगुन अर अपसगुन रे नाव सू जाण्यो जावे लोक विस्वास लौगा रे मन री भावना माय दिखे। मानव-मन सूँ इणरौ संबंध जोडता थका आद्याप्रसाद त्रिपाठी जी लिखे हैं के लोक विस्वास सूँ सीधों संबंध मानव रे अंतर सूँ व्हें। औ हीज कारण है के अेक व्यक्ति रो विस्वास जियादातर सामाजिक विस्वास रो रूप धारण कर लेवे। दूजी कानी सामाजिक विस्वास व्यक्ति माय अंतरभूत ईज रेवे।

लोक विस्वास जीवण व्यवहार सूं ईज आवे है। अर जीवण रे वास्ते कई खासमखास बण जावे है। लोक विस्वास अतीत सू चालर वरतमान में हमेस जीवण रै साथे चाले। अर भविस्य रै खातर सुरक्षित रेवै। लोक विस्वास ने सर्वोपरि मान'र मिनख इणारे वास्ते आपरो जीवण-यापन करे।

 ISSN 0975-735X

लोक विस्वास नैतिक आचार री पाठशाला है जीवण री अंधारी राहां रौ प्रकास रूपी दीपक है। जीवण री जटिलतम उलझन ने सरलता सूँ सुलझावण रो काम लोक विस्वास करें। लोक विस्वास चालती फिरती खरी नीतियाँ है, इणरो संस्कृति सुरूप निर्धारण में घणखरो महत्त्व होवे। यद्यपि आधुनिक जुग में विज्ञान अर ग्यान रै लोक में लोक विस्वासॉ रो प्रचलन थोडॉक फीको पड़ गियो है। पण की लोक विस्वास अजै मी लोकजीवण री जड़ में समायोड़ा है। इण तरे लोक विस्वास लोकसंस्कृति माय महताऊ अंग है।

रीति-रिवाज प्रथा, परंपरा नै निभावण ने रीत केवे अर रिवाज रीत री सामूहिक स्वीकृति है। दोनू मिलर रीति-रिवाज बण्यो है। रीति रिवाज एड़ी परंपरा है या संस्कार है जिका लोगो री पीढ़ी साथे चाले है। इणरो संबंध लोकजीवण री खास घटनाऊ व्हें। कदेई कदेई ऐ धरम अर त्योहार रा भी हिस्सा व्हें। ए रीति-रिवाज वरतमान समै में थोडोक कम पड गिया है, ए आधुनिकता अर पाश्चात्य संस्कृति रो चोगो भले हीज पहन लियौ है पण आज भी लोकजीवन माय यो रो स्थान यथावत् बणायोडो है।

जलम, ब्याव अर मित्यु जेड़ा संस्कारा सूँ निभावण में अणमिगत रीति-रिवाजा नै देख्यो जा सके है।

किणी छोरी रे जलम माथे 'सुवा' अर छोरे जलम माथे उल्लास रै साथै 'थाली' बजाई जावे। आज लगन सादी में डीजे लगाया जावे हैंदल, मरण री टैम दफनाओ चावे तो कोई अगनि संस्कार करो ए सगळा रीति-रिवाज हीज अपनाया जावे है। रोज मर्रा जीवण में भी कई तरे रा रीति-रिवाज निभाया जावे है। अथिति सत्कार करणों, मंगनी-ब्याव, पूजा अनुष्ठान आद रो पालन करणौ, मेमाण नै भगवान मानकर पग धोवणो, जेड़ा जुग-जुगा सू चालण वाला ए रीति-रिवाज संस्कृति सूं लबालब भरयोडी गागरा है। जिणारी ओस बूंद जीवण री प्यास बुझावे। रीति-रिवाज बेहतर जीवण री खोज हैं औ मानीजे के रीति-रिवाज जिणने मिनख आँख मीचर मानतो चाल रियो है। वे मिनखा ने मानसिक अर आत्मिक सानती प्रदान करे। रीति-रिवाज आगे चालर प्रथा अर परंपरा भी बण जावे हैं।

ए लोकरीतियाँ है जिकी लंबे समै सूं चाल री है लोग इणा ने औपचारिक स्वीकृति दे दी है अर ए अेक पौढ़ी सूं दूजी पौढ़ी ने हस्तांतरित होवती रैवं है। ए रूढिया कठैई नी कठैई मिनख ने उपर अतीत से जुडियोडी है इण माय तरकां रो अभाव व्है पण मिनख इण रो आंचल पकड्यो राखे है। लोक जीवण में आज भी रीति-रिवाज आपरी गती अर सामर्थ्य जीवित रख्यौडा है। याने लोकसंस्कृति री धरोहर केयो जा सके है। समन्वयसीळ भारतीय संस्कृति कई घरमा नै धारण करयोड़ी है। राजस्थानी संस्कृति माय भांत धारमिक मान्यता अर जातीय जीवण व्यवहार है इणीज कारण अठै परवां अर तिवार अर लोक उच्छवां री भी विविधता पाई जावै है। परब अर तिवार स लोकसंस्कृति घणी सिमरथ बणी है अर ए संस्कृति रा मल्यवान तत्त्व मिनखा ने घणी प्रेरणा देवे है।

कला माय में भी ओईज प्रेरक सुरूप मानव जीवन में महताऊ स्थान पायो है ओ हीज कारण है के राजस्थान माय इतिहास अर संस्कृति रे विकास में कला री महताऊ भूमिका हैं। कला संस्कृति रो अभिन्न अंग हुवें है इण वास्तै कला रो अध्ययन लोक संस्कृति रे ग्यान बिना अधूरो है। सभ्यता अर विकास रै साथै कला भी विकसित हुवै है। अेक विद्वान कयो है के हरेक कलात्मक चिह्न आपरी कला रो दरपण है जिणमे आपा तत्कालीन कला, संस्कृति अर इतिहास री आकृति री स्पष्ट झलक देख सकां। कलावां में तत्कालीन समाज री संस्कृति अर सभ्यता अर विकास ने जाण्यों जा सके है।

कलावा में दिमाग री बजाय मिनख रे कियोडो काम ज्यादा महत्त्व राखै। कलाकार रै हाथा

रै माय काची माटी भी साकार रूप लेय लेवे है, डॉ॰ मुशीराम कलाकारा री सत्ता माथे विचार प्रकट करता थका लिख्यो है के ज्यू सूरज री किरणा अनेक प्रकार सूँ धरती ने हरी-भरी अर कवली मुखमल ज्यू सजाय देवे, विया ही कलाकार आपरा हाथां री कला सूँ माटी नै भी फुटरी अर कुरूप ने रूप यान बणाय देवे। राजस्थान री प्रमुख लोक कलावां है-कठपुतली रो खेल, गोदणों, मांडणा, मेहँदी, चित्रकला, मुरतीकला, थापे, काष्ठकला, ब्लूपॉटरी, लाख रो काम, आभूषण, कपड़े माथे छपाई, कशीदाकारी अर गोटाकारी प्रसिध है।

इण रे अलावा राजस्थानी लोगा वारा संगीत, नाच, नाट्य, साहित्य, कला भी है ए कला फगत कुछ लोगाँ सूँ इज नीं जोडे बल्कि पूरी संस्कृति यानी ग्रामीण अर नगरीय सभ्यता रै संदर्भ माय देखणी ही ठीक वैला क्यूके इण रो संबंध आ दोनू सू ही समान अनुपात सूं हुवै। कलावा माथे आपरा विचार राखता थका डॉ॰ रामेश्वरदयाल लिखे भारत मास हर ललित कला पूरी संपन्नता अर विविधता सू कुसमित हुई है जिण सरिया उपनिषदां अर गीता रौ ज्ञान, दरसण अर घरम में संसार माय आगीवाण बणण रो दावो कर सके उणी भात इण देस में एलोरा री मूरतिकला, अजंता री चित्रकला, वाल्मीकि अर व्यास रा महाकाव्य कालिदास रा काव्य अर नाटक, राजस्थान री मीरा अर रा गीत, जे सगळा आखी दुनिया माय आगीवाण देश बणावण रा जतन करे हैं।

राजसी राज्य हुवण रे नाते, राजस्थान आपरी शाही भव्यता अर रॉयल्टी रे वासते जाणीजे। अठै री की खास संस्कृति का उदाहरण प्रस्तुत है।

राजस्थानी लोगों री पोसाक–राजस्थान रा लोग रंगीन कपड़ा पगड़ी अर साड़ियों जीकी तारा सितारा सूँ सुशोभित व्हे, पहनणों पसंद करे हैं। पुरुष 'जोधपुरी सफा', 'जयपुरी पगड़ी' के रूप में वाली पगड़ी पहनें। अंगरखा परिधान ऊपरी शरीर रे ऊपरी भाग ने कवर करे अर निम्न सरीर धोती-पजामा माय हुवे। राजस्थानी महिलाएँ आभूषण री सोकीन हैं लाख के गहना पसंद करे हैं।

राजस्थानी खाणों–राजस्थान आपरे पारंपरिक व्यंजनों रे वासते जाणीजे। दाल-बाटी-चूरमा, गट्टे री सबजी, मिर्ची बडा, प्याज कछोरी, बीकानेरी भुजिया की खास रोचक व्यंजन हैं।

इण सारू आपारी दीठ जठा ताई जावे, राजस्थान री ललित कलावा में जुग जुग री लोकसंस्कृति अर परंपरा दीखै। अठै री लोकसंस्कृति किणी भू भाग, किणी जाति, किणी कालखंड माय सीमित नी रेवे। आ तो विराट है। सगळी जगहा है सार्वगामिक है। जठा ताई मिनखा जूण है उण तांई है।

संदर्भ

1. रामेश्वरदयाल, मध्ययुगीन कृष्ण भक्ति और लोकसंस्कृति, पृ॰ 45
2. सत्येंद्र, ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ॰ 4
3. आद्याप्रसाद त्रिपाठी, सूर साहित्य में लोकसंस्कृति, पृ॰ 225
4. पी॰ए॰ लुंडबर्ग, फाउंडेशन ऑफ सोशियोलॉजी, पृ॰ 181
5. मुंशीराम शर्मा, वैदिक संस्कृति और सभ्यता, पृ॰ 295
6. रामेश्वरदयाल, मध्ययुगीन कृष्णभक्ति और लोकसंस्कृति, पृ॰ 205

Amba Lal Choudhary
80, Pando Ka Mohalla, Reneal Manji,
V/P - Reneal Manji, Teh.- Madhorajpura (Jaipur) Raj. 303904
Mob. 9649444461/ ambalaljat1985@gmail.com

जित खैंचे तित जाऊँ

डॉ॰ अंजली जोसफ
असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
निर्मला कॉलेज, मुवाट्टू पूजाए एर्णाकुलम,केरल.

आजकल दुनिया में कुछ ऐसी नई ताकतें उभर रही हैं जिनके काम के क्षेत्र, आयाम और प्रभाव दिन-व-दिन बढ़ते जा रहे हैं। यह बाजार की ताकत है। बाजार मानव समाज का अभिन्न अंग है। इसके बिना जीवन पहले भी असंभव था और अब भी। लेकिन आज के इस नव उपनिवेशवादी युग में बाजार का रूप दमनकारी, विकृत एवं भयावह हो रहा है। यह पूँजीवादी व्यवस्था का नया रूप है। वास्तव में यह बाजार पूँजीवादी वर्ग द्वारा अपने देश के विकास के लिए बनाई गई कुंजी है। आगे चलकर नव-पूँजीपतियों की यह दमनकारी रवैया बाजार की ताकत बन रही है। यहाँ से शोषण, दमन और दबाव का सबसे भयानक रूप शुरू होता है।

आज बाजार का दबाव बढ़ रहा है। यह ऐसा समय है जहाँ हर क्षेत्र बाजार से संबंध रखता है। बाजार को अपना सर्वस्व मानकर उसकी नीतियों को अपनाने लगता है। गिरीश मिश्र के अनुसार, 'मानव इतिहास में एक नया युग शुरू हुआ है जिसमें राष्ट्रीय सीमाएँ निरर्थक हो गई हैं और राष्ट्र राज्य की अवधारण कूड़ेदान में पली गई है। भूमंडलीय बाजार के तर्क की माँग है कि सभी देश अपने दरवाजे वस्तुओं और पूँजी के उन्मुक्त प्रवाह के लिए खोल दें। उनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं।"[1] जो भारत जैसे विकासशील देश के समक्ष नई-नई चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। बाजारीकरण और मुक्त बाजार के रूप में यह दानवी आकार भारत को चूस रहा है। इसमें संदेह नहीं है कि वर्तमान संदर्भ में भूमंडलीकरण का अर्थ व्यापक तौर पर बाजारीकरण है। उसने समस्त क्षेत्र में मुठभेड़ पैदा कर डाली है। फलस्वरूप मानव की सामजिक-आर्थिक-धार्मिक-शैक्षणिक-पारिस्थितिक ढाँचा विकृत हो रहा है। बाजार का संबंध मुनाफे से है, माँग और पूर्ति के सिद्धांत से है। इसके लिए अपनाने वाले तरीके समझ पाना बड़ा कठिन हो रहा है। इस प्रक्रिया को अपनाते हुए हर क्षेत्र धीरे-धीरे बदल रहा है।

बाजार और उसके दबाव से गुजर रहे भारतीय समाज और उसके बदलते मूल्यों का अंकन समकालीन हिंदी कहानियों में देख सकते हैं इन कहानियों में सामायिक स्थितियों को यथार्थ के स्तर पर उभारने की कोशिश की है। इन कहानीकारों में संजीव, उदय प्रकाश, वंदना राग, पंखुरी सिन्हा, चंदन पांडे, उर्मिला शिरीष, कैलाश बनवासी, जया जादवानी, गोविंद मिश्र, नीरजा माधव आदि के साथ कई और भी सक्रिय है। दरअसल, ये कहानीकार हिंदी कहानी को नया आयाम प्रदान करते हुए नए समय के विविध रूप चित्रित कर रहे हैं।

आज सारा संसार एक बाजार बन रहा है। हर चीज बाजार पर आधारित होती जा रही है। हर क्षेत्र इससे जुड़कर आगे चलता है। पूँजीवादी व्यवस्था बाजारवाद द्वारा उपभोगी संस्कृति को प्रश्रय दे रही है। इस उपभोक्तावादी बाजार के प्रभाव से धर्म की अवधारणाएँ, बदल रही हैं,

सामाजिक संरचना छूट रही है, पारिस्थितिक व्याकरण टूट रहा है। सब-कुछ मंडी के अनुसार बदल रहा है। कमल नयन काबरा के अनुसार, 'वास्तव में भूमंडलीकरण से मंशा हमारी सारी दुनिया को एक मंडी में तब्दील कर देना है, एक ऐसी दुनिया जो मंडी मात्र ही नहीं है, अपितु उसका संचालन भी मंडी की आंतरिक ताकतों द्वारा सामाजिक, विश्वीक जीवन के हर अन्य पक्ष को गौण और मंडी का पिछलग्गू बनाकर किया जाता है।'[2] अत: बाजार संपूर्ण क्षेत्र को अपने में समेट रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र को ही लें। आज वह बाजार से ज्यादा संबंध रखता है। शिक्षा मानवाधिकार है। समाज की बुनियादी आवश्यकता है। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव विकास है लेकिन आजकल शिक्षा बच्चों के विकास करने के बजाय उसे तनाव की स्थिति में डाल देता है। चंदन पांडेय की कहानी 'भूलना' बाजारवादी दौर में बच्चों पर होनेवाले दबाव का चित्रण है। परिवारवाले अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति बच्चों पर छोड़ देते हैं। हर आदमी अपने बच्चों को पढ़ाकर पैसे उगालने वाले यंत्र बना देना चाहता है। इसी क्रूर लिप्सा का शिकार है मध्यवर्गीय परिवार का होनहार लड़का गुलरान। उसके माध्यम से परिवार के सभी सदस्य अपनी-अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते थे। गुलशन इन लोगों के लिए मात्र साधन बन जाता है। 'भाई को लेकर जो हमारी सबसे क्रूर ख्वाहिश थी, वह अमीर बन जाने की थी।'[3] गुलरान की आशा-आकांक्षाओं का कोई मूल्य नहीं। वह हमेशा दीवार की ओर मुँह करके पढ़ता रहता और धीरे-धीरे अपने परिवेश को यहाँ तक कि खुद को भी भूलने लगता है। घरवाले भी भूल जाते हैं कि गुलशन नामक कोई मनुष्य उनके घर में है। 'हमारे बाहर, हमारे बीच में, हमारे भीतर कुछ ऐसा था जो निरंतर अपनी गति से घट रहा था, बस हमें इसकी खबर नहीं थी।'[4] स्वार्थलिप्सा संबंधों को भी नकार देती है। मध्यवर्गीय परिवार की आशाएँ उन्हें संवेदनहीन दुनिया में डाल देती हैं। उनके लिए गुलशन सिर्फ उपकरण है। इन सभी तत्त्वों के पीछे सुखवाद है। शिक्षा का उद्देश्य बदलता जा रहा है, जो कुछ अलग होता जा रहा है। यह भी बाजार का ही खेल है। अनिल कुमार पांडेय के शब्दों में, 'पूँजी के भूमंडलीकरण के इस दौर में, जिसमें एक वैश्विक बाजार बनाने और उस पर कब्जा जमाने की कोशिश पूँजीवाद और साम्राज्यवादी शक्तियाँ कर रही हैं, शिक्षा भी बाजार में बिकनेवाली वस्तु बन गई है और शिक्षित लोग भी एक संसाधन बन गए है, जिनका इशोगाल पूँजीपति अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए करते है।'[5]

धर्म हमारी संस्कृति का अंग है। जो मानव कल्याण के लिए निर्मित है लेकिन बाजारवादी युग में धर्म का आध्यात्मिक रूप कहीं खो गया है। बाजार अपनी फायदे के लिए धर्म का गलत इस्तेमाल करने लगा है। उसे मात्र भौतिक उन्नति का साधन बनाकर उसे मंडी का हिस्सा बना दिया है। पंखुरी सिन्हा की कहानी 'तीर्थयात्रा, अर्थशास्त्र और ईश्वर' में बिकते धर्म का चित्रण किया है। जब तक तीर्थयात्रा का सवाल है तब तक शेयर बाजार में धर्म का मूल्य गिरने की संभावना नहीं है। पैसा आज का देवता है। पैसे कमाने की होड़ में लोग वस्तु में तब्दील हो जाते हैं। बाजार लोगों की जरूरत समझकर और जरूरत न होने पर भी माल के लिए लालसा पैदा करता है। कहानी में हम देख सकते हैं कि तीर्थयात्रा में जाने के लिए किन-किन चीजों की जरूरत बनाई जाती है और उसे धर्म की आड़ में बेचा जाता है। 'देवी के लिए विभिन्न प्रकार के चढ़ावे की सामग्रियों की दुकानें ही नहीं, यात्रियों के अपने आराम के लिए भोजन-पानी की दुकानें यात्रा की याद में खरीदे जाने के लिए मंदिर और देवी की आदमकद तस्वीरों से लेकर छोटे-छोटे पोस्टकार्ड, चाभियों के रिंग्स फ्रिज पर चिपकाए जानेवाले रंग-बिरंगे मैग्नेंट्स इत्यादि की दुकानें और इन सबके अतिरिक्त लगभग हर दूकान पर बिकते लकड़ी की छड़ी के ढेर।'[6] वैश्वीकरण के दौर में भक्ति भी ग्लोबलाईस्ड है। धर्म

वाणिज्य है। वहाँ रीति-रिवाज केवल लिखित होता है। कहानी में बताया गया है, 'अरे ऐसा है साहब, जबकि रिवाज है कि कुछ भी खट्टा देवी को नहीं चढ़ाते, पर इस देवी को नहीं मानते न साहब, उनका तो धर्म दूसरा है।'[7] जमाना ऐसा आ गया है कि प्रसाद में भी मिलावट है। एक रेडिमेड संप्रदाय की तरह भक्ति मार्ग की मार्केट है। पैसा दो और प्रसाद लो। धर्म और मंडी के गठबंधन में नई उपभोग संस्कृति पैदा हो रही है। बाजार से संबंध रखकर लोगों पर धर्म का व्यावसायिक सिद्धांत थोपा जा रहा है। इसके दबाव में बाजारवाद को और अधिक पनपने का अवसर मिलता है। सुधीश पचौरी के मत में, 'पूँजीवाद बाजार और उसकी संस्कृति ने धर्म के परंपरागत रूपों को धक्का तो दिया किंतु यह भी सच है कि धर्म ने नई स्थितियों के अनुकूल फिर अपने को बदला। एक वर्ग के रूप में पूँजीपति वर्ग धर्म का 'नाशक' था किंतु उसने यह काम धर्म को अनुकूलित करने के जरिए किया है। एक वर्ग के रूप में उसकी विचारधाराओं ने संघर्ष के तत्त्व को खत्म कर सह-अस्तित्व के तत्त्व पर बल दिया है और धर्म को अनुकूलित करके उसे भी अपने उपभोग में लिया है।'[8]

वर्तमान बाजार संस्कृति संबंधों को महत्त्व नहीं देती है, यदि देती है तो सिर्फ अपने फायदे के लिए। हर चीज को व्यापार के नजरिए से देखने का यह परिणाम बाजारीकरण की देन है। बाजार के लिए व्यक्ति, व्यक्ति न होकर उपभोक्ता है। बाजार मूल्यों से नहीं मुद्रा से चलता है और मानवीय संवेदनाओं और भावनाओं से उसका कोई संबंध सरोकार नहीं है। इसका सही चित्रण कैलाश वनवासी की कहानी, 'बाजार में रामधन' में हुआ है। बाजार में केवल वस्तु मिलती है। वहाँ हृदय का कोई स्थान नहीं होता है। रामधन एक आम आदमी है, जिसमें संवेदनाएँ निहित हैं। उसका भाई उससे भी पढ़ा-लिखा है। उसकी आँखों में सिर्फ बिजनेस की चिंता है। रामधन के लिए बैल ही उसका संसार है लेकिन छोटा भाई बैल के स्थान पर ट्रैक्टर की फरमाइश करता है, जो भोगो-फेंको संस्कृति का नतीजा है। पुराने जमाने में तो बैल तथा कोई अन्य जानवर भी घर के सदस्य के रूप में पाले जाते थे। लेकिन आज उसे मात्र उपकरण के रूप में देखा जाता है। आखिर रामधन बैलों को बेचने के लिए मजबूरन बाजार में आता है। रामधन के लिए बैल परिवार के सदस्य के समान हैं। लेकिन बाजारवाद ऐसी मान्यताओं को स्वीकारता नहीं है। 'रामधन अपने बैलों से कह रहा है, देखो हो सकता है अगली हाट में मुन्ना तुम्हें लेकर आये।'[9] आम आदमी की संवेदानाओं और मूल्यों के लिए बाजार में कोई जगह नहीं है। वहाँ संबंध केवल क्रेता-विक्रेता मात्र का होता है। कहानीकार साधारण मानव की नियति की त्रासदी की ओर ही इशारा करते हैं। श्यामचरण दुबे के अनुसार, 'भारत में एक भोगवादी समाज विकसित हो रहा है, जो पश्चिम के अनुकरण में नए-नए उत्पादनों का अधिक-से-अधिक उपभोग करना चाहता है। उसकी जीवन शैली का आधार ही उपभोक्तावाद है, वह सुख की व्याख्या परिग्रह और उपभोग के मानकों से करता है। इस जीवनशैली में उपभोग के साथ प्रदर्शन और प्रतिस्पर्धा की भावना भी जुड़ी होती है।'[10]

बाजार ने स्त्री को भी एक भोग वस्तु के रूप में खड़ा कर दिया है। स्त्री के स्त्रीत्व, मातृत्व, पत्नीत्व के स्थान पर उसकी यौनिकता को प्रमुखता दी जा रही है। यौन व्यापार भूमंडलीकरण का ही नतीजा है। बाजारवादी संस्कृति ने नई मान्यताओं को पैदा किया है। बाजार में सब-कुछ बिकाऊ है, स्त्री भी। इसका जीता-जागता दस्तावेज है जया जादवानी की कहानी 'बाजार'। बाजार में औरत का मूल्य बहुत बड़ा है। ग्राहकों की रुचि के अनुसार यह चीज मिलती है। भूमंडलीय संस्कृति ने औरत को धन कमाने का मार्ग बनाया है। उसे सजाकर बाजार में लाया जाता है। गरीब से लेकर अमीर तक इनका उपभोग करते हैं। बाजार की विशेषता भी यह है कि माँग के अनुसार चीजें

मिलती हैं। 'घाघरे चोली में, लड़कियाँ, सलवार-कुर्ती में, साड़ियों में, पैंट्स में, सर्ट्स में, जींस में मोटी, पतली, लंबी, ठिगनी–इन बाजारों में आने से पूर्व मुझे अनुमान तक न था कि इतनी वैरायटी है इस संसार में।'[11] आज तो वैरायटी का जमाना आ गया है। एक ही चीज से वे ऊब जाते हैं। कुछ नया चाहिए। यही मानसिकता स्त्रियों के प्रति दिखती है। 'इस तरह के बाजार लोगों में सुप्त लालसाएँ जगाने में इतने कामयाब हो गए हैं कि अब उन्हें हर दिन कुछ नया मिलती और वे जानते हैं कि वैरायटी हमेशा घर से बाहर मिलती है।'[12] सुख की तलाश में लोग भटकते रहते हैं। सेक्स व्यापार आज एक बिजनेस है। यहाँ लड़कियों के एक रेट होते हैं, जो सभ्य समाज के बड़े-बड़े लोग तय करते हैं। स्त्री का इस प्रकार बिकाऊ माल में बदल देना वस्तुतः सुसंस्कृत समाज का वित्त हो जाना है। यह भी बाजार की चालाकी है। प्रभा खेतान बताती है कि 'नवबाजारवाद ने सेक्स उद्योग को नई प्रेरक शक्ति दी है। इसने इस व्यापार में शामिल औरतों तथा ग्राहकों की संख्या में वृद्धि की है तथा इसके चलते देह व्यापार ने गंभीर तथा न्यायसंगत व्यापार का लबादा ओढ़ लिया है।'[13]

मनुष्य प्रकृति का अंग है लेकिन बाजार से संबंध रखने से वह प्रकृति से बेगाना होता जा रहा है। जीवन को जीने योग्य बनानेवाली लय नष्ट हो रही है। जीवन का व्याकरण बिगड़ रहा है। प्रकृति से जुड़नेवाले यथार्थ में उसके सुख को महसूस करनेवाला व्यक्ति आज सामान्य नहीं कहलाता। काशीनाथ सिंह की कहानी 'सुख' इस विडंबना को बयान करती है। 'सुख' के भोलाबाबू सूरज को देखते हैं। वे सूरज सुख को महसूस करते हैं। उन्हें लगता है–'देखो दुनिया में क्या चीजें हैं, कितनी अच्छी चीजें हैं।'[14] वे इसे पत्नी को दिखाना चाहते हैं। पत्नी को उनके इशारे की दिशा में पहले सड़क दिखती है। फिर से दिखाया तो ईटों से लदी गधों की पाँत दिखती हैं। भोलाबाबू अपने इस सुख को जब दूसरों के साथ बाँटना चाहते हैं तो वह किसी की संवेदना का हिस्सा नहीं बनता। अंततः निराश भोला बाबू खाट पर निढाल पड़ जाते हैं। उन्हें लगता है कि वे बिलकुल अकेले पड़ गए हैं। कोई उनको नहीं समझता। वे कहते हैं, 'मेरा इस दुनिया में कोई नहीं है।'[15] यहाँ प्रकृति की ओर जानेवाले व्यक्ति की वह स्थिति है जिसमें आज के समाज को वह असामान्य लगता है। भोला बाबू के व्यवहार में अस्वाभाविकता जानकर उनके बीवी-बच्चे जोर से रोते हैं। भोलाबाबू भी रो पड़ते हैं। भोलाबाबू का रोना अधिक तेज है क्योंकि वह आज असामान्य होती जाती मानव जाति पर है। कहानी इस व्याकुलता को सामने रखती है कि मनुष्य प्रकृति से वेगाना होता जा रहा है तथा मानव जीवन का व्याकरण एवं संतुलन बिगड़ रहा है। इसके पीछे भी बाजार का हाथ है। गोविंद चातक कहते हैं कि 'आज समस्त उपभोक्ता वस्तुओं के बावजूद मनुष्य जो खालीपन पाता है, उसका कारण वह अप्राकृतिक वातावरण ही है जो मनुष्य ने प्रगति और विकास के नाम पर प्रकृति की उपेक्षा कर खड़ा कर रखा है। उसके लिए प्रकृति ने अपना मातृत्व खो दिया है या यों कहिए कि उसने प्रकृति को अपावन कर उसके मातृत्व को अस्वीकार कर दिया है।'[16]

संक्षेपतः समकालीन हिंदी कहानियों में बाजार और उसके दमन के सभी पहलुओं का ईमानदार एवं सच्चा चित्रण मिलता है। इन कहानियों में एक तरफ जहाँ बाजार के छद्म और उसके निर्मम चेहरे को उभारा गया है वहीं इस तथ्य की भी पुष्टि की गई है कि मानवीय संबंधों, जीवन आदर्शों एवं नैतिकता से बाजार का कोई सरोकार नहीं। बाजार का धर्म मात्र मुनाफा है। विश्वबाजार के फलस्वरूप भारत की आर्थिक-सामाजिक-शैक्षणिक-पारिस्थितिक संकट को इन कहानियों में देखा जा सकता है। बाजार के दुष्प्रभाव के साथ ही उसके विरुद्ध प्रतिरोध भी इन कहानियों के जरिए व्यक्त किया गया है।

 ISSN 0975-735X

संदर्भ

1. गिरीश मिश्र, बाजार, समाज और भूमंडलीकरण, वाक् अंक-2, पृ॰ 161
2. कमल नयन काबरा, भूमंडलीकरण विचार, नीतियाँ और विकल्प, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2004, पृ॰ 18
3. चंदन पांडेय, भूलना, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृ॰ 52
4. वही, पृ॰ 55
5. अनिल कुमार पांडेय, शिक्षा और भूमंडलीकरण, शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ॰ 42
6. पंखुरी सिन्हा, किरसा-ए-कोहनूर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृ॰ 89
7. वही, पृ॰ 96
8. सुधीश पचौरी, हिंदुत्व और उत्तर आधुनिकता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ॰ 32
9. कैलाश बनवासी, बाजार में रामधन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006, पृ॰ 19
10. श्यामचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ॰ 139
11. जया जादवानी, अंदर के पानियों में कोई सपना काँपता है, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ॰ 90
12. वही, पृ॰ 90
13. प्रभा खेतान, बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ॰ 120
14. काशीनाथ सिंह, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ॰ 71
15. वही, पृ॰ 78
16. गोविंद चातक, पर्यावरण और संस्कृति का संकट, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ॰ 41

मो॰ 9496332394
anjalymaria151@gmail-com

प्रवासी साहित्यकारों का हिंदी साहित्य में अवदान

धर्मवीर, असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
चौधरी बंसीलाल विश्वविद्यालय, भिवानी (हरि॰)

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में हिंदी प्रवासी साहित्य की उपस्थिति, उसका सर्वेक्षण और विवेचन उसके स्वतंत्र अस्तित्व के साथ उसकी प्रतिष्ठा एंव महत्ता का प्रमाण है। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक के अंतिम वर्षों में भारत जब स्वतंत्र हुआ तो हिंदी साहित्य में प्रवासी साहित्य का नामोनिशान भी नहीं था, किंतु इधर एक दो दशकों से हिंदी लेखकों, आलोचकों, संस्थाओं पत्र-पत्रिकाओं आदि में हिंदी में प्रकाशित प्रवासी साहित्य की चर्चा होने लगी है और दो-चार विरोधी स्वरों के बीच अधिकांश हिंदी लेखक उसके वैशिष्ट्य को स्वीकार करते हुए उसे हिंदी साहित्य की मुख्यधारा का विस्तार मानने पर बल देते हैं। गगनांचल पत्रिका के मार्च-अप्रैल, 2010 के अंक में प्रकाशित परिचर्या 'प्रवासी साहित्य : कितना प्रवासी, कितना साहित्य' में एक-दो लेखकों ने हिंदी प्रवासी साहित्य में द्विवेदी युग के साथ धर्म का प्रभाव देखा है और उनका कहना है कि उसमें परिपक्वता तथा आधुनिक चेतना का अभाव है। एक लेखिका का तो यहाँ तक कहना है कि प्रवासी साहित्य अद्य आए हुए लोगों का साहित्य है, न उसमें द्वंद्व है, न संघर्ष है और उसकी सार्थकता भी नहीं है, क्योंकि ये लेखक मंदिरों मठों में बैठकर चर्चा करते हैं। यह हिंदी प्रवासी साहित्य को देखने की नितांत एकांगी तथा पूर्वाग्रही दृष्टि है तथा इसकी भी कि ये लेखक प्रवासी संसार की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ हैं। इस परिचय के अधिकांश हिंदी लेखकों का यह मत है कि हिंदी प्रवासी साहित्य ने हिंदी लेखन को व्यापक बनाया है तथा उसे वैश्विक रूप प्रदान किया है। वास्तव में, हिंदी प्रवासी साहित्य तो हिंदी साहित्य की एक शाखा है और हम यदि इस शाखा को काट देंगे तो हिंदी की जड़ें कैसे मजबूत हो सकेंगी।

हिंदी भाषा और साहित्य की जड़े चाहे स्वदेश में हो या परदेश में, वह मजबूत तभी होंगी जब उसकी शाखाएँ फूलवती और फलवती होंगी। हिंदी प्रवासी साहित्य हिंदी के विराट संसार का अंग है। उसने अपनी विशिष्ट संवेदना, दृष्टिकोण, परिस्थिति और सृजन-प्रक्रिया के कारण प्रवासी हिंदी साहित्य को एक मौलिक रूप प्रदान करके हिंदी-संसार में अपना योगदान किया है। भारत में रचे जाने वाले हिंदी साहित्य से यह प्रवासी हिंदी साहित्य संवेदना, परिवेश और सरोकार में एकदम भिन्न है क्योंकि उनकी चिंताएँ, समस्याएँ तथा संघर्ष भारत के लेखक से भिन्न है। इस प्रकार हिंदी प्रवासी साहित्य दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है—एक तो वह अपनी मौलिकता और विशिष्टता रखता है और हिंदी साहित्य में कुछ नया जोड़ता है, दूसरे वह हिंदी साहित्य को वैश्विक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। किसी भी भाषा का प्रवासी साहित्य उस समाज के लोगों की प्रवास करने तथा यायावरी वृत्ति के स्वरूप पर निर्भर करता है। वैसे भी, मानव जाति के इतिहास में मनुष्य की इन दोनों प्रवृत्तियों ने उसकी सभ्यता व संस्कृति की रूप-रचना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। मनुष्य में यदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने, देखने और रहने की प्रवृत्ति न होती तो उसके जीवन का

 ISSN 0975-735X

स्वरूप निश्चय ही भिन्न होता। मानव जाति के इतिहास में प्रवास की दो प्रकार की प्रवृतियाँ मिलती हैं–स्वेच्छा से प्रवास और विवशता में प्रवास। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ इतिहास में मिलती हैं।

10 जनवरी 2003 को प्रवासी दिवस मनाए जाने के साथ ही दिल्ली में प्रवासी हिंदी उत्सव का श्री गणेश हुआ। 'प्रवासी हिंदी उत्सव' मनाकर ऐसे लोगों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया। जो विदेश में रहते हुए हिंदी में, साहित्य रच रहे थे। यह केंद्र सरकार और प्रादेशिक सरकारों का प्रयास सराहनीय है। भारत की प्रमुख पत्रिकाओं में भी प्रवासी विशेषांक प्रकाशित करके इन साहित्यकारों को भारतीय साहित्य की प्रमुख धारा से जोड़ने का काम किया।

प्रवासी शब्द का अर्थ

प्रवासी कवि डॉ॰ कृष्णकुमार ने भी प्रवासी शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है– 'प्रवास' शब्द 'वस्' धातु में 'प्र' उपसर्ग लगने से बनता है। 'वस्' धातु का प्रयोग' 'रहने' के अर्थ में हुआ है। 'प्र' उपसर्ग लगने से इसका अर्थ बदल जाता है। उन्होंने आगे कहा कि 'वामन शिवराम आप्टे' के द्वारा प्रमाणिक संस्कृत-हिंदी शब्दकोश के अनुसार 'प्रवास' शब्द का अर्थ गमन' है।

प्रवासी साहित्य की अवधारणा

प्रवासी लोगों के द्वारा जो साहित्य लिखा जाता, उसे ही प्रवासी साहित्य कहा जाता है। भारतीय मूल के विदेशों में रहने वाले लेखकों के सृजनात्मक लेखन को प्रवासी साहित्य कहा जाता है। जिन रचनाकारों ने हिंदी को माध्यम बनाकर साहित्य की रचना विदेशों में रहते हुए की, वो सारा साहित्य प्रवासी साहित्य के अंतर्गत आएगा। आजकल साहित्य में कई विमर्श प्रचलित हैं–जैसे स्त्री विमर्श, दलित-विमर्श आदि की तरह ही प्रवासी विमर्श ने भी अपनी जगह बना ली है। प्रवासी विमर्श के अंतर्गत रचनात्मक साहित्य अधिक लिखा गया है, इसके आलोचनात्मक पक्ष पर बल कम दिया गया है। कमलेश्वर ने प्रवासी साहित्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि 'रचना अपने मानदंड खुद तय करती है इसलिए उसके मानदंड बनाए नहीं जाएँगे। उन रचनाकारों की रचनाओं के मानदंड खुद तय होंगे।'

प्रवासी लोगों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

1. गिरमिटिया मजदूर
2. अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, कुशल अथवा अर्द्धकुशल मजदूर
3. सुशिक्षित मध्यमवर्गीय लोग

1. **गिरमिटिया मजदूर**–वे लोग हैं जो मजदूरों के रूप में फिजी, मॉरीशस, त्रिनिडाड, गुआना, दक्षिण अफ्रिका आदि देशों में भेजें गए थे।

2. **अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, कुशल अथवा अर्द्धकुशल मजदूर**–इस श्रेणी में 80 के दशक में खाड़ी देशों में गए अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित, कुशल अथवा अर्द्धकुशल मजदूर आते हैं।

3. **सुशिक्षित मध्यवर्गीय लोग**–तीसरी श्रेणी में 80-90 के दशक में गए सुशिक्षित मध्यवर्गीय लोग आते हैं। जिन्होंने अपने भौतिक जीवन को बेहतर बनाने के लिए प्रवास किया।

इस प्रकार तीन तरह की श्रेणियों में से साहित्य के वर्तमान समय में, अंतिम श्रेणी का ही प्रभुत्व ज्यादा दिखाई देता है।

गिरमिटिया मजदूरों की बाद की पीढ़ियों में से अधिकांश ने रोजगार व अन्य कई कारणों से हिंदी या भोजपुरी के अलावा दूसरी अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं को अपना लिया। मॉरीशस के अभिमन्यु अनत ही एक ऐसे लेखक हैं, जिनको उल्लेखनीय माना जाता है। इनके उपन्यास 'लाल पसीना' ने

काफी प्रशंसा पाई है। फिजी, त्रिनिडाड, अफ्रीका अथवा गुयाना से ऐसा कोई लेखक चर्चित नहीं हुआ जिसको प्रवासी लेखन में ख्याति प्राप्त हुई हो इन बाकी के दो वर्गों के लेखन को ही प्रवासी साहित्य की संज्ञा दी गई है। वस्तुत: पराए देशों में पराए होने की अनुभूति और उस अपरिचित परिवेश में समायोजन के प्रयास नॉस्टेल्जिया, सफलताएँ और असफलताओं के ही इस प्रवासी साहित्य को इसलिए 'संस्कृतियों के संगम की खूबसूरत कथाएँ' कहा है। हालाँकि यह केवल संगम नहीं है बल्कि कई अर्थों में तो मुठभेड़ है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि प्रवासी साहित्य नॉस्टेल्जिया के रचनात्मक रूपों का समुच्चय है। नॉस्टेल्जिया को प्रथम दृष्टया नकारात्मक मूल्य माना जाता है, परंतु यह उचित नहीं होगा। नॉस्टेल्जिया का अर्थ है–'घर की याद' या फिर अतीत के परिवेश में विचरना।

प्रवासी साहित्य में नॉस्टेल्जिया या पराएपन की अनुभूति, रचनात्मक यात्रा का केवल पहला चरण है। इसके दूसरे चरण में इस मन:स्थिति से संघर्ष शुरू होता है और तीसरे चरण में अपनी नई पहचान को स्थापित करने की जद्दोजहद दिखाई पड़ती है।

इन तीनों ही चरणों में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का चित्रण होता है। खान-पान, पहनावा, बोली-भाषा, पर्व-त्योहार का भी उल्लेख मिलता है। प्रवासी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, गजल आदि विधाओं को मुख्यत: लिया गया है। परंतु कहानी इस प्रवासी विमर्श की प्रमुख विधा बन गई है।

प्रमुख प्रवासी साहित्यकार

1. **मॉरीशस के प्रवासी साहित्यकार**

ब्रजेंद्र कुमार भगत 'मधुकर'–हमारे काव्य नायक डॉ॰ ब्रजेंद्र कुमार भगत का कवि के रूप में आविर्भाव इन्हीं परिस्थितियों के बीच हुआ। वे भगत परिवार के अंग थे और वह सांस्कृतिक व साहित्यिक अभिरुचि वाला परिवार था। मधुकर जी ने अपने बाल्यकाल, परिवार और काव्य संस्कार के बारे में कहा है, 'बचपन में जब कुछ-कुछ होश सँभाला तो अपने परिवार को एक संस्कृति के रूप में पाया। भरा-पूरा परिवार था । दादा का नाम मंगल नारायण भगत था। वे भारतीय थे। वे भाषाओं का अच्छा ज्ञान रखते थे। पिता का नाम लेखमन भगत था। एस॰एम॰ भगत और रामलाल भगत चाचा थे। लेकिन चाचा और भतीजे में कोई अलगाव या दूरी नहीं थी।

हम सब साथ में हिंदी पढ़ते थे। पिताजी तो हिंदी जानते ही थे। शुरू में उन्होंने 'खूब पढ़ाया। बाद में एक भारतीय से हिंदी पढ़ने का अवसर मिला। उनका नाम था रामवंश त्रिवेदी। यह बात सही है कि मैंने कविता लिखने में ज्यादा रुचि ली है और मुझे कवि कहलाना ही ज्यादा अच्छा लगता है। बात यह है कि घर में तो सांस्कृतिक वातावरण था ही, तो वहीं से मन में कविता लिखने का बीज अंकुरित हो गया था।

'मधुकर' जी की काव्य-यात्रा 'मधुपर्क' (1998) से आरंभ होती है और अंत मधु प्रमाण' (2002) से होता है। 'मधुकर' जी की रचनाओं में राष्ट्र-प्रेम, हिंदू-प्रेम, भारत-प्रेम, हिंदी-प्रेम, मानवता-प्रेम, स्वाधीनता- प्रेम, गिरमिटिया-प्रेम, प्रकृति-प्रेम स्पष्ट दिखाई देता है। 'मधुकर' जी भारत के झंडे की स्तुति करते हैं 'रागिनी' काव्य-संग्रह में–

तीन रंग का झंडा प्यारा, आजादी का चिह्न हमारा।
तीस कोटि का तन-मन सारा, भारत का है भाग्य सितारा।।

'मधुकर' जी की मुख्य कृतियाँ हैं–मधुपर्क (1998), रागिनी (जुलाई, 1949), मधुकरी

(1953), हमारा देश (1963), रसरंग (1963), घुरहू मौसा के सनेस (1963), अमर संदेश (1963), गुंजन (1963), रणभेरी (1967), वंदेमातरम् (1967), एक कहानी कुली की (1968), स्वराज्य गीतांजलि (1968), मधुकलश (1970), रसवंती (1970), सर शिवसागर रामगुलाम (1970), मधुबन (1970), हिंदी गौस गान (1770), मधुमास (1971), स्वागत गान (1971), गोस्वामी तुलसीदास (1973), मधुचक्र (1973), विजय गान (1975), जय हिंदी (1976), मधुदीप (1984), अमर कुली गाथा (1984), मधु बहार (1995), मधुश्री (1995), मधुबाण (1986), मधु व्यंजना (1989), मधु मंजरी (1988), मधु गुंजार (1989), माधुरी (1989) ऐसी अनेक रचनाएँ उन्होंने लिखी हैं। उनकी अंतिम कृति 'मधु प्रयाण' (2002) है।

अभिमन्यु अनत–अभिमन्यु अनत मॉरिशस के हिंदी साहित्य के इतिहास में एक संपूर्ण युग है। वह एक नए युग का शुभारंभ भी करता है और इस नए युग को विभिन्न दिशाओं में विकासमान बनाते हुए मॉरिशस से बाहर अपने देश के हिंदी साहित्य को प्रतिष्ठित, प्रचारित और सम्मानित कराता है। यह मॉरिशस के हिंदी साहित्य का 'अभिमन्यु अनत युग' है।

अभिमन्यु देश-प्रेमी हिंदू हैं, हिंदु-धर्म-कांड भी सपरिवार करता है, परंतु वह हिंदु-धर्म का प्रचारक नहीं है। वह एक प्रकार से धर्म की अमानवीयता का विरोधी है। वह मानव के मूलभूत अधिकारों का समर्थक एंव प्रचारक है। उसे सत्ता से घृणा है, परंतु आम आदमी के सुख-दु:ख से प्रश्न करने का साहस रखता है। वह पूर्वजों की पीड़ा का गायक है; स्वतंत्र मॉरिशस की पीड़ा का भी गायक है। अतीत, वर्तमान और भविष्य उसके जीवन और साहित्य का अंग है। वह लेखक का धर्म निभाता है–राष्ट्र जागरण का, मानवीय चेतना के विकास का, स्वतंत्रता के समान एवं भेदभाव रहित सदुपयोग का, संस्कृति के मूल्यवान उपादनों की रक्षा के साथ विधर्मी संस्कृति के निषेध का तथा आम आदमी के कल्याण का। अभिमन्यु अनत के में मॉरिशस की सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक, सांस्कृतिक, अन्य उपन्यासों धार्मिक आदि परिस्थितियों का व्यापक चित्रण हुआ। इनके 32 उपन्यास, 5 कहानी-संग्रह, 5 नाटक, 4 कविता- संग्रह, 3 जीवनी, 1 अनुवाद, 4 संपादकीय ग्रंथ, एक प्रतिनिधि संकलन तथा लगभग 10 कृतियाँ प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं।

2. **अमेरिका के प्रवासी साहित्यकार**

डॉ॰ अंजना संधीर–डॉ॰ संधीर विवाहोपरांत जनवरी, 1995 में अपने पति के साथ अमेरिका गईं और घर, परिवार, भाई-बंधु तथा साहित्यिक संसार से बिछुड़ने की भी व्यथा साथ लेती गईं। अमेरिका में रहते हुए उन्होंने अनुभव किया कि भारत में रहकर जैसा हमें अमेरिका दिखाई देता है, वह उससे एकदम भिन्न है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, संस्कृति तथा धर्म आदि में भी भारतीय वहाँ स्वयं को विपरीत पाता है और वह मानने लगता है कि वह पाताल लोक में आ गया है। भारत की तुलना में सब-कुछ विपरीत है, और घर-परिवार भाई-बंधुओं तथा प्रिय मित्रों को छोड़कर आने वाले प्रत्येक भारतीय को एक बार तो आघात लगता है। यदि ऐसा भारतीय कवि या लेखक हुआ तो उसकी संवेदनाओं पर गहरी चोट लगती है। वह इस महासमूह में अकेला है, कोई उसका मित्र या हमदर्द नहीं हैं; यहाँ तक कि उसका कोई पड़ोसी भी नहीं है जिससे वह कभी-कभी बात करके हल्का हो जाए या अपने अकेलेपन को उसके साथ दूर कर सकें

डॉ॰ अंजना संधीर ऐसी विकट परिस्थितियों तथा जीवन-शैली वाले देश अमेरीका में पहुँची तो वे एक बार हतप्रभ तो हुई, लेकिन अपने भारतीयपन को उन्होंने जीवित रखा तथा अपने कवि को अमेरिकन जीवन तथा वहाँ के भारतीय प्रवासी समाज से जोड़ने का पूरा प्रयास किया। अमेरिका

में हिंदी भाषा और साहित्य का वातावरण पहले से था ही, और जब भारतीय दूतावास तथा वहाँ के हिंदी-प्रेमियों को उनके कवयित्री होने की जानकारी मिली तो चारों ओर से उनकी माँग होने लगी कि आप आएँ और अपनी कविताएँ श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करें। डॉ॰ अंजना संधीर ने जब 'हिंदू सेंटर के सभागार में अपनी प्रसिद्ध कविता–'अमेरिका हड्डियों में जम जाता है' पढ़ी तो वहाँ उपस्थित प्रवासी भारतीयों की आँखें नम हो गईं और घर-परिवार से हजारों मील दूर रहने की व्यथा मन को व्यथित हो उठी।

इस प्रकार डॉ॰ अंजना संधीर ने सभी प्रवासी भारतीयों के मन को झनझना दिया और उनकी कविता सबकी कविता बन गई। वे प्रवासी भारतीय समाज के साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों की अनिवार्य अंग बनीं और उनकी अमेरिका में रहते हुए निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुईं–

1. तुम मेरे पापा जैसे नहीं हो (1997)

2. प्रवासी हस्ताक्षर (अमेरिका के 22 प्रवासी हिंदी कवि/कवियित्रियों की 133 कविताओं का संकलन, 1997)

3. धूप छाँव और आँगन (गजल-संग्रह, 1999)

4. ये कश्मीर है (अमेरिका के 23 प्रवासी हिंदी कवियों व कवयित्रियों की कश्मीर पर लिखी 70 कविताएँ, 2001)

5. अमेरिका एक अनोखा देश (2003)

6. अमेरिका हड्डियों में जम जाता है (2003)

प्रो॰ नीलू गुप्ता–प्रो॰ नीलू गुप्ता हरियाणा के फरीदाबाद के रहने वाली हैं। ये लंबे समय से केलिफोर्निया (अमेरिका) में रह रही हैं। इनकी शिक्षा एम॰ए॰ हिंदी, दिल्ली विश्वविद्यालय से हुई है। वर्तमान में 'डि एंजा कॉलेज, कुपरटीनो' में अफसर के पद पर कार्यरत हैं। विदेश में होते हुए भी वे अपनी जन्मभूमि को नहीं भूली हैं। वे समाज सेवा में अग्रणी रहती हैं। भारत में साधनहीन बच्चों की शिक्षा के लिए अपनी संस्था 'उपमा ग्लोबल' के द्वारा वित्तीय सहायता का प्रावधान करती हैं। उनको महामहिम राष्ट्रपति जी द्वारा 'प्रवासी भारतीय सम्मान' से भी सम्मानित किया गया है। अमेरिका में प्रेसीडेंट बाइडन द्वारा उन्हें कम्यूनिटी सेवा 2021 के लिए सम्मानित किया गया।

प्रो॰ नीलू गुप्ता जी को 'हिंदी नागरी प्रचारिणी सभा, दिल्ली', 'संस्कृत भारती, दिल्ली', 'साहित्यिक-सांस्कृतिक शोध संस्था, मुंबई', 'भारतीय कोन्सलानास, केलिफोर्निया' द्वारा विशेष सम्मान, 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति, अमेरिका' इत्यादि के द्वारा राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुए हैं। उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं–जीवन फूलों की डाली, मेरे देश की धरती (काव्य-संग्रह), गगन उजियारा (हाइकु-संग्रह), सरल हिंदी भाषा, सरल हिंदी भारती, अहा हिंदी (कहानी-संग्रह।

3. इंग्लैंड के प्रवासी साहित्यकार

दिव्या माथुर–भारत से बाहर रहकर हिंदी में लेखन कार्य करने वाली लेखिकाओं में दिव्या माथुर का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। वे लगभग 15 वर्षों से इंग्लैंड में हैं और उन्होंने हिंदी को अपनी सर्जनात्मकता की भाषा बनाया है। यह उनकी हिंदी के प्रति निष्ठा के साथ हिंदी की क्षमता का प्रतीक भी है कि वे इस भाषा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए पूर्णत: सक्षम तथा अनुकूल पाती हैं। इंग्लैंड में रहते हुए हिंदी में रचना करके वे मातृभाषा को न केवल गौरव प्रदान करती हैं, बल्कि हिंदी को विश्व रंगमंच पर स्थापित करने में भी अपना योगदान करती हैं।

दिव्या माथुर तीन कविता-संग्रह 'रेत का लिखा', 'अंत: सलिला' तथा 'खयाल' प्रकाशित

 ISSN 0975-735X

हो चुके हैं। कवयित्री के 'खयाल' तथा नवीनतम कविता-संग्रह 'रेत का लिखा' में यह समानता है कि एक राग और एक वस्तु को लेकर विभिन्न दृष्टियों, मुद्राओं तथा संवेदनाओं से कविताओं की रचना की गई है। 'खयाल' कविता-संग्रह में 'खयाल' राग पर आधारित 108 कविताएँ संकलित हैं और इस 'रेत का लिखा' में रेत पर लिखी गई 19 कविताएँ दी गई हैं। इससे स्पष्ट है कि दिव्या, माथुर किसी एक विषय को केंद्र में रखकर उसके विभिन्न पक्षों तथा रूपों को अपनी काव्यात्मक दृष्टि एवं संवेदना से आत्मसात् करके उन्हें जीवंत शब्दों में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती हैं। यह काव्यात्मक क्षमता उनकी सर्जनात्मक कल्पना की घनीभूतता का प्रमाण है।

दिव्या माथुर की संवेदनाएँ कई स्थलों पर इतनी घनीभूत हैं कि उन्हें रेल और अपना जीवन एक जैसा प्रतीत होने लगता है–'कब समझूँगी रेत हूँ मैं/ और बाहर/ सब है रेगिस्तान।'

4. **जर्मनी के प्रवासी साहित्यकार**

डॉ॰ शिप्रा शिल्पी–विगत एक दशक से जर्मनी के कोलोन शहर में निवास करने वाली शिक्षाविद, पत्रकार, साहित्यकार, अनुवादक, संपादक एवं मीडिया प्रोफेशनल डॉ॰ शिक्षा शिल्पी सक्सेना हिंदी साहित्य एंव जनसंचार पत्रकारिता विभाग के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया विषय में डॉक्टरेट हैं। लखनऊ दूरदर्शन आकाशवाणी में लंबे समय तक कार्य कर चुकी डॉ॰ शिप्रा शिल्पी, पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष (फैजाबाद विश्वविद्यालय भारत) के रूप में कार्य कर चुकी हैं। उन्होंने वैश्विक हिंदी एवं अनुवाद संस्थान, सृजनी ग्लोबल चैनल, International Translation and Creative Writing Club एवं Gluck Media and ad lobs फाउंडेशन की संस्थापक हैं। भारतीय कौसलवास न्यूयॉर्क की आधिकारिक हिंदी पत्रिका 'अनन्य-जर्मनी', 'साहित्य समाचार पोर्टल, यूरोप एवं बहुभाषायी और बहुराष्ट्रीय पत्रिका 'प्रज्ञान-विश्वम' की संपादक तथा 'विश्वरंग' जर्मनी की हैड कॉर्डिनेटर हैं। साथ ही विडर्सडोर्फ हिल्के सोसाइटी, Blau & Gelbes Kreuz e.v की सक्रिय सदस्य हैं। डॉ॰ शिप्रा शिल्पी एक दशक से हिंदीशाला, सृजनी एवं अनुवाद क्लब के माध्यम से हिंदी भाषा, भारतीय पारंपरिक लोकगीतों, मेडिटेशन, योग, फिल्म मेकिंग, संपादन, रंगमंच, चित्रकारी का शिक्षण एवं भारतीय संस्कृतिक एवं साहित्य से संबद्ध काव्य गोष्ठियों, वार्ताओं साक्षात्कार आदि एवं भारतीय व्यंजनों की कार्यशालाओं का आयोजन भी करती हैं। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल द्वारा युवा प्रतिभा सम्मान से सम्मानित डॉ॰ शिप्रा शिल्पी अपनी कविताओं, कहानियों, गीतों, आलेखों आदि विधाओं के लिए भारतीय दूतावास जर्मनी, कनाडा, अमेरिका, पोलैंड, यूनिसेफ, खेल मंत्रालय, विज्ञान एवं औद्योगिक, पृथ्वी एवं शिक्षा मंत्रालय भारत द्वारा अनेक सम्मानों से सम्मानित की गई हैं। वर्ष 2022 में उनको गुजरात साहित्य फेस्टिवल में 'प्रवासी सृजन अमृत सम्मान' से सम्मानित किया गया है। डॉ॰ शिप्रा शिल्पी वर्तमान में International Priedenshute Koln में मीडिया इंस्ट्रक्टर के पद पर कार्य कर रही हैं। 'दिन-प्रतिदिन' समाचारपत्र परिवार अपने-आपको गौरवान्वित महसूस करता है कि डॉ॰ शिप्रा शिल्पी उनके साथ एक लंबे समय से जुड़ी हुई हैं। डॉ॰ शिप्रा शिल्पी की उपलब्धियों पर सभी देशवासियों को गर्व है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रवासी हिंदी साहित्य एक भिन्न संवेदना एवं सरोकर का आस्वादन कराता है। भारत के हिंदी पाठक व शोध-कर्ताओं के लिए यह एक नई दिशा है, इस विषय में शोध की अपार संभावनाएँ हैं। शोधकर्ताओं के लिए ऐसे विषय पर शोध करना गर्व का विषय होना चाहिए। भारतीय हिंदी साहित्य की तुलना में प्रवासी हिंदी साहित्य बहुत छोटा है। प्रवासी जीवन को प्रवासी हिंदी साहित्य के माध्यम से साहित्यकारों ने अलग-अलग ढंग से प्रकट किया है।

उनकी अभिव्यक्ति की शैली भी एक-दूसरे से नितांत भिन्नता लिए हुए हैं। प्रवासी साहित्य विदेश में रह रहे विभिन्न भारतीयों की यथास्थिति का चित्र खींचता है, उनके जीवन की गाथा प्रस्तुत करता है। यह विषय नई पीढ़ी द्वारा हिंदी के प्रवासी हिंदी साहित्य के विकास, प्रोत्साहन, अध्ययन व मूल्यांकन में सहायक सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. डॉ॰ नवनीत कौर, प्रवासी हिंदी साहित्य: वैश्विक परिदृश्य, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला, 2017, पृ॰ 27-28-29
2. वही, पृ॰ 90, 95
3. वही, पृ॰ 233
4. कमल किशोर गोयनका, प्रवासी साहित्य, प्रथम संस्करण 2011, पृ॰ 15
5. वही, पृ॰ 23
6. वही, पृ॰ 112,127
7. वही, पृ॰ 163,167, 170, 171,177, 213
8. वही, पृ॰ 415
9. वही, पृ॰ 494, 495

मो॰ 9813991691
dharamviraryavart@gmail.com

ISSN 0975-735X

हिंदी साहित्य में गीतिनाट्य परंपरा का वैशिष्ट्य

दिलीप कुमार, शोधार्थी
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

नाट्य परंपरा साहित्य की प्राचीनतम विधा है। नाट्य साहित्य के अंतर्गत गीतिनाट्य की अपनी एक विशिष्ट पहचान एवं स्वतंत्र सत्ता है। विधान की दृष्टि से गीतिनाट्य भी एकांकी नाटकों के अंतर्गत परिगणित हो सकते हैं किंतु अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण इन्हें नाटकों से एक पृथक विधा मानना ही समीचीन है इनमें भावों की एकरूपता, काव्यात्मक एवं गीति-तत्त्वों का प्राधान्य होता है। गीतिनाट्य का संपूर्ण कथानक गेय होता है, इसका अभिनय संगीतमय मानसिक भावों का एक-दूसरे के साथ संघर्ष अनिवार्य तत्त्व दर्शाता है। नृत्य नाटक पात्रों की वेशभूषा, रंगमंच की सजावट, प्रकाश के पट और प्रबंध पर भी बल दिया जाता है, किंतु गीतिनाट्य में कविता का प्रभाव अन्य प्रभावों से विशेष महत्त्वपूर्ण होता है, मानसिक भावों का एक-दूसरे के साथ संघर्ष में समस्त परिभाषाओं का आभाव मिट जाता है।

गीतिनाट्य का अर्थ है ऐसा नाटक जो गीतों के माध्यम से अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जा सके गीतिनाट्य के नाम संबंधी अनेक मत प्रचलित हैं यथा–काव्यनाट्य, पद्यनाट्य, कविता नाटक आदि नाम गीतिनाट्य के समानार्थी हैं। गीतिनाट्य का नामकरण गीत और नाट्य दो शब्दों से मिलकर बना है जिसके अंतर्गत नाटक के सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं इनकी कथावस्तु किसी भी क्षेत्र से ग्रहण की जा सकती है। यह एक साहित्य की महत्त्वपूर्ण एवं अलग विधा है। पौराणिक मान्यताओं, ऐतिहासिक एवं काल्पनिक पात्रों के माध्यम से सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना गीतिनाट्य करते हैं गीतिनाट्य में चित्रित समस्याएँ आज भी हमारे सामने उपस्थित हैं। गीतिनाट्यों का मंचन नाटकों से बेहतर ढंग से अभिनय किया जाता है, गीतिनाट्य जहां काव्यानंद प्रदान करते हैं वहीं पर अभिनीत गीतिनाट्य नाटक, काव्य और संगीत तीनों का ही आनंद देते हैं।

वस्तुत: गीतिनाट्यों की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे युगीन यथार्थ के साथ-साथ आक्रोश, क्रांति और उपेक्षित आम आदमी के वैचारिक चिंतन तथा दर्शन को स्थापित करने में समर्थ हुए हैं।

हिंदी गीतिनाट्यों की परंपरा के विषय में अनेक आलोचकों एवं समीक्षकों ने समय-समय पर अपने मत प्रस्तुत करने के प्रयास किए गए हैं। सबसे प्रमुख विवाद का विषय हिंदी का प्रथम गीतिनाट्य है डॉ॰ नगेंद्र और शकुंतला दुबे गीतिनाट्य को आधुनिक काव्य की विधा मानकर 'करुणालय' को हिंदी साहित्य का प्रथम गीतिनाट्य मानते हैं। कतिपय आलोचक 'इंद्रसभा' को प्रथम गीतिनाट्य स्वीकार करते हैं आलोचकों के इस चक्र में ऐसा एक वर्ग भी है जो लोकनाट्य परंपरा में लिखे गए ब्रजभाषा नाटकों को इनका पूर्वज मान लेता है। कुछ आलोचक 'लीला' (मैथिलीशरण गुप्त) को प्रथम गीतिनाट्य की श्रेणी में रखते हैं इसकी रचना 'करुणालय' के पूर्व हुई थी लेकिन 1919 ई॰ में प्रकाशित होने के कारण यह 'करुणालय' के बाद की रचना हो जाती है।

भारत में गीतिनाट्य विधा का प्रारंभिक सूत्र वैदिक नाटकों में मिलता है। हिंदी में गीतिनाट्य की परंपरा प्राचीनकाल से चली आ रही है। हिंदी गीतिनाट्यों के आविर्भाव के लिए उस समय की परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गीतिनाट्यों का विकास आज भी प्रगति की ओर अग्रसर है इसकी लोकप्रियता के संबंध में शिवशंकर कटारे इस प्रकार लिखते हैं, 'गीतिनाट्य जहाँ एक ओर मंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत किए जाते हैं, वहीं रेडियो के माध्यम से वे श्रोताओं को आह्लादित करते हैं। पाठ्य गीतिनाट्य जहाँ काव्यानंद प्रदान करते हैं वहाँ अभिनेय गीतिनाट्य नाटक, काव्य और संगीत तीनों का आनंद देते हैं।'[1]

हिंदी में जितने भी गीतिनाट्यों की रचना हुई है उन सबको चार भागों में बाँटा जा सकता है–

1. द्विवेदी युगीन गीतिनाट्य
2. छायावाद युगीन गीतिनाट्य
3. छायावादोत्तर गीतिनाट्य
4. स्वातंत्र्योत्तर युगीन गीतिनाट्य

प्रसाद जी कृत 'करुणालय' से गीतिनाट्य का आरंभ होता है। इसके बाद द्विवेदी युग के कई लेखकों ने गीतिनाट्यों की रचना की जिसमें मैथिलीशरण गुप्त, आनंदी प्रसाद और सियाराम शरण गुप्त प्रशंसनीय हैं।

दिवेदी युग के पश्चात छायावाद युग में गीतिनाट्यों की रचना प्रगति में रही जहाँ द्विवेदी युगीन गीतिनाट्य राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थे वहीं छायावाद युगीन गीतिनाट्य किसी-न-किसी विचारधारा से प्रभावित रहे हैं इस काल के प्रमुख गीतिनाट्यकार पंत, केदारनाथ मिश्र और हरिकृष्ण प्रेमी हैं।

छायावादोत्तर युगीन गीतिनाट्य पूर्ववर्ती नाट्यों से सुंदर बन पड़े हैं, समस्याओं का चित्रण एवं उनका समाधान भी इस समय के गीतिनाट्यों में मिलता है।

'मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना इस युग के गीतिनाट्यों की विशेषता है।'[2] इस काल के गीतिनाट्यकारों में भगवतीचरण वर्मा और उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं।

स्वातंत्र्योत्तर गीतिनाट्यों में युद्ध और उससे उत्पन्न कुंठाओं और अनास्था का वर्णन है। युद्ध की कटुताओं से जनमानस का चित्रण कुछ रचनाओं में देख सकते हैं। इस काल में प्रयोगवादी लेखकों ने शैली में नए-नए प्रयोगों को अपनाकर गीतिनाट्यों में इनका सफल प्रयोग किया है। अभिनेयता इस काल के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। वे कल्पनालोक में विचरण न करके यथार्थ के धरातल पर समस्याओं का समाधान ढूँढते हैं।

गीतिनाट्य में व्यक्तिवादिता के स्थान पर सामाजिकता को महत्त्व प्रदान किया गया है। बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय उनमें प्राप्त होता है। इस काल में अनेक काल्पनिक गीतिनाट्य लिखे गए हैं। सांप्रदायिक समस्याओं को लेकर लिखित गीतिनाट्य भी इस काल की प्रमुख विशेषता है। तथा कथानक की दृष्टि से समकालीन हिंदी गीतिनाट्य सर्वथा नवीन है। इस काल के गीतिनाट्यों की प्रमुख विशेषता अभिनेयता है। अधिकांश नाटक रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं। रचनाओं में नाट्यत्त्व और काव्यत्त्व एकाकार हो गए हैं। तात्विक दृष्टि से भी ये गीतिनाट्य सफल हैं।

युग चेतना का निरूपण साहित्य का धर्म है। युग का अर्थ है–तत्कालीन समय/काल तथा

चेतना का अर्थ है अस्मिता।

धीरेंद्र वर्मा के अनुसार, 'चेतना मानस की प्रमुख विशेषता 'चेतना' है अर्थात् वस्तुओं, विषयों एवं व्यवहारों का ज्ञान चेतना की प्रमुख विशेषताएँ हैं। निरंतर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य।'[3]

युग चेतना, किसी भी काल की धड़कन, स्पंदन, धाराप्रवाह, स्थितियाँ, परिस्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, जीवन, जड़-चेतन आदि दृष्टिकोणों का नाम है।

किसी भी समय अर्थात् गीतिनाट्यों की रचना के दौरान या कथानक के दौरान जिस युग के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्तर पर हुए इस घटनाक्रम में लिए गए निर्णय, स्थितियाँ आदि युग चेतना है।

'काल या समय के परिवर्तन के साथ-साथ युग चेतना बदलती रहती है। समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म दर्शन, अध्यात्म, नैतिकतावाद और विज्ञान आदि का स्वरूप जिस युग में जैसा रहता है ठीक उसी रूप में ग्रहण कर अभिव्यक्त करना कवि, कथाकार एवं नाट्यकार के साहित्य की युग चेतना कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में युग भावनाओं की अभिव्यंजना साहित्य में युग चेतना की संज्ञा पाती है।'[4] साहित्य में युग चेतना की सत्ता स्वयंसिद्ध है। युग चेतना साहित्य और समाज दोनों को प्रभावित करती है। अर्थात् उससे प्रभावित रहती है। साहित्य युग का पथ-प्रदर्शक अग्रगामी होता है और युग चेतना इसमें उसकी सहयात्री है।

हिंदी गीतिनाट्यों की परंपरा मूलत: नाट्यशास्त्र से ही उपजी है लेकिन वर्तमान में गीतिनाट्यों का जो रूप प्रचलित है वह पश्चिम की देन है।

तत्कालीन युगीन परिवेश को आधार रखकर गीतिनाट्यकारों ने समय के साथ नवीन परिवर्तन करते हुए मौलिक गीतिनाट्यों की रचना की। जिससे आज गीतिनाट्यों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व व सत्ता है साथ ही यह हिंदी साहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित है।

'गीतिनाट्य अंतर्जीवन के सौंदर्य, मानसिक अंतर्द्वंद्व तथा तनाव के अंत:संघर्ष से युगीन समस्याओं की व्यंजना करता है। भावों के सूक्ष्म और सौंदर्य का रहस्योद्घाटन और जीवन में परिव्याप्त युग सत्यों की गंभीर व्याख्या करने में गीतिनाट्य पूर्ण सक्षम है।'[5]

गीतिनाट्यों में कथानक व चरित्रों के रूप में गृहित इतिहास और पुराणों के ये मिथक युग-चेतना के इस छोर से उस छोर तक परिव्याप्त काल के आयामों को न केवल रेखांकित करते हैं, वरन् गीतिनाट्यकार की दृष्टि की व्यापकता के द्वारा नए अर्थ प्राप्त करते हैं उनका ध्येय व्यंजना के स्तर पर युग-चेतना की फलक पर अपने समय की समस्याओं से वैचारिक अंतर्द्वंद्व से तथा व्यक्ति की गहरी अस्मिता से संबंधित है इस प्रकार के कथानक चाहें पुराणाश्रित हों या वर्तमान से जुड़े हों, लेकिन उसकी आत्मा और साँसें युग-चेतना से ही अभिभूत होंगी।

गीतिनाट्यों के सौंदर्य विधान का निरूपण करते हुए पीकॉक महोदय कहते हैं कि 'किसी भी गीतिनाट्य के चरम उत्कर्ष के लिए तीन तत्त्वों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। पुराण कथा केंद्र चरित्रों की सशक्त मनोवैज्ञानिक वास्तविकता और कलात्मक, मानसिक चरित्र पृथक् तत्त्व से नाटक में उस रहस्य भाव का स्फुरण होता है, जो कि हमारे हृदय में आदिकाल से विद्यमान है और जिसके प्रति हमारे मन में भावनात्मक अनुकूलत्व (इमोशनल रेस्पान्स) उठा रहता है। चरित्रों की मनोवैज्ञानिक वास्तविकता से जीवन की वास्तविक स्थितियों का विश्वसनीय चित्र खींचा जाता है और सूक्ष्म मानसिक चित्रों द्वारा संपूर्ण नाटक की कार्यशीलता में हमारे केंद्रीय भाव से संबंध भावों

की अभिव्यक्ति मिलती है।'[6]

जहाँ इन तीन तत्त्वों का सहयोग प्राप्त हो जाता है वहाँ निश्चित ही गीतिनाट्य, कला के चरम सौंदर्य की अभिव्यक्ति संभव है।

गीतिनाट्यों के सौंदर्य विधान का प्रधान आधार मनुष्य का अंतर जीवन है, इसलिए उसकी विषयवस्तु मनुष्य के तीव्र मनोभाव है जिनकी अभिव्यक्ति वह काव्यतत्त्व का योग से करता है जीवन के भावनात्मक क्षणों एवं उनसे संबंधित घटनाओं पर गीतिनाट्य अपने कथानक का निर्माण करता है।

गीतिनाट्यकार नरेश मेहता ने 'महाप्रस्थान' गीतिनाट्य में प्रस्थान पूर्व इसी सत्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि 'मुझे यह संसार, सृष्टि, संगीत के पर्याय लगते हैं। धूप मेरे लिए वस्तुत: धूप न होकर जौनपुरी का आलाप लगती है इसलिए जहाँ रामायण मुझे भारतीय एकांतिका की कोमलकांत भैरवी या ब्रह्म मुहूर्त के पूर्व की ब्राह्मणी विहाग लगती है वहाँ महाभारत भारतीय समवेतता का उदात एवं असंगत भैरव या अग्नि काषायी शंकरा लगता है इसी संगीत वाकोत्सव को मैंने अपने व्यक्तित्व के अनगढ़ इकतारे में एक सुगंधित अनुष्ठान के रूप में संपन्न होने दिया है, फलत: अनायास ही मेरे असिद्ध कष्ट से भी कभी कोई आलाप फूट पड़ता है मुझे लगता है कि यह सर्वथा संभव है कि पौराणिकता के व्यूह का भेदन करके उसमें घिरी या अभिव्यक्त जीवन दृष्टि को पुन: आधुनिक संदर्भ दिया जा सकता है।'[7]

डॉ॰ नगेंद्र ने मानसिक (आंतरिक) संघर्ष को गीतिनाट्यों का प्राण माना है।

गीतिनाट्यों का सौंदर्य बहिर्द्वंद्व की अपेक्षा अंतर्द्वंद्व पर अधिक निर्भर माना जाता है। ग्रैनविल वॉर्कर का कहना है कि 'नाटक कला जितनी परिपक्व होगी उसके कार्य व्यापार बाह्यसंघर्षों और आकस्मिक घटनाओं पर उतने ही कम आधारित होंगे।'

श्रीकृष्ण सिंहल के अनुसार, 'गीतिनाट्य का सर्वोत्तम रूप वह है जिसमें कथा की गतिशीलता के साथ पात्रों के अंतर्द्वंद्व के माध्यम से उनका अंतर्जीवन प्रकाशित होता रहता है।'[8] अत: गीतिनाट्य के सौंदर्यविधान कला सौंदर्य, भावसौंदर्य के समन्वय की भूमि पर होता है। इसका विश्लेषण इस प्रकार है–

'जिस एंद्रिय वस्तु के माध्यम से परम् तत्त्व प्रकाशित होता है, वही सुंदर है।'[9] सौंदर्य चिंतन के प्रवर्तक विद्वान हीगेल ने आगे कहा है कि 'सौंदर्य भी इस क्रम में अंतत है, क्योंकि यह सापेक्षता से स्वतंत्र है, आत्म-स्थित है, आत्म-पूर्ण है और आत्म-व्याख्येय है अर्थात् वह अपने क्षेत्र से बाहर के कारणों की ओर उन्मुख न होकर प्रत्यक्षीकरण को तुष्ट करता है।'[10]

प्रसिद्ध समालोचक डॉ॰ नगेंद्र ने भी दोनों रूपों को स्वीकारते हुए भी बाह्य से अधिक आंतरिक स्वरूप को ही महत्ता प्रदान की है।

गीतिनाट्यों के सौंदर्य विधान के आधार पर विवेचित गीतिनाट्यों में युग जीवन की असीम समस्याओं व शक्तियों का मंथन किया गया है। कृतिकारों ने युग-चेतना में व्याप्त किसी घटना एवं समस्या के मर्मस्थल से विषय चयन किया है उन्होंने अपनी काव्य एवं नाट्यकला के सहयोग से मनुष्य की आँखें उसके अंतस्तत की ओर झुकाकर अपने को पहचानने पर बाह्य किया जाता है। गीतिनाट्यकारों ने उसके मन की गुत्थियों के तारों को अलग-अलग कर सामने रख दिया है, जिससे वह अपने अंतर्मन को समझ सके और इसी प्रक्रिया में सौंदर्य चेतना उन्मेष पाती रहे।

गीतिनाट्यों का प्राणतत्त्व है भावना अथवा मानसिक संघर्ष भाव सौंदर्य को चरम उत्कर्ष तक

ले जाने के लिए गीतिनाट्यकार को शब्द-गंध और शब्दों की भंगिमा का अद्‌भुत पारखी तो होना ही होता है, साथ ही रंगधर्मिता के कैनवास पर गीति भी उकेरना होता है।

'कथातत्त्व में औत्सुक्य और कौतूहल की आदि से अंत तक समायोजना भाव सौंदर्य के निखार में सहयोगी होती है। गीतिनाट्य में कथावस्तु के सौंदर्य की अपेक्षा उसके आधार पर की गई भावाभिव्यंजना पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। भावों की पूर्ण इकाई में ही गीतिनाट्य का सौंदर्य निहित रहता है। यह भावान्विति ही गीतिनाट्य का भाव सौंदर्य है, विशिष्टता है।'[11]

वस्तुत: गीतिनाट्य में मुख्य शब्द गीति है, जिसमें भाव सौंदर्य का उपहार मौजूद है, क्योंकि भावातिरेक का स्पंदन गीति का प्राणतत्त्व है। आंग्ल गीतिनाट्यकार टी॰एस॰ इलियट ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है–'मानव आत्मा घनीभूत भावावेग में स्वयं को कविता में व्यक्त करने के लिए आतुर हो उठती है ऐसा क्यों होता है? यह पता लगाना मेरा नहीं वाणीशास्त्र के अध्येता का कार्य है और यह भी कि भावनाएँ और लय क्यों और कैसे एक-दूसरे से संबंध है? जो भी हो गद्य नाटक की प्रवृत्ति क्षणिक और बाह्य सतह पर जोर देने की है यदि हम इस स्थायित्व और सार्वभौम तक पहुँचना चाहते हैं तो हमें स्वयं की अभिव्यक्ति में कविता करनी होगी।'[12]

गीतिनाट्यों में युग-चेतना की भावनात्मक अनुभूति नहीं वरन् युग परिवेश का यथार्थ चित्रण भी है। आलोच्य गीतिनाट्यों में वर्तमान निराशाजनक स्थिति भी सतत् सचेत होती जनता के आक्रोश को स्वर दिया है। गीतिनाट्यों के नाट्याकारों ने तात्कालिक परिस्थितियों को जिस ढंग से पिरोया है साथ ही सूक्ष्म बिंब, प्रतीक और मिथकीय कथानकों को अभिव्यक्ति दी है, वह अनुकरणीय है।

गीतिनाट्य जीवन के सघन क्षणों को उद्‌घाटित करने में समर्थ एक ऐसी विधा है जो व्यक्ति को आत्मा की गहराइयों से साक्षात्कार कराती है। हिंदी की अन्य विधाओं में अबाध गति से साहित्य सृजना हुई है उसकी उपेक्षाकृत गीतिनाट्यों का प्रणयन अल्पसंख्यक ही रहा है मात्रा में कम होने पर भी गीतिनाट्यों की गुणात्मकता और सशक्तता असंदिग्ध है।

कविता जो कभी हृदय की रसात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति हुआ करती थी आज वैयक्तिक संवेदनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की पगडंडी पर चलकर तथाकथित बोल्डनेस और एब्सर्ड साहित्य के कलम्स दलदल में फँसती जा रही है, ऐसे में गीतिनाट्य अपने साहित्यिक रूप में जन-आकांक्षाओं के अनुकूल एक स्वस्थ मांगलिक वांशी सा गूँज रहा है मानो एक ताजी हवा का सुगंधित झोंका साहित्य जगत् को सुवासित कर रहा हो।

'गीतिनाट्यों को अगर हम साहित्यिक दृष्टि से देखें तो कुछ कमियों के बावजूद भाव एवं कला की दृष्टि से शाश्वत बोध इनमें मानो अँगड़ाइयाँ ले रही है। गीतिनाट्यों के साहित्यिक अवदान के संदर्भ में यदि साहित्यिक इतिहास को टटोला जाए तो इनका विपुल साहित्यिक सौंदर्य हमें आश्वस्त करता है कि कम मात्रा में लिखे गए गीतिनाट्यों में गीति के भावात्मक सौंदर्य में से नाट्य तत्त्व का कलात्मक सौंदर्य उपजता है और फिर चित्रात्मक शैली आदि के माध्यम से वह जीवन के सघन क्षणों को अभिव्यक्ति देता है। चाहे संवाद, कथानक, चरित्राकंन, प्रस्तुति, परिप्रेक्ष्य आदि के धरातल पर देखें अथवा गीतों की लयात्मक भावपूर्ण तरंगावालियों की कसौटी पर मूल्यांकन करें तो गीतिनाट्य साहित्य की एक सशक्त विधा के रूप में ही उभरा है।'[13]

हिंदी गीतिनाट्य अपनी तकनीक में पश्चिमी से प्रभावित होने पर भी अपनी मौलिकता में अनूठे हैं, उनकी अपनी सृजन स्वायतता है।

गीतिनाट्य सर्वग्राह्य नहीं बन सके, मंच पर अभिनीत कम हुए हैं यह गीतिनाट्य का दोष

नहीं है और न ही तात्विक दृष्टि से गीतिनाट्यों की कोई कमजोरी इसका कारण है यह कहीं हमारे चिंतन तथा अभिरुचि में आए अंतराल को ही रेखांकित करता है। गीतिनाट्यों का अधिक मात्रा में लेखन नहीं होने का कारण यह माना जा सकता है कि इनके रचनाकारों में एक विशिष्ट प्रतिभा की आवश्यकता होती है अर्थात् गीतिनाट्यकार को नाटककार के साथ ही गीति रचना कुशल भी होना होता है। किंतु आज अनेक सशक्त साहित्यकार है जो इस विधा को संपूर्णतता दे सकते हैं लेकिन संभवत: उन्होंने कभी गंभीरता से इस ओर चिंतन ही नहीं किया होगा अथवा इस विधा के बाँकपन पर उनकी नजर नहीं पड़ी होगी इसलिए इस दिशा में जागृति नहीं आई और गीतिनाट्य विधा का सौंदर्य हल्का सा स्पर्श पाकर अत्याख्येय ही रह गया। वरना तो आज जिस संघर्ष से हम गुजर रहे हैं। उसे समग्रत: व्यक्त करने की शक्ति इनमें है, फिर हर कला आश्रय से पनपती है और गीतिनाट्य कला तो आज भी निराश्रित सी ही लगती है। मंचन और लेखन दोनों ही दृष्टियों से ये प्रयास साध्य है इसलिए उनकी गुणवत्ता से अन्य विधाओं में अधिक प्रभावोत्पादक प्रतिपादित करती है।

अत: हम निष्कर्ष समझ सकते हैं कि जीवन की समझ-परख रखने वाले जीवन की तमाम जटिल और गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटित करने वाले साहित्य की एक समुचित एवं प्रथक विधा के रूप में अपना वजूद और स्थान रखने वाले गीतिनाट्यों का कलात्मक, भावात्मकता का सौंदर्य हमें निश्चित और पूर्ण रूप से आश्वस्त करता है कि गीतिनाट्यों का साहित्यिक व रंगमंचीय भविष्य अनंत संभावनाओं का पट अवश्य खोलेगा।

संदर्भ

1. नरेंद्र कोहली, 7 जनवरी 1995 की भेंटवार्ता
2. श्रीकृष्णदस, हमारी नाट्य परंपरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1956 पृ॰ 179
3. धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, बनारस ज्ञान मंडल, 2015 पृ॰ 289
4. पन्ना द्विवेदी, दिनकर के काव्य में युगीन चेतना, पृ॰ 3
5. रजनी कुलश्रेष्ठ, स्वातंत्र्योतर हिंदी गीतिनाट्यों में युग चेतना, अंकुर प्रकाशन उदयपुर, 2017, पृ॰ 17
6. रोनाल्ड पीकोक, द आर्ट ऑफ ड्रामा, पृ॰ 235 (हिंदी गीतिनाट्य : श्री कृष्ण सिंहल, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1964, पृ॰ 54 से उद्धृत)
7. नरेश मेहता, महाप्रस्थान, प्रस्थान पूर्व, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1974, पृ॰ 16,17
8. श्री कृष्ण सिंहल, हिंदी गीतिनाट्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1964, पृ॰ 45
9. हीगेल, द फिलोसफी ऑफ फाइन आर्ट, पृ॰ 2
10. हीगेल, साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, पृ॰ 126
11. श्रीकृष्ण सिंहल, हिंदी गीतिनाट्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1964, पृ॰ 50
12. टी॰एस॰ इलियट, सलेक्टेड एसेज, पृ॰ 46
13. रजनी कुलश्रेष्ठ, स्वातंत्र्योतर हिंदी गीतिनाट्यों में युग चेतना, अंकुर प्रकाशन उदयपुर, 2017 पृ॰ 206, 207

मो॰ 9414838589
dilipbeniwal89@gamil.com

रहीम का काव्य और उसकी प्रासंगिकता

डॉ॰ इबरार खान
असि॰ प्रोफेसर व अध्यक्ष हिंदी विभाग
मिर्जा गालिब कॉलेज, गया (बिहार)

भारत की यह पावनभूमि अत्यधिक उर्वर है। यहाँ विभिन्न धर्मों तथा संप्रदायों के लोग रहते हैं। यह सच है कि यहाँ मतभिन्नता भी खूब है परंतु मतैक्यता को जन्म देने वाले लोगों की कमी भी नहीं रही है। मध्यकाल एक प्रकार से संक्रमण का काल रहा है। इस काल में तोड़ने के साथ-साथ जोड़ने वाले लोग भी हुए हैं। उनमें से एक प्रमुख नाम अब्दुल रहीम खानखाना (रहीमदास/रहीम) का है। ये भारत की गंगा-जमुनी तहजीब तथा समन्वयवादिता के एक प्रमुख हस्ताक्षर रहे हैं। भारत से अरब के मुसलमानों के व्यापारिक संबंध थे। भारतीय समाज इस्लाम और मुसलमानों के संपर्क में धीरे-धीरे आया। प्रेमशंकर लिखते हैं, 'आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में भारतीय समाज, इस्लामी, विशेषतया अरब-संपर्क में आया। इनका प्रभाव विशेषतया उत्तर भारत के उन क्षेत्रों में रहा, जहाँ उन्होंने अधिकार कर लिया था।'[1] मुसलमान लोग भारत में समय-समय पर आए कुछ ने लूटपाट की और चले गए और कुछ ने इसे अपनी मातृभूमि बनाया। यहीं रहे और यहीं दफन हुए। रहीम भी यहीं के होकर रहे।

रहीम के काव्य में जीवन के विभिन्न प्रसंग आए हैं। रहीम की मुख्यत: कुल आठ पुस्तकें स्वीकार की जाती हैं–दोहावली (रहीम दोहावली), नगरशोभा, बरवै नायिका भेद, बरवै,शृंगार सोरठा, मदनाष्टक, संस्कृत काव्य, फुटकर पद, कवित्त (घनाक्षरी) सवैया, दोहा आदि। इन आठ पुस्तकों के अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र से संबंधित 'खेटकौतुक जातकम्' भी रहीम का ही ग्रंथ है। संपादकों ने इसमें वर्णित ग्रहों की क्रीड़ा पर लिखे होने के कारण इस ग्रंथ को संभवत: काव्य न मानकर रचनाओं में स्थान नहीं दिया।

दोहावली (रहीम दोहावली)–रहीम रचित ग्रंथों में लोकप्रियता की दृष्टि से दोहावली का अति महत्त्वसपूर्ण स्थान है। इसमें लोक व्यवहार, नीति, धर्म आदि विषयों पर दोहे हैं। कुछ आलोचकों ने भ्रमवश इसे ही 'रहीम सतसई' कहा है परंतु यह उचित नहीं है क्योंकि इसमें सात सौ (सतसई–सत=सात, सई=सौ) दोहे नहीं हैं। रहीम द्वारा रचित कुल दोहों की संख्या लगभग तीन सौ है। रहीम का जीवन अत्यधिक उतार-चढ़ाव का जीवन था। इनके दोहों में शास्त्र ज्ञान, लोकज्ञान, परोपकार, स्वार्थ, चिंता, सु:ख-दु:ख, समय-कुसमय, दान, शील, मैत्री, संग-कुसंग नीति, प्रेम, ऐश्वर्य, संयम, भाग्य-नियति, माया-जगत आदि विषय आए हैं। रहीम ने लोक व्यवहार में प्रचलित सूक्तियों को नीतिपरक दोहों में बाँधने का स्तुत्य कार्य किया है।

समय-कुसमय को दृष्टिगत रखते हुए उनका यह दोहा देखा जा सकता है। जिसमें वे कहते हैं दिनों (समय) के बदलाव को समझकर रहीम अब चुप रहना ही उचित है। जब अच्छे (समय) दिन आएँगे तो सब-कुछ ठीक होने में विलंब नहीं होगा।

अब रहीम चुप करि रहउ, समुझि दिनन के फेर।
जब दिन नीके आइ हैं, बनत न लगि है देर।

इसी प्रकार एक अन्य दोहे में संगति पर विचार करते हुए वे बताते हैं कि केला, सीप और सर्प के मुँह में स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए जल का प्रभाव अलग-अलग होता है। केले पर पड़ने से केला बनता है। सीप में पड़ने से मोती और सर्प के मुख में पड़ने से विष बनता है। यह संगति का ही प्रभाव है। मनुष्य जैसी संगति में बैठता है उसको वैसा ही फल प्राप्त होता है।

कदली सीप भुजंग-मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन।।

इसी प्रकार अन्य जीवनानुभव भी विभिन्न दोहों में व्यक्त हुए हैं।

नगरशोभा–रहीम द्वारा रचित ग्रंथों में नगरशोभा एकशृंगारिक ग्रंथ है। इसमें 'अथ नगर शोभा नवाब खान-खानांकृत' लिखा है। इसमें कुल 142 दोहे हैं। इसमें विभिन्न जाति की महिलाओं के रूप सौंदर्य, शील-स्वभाव की चर्चा है। नगरशोभा नाम से ही प्रतीत हो रहा है कि रहीम की दृष्टि नारी-सौंदर्य पर विशेष रूप से रही होगी और नगर की शोभा के रूप में उनकी सुंदरता का वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। इस ग्रंथ में ब्राह्मणी, खतरानी, केथिनि, सुनारिन, बनियाइन, रँगरेजिन, बनजारिन, लुहारिन, कलवारिन, गूजरी, तेलिन, भटियारिन, छीपिन, सिकलीगरिन, रजपूतनी, भाटिन, डोमिन, खटकिन, धुनियाइन, कोरिन, उठेरिन, अहेरिन, बाजीगरिन आदि जाति की महिलाओं का वर्णन है।

बरवै नायिका भेद–इस ग्रंथ में नायिका भेद का वर्णन बरवै छंद में किया गया है। नायिका के भेद-प्रभेद को दृष्टिगत रखते हुए उनके बारे में बरवै छंद लिखे गए हैं। इसमें उत्तभमा, मध्यनमा, स्वकीया, मुग्धा, नवोढ़ा, परकीया आदि का वर्णन है। यह पूर्णत:शृंगार काव्य है। इसमें रतिभाव को स्थायी भाव के रूप में स्थान दिया गया है। इसमें 119 बरवै छंद हैं। इसकी भाषा अवधी मिश्रित ब्रजभाषा है। बहुत दिनों के बाद आज प्रियतम घर पर आए हैं। उनकी दुल्हन (पत्नी) प्रफुल्लित होकर घर के काम कर रही है। छंद द्रष्टव्य है–

बहुत दिवस पर पियवा, आयेउ आज।
पुलकित नवल दुलहिया, कर गृह-काज।।

बरवै–इसमें मूलत: 101 भक्तिपरक बरवै छंद हैं। चार बरवै अन्य संग्रहों में उपलब्ध हैं। इस प्रकार 105 बरवै छंद हो जाते हैं। अधिकांश बरवै भक्तिपरक शांत रस में हैं, कुछ भक्ति तथाशृंगार के मिले हुए रूप में हैं। यह रीति काव्य परंपरा का ग्रंथ है। अत: इसमें 'बारहमासा' भी संकलित है। यह एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है कि इस बारहमासा में उन्हीं ऋतुओं को ग्रहण किया गया है जो भक्ति, शृंगार तथा शांत रस के अनुकूल होती है। भक्तिपरक एक बरवै द्रष्टव्य है–

मानुष तन अति दुर्लभ, सहजहि पाय।
हरि-भजि कर सत संगति, कह्यो जताय।।

शृंगार सोरठा–सोरठा छंद के बारे में कहा जाता है 'दोहा उल्टे सोरठा।' छ: सोरठे हैं जो शृंगार भाव से परिपूर्ण हैं। इसीलिए इन्हेंशृंगार सोरठा कहा गया है। उदाहरणस्वरूप एक दोहा द्रष्टव्य है–

पलटि चली मुसुकाय, दुति रहीम उपजात अति।
बाती सी उसकाय, मानों दीनी दीप की।।

 ISSN 0975-735X

मदनाष्टक–इस ग्रंथ को देखें तो मदन (काम या कामदेव) तथा अष्टैक (आठ) अर्थात् इसमें काम याश्रृंगार से संबंधित आठ मालिनी छंद हैं। यह ग्रंथ संस्कृत, खड़ीबोली, फारसी, रेखता आदि भाषाओं का मिश्रण है। 'मदनाष्टक' का विषयश्रृंगार है औरश्रृंगार में भी रूप-वर्णन मुख्य है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

जरद बसन-वाला गुल चमन देखता था।
झुक झुक मतवाला गावता रेखता था।।
श्रुति युग चपला से कुंडलें झूमते थे।
नयन कर तमाशे मस्ते ह्वै घूमते थे।

संस्कृत काव्य–रहीम संस्कृत भाषा की भी जानकारी रखते थे। उनके नौ श्लोक मिलते हैं जो विभिन्न विषयों के हैं। भाव शांत रस का है। संस्कृत और मिश्रित खड़ीबोली है। एक श्लोक मन को तो मोह ही लेता है। जब वे कहते हैं 'हे! विष्णु भगवान्, आपका निवास स्थान तो रत्नों का आकार रत्नाकर है, आपकी पत्नी स्वयं लक्ष्मी हैं, मैं अकिंचन आपको क्या भेंट करूँ? हाँ, एक ही वस्तु आपके पास नहीं है, आपका मन। आपका मन तो राधा ने हरण कर लिया है, अत: मैं अपना हृदय आपको समर्पित करता हूँ, कृपापूर्वक इसे स्वीाकार कीजिए। श्लोक द्रष्टव्य है–

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा, किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसे मनसे च तुभ्यं, दत्तं मया निजमनस्त दिदं गृहाण।।

फुटकर पद, कवित्त (घनाक्षरी) सवैया, दोहा आदि–रहीम के कुछ फुटकर पद, कवित्त (घनाक्षरी), सवैया, दोहे भी प्राप्त होते हैं। इनकी भाषा ब्रज है। इन्होंने लोकभाषा को प्रश्रय दिया है। पद रचना-सूर की शैली पर है और विषय कृष्ण का सौंदर्य वर्णन है। रहीम ने इनमें अधिकांशत: अनुप्रास का प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

कौन धौं सीख रहीम इहाँ इन नैन अनोखि यै नेह की नाँधनि।
प्यारे सों पुन्यैन भेंट भई यह लोक की लाज बड़ी अपराधिनि।
स्याम सुधानिधि आनन को भरिये सखि सूधे चितैवे को साधनि।
ओट किए रहतै न बनै कहतै न बनै बिरहानल नाधनि।

उनके अन्य ग्रंथों की बात करें तो उसमें निम्नेलिखित की चर्चा की जा सकती है–

(क) **खेटकौतुक जातकम्**–यह एक ज्योतिष ग्रंथ है जिसकी रचना संस्कृत श्लोकों में फारसी के मिश्रण से की गई है। 'पारसीय पदैर्युक्तम्' कहकर रहीम ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है। इस ग्रंथ में सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि आदि नक्षत्रों के भावफल को बताने के लिए बारह-बारह श्लोक दिए गए हैं। राहु तथा केतु का भी भावफल बताया गया है।

(ख) **रहीम का फारसी दीवान**–रहीम फारसी भाषा के विद्वान थे। इसमें कोई संदेह नहीं है। 'वाकेआत बाबरी' नाम से प्रसिद्ध तुर्की से फारसी का अनुवाद उनके फारसी तथा तुर्की ज्ञान का परिचायक है। जहाँ तक फारसी दीवान का प्रश्न है तो इसमें रहीम की फारसी में रचित काव्य रचनाएँ हैं।

इनके काव्य को देखने पर इनके काव्य की प्रासंगिकता का पता चलता है। रहीम व रहीम के काव्य की प्रासंगिकता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे एक मुसलमान हैं फिर भी हिंदू धर्म के देवी-देवताओं का नाम पूरी श्रद्धा से लेते हैं। रहीम की प्रशंसा करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं, 'अपने धर्म और आध्यात्मिक विश्वास पर सुदृढ़ रहते हुए भी

मुसलमान कितना अधिक भारतीय हो सकता है, रहीम इसके जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।[12] रहीम अपनी दोहावली में श्रीराम की भक्ति करते हुए लिखते हैं–

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस।
जा पर बिपदा पड़त है, सो आवत यहि देस।

रहीम 'बरवै' शीर्षक रचना में श्रीराम की भक्ति करते हुए कहते हैं–

ध्यावौं विपद-विदारन, सुअन-समीर।
खल दानव वनजारन प्रिय रघुवीर।

रहीम के संस्कृत ज्ञान से तो हम लोग परिचित ही हैं। उनका ज्योतिष से संबंधित ग्रंथ 'खेटकौतुक जातकम्' है। इसमें संस्कृत श्लोंकों की रचना फारसी के मिश्रण से की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत तथा फारसी का मिश्रण कर रहीम दो भाषाओं, दो भाषाओं को बोलने वालों, दो संस्कृतियों को करीब लाने का प्रयास कर रहे थे। हिंदू धर्म के लोगों के प्रति उनकी सदाशयता का अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि जब एक ब्राह्मण कन्या के विवाह के लिए धन की इच्छा से तुलसी ने एक दरिद्र ब्राह्मण को एक दोहा लिखकर रहीम के पास भेजा। दोहा द्रष्टव्य है–

सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय।

रहीम ने उस दरिद्र ब्राह्मण को बहुत सारा द्रव्य दिया और यह दोहा कहा–

गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सों सुत होय।

जब हम रहीम को देखते हैं तो पाते हैं कि रहीम का चरित्र तथा लोक व्यवहार समाज में बहुत ही सदाशयता से परिपूर्ण था। उन्हें सिर्फ दरबार ही नहीं अपितु आमजन भी बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखते थे। रहीम ने लगभग बहत्तर वर्ष की आयु पाई थी। लगभग पैंतालीस वर्ष उन्हें युद्ध तथा अन्यत प्रकार के संघर्षों में काटने पड़े किंतु उनकी हिम्मत तथा धैर्य की मुक्त कंठ से सराहना करनी पड़ेगी कि उनके धैर्य का बाँध कभी नहीं टूटा। इन विषम परिस्थितियों में तलवारों की झनझनाहट के बीच उनका कवि हृदय जीवित रहा और उनके विविध अनुभव उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुए।

रहीम के व्यक्तित्व में हमें एक सच्चे भारतीय का रूप दृष्टिगोचर होता है जो धर्म, संप्रदाय, वर्ग, जाति, वंश के भेद को भूलकर मानवता का पुजारी रहा है। मानव-मानव के बीच प्रेम और सौहार्द के स्नेह संबंध की स्थापना जिसका उद्देश्य था वह कोई और नहीं रहीम ही थे। रहीम धार्मिक तथा सांस्कृतिक समन्वय के महापुरुष थे। रहीम का स्मरण भारत माँ के वंदनीय सपूत के रूप में सदैव होता रहेगा। रहीम ने धार्मिक तथा सांस्कृतिक व सांप्रदायिक एकता को स्थापित करने का प्रयास किया है। वह प्रयास चिरस्मरणीय रहेगा। रहीम की प्रशंसा करते हुए विद्या निवास मिश्र लिखते हैं, 'रहीम जन्म से तुर्क होते हुए भी पूरी तरह भारतीय थे। भक्त कवियों जैसी उत्कट भक्ति चेतना, भारतीयता और भारतीय परिवेश से गहरा लगाव उनके तुर्क होने के एहसास को झुठलाता सा प्रतीत होता है।'[13] रहीम वास्तव में एक तरफ भक्ति कर रहे थे तो दूसरी तरफ सत्ता को भी भोग और देख रहे थे। इन दोनों के बीच समन्वय भी स्थापित कर रहे थे। सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं, 'मूलत: वे संतुलन के ही रचनाकार हैं और इस दृष्टि से अपने मित्र तुलसीदास के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं।'[14] इसके साथ-साथ वर्तमान संदर्भों में भी रहीम, रसखान, जायसी आदि कवियों को आदर्श मानते हुए गंभीर प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

 ISSN 0975-735X

जहाँ तक रहीम की भाषा का प्रश्न है तो रहीम बहुभाषा के ज्ञाता थे। इस संदर्भ में डॉ॰ नगेंद्र द्वारा संपादित पुस्तक में लिखा गया है कि 'रहीम अरबी, फारसी, और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और हिंदी के सुकवि थे। इन्होंने ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही काव्य-रचना आरंभ कर दी थी।'[5] आज लोगों ने भाषाओं को जातियों और धर्मों के आधार पर बाँट रखा है। संस्कृत को ब्राह्मणों की भाषा माना जाने लगा। रहीम का संस्कृत भाषा के प्रति क्या दृष्टिकोण था? वे संस्कृत को बहुत सम्मान देते थे। इसका प्रमाण उनका काव्य है। रहीम को केवल हिंदी तथा संस्कृत व फारसी का ही ज्ञान नहीं था। उन्हें अरबी तथा तुर्की भाषा का ज्ञान तो था ही, इसके साथ-साथ उन्हें कुछ यूरोपीय भाषाओं का भी ज्ञान था। अबुल फजल जैसे विद्वान भी रहीम के भाषा-ज्ञान के प्रशंसक थे। उनके भाषा-संबंधी ज्ञान पर टिप्पणी करते हुए मौलाना शिबली ने लिखा है, 'खानखाना इस दरजे का सुखनसाज था कि अगर शायरी में पड़ता तो उरफी और नसीरी का हमसर होता।' इसमें कोई संदेह नहीं कि रहीम बहुभाषी थे।

उनकी तुर्की और फारसी पर गहरी पकड़ का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने बाबर के आत्मचरित का तुर्की भाषा से फारसी में अनुवाद किया। सम्राट अकबर तथा अन्य दरबारी इस पर बहुत आश्चर्यचकित हुए। फारसी उस समय राजभाषा थी और रहीम इस भाषा में उच्च कोटि के विद्वान तथा शायर थे। रहीम चित्रकला, संगीत-कला तथा स्थापत्य कला के प्रशंसक थे। चित्रकला, संगीत कला और स्थापत्य कला के क्षेत्र में उनकी प्रासंगिकता बनी हुई है। जहाँ तक शैली का प्रश्न है तो रहीम ने अपने दोहों में सूक्ति शैली का प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे भारत के सच्चे वीर सपूत थे। वे समन्वयवादी संस्कृति के पोषक मात्र व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं भाषागत स्तर पर भी थे। वे हिंदी, फारसी, तुर्की, अरबी आदि विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता थे। रहीम तथा रहीम का काव्य वर्तमान में पूरी तरह प्रासंगिक है। मुसलमान होकर हिंदू देवताओं का सम्मान सहित स्मरण, कई हिंदू मित्रों जैसे तुलसीदास आदि से मित्रता उल्लेखनीय है। भाषा के स्तर पर देखें तो रहीम संस्कृत तथा फारसी को एक करने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं। हिंदू ब्राह्मण कन्या के विवाह के लिए द्रव्य देते हैं। प्रत्यक्ष रूप से देखें तो रहीम हिंदू-मुस्लिम एकता, समन्वयवादी संस्कृति के महान प्रकाश स्तंभ ठहरते हैं।

संदर्भ

1. प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृ॰ 19
2. रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, केदारनाथ सिंह, उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेंद्र नगर, पटना, सितंबर-1977 ई॰, पृ॰ 352
3. रहीम ग्रंथावली, संपादक-विद्यानिवास मिश्र, गोविंद रजनीश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ॰ 66
4. रहीम रचनावली, संपादक-सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृ॰ 45
5. हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक-डॉ॰ नगेंद्र, सहसंपादक-डॉ॰ सुरेशचंद्र गुप्त, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 1991, पृ॰ 247

हिंदी भाषा व साहित्य के प्रचार-प्रसार में हिंदी की साहित्यिक ई-पत्रिकाओं का योगदान

जूही त्रिपाठी, शोधछात्रा, हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)

प्रौद्योगिकी ने मानव जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। विगत 25 वर्षों में डिजिटलीकरण के फलस्वरूप दुनिया जिस तेजी से बदली है, वह आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व है। तकनीकी ने न केवल मनुष्य की जीवन शैली को बदला है बल्कि इसने उसकी भाषा, भाव और विचारों पर भी गहरी छाप छोड़ी है। आज हर हाथ में आसानी से दिखने वाला स्मार्टफोन कलम की जगह ले चुका है। अब विचारों को नोट करने के लिए कलम और डायरी साथ रखने की जरूरत नहीं, मोबाईल का नोटपैड सहज ही आपका ये काम कर देगा। इस तरह सूचना, मनोरंजन और दैनिक जीवन के आलावा शिक्षा के क्षेत्र में भी तकनीकी व्यापक बदलाव का माध्यम बना है। चूँकि शिक्षा भाषा के माध्यम से ही दी जाती है जिसमें साहित्य, समाज, इतिहास, विज्ञान आदि विषय समाहित होते हैं अत: तकनीकी का भाषा और साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा है यह सहज ही समझा जा सकता है।

हिंदी भाषा की बढ़ती ताकत

हिंदी भारत की सर्वाधिक बोली-समझी जाने वाली भाषा है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 57.1% जनसंख्या हिंदी जानती है जिसमें 43.63% लोगों की यह मातृभाषा है।[1] यही नहीं यह विश्व की तीसरी सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा है। विश्वभर की जीवित भाषाओं पर सर्वेक्षण कर आँकड़े जारी करने वाली संस्था एथेनोलॉग के अनुसार विश्वभर में प्रथम और द्वितीय भाषा के रूप में बोलने वाले लोगों की संख्या के आधार पर हिंदी विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। इससे पहले केवल अँग्रेजी और मंदारिन (चीनी) जैसी भाषाएँ ही हैं।[2] विश्व आर्थिक मंच द्वारा दिसंबर 2016 में जारी की गई 10 सर्वाधिक शक्तिशाली भाषाओं की सूची में हिंदी भी एक है।[3] ये आँकड़े इसलिए दिए जा रहे हैं कि इनसे हिंदी भाषा की देश और दुनिया में बढ़ती ताकत और लोकप्रियता का पता चलता है। आज संपर्क भाषा के रूप में हिंदी सर्वाधिक समृद्ध और संपन्न है। दुनियाभर में करीब 70 करोड़ लोग हिंदी को जानने, बोलने और समझने वाले हैं। भारत के बाहर अमेरिका, ब्रिटेन, चीन, कनाडा, जापान, पाकिस्तान, भूटान, श्रीलंका, म्यांमार, मॉरिशस, त्रिनिदाद, टोबैगो आदि देशों में अच्छी तादाद में लोग हिंदी बोलते हैं। फिजी की तो यह आधिकारिक भाषा ही है। इंटरनेट के आगमन के पूर्व जनसंचार के पारंपरिक माध्यमों (समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन) ने समाचार, फिल्म, शैक्षणिक कार्यक्रम आदि के माध्यम से हिंदी को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई वहीं इंटरनेट के आने से सूचना क्रांति का जो विस्फोट हुआ उसने हिंदी की अभिव्यक्ति के सारे रास्ते खोल दिए।

तकनीकी और हिंदी भाषा

देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी अपने जटिल वर्ण संरचना के कारण टंकण

 ISSN 0975-735X

(टाइपिंग) के लिए बहुत उपयुक्त नहीं समझी जाती रही है। हिंदी की इसी समस्या को दूर करने के लिए समय-समय पर देवनागरी लिपि में सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए गए जिनमें सर्वप्रथम 1904 में बालगंगाधर तिलक ने अपने पत्र केसरी के लिए 190 टाइपों का एक फॉन्ट तैयार किया जिसे 'तिलक फॉन्ट' के नाम से हम जानते हैं। लेकिन आज उन्नत प्रौद्योगिकी के बल पर हिंदी की ये समस्याएँ नहीं हैं। आज नए और उन्नत सॉफ्टवेयर के माध्यम से हिंदी को डिजिटल रूप में लिखना कहीं अधिक आसान हुआ है। यूनिकोड के आ जाने से हिंदी लेखन में युगांतकारी परिवर्तन हुआ है। आज इंटरनेट पर हिंदी सामग्री की प्रचुरता है तो इसका कारण यही है कि हिंदी प्रौद्योगिकीनुकूल हुई है। तकनीकी ने हमें हिंदी में तुरंत संदेश भेजने, सूचनाएँ खोजने, हिंदी में परिणाम पाने में सक्षम बनाया है। यह हिंदी की तकनीकी में बढ़ती सक्षमता ही है कि आज आरबीआई और इसरो समेत देश की तमाम महत्त्वपूर्ण वेबसाईट्स के हिंदी संस्करण भी मौजूद हैं।

ई-कॉमर्स के क्षेत्र में अमेजन सहित अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आज हिंदी में अपना कारोबार कर रही हैं। फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम आदि सोशल मीडिया मंचों पर हिंदी में बड़ी संख्या में पोस्ट किए जा रहे हैं। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में दुनिया की पाँच दिग्गज कंपनियाँ जिन्हें 'बिग फाइव' या 'बिग टेक' कहा जाता है (गूगल, अमेजन, एप्पल, मेटा, माइक्रोसॉफ्ट) आज हिंदी में बड़े स्तर पर अपनी सेवाएँ दे रही हैं। इस तरह तकनीकी रूप से मजबूत हुई हिंदी के माध्यम से संपूर्ण विश्व भारतीय संस्कृति को आत्मसात कर रहा है। हिंदी की इस वैश्विक पहुँच में हिंदी साहित्य की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। किसी क्रांति के फलस्वरूप जब कोई सामाजिक व्यवस्था बदलती है तो उसका असर उस समाज के साहित्य, कला और संस्कृति पर भी पड़ता है। इस रूप में डिजिटल क्रांति ने हिंदी साहित्य पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है।

मुद्रित साहित्य बनाम ई-साहित्य

मानव समाज की भाँति साहित्य की भी विकास यात्रा होती है। भाव और विचार जब भाषा का वस्त्र पहनकर मनोजगत से बाह्य जगत में कूद पड़ते हैं तब साहित्य का जन्म होता है। इस तरह साहित्य, भाषा में निबद्ध वाचिक और लिखित शास्त्रों का समूह है। इसमें ज्ञानात्मक और सर्जनात्मक दोनों प्रकार के साहित्य आ जाते हैं। प्राचीन 'वाङ्मय' शब्द साहित्य के इसी अर्थ का संकेत करता है। तब संसाधनों की उपलब्धता साहित्य के रूप पर भी प्रभाव डालती है। प्राचीनकाल में साहित्य मौखिक परंपरा में जीवित होता था। समय के साथ इसे ताड़पत्र और भोजपत्रों में सुरक्षित किया जाने लगा। आगे चलकर प्रौद्योगिकी के विकास से जब प्रेस और छापेखाने का आविष्कार हुआ तब साहित्य कागज पर स्याही के माध्यम से उतारकर सहेजा जाने लगा। भावी पीढ़ी के ज्ञानकोश की रक्षा के लिए साहित्य का संकलन आरंभ से ही मानव समाज की चिंता का विषय रहा है जिसमें संसाधनों की उपलब्धता ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। डिजिटल क्रांति के इस दौर में जिसे तीसरी औद्योगिक क्रांति के रूप में भी हम जानते हैं, साहित्य अब की-बोर्ड के माध्यम से वर्चुअल क्लाउड में संगृहीत (स्टोर) किया जाने लगा है।

कागज से क्लाउड तक में साहित्य का यह रूप परिवर्तन तर्क का विषय भी रहा है। दरअसल, कोई भी नई तकनीकी जब पुरानी व्यवस्था की जगह लेती है तो उसके ऋणात्मक या धनात्मक प्रभाव को लेकर संशय बना रहता है। 20वीं शती के उत्तरार्द्ध में कंप्यूटर के प्रचलन से कागज और पेन से लिखे जाने को लेकर खतरा महसूस किया जाने लगा और कहा जाने लगा कि

कंप्यूटर के आ जाने से अब लोग लिखना भूल जाएँगे। यही आशंका इंटरनेट के आ जाने से पुस्तकों और समाचार पत्रों को लेकर भी व्यक्त की गई। तकनीकी के इस विस्तार ने चिंतकों के बीच मुद्रित साहित्य बनाम ई-साहित्य का प्रश्न खड़ा किया। 21वीं सदी के बिल्कुल आरंभ में इस विषय पर चिंता जताते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं, 'नया सहस्त्राब्द हमारे लिए विचार-संचार काल के रूप में आ रहा है, जब साहित्य को उपसाहित्य, कभी अपसाहित्य और निश्चित रूप से ई-साहित्य से टकराहट होनी है। इन कई मोर्चों पर लड़ाई स्पष्ट ही आसान नहीं। रचनाकार ऐसे गैर सर्जनात्मक संघर्षों और उसके लिए संभावित युक्तियों से ठीक परिचित भी नहीं। रघुवीर सहाय ने कामना की थी 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967) की भूमिका में कि लड़ूँ तो कई मोर्चों पर, पर जब मरना हो तो मरूँ साहित्य के मोर्चे पर। शती बदलते बदलते प्रायः तीन दशक बाद ही हालात ऐसे बदल गए हैं कि कवि को इतने मोर्चों का चुनाव सुलभ नहीं। अब तो मोर्चा एक ही है, जहाँ साहित्य और ई-साहित्य आमने-सामने होंगे और जहाँ मरने और जीने में कुछ भेद होगा, समझ पाना कठिन है।'[4] किंतु नई सदी के 23वें वर्ष में यह महसूस करने में समस्या नहीं कि ई-साहित्य, मुद्रित साहित्य का प्रतिद्वंद्वी नहीं बना है। इसी वर्ष फरवरी माह में नई दिल्ली में आयोजित विश्व पुस्तक मेले में लाखों की उमड़ी भीड़ यह बताती है कि किंडल के युग में किताबों के पन्नों की ख्वाहिश कम नहीं हुई है। ई-साहित्य कभी भी प्रिंट साहित्य का स्थान नहीं ले सकता, पूरक अवश्य बन सकता है। रेडियो और टेलीविजन के आ जाने से अखबार और पुस्तकें बिकना बंद नहीं हो गईं।

हिंदी की साहित्यिक ई-पत्रिकाओं का हिंदी के प्रचार-प्रसार में योगदान

हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य और भाषा के विकास में अविस्मरणीय भूमिका निभाई है। 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैग्जीन', 'आनंद कादंबिनी', 'सरस्वती' जैसी पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य के आरंभिक रूप को गढ़ा है। इन पत्रिकाओं के माध्यम से ही कविता, कहानी, निबंध, आलोचना, यात्रा वृत्तांत जैसी हिंदी की कई विधाओं का विकास हुआ। सरस्वती ने हिंदी भाषा के परिष्कार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाद में 'हंस', 'वागर्थ', 'आजकल', 'तद्भव', 'वर्तमान साहित्य', 'पहल' आदि पत्रिकाओं ने इसे आगे बढ़ाया। साहित्यिक पत्रिकाओं ने साहित्यिक विधाओं के विकास के साथ-साथ गद्य के विकास, भाषा-परिष्कार, नवलेखन और नवचेतना के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

इंटरनेट के विकास, डिजिटल और संचार क्रांति के फलस्वरूप साहित्यिक पत्रिकाएँ अब डिजिटल रूप में हमारे हाथों में मौजूद हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं के डिजिटलीकरण ने हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में युगांतकारी परिवर्तन किया है। ई-पत्रिकाओं और ई-पाठकों के आगमन से हिंदी साहित्य तक पहुँच अब कभी भी और कहीं भी आसान हुई है। इससे न केवल हिंदी साहित्य सामान्य पाठक को सुलभ हुआ है बल्कि हिंदीभाषी क्षेत्रों की पारंपरिक सीमाओं से परे हिंदी साहित्य की पहुँच भी बढ़ी है। इंटरनेट पर साहित्यिक पत्रिकाओं की उपलब्धता ने ई-पत्रिका या e-zine जैसे शब्द गढ़े हैं। ई-पत्रिका से तात्पर्य ऐसी पत्रिकाओं से है जो कंप्यूटर पर लिखी और कंप्यूटर पर ही पढ़ी जाएँ। इन्हें इलेक्ट्रॉनिक पत्रिका भी कह सकते हैं। इनमें भी दो तरह की पत्रिकाएँ होती हैं–1. जिन्हें डाउनलोड करके पीडीएफ के माध्यम से पढ़ा जाए, तथा 2. जो वेबसाईट के माध्यम से वेबपेज पर सीधे ही पढ़ी जाए। इंटरनेट पर दोनों ही तरह की हिंदी साहित्यिक पत्रिकाएँ मौजूद हैं। इन पत्रिकाओं में कविता, कहानी, आलोचना, निबंध, लघुकथा, संस्मरण आदि गद्य विधाएँ प्रकाशित होती हैं जिनसे हिंदी साहित्य अधिक समृद्ध और अधिक व्यापक हो रहा है। ऐसी

पत्रिकाओं में 'पाखी', 'कथाबिंब', 'वागर्थ', 'समालोचन', 'सदानीरा', 'अपनी माटी', 'जानकीपुल', 'साहित्य रचना ई-पत्रिका', 'भारत दर्शन', 'सेतु', 'ई-कल्पना', 'अंतस', 'पारिजात' जैसी पत्रिकाएँ हैं। इन ई-पत्रिकाओं ने न केवल हिंदी साहित्य का क्षेत्र विस्तार किया है बल्कि गंभीर साहित्य पाठकों के सामने लाकर हिंदी जगत को समृद्ध करने का काम भी इन ई-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ है।

'पाखी' नोएडा, उत्तर प्रदेश से निकलने वाली मासिक पत्रिका है जो मुद्रित रूप के आलावा इंटरनेट पर ऑनलाईन पत्रिका के रूप में मौजूद है इस पत्रिका को सब्सक्रिप्शन के माध्यम से निश्चित मूल्य चुकाकर निश्चित अवधि के पढ़ा जा सकता है। इसमें कविता, कहानी, उपन्यास अंश, लेख, डायरी आदि प्रकाशित होते हैं। इसमें 'खबरनामा' और 'प्रति संसार' नाम से खास स्तंभ हैं जिनमें क्रमशः साहित्य जगत से जुड़ी खबर और वर्चुअल दुनिया की रचनाओं-खबरों पर बात होती है। 'कथाबिंब' त्रैमासिक कथाप्रधान पत्रिका है जो मुंबई की संस्कृति संरक्षण संस्था के सौजन्य से प्रकाशित होती है। यह ई-पत्रिका इंटरनेट पर फ्री डाउनलोड के लिए मौजूद है। इसे डाउनलोड कर पीडीएफ के रूप में पढ़ा जा सकता है। इसमें कहानियाँ और लघु कथाओं के अतिरिक्त कविताएँ, गजल आदि भी प्रकाशित होते हैं। भारतीय भाषा परिषद की ओर से निकलने वाली साहित्यिक मासिक पत्रिका 'वागर्थ' मुद्रित रूप के साथ-साथ अपने ऑनलाईन संस्करण के रूप में भी मौजूद है। कविताएँ, कहानियाँ, परिचर्चा, संस्मरण, समीक्षा, अनुवाद के प्रकाशन के लिए तो 'वागर्थ' प्रसिद्ध है ही, ऑनलाईन संस्करण में जो बात इस पत्रिका को खास बनाती है वह है मल्टीमीडिया नाम से इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाला स्तंभ। जिसमें ध्वनि और दृश्य संयोजन के माध्यम से कविताओं, गीत की सुंदर प्रस्तुति होती है। ये कविताएँ यू-ट्यूब के माध्यम से 'वागर्थ' में दी जाती हैं। 'समालोचन' इंटरनेट पर हिंदी की गंभीर साहित्यिक पत्रिका के रूप में ख्याति प्राप्त कर रही है। वर्ष 2010 में अरुण देव के संपादन में इंटरनेट ब्लॉगिंग के तौर पर शुरू हुआ समालोचन आज साहित्य, संगीत, सिनेमा, इतिहास, दर्शन, समाज, संस्कृति, आलोचना पर पाठकों को गंभीर सामग्री प्रदान करने वाला प्रतिष्ठित नाम बन चुका है। आज हिंदी की मुख्यधारा की ई-साहित्यिक पत्रिकाओं में समालोचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनीषा कुलश्रेष्ठ के संपादन में वर्ष 2000 से निकलने वाली 'हिंदी नेस्ट' भी ऐसी ही वेब पत्रिका है जो अपने प्रयासों से नए कथाकारों-रचनाकारों को सामने लाने का प्रशंसनीय कार्य कर रही है। 'अपनी माटी' साहित्य, समाज, शिक्षा और शोध को समर्पित त्रैमासिक ई-साहित्यिक पत्रिका है। जो 2009 से प्रकाशित हो रही है। 'गीत-पहल' मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश से प्रकाशित होने वाली हिंदी की वेब पत्रिका है जो हिंदी गीतों और नवगीतों के प्रकाशन का अच्छा काम कर रही है। इंटरनेट पर कुछ संस्थाएँ भी अपनी ई-पत्रिका निकालने का काम कर रही हैं जिनके माध्यम से संस्था से जुड़े व्यक्तियों की रचनात्मक क्षमता को बाहर लाने और उसे निखारने का काम किया जाता है। केंद्रीय हिंदी प्रशिक्षण संस्थान, नई दिल्ली की ई-पत्रिका 'पारिजात' और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर की ई-पत्रिका 'अंतस' ऐसी ही साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं। हिंदी की इन प्रमुख ई-साहित्यिक पत्रिकाओं के आलावा नॉटनल जैसी वेबसाइट पर 'हंस', 'तद्भव', 'लमही', 'नया ज्ञानोदय', 'वर्तमान साहित्य', 'बनास जन' जैसी प्रमुख हिंदी साहित्यिक पत्रिकाओं के ई-संस्करण मौजूद हैं जिन्हें खरीदकर ऑनलाइन पढ़ा जा सकता है। कह सकते हैं कि आज इंटरनेट पर हिंदी साहित्यिक पत्रिकाओं के डिजिटलीकरण ने हिंदी को जन-जन तक पहुँचाया है। पाठक के लिए बाजार से एक

निश्चित समय तक इंतजार के बाद पत्रिकाएँ खरीदकर पढ़ना आसान नहीं होता और न ही ये पत्रिकाएँ गाँवों और छोटे शहरों से लेकर हर जगह उपलब्ध होती हैं। ऐसे में ई-पत्रिकाओं ने हिंदी प्रेमियों के बीच साहित्य अध्ययन के नए द्वार खोले हैं। इन पत्रिकाओं की पहुँच और महत्ता देश ही नहीं विदेशों तक में है। न्यूजीलैंड की 'भारत दर्शन' ई-पत्रिका और अमेरिका से प्रकाशित 'ई-कल्पना' और 'सेतु' हिंदी साहित्य के बढ़ते महत्त्व को ही दर्शाते हैं। 'ई-कल्पना' हिंदी कहानियों को बढ़ावा देने के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम कर रही है। तो वहीं पिट्सबर्ग, अमेरिका से प्रकाशित ई-पत्रिका 'सेतु' हिंदी साहित्य की द्वैभाषिक पत्रिका है जो हिंदी के विकास-विस्तार में महत्त्वपूर्ण योग दे रही है।

डिजिटल माध्यम की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं। इस मंच पर जबकि लेखक भी स्वयं आप हों और प्रकाशक भी आप, तब पाठक के लिए साहित्य के विपुल ढेर के बीच गुणवत्तापूर्ण साहित्य को ढूँढना कठिन हो जाता है। किंतु पत्रिकाओं के साथ ऐसा नहीं होता इनमें सामग्री कुछ छनकर आती है क्योंकि इनके संपादक होते हैं। ऐसे में ई-पत्रिकाएँ इस समस्या से ग्रसित नहीं है अथवा कम ग्रसित हैं। हिंदी की साहित्यिक ई-पत्रिकाएँ हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के प्रचार-प्रसार का आश्वस्तिभरा काम कर रही है यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। इन ई-पत्रिकाओं ने सुदूर बैठे हिंदी पाठकों और हिंदी साहित्य के बीच एक पुल का निर्माण किया है जहाँ पाठकों को अपनी पसंद का साहित्य तुरंत एक क्लिक पर मिल जाता है तो वहीं साहित्य पर त्वरित टिप्पणी अथवा प्रतिपुष्टि भी प्रकाशकों या लेखकों को मिल जाती है। ऐसे में इस नई प्रकाशन व्यवस्था ने हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में नए तरह के लोकतंत्र का निर्माण किया है।

संस्कृति को बचाए रखने में साहित्य ने हमेशा निर्णायक भूमिका अदा की है। जीवन संग्राम से थका-हारा मनुष्य इन लोकगीतों, किस्से कहानियों के जरिये ही अपने भीतर की मनुष्यता को बचाए रखने में सफल हो सका है। इन्हीं लोकगीतों-लोकगाथाओं में उसकी संस्कृति भी सुरक्षित रही है। आज समय बदला है, उत्तर औद्योगिक समय में वक्त की कमी सबसे बड़ी समस्या है जिससे साहित्य पीछे छूटता चला जा रहा है किंतु इसी प्रौद्योगिकी का सहारा लेकर हम अपनी संवेदना को खाद-पानी दे सकते हैं जरूरत है तो अपनी आँखें सोशल मीडिया के रंगीन पेज से हटाकर साहित्य के शब्दों पर टिकाने की। हिंदी की ई-साहित्यिक पत्रिकाएँ डिजिटल मंचों पर साहित्य की भीड़ से अभी भी बेहतर और गंभीर साहित्य का चुनाव कर हम तक पहुँचाने का कार्य कर रही हैं। हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य का विकास और विस्तार इन ई-पत्रिकाओं में सुरक्षित है यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है।

संदर्भ

1. वीकिपीडिया https://hi.wikipedia.org/wiki
2. रिपोर्ट-Hindi is 3rd most spoken language in the world with 615 millionspeakers after English, Mandarin- Feb 18, 2020- http://www.newsonair.com
3. https://www.weforum.org
4. भाषा, साहित्य और संप्रेषण : संदर्भ हिंदी (लेख), स्व॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, साहित्य अमृत, सितंबर 2003, पृ॰ 30
5. https://www.pakhi.in
6. https://www.kathabimb.com

7. https://vagartha.bharatiyabhashaparishad.org
8. https://samalochan.com
9. https://www.hindinest.com
10. https://www.apnimaati.com
11. https://geetpahal.webs.com
12. https://bharatdarshan.com

H.No. 614 J, Shiv Nagar Colony, Basharatpur]
Gorakhpur (U-P-) 273004
Mob. 9140593335
tripathijuhi83@gmail.com

हरियाणा प्रदेश के जंगम संप्रदाय के गीत संगीत में सामाजिक संबंध एवं भावनाएँ

ज्योति, असि॰ प्रोफेसर
संगीत गायन/ पीएचडी शोधार्थी
वैश्य महिला महाविद्यालय, रोहतक

हरियाणा प्रदेश अपनी सांस्कृतिक परंपराओं तथा अपनी अलग जीवनशैली खानपान, रीति-रिवाजों एवं गीत-संगीत के लिए जाना जाता है। हरियाणा के लोगों का जीवन काफी सरल है। वे अधिक दिखावा करने में विश्वास नहीं रखते हैं। हरियाणा की संस्कृति संगीत के बिना इस प्रकार अधूरी प्रतीत होती है जिस प्रकार आभूषण एवंशृंगारहीन नारी सुशोभित नहीं होती, पुष्पहीन लता एवं जलहीन नदी सुशोभित नहीं होती। हरियाणा के गीत-संगीत की बात करें तो यह अपनी मीठी धुनों एवं भक्तिमय संगीत के साथ सबका मन मोह रहा है। हरियाणा प्रांत का इतिहास भी बहुत ही गौरवशाली रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से हरियाणा को देवभूमि की संख्या दिया जाना सर्वथा उचित है। कतिपय प्राप्त शिलालेखों में तो इसे स्वर्ग कहा गया है। हरियाणा का अर्थ जहाँ पर हरि का वास है।

जंगम शब्द से अभिप्राय–जंगम का अर्थ है जिसके प्रकाश से सूर्य चाँद सहित यह ब्रह्मांड प्रकाशमान हो रहा है उस दर्शन को जंगम कहा गया है। जंगम को शिवयोगी भी कहा गया है। हिंदुओं के शेयर संप्रदाय के पुजारी या गुरु है। वे वीर शैव संप्रदाय के भी गुरु है। जंगम शब्द जड़ का विलोम शब्द है और इसका अर्थ चलने फिरने वाला होता है। आता है ये चलित लिंग के सदृश्य माने जाते हैं और स्थिर लिंग की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं। जंगम का स्वरूप भी पाँच देवी-देवताओं द्वारा निर्मित माना गया है जिसमें हर एक वस्तु का अपना विशेष महत्त्व है। जंगमों के परिधान पाँच देवी-देवताओं की देन हैं जो कि निम्नलिखित है–

जनेऊ–ब्रह्मा जी द्वारा प्रदान किया गया है।

घंटी–जंगम जो भी दान लेता है वह घंटी में ही ग्रहण करता है। यह भगवान शंकर के वाहन नंदी द्वारा प्रदान की गई है।

कर्णफूल–कर्णफूल अर्थात् कानों पर लगाए जाने वाला। जिन्हें माता पार्वती द्वारा जंगम को दिया गया था। ये सोने चाँदी या पीतल के होते हैं।

नागदेव मुकुटी–जंगम के सिर पर नाग देवस्वरूप विराजित किया गया जो कि शंकर जी ने शिवलिंग रूप में किया था।

कलंगी–कलंगी जो कि मोरपंख की होती है जिसे जंगम अपने सिर पर धारण करता है। ये है विष्णु भगवान द्वारा जंगम को प्रदान की गई थी।

इसके अतिरिक्त जंगम सफेद भगवा एवं पीले रंग का धोती कुर्ता धारण करता है।

जंगम संप्रदाय के गीत संगीत में सामाजिक संबंध एवं भावनाएँ

जंगम संप्रदाय का भक्ति से घनिष्ठ संबंध है। विशेष तौर से यह शिव विवाह कथा गायन

 ISSN 0975-735X

करते हैं। जंगम संप्रदाय अमरकथा का भी गायन करते हैं। जंगम संप्रदाय के लोगों के द्वारा समाज को प्रेरणा देने वाली रचनाओं का भी प्रस्तुतिकरण किया जाता है। इस प्रकार जंगम संप्रदाय के लोगों द्वारा कई तरह की रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं जिनका भक्ति संगीत व सामाजिक चेतना से सीधा संबंध होता है जैसे–

1. शिव कथा गायन
2. बारहमासा
3. दत्तात्रेय का जन्म
4. फूल माला
5. धुनदूकारा

हरियाणा प्रदेश के जंगम संप्रदाय से संगीत का व्यवहार

हरियाणा प्रदेश के जंगम संप्रदाय का सांगीतिक संबंध भक्ति संगीत से है। भक्ति शब्द संस्कृत के भज धातु में कित प्रत्यय लगने से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ सेवा करना या भजना है अर्थात् श्रद्धा भक्तिपूर्वक अपने ईस्ट देवता के प्रति प्रेम। धर्म से संगीत को और संगीत से धर्म को जोड़ने वाली शक्ति भक्ति ही है।

जंगम संप्रदाय के गीत संगीत में समाजिक संबंध एवं भावनाएँ

जंगम संप्रदाय का संगीत मुख्य तौर से भक्ति संगीत है भक्ति संगीत गीत व वादों द्वारा भागवत प्रेम की प्राप्ति एवं भगवान का गुणगान करने को ही भक्ति संगीत कहते हैं। भारतीय संगीत दो प्रकार का माना गया है। एक शास्त्रीय संगीत दूसरा सुगम संगीत। भक्ति संगीत सुगम संगीत के अंतर्गत आता है।

जंगम संप्रदाय के संगीत में भक्ति भावना के साथ-साथ सामाजिक संबंध एवं भावनाएँ भी विशेष तौर से स्पष्ट नजर आती है। जंगम संप्रदाय द्वारा गाए जाने वाली कुछ पंक्तियाँ जो समाज को आगे आनेवाले समय के बारे में बतलाती है निम्नलिखित हैं–

भजो राम शंकर के नाम न, कान खोल के सुन ले ब्रह्मा,
ऐसा जमाना आन लगेगा, अकल खोटी बुरा जमाना,
दुनिया में बढ़ जावे बेईमाना, भाई रे भाई मैं बैर लगेगा,
गुरु चेले में बैर लगेगा, गुरु की निंदा चेला करेगा,
चेले की निंदा गुरु करेगा, ऐसा जमाना आन लगेगा,
अक्कड़ बम बम, बक्कड़ बम बम,
बबम बम बम, बबम बम बम।।

उपर्युक्त पंक्तियों में जंगम द्वारा बहुत समय पहले ही बतलाया गया था कि आने वाला समय कैसा होगा, जैसा कि पंक्तियों में वर्णित है कि ऐसा जमाना आएगा जिसमे ये ईमानदारी न के बराबर होगी, सगे भाइयों में वैर-विरोध बढ़ने लगेंगे, जहाँ गुरु शिष्य के लिए इतना पूजनीय है, वहीं पर कलियुग में गुरु और शिष्य के बीच भी वैर-भाव बढ़ेंगे, गुरु अपने शिष्य की निंदा करेगा एवं शिष्य गुरु की निंदा करेगा, इस तरह से शिव नाम जपते हुए समाज को आगे आने वाले समय में क्या-क्या भोगना पड़ेगा वह सब जंगम संप्रदाय के द्वारा अपनी रचनाओं में बतलाया गया है।

पाँच साल की कन्या होगी, सात साल की घर वर माँगे,
नौ साल की ब्याह करावे, बारह साल की पुत्र खिलावे,

अठारह बरस की नानी कहावे, बीस साल बंदे की उम्र है,
कुड़ी आस्था नीर बरसेगा, उन्नीस बिस्वे पाप बढ़ेगा,
चंड पाखंड ने माने पृथ्वी, पाखंड पूजा बहुत बढ़ेगी।।

समाज के संदर्भ में जंगम संप्रदाय द्वारा उपर्युक्त पंक्तियों में बतलाया गया है कि जैसे-जैसे कलयुग अपनी चरम सीमा पर बढ़ेगा तो व्यक्ति की उम्र भी कम हो जाएगी, बतलाया गया है कि जब लड़की पाँच वर्ष की होगी तो उसके लिए शादी-विवाह बारे चर्चा प्रारंभ हो जाएगी, और नौ वर्ष की उम्र को शादी के लिए उचित उम्र माना जाएगा, 12 वर्ष की उम्र तक संतान उत्पत्ति हो जाएगी, 20 वर्ष कुल उम्र बताई गई है।

इस प्रकार जंगम संप्रदाय के द्वारा समाज में घटित होने वाली घटनाओं के बारे में बहुत वर्षों पहले से कथा गायन के द्वारा बतलाया जा चुका है। कलियुग अपनी पराकाष्ठा पर कैसा होगा ऐसा भी संप्रदाय द्वारा बताया गया है कि न तो भाई-भाई में प्यार रहेगा और न ही गुरु-शिष्य में वह आदर भाव रहेगा। अत: स्पष्ट तौर पर कह सकते हैं कि जंगम संप्रदाय के द्वारा कथा वाचन में समाज को भविष्य के बारे में चेताया जाता रहा है एवं भक्ति से जोड़कर रखा गया है। ये लोग अपनी कथा वाचन द्वार-द्वार पर जाकर भी करते हैं, किंतु विशेष तौर से यह शिवरात्रि के उपलक्ष्य में शिव कथा आयोजन करके उसमें अपना कथा गायन करते हैं, कुछ घरों में विवाह शादियों के शुभ मंगल अवसर पर भी जंगम संप्रदाय द्वारा कथा करवाई जाती है। जंगम शिव का पुरोहित होने के कारण पूरी पृथ्वी का पुरोहित है एवं सर्वत्र पूजनीय है।

संदर्भ

1. शिवयोगी शिवाचार्य, श्रीसिद्धांत शिखामणि
2. श्रीनिवास जंगम, बरहाकलां (जींद), साक्षात्कार परामर्श
3. रमेश जंगम, साक्षात्कार परामर्श, बराहकलां (जींद)
4. बेनीवाल, डॉ॰ रामनिवास, शिव शरणं है जंगम वाणी, दैनिक जागरण, 12 मार्च 2012 पृ॰ 14
5. वसंत, संगीत विशारद, संगीत कार्यालय हाथरस

 ISSN 0975-735X

गीतांजलि श्री के उपन्यास 'रेत-समाधि' में अभिव्यक्त स्त्री-संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व

डॉ॰ प्रभात रंजन, शोध-निर्देशक, सहा॰ प्राध्यापक हिंदी
मनोज खूँटे (शोधार्थी), हिंदी विभाग
संत गुरु घासीदास शास॰ स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
कुरूद, (धमतरी) छ॰ग॰

गीतांजलि श्री अपने उपन्यास 'रेत-समाधि' के माध्यम से भारतीय स्त्री-जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक पक्षों से उपजे संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व को पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करती है। उनकी सूक्ष्म-दृष्टि, स्त्री-जीवन के संघर्षों और अंतर्द्वंद्व के सभी परतों को खोलती है। उनका यह उपन्यास काल्पनिक एवं वायवीय न होकर यथार्थ की भूमि पर स्थित है, जिसमें अपने समय, स्थिति में बदलाव का चित्रण भी दिखाई देता है। लेखिका ने अपने इस उपन्यास में स्त्री-संघर्ष को रेखांकित करते हुए उसके समाधान की ओर इशारा भी किया है। यह उपन्यास में स्त्री संबंधी रूढ़ि परंपराओं एवं वर्जनाओं का भी खंडन किया गया है। अत: 'रेत-समाधि' उपन्यास को स्त्री-वर्ग के संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व का आईना कहा जा सकता है।

संघर्ष परिवर्तन, विकास एवं अस्तित्व को बनाए रखने की सहज एवं अनिवार्य प्रक्रिया है। इसमें मूल्य की सापेक्षता विद्यमान रहती है जिससे हमारी परंपरा, संस्कृति एवं मूल्य के संरक्षण के साथ-साथ मानव जीवन का विकास भी होता है। मानव जीवन में मात्र विरोध संघर्ष नहीं होता अपितु संघर्ष में नव-सृजन एवं विकास भी होता है। गीतांजलि श्री 'रेत-समाधि' उपन्यास के पात्रों के माध्यम से सृजन एवं नव निर्माण की प्रक्रिया को एक नया आयाम देती हैं। जीवन के संघर्ष को रेखांकित करते हुए मनुष्य एवं मनुष्यता के विकास का शुभ संकेत एवं कल्याण मार्ग प्रशस्त करती हैं। गिलीन के अनुसार, 'संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष हिंसा या धमकी का प्रयोग करते हैं अर्थात् किसी साध्य प्राप्ति हेतु किए जाने वाले संघर्ष की प्रकृति ही विरोधी के प्रति घृणा एवं हिंसा की भावना युक्त होती है।'[1]

जब मानव की इच्छा एवं विवेक में आपसी सामंजस्य न बैठे तब वहाँ अंतर्द्वंद्व का जन्म होता है जो मानव मन में अनेक विचलित करने वाले भावों को उत्पन्न करता है। 'परस्पर विरोधी इच्छाएँ, आदर्श तथा लक्ष्य उपस्थित होने पर तत्संबंधी सही चुनाव या सही निर्णय लेने में अपने-आपको असमर्थ पाना ही अंतर्द्वंद्व है।'[2]

द्वंद्व ही मानव की निराशाओं का मूल स्रोत माना गया है क्योंकि द्वंद्व से लक्ष्य की प्राप्ति में विलंब या बाधा उत्पन्न होती है।

यह उपन्यास मुख्यत: तीन खंडों में विभक्त है जिनके नाम क्रमश: 'पीठ', 'धूप', और 'हद-सरहद' हैं। 'पीठ' खंड में स्त्री-जीवन के दु:ख, अंतर्द्वंद्व, अवसाद, नीरस-जीवन के प्रति

उदासीनता को उजागर किया गया है। 'धूप' खंड में स्त्री को अपनी समस्याओं से लड़ते, संघर्ष करते चित्रित किया गया है। 'हद-सरहद' खंड में विभाजन की शिकार होती स्त्री की कथा है कि किस प्रकार वह अपने प्रेम के लिए पारिवारिक, सामाजिक, दैहिक वर्जनाओं को तोड़ती है। यहाँ स्वच्छंद तेवर वाली स्त्री-संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व चित्रित है। साथ ही लेखिका समाज में स्त्रियों के संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व के प्रति मानवीय चेतना स्थापित करना भी चाहती हैं। जगदीश्वर चतुर्वेदी के अनुसार, 'असल में मानवीय चेतना की खोज करना इसका प्रधान लक्ष्य है।'[3]

नारी पात्रों का संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व

चंदा–उपन्यास की सर्वप्रमुख पात्र चंदा है जिसको परिवार के सभी लोग अम्मा कहते हैं, अम्मा की किरदार के संबंध में राजकमल प्रकाशन समूह के साथ लाइव बातचीत में गीतांजलि श्री ने कहा था–'रेत समाधि की अम्मा एक संयुक्त परिवार की आम दिखती हुई महिला है जो पत्नी, माँ, दादी हैं। जीवन से बेजार, विधवा, बिस्तर पकड़ी हुई अब माँ को जब परिवार वाले उठाने की कोशिश करते हैं तो वह उठकर गायब हो जाती है। जब वह वापस मिलती है तो एक संपूर्ण बदले हुए रूप में। दरअसल, यह उपन्यास एक औरत की जिजीविषा, दोस्ती, विभाजन माँ-बेटे, माँ-बेटी और प्यार की दीदार की कहानी है।'[4]

गीतांजलि श्री ने उपन्यास के प्रारंभ में ही उपन्यास का सार कहा है। जैसे कि उपन्यास का अंत अम्मा की मौत से होता है तो यह बात लेखिका ने शुरू में कही है। जैसे–

'कहानी का अंग ये बना कि गोली आई थी तब तक माँ मनमाफिक गिरने की माहिर हो चुकी थी। गोली आई और छेद करती निकल गई। कोई भी दूसरा मिट्टी में मुँह साने लोट जाता पर माँ पीछे को उछली ज्यों कलाबाजी लगाती, आसमान ऊपर लिए और फतेह के अंदाज में धरती पर लेट गई, शान से, आन से, मानो आराम देह बिछौने पर। मौत को अंत मानने वालों ने इसे अंत जाना पर जो जानते थे कि अंत-वंत नहीं है एक और सरहद लाँघ गई है वो।'[5]

लेखिका गीतांजलि श्री ने चंदा के रूप में एक अलग ढंग का स्त्री-विमर्श प्रस्तुत किया है। जब तक अफसर पति जिंदा थे तब तक चंदा परिवार के कार्यों में उलझी रहती, परिवार की जरूरतों को पूरा करने में हाफती हफाती; लेकिन पति की मृत्यु के बाद जैसे उसकी जिंदगी भी थम सी गई।

'पापा थे तो हरदम उनकी देखरेख में, फुर्तीली, मुस्तैद, लाख थकन हो तो भी। चूर-चूर होते जाने के चूर में व्यस्त, जीवंत। खीजती खफाती, सँभालती फफाँती, साँस पर साँस पर साँस चलाती। क्योंकि सभी की साँस उसी में चलती, सभी की साँस वो चलाती। और अब, कि नहीं उठना मुझे। जैसे पापा ही जीने का मकसद थे। गए तो गया।'[6]

वह हमेशा दरवाजे की तरफ पीठ की बैठी रहती और जब भी कोई उसे उठाने जाता तो यही कहती–'नहीं, मैं नहीं उठूँगी।'[7]

स्वर ध्वनि के बदलने का रहस्य उपन्यास में धीरे-धीरे खुलता है, परिवर्तित स्वर-ध्वनि नई रवानगी, नई उमंगों का प्रतीक है। अस्सी वर्ष की आयु में वह वैसा जीवन जीने लगती है जैसे अब तक मर्यादा तले दबकर जी नहीं पाई थी।

एक सच्ची प्रेमिका का चित्र हम अम्मा में पाते हैं। बचपन के दिनों में ही उसे अपने साथी अनवर से प्रेम हो गया था लेकिन भारत-पाक विभाजन के कारण दोनों को अपनी अलग-अलग दुनिया बसानी पड़ी, लेकिन अस्सी वर्ष की अम्मा की चाहत, अपने प्रेमी से न मिल पाने और एक दूसरे को किया वादा पूरा न कर पाने की कसक को पूरा करने के लिए अम्मा सारे खतरे उठाकर

 ISSN 0975-735X

बॉर्डर को पार कर अनवर (प्रेमी) से मिलने जाती है–

'उनके वालिद का हाथ माँ के हाथ में था तुम नहीं आए, माँ ने कहा, मुझे माफ किया। मैं नहीं आई, तुम मुझे माफ करना।'[8]

और वहीं अनवर के साथ ही उसकी मृत्यु हो जाती है। वरिष्ठ फिल्म आलोचक रवींद्र त्रिपाठी जी कहते हैं–'रेत-समाधि एक प्रेम कहानी भी है। प्रेम युवा दिनों का और कहानी वृद्धावस्था की।'[9]

रोजी से गहरी मित्रता उनके मानवीय सरोकार को दिखलाती है। बेटे, बेटी, बहू, पोतों के प्रति भी उन्हें बहुत प्यार है। अपने पोते सिड से उन्हें खास लगाव है जिसके साथ बैठकर वे ब्रांडी भी पीती हैं–

'वाह! वाह, सिड ने कहा और गिलास बढ़ाया। मुझे लगता है ग्रैनी ने और दो घूँट सरकाए। शायद बातों की रव में। यह सब फ्री महसूस कर रहे थे इसलिए।'[10]

इस उपन्यास में अम्मा ऐसी पात्र है जो अंत तक संघर्ष और अंतर्द्वंद्व से जूझती रहती है।

बहन–चंद्रप्रभा देवी उर्फ चंदा उर्फ अम्मा की बेटी जो बड़े बेटे की बहन है–आजाद ख्याल, स्वावलंबी, आधुनिक-स्त्री के रूप में पाठकों के समक्ष लगती है। उसमें पाठक को एक सशक्त स्त्री की झलक मिलती है। शुरू से ही वह अपनी पसंद का जीवन जीने की आदी रही है। बचपन में भी जब घर से बाहर निकलने की पाबंदी रहती तब माँ का सह पाकर वह खुले आकाश में उड़ान भरने निकल पड़ती–

'जैसे अमरूद के बाग की तरफ खुलती खिड़की को। उसे माँ ने बेटी के आने जाने का छुपा रास्ता बना लिया। अंदर नहीं बिल्कुल नहीं जा का हल्ला, इधर खिड़की लाँघकर बेटी चिड़िया की तरफ फुर्र। बस माँ को पता।'[11]

इरफान सिद्दीकी की पक्तियाँ–

सरहद अच्छी की सरहद पे न रुकना अच्छा।
सोचिए आदमी अच्छा कि परिंदा अच्छा।[13]

इस स्वच्छंद विचारधारा के लिए ही बनी है जैसी प्रतीत होती है। बहन ने अपनी पसंद की उड़ाने उड़ीं, जवानी में भी उसके अफेयर के कई किस्से-कहानियाँ बने जिससे उसके बड़े भाई ने कई पाबंदियाँ लगाईं लेकिन सब बेकार। पेशे से वह लेखिका एवं पत्रकार है, उसने अपने पसंद का जीने का ढंग चुना। अपने भाई से अलग होकर वह शहर में फ्लैट लेती है। लंबे अरसे से उसके बड़े भाई से बात नहीं हो रही है किंतु घर आना-जाना लगा रहता है। उपन्यास में अहम भूमिका निभाने वाले पात्र बेटी जो अपनी जिंदगी स्वयं के मुताबिक स्वतंत्र रूप से अपने विचार रखती है और उसको परिवार में सिर्फ माँ का सहारा है। उपन्यास में उसके फटेहाल जिंदगी के बारे में लेखिका लिखती हैं–

'जैसे बहन। बेचारी बेचारी। डाँटना-फटकारना दुराना सब जरूरी था उसे वापस राह पर लाने को। पर थी वो बेचारी। कितनी कितनी... बेवकूफ लड़की, नाजो से पली, लाडली लल्ली की जिद। अपने ही नुकसान के प्रति नादान, अनजान। और फायदा उठाने वाले, भूलताओं में डालने वाले नालायक जन, जिन्हें वो प्रेमीगण समझती। रह जाती बार-बार अकेली। उसके ऊँचें घराने, अफसर भाई बाप कोपता नहीं पाए तो बोरिया बिस्तर लेकर चल दिए। अकेली, गरीब, बेचारी उसे छोड़कर कहीं टिककर नौकरी भी नहीं मिली। आज यहाँ लिख दिया, कल वहाँ बोल गई। सेक्रेटेरिएट

लाइब्रेरी में कुछ खरीद उसकी किसी के पल्ले न पड़ने वाली इक्का-दुक्का किताबों की, भाई ने करा दी। बाकी, हारी मारी फिर रही है कपड़े लत्ते भी गवारों, जमादारिनों से। कभी खुरदुरा, जैसे टाट का कुरता, अब फटा तब फटा पजामा, कभी राजस्थान गुजरात के गाँव से पच्चीस-तीस रुपए में मिली बकवास घाघरे। शक्ल सूरत से उसकी मुफलिसी टपके और देखकर परिवार के आँसू।'[13]

दोनों ही भाई और बहन माँ के लिए चिंतित एवं संघर्ष करते रहते हैं। बेटी अपने और माँ के जीवन के लिए संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व में डूबती-निकलती रहती है।

रोजी–'रेत-समाधि' उपन्यास का अत्यंत महत्वपूर्ण एवं अविस्मरणीय पात्र है। सबसे पहले इस पात्र का उल्लेख अम्मा के साथ आया है कि अम्मा के साथ बैठकर दालमोठ खाती और खूब बात करती थी–

'रोजी बुआ के आने पर वे चुप हो गए। खुश, पता नहीं। रोजी हिजड़ा बरसों से आती थी माँ से मिलने। बहन जी बहन जी करती।'[14]

रोजी बुआ और अम्मा में घनिष्ठता बढ़ती ही चली गई। रोजी उन्हें पहनने-ओढ़ने के नए नए ढंग के साथ खाने-पीने के अलग-अलग चीजों से परिचय कराती।

'कौन से बदन वाली रोजी के संग माँ भी नई नवेली बदन हो गई है। बाल धाके निकली है, तौलिए में ढीला लपेटा था क्योंकि रोजी की हिदायत है कि गीले बाल खुले छोड़ने से हवाएँ उनका माल ले उड़ती हैं, सुखाकर देती है। अब ढीली चोटी बना रही है। माँ कुर्सी पर बैठी है और रोजी उनके पीछे खड़ी उन्हें छूती।'[15]

रोजी एक स्वावलंबी किन्नर है, अपनी रोजी-रोटी खुद चलाती है। जब अचानक ही जमीन के विवाद में रोजी की हत्या कर दी गई, तब पूरे अधिकार से रोजी का देह संस्कार अम्मा ने ही किया। वास्तव में रोजी कौन थी, वह अम्मा से इतनी आत्मीयता कैसे थी–यह रहस्य उपन्यास के अंत तक बना रहता है और उपन्यास के अंत में पता चलता है कि भारत पाक विभाजन में रोजी अम्मा से मिली थी और बाजी कहकर उनका हाथ थाम लिया था।

'लो बाजी। लोग पागल हो गए हैं। अभी भाग जाओ फिर लौट आना। जल्दी। अपने घर। बाजी, छोटी लड़की सिसकी। जो उसका हाथ पकड़ी थी। जैसे कभी हाथ नहीं छोड़ेगी। दूसरे हाथ में मूर्ति। बच्ची को खींचती हुई मैं रेत पर भागी। वो बच्ची रोजी थी।'[16]

रोजी स्वभाव से निश्छल होते हुए भी संघर्ष के शिकार होती है और अंत में उसकी हत्या हो जाती है।

बहू–'रेत-समाधि' उपन्यास में अम्मा की बहू एक घरेलू स्त्री पात्र के रूप में सामने आती है। अति उच्च अभिजात वर्ग से होने के बावजूद उसकी आदतें, स्वभाव व्यवहार में घरेलूपन है। वह अपने परिवार से गहरा रिश्ता रखती है। बहू का बहुत ही सरल एवं सहज व्यक्तित्व है–

'चाहे कम, चाहे ज्यादा, जो ताजा बना है दो, अगर और कुछ नहीं बना सकती। बड़े नेकामवाली को झिड़का। हटाओ उसे। रख दो वापस, बहुत तड़तड़ायी, मैं खाऊँगी। रख दो इनके लिए। और कोई नहीं खाएगा। मर गई तो कहना साहब ने मार दिया।'[17]

सहज स्वभाव बहू की चारित्रिक विशेषताएँ हैं इसलिए जब भी तकलीफ होती है तो सात समुंदर पार बैठे अपने बेटे को फोन लगाकर सारा हाल कह देती है। अपने पति से कितना भी लड़ झगड़ ले लेकिन भावना गहराई से पति से जुड़ी हुई होती है। दु:ख में पूरा साथ देती है–

'ऐसा कैसे हो सकता है, उसके मन में हूक उठी। कंधे पर बीवी का हाथ छुला तो वे मुड़े।

वो पीछे आ खड़ी हुई थी। सो नहीं रही थी।'[18]

अपनी सासु के प्रति जिम्मेदारी का भाव इन पंक्तियों में दिखता है–

'वो रूआँसी होने लगी। मैंने उनका कमरा ठीक किया कि उन्हें सब आसान लगे–थरमस गरम पानी का, संगीत के लिए छोटा प्लेयर न चले मैं क्या करूँ। गुलदस्ता, टीवी भी मैंने कहकर लगवाया था कि खबरें ही लगा लें। छोटी से छोटी चीज मुझे सूझी, इन्हें नहीं।'[19]

परिवारिक संघर्ष में पति-पत्नी की नोक-झोक भी इस उपन्यास में देखने को मिलती है–

'अरे अरे केयरफुल, बड़े चिल्लाए, हजार रुपए की है। किसने कहा, बहू ने गरज लगाई, आधा दाम क्यों बता रहे हैं? मैं लाया था दादी के लिए, विदेशी बेटे ने फोन पर याद दिलाया। सुझाया मैंने था अब अम्मा के पास रख दो, घर की बहू ने सबको सुनाया। जौन-सा रंग नहीं उसमें, मैं अम्मा से कहती ढूँढो, बेटी ने अपनी हाँकी। उसके करतब मैंने बताए, बड़े नहीं बड़ों की आवाज में कहा। यानी परिवारों की रिवायत कायम की। असल सोच मेरी पर रेनबो?'[20]

लोभ में अंधे हो जाने पर बुजुर्गजनों की तकलीफों पर ध्यान नहीं जाता, उनकी पेंशन तक हड़पने की कोशिश की जाती है, इसका भी चित्रण 'रेत समाधि' उपन्यास में है। माँ की पेंशन को हड़पने के लिए पति-पत्नी आपस में लड़ते नजर आते हैं–

'और अम्मा जो सब यहाँ देती हैं? बड़े गरजे वो तुम जानो। तुम्हीं उनसे साइन करा के उनकी पेंशन इधर-उधर लगाते रहते हो।'[21]

निष्कर्ष

यह सिर्फ बूढ़ी होती हुई स्त्री की; युवा होती हुई उम्र में वापस जाने की कथा भर नहीं है। यह दो देशों के बीच खींची सरहद की कथा है। सरहद लाँघती स्त्री की कथा है, समय को लाँघती स्त्री की कथा है। देह, मन, प्रेम, प्रीत की आशा लिए अपनी जड़ें तलाशती स्त्री की कथा है। बनते-बिखरते संयुक्त परिवारों की कथा है। इसका कथानक इतना विस्तृत है, फलक इतना विस्तृत है कि सारी चीजों को समेटने में यह कहीं-न-कहीं भारी भी हुई है।

लेखिका स्त्री होने के कारण अपनी लेखनी स्त्री-विमर्श को लेकर भी चलाती है। रवींद्र त्रिपाठी जी के शब्दों में–'उनकी रचनाओं में नारीवाद भी है लेकिन सिर्फ वही नहीं है।'[22]

उनकी लेखनी में स्त्री भारतीय मूल्यों से अनुप्राणित तो है पर उन्हें पश्चिमी सभ्यता का ज्ञान भी है। इनके स्त्री पात्र दोनों सभ्यताओं के मूल्यों के बीच उलझते एवं फँसते नजर आते हैं तथा अपनी अस्मिता की तलाश में अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी बनाते हैं यही इनके स्त्री पात्रों की मुख्य विशेषता है। गीतांजलि श्री के इस उपन्यास की मूल संवेदना मानवीय है। स्त्री को वे सर्वप्रथम इंसान के रूप में देखती है। यही उनकी स्त्री चेतना की आधार भूमि है। लेखिका अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री को समाज में सम्मान दिलाना चाहती हैं, वे स्त्री को स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व निर्माण करने की बात करती हैं, उनका मानना है कि स्त्री को अपने जीवन में आने वाली समस्याओं से स्वयं ही लड़ना एवं संघर्ष करना होगा।

संदर्भ

1. https://www-scotbuzz-org>2017/04
2. https://www-4to40-com/yoga/conflict
3. जगदीश्वर चतुर्वेदी, नया ज्ञानोदय, जुलाई-सितंबर 2022, पृ॰ 15
4. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, कवर पृष्ठ से

5. वही, पृ॰ 12
6. वही, पृ॰ 10
7. वही, पृ॰ 33
8. वही, पृ॰ 50
9. रवींद्र त्रिपाठी, नया ज्ञानोदय, जुलाई-सितंबर 2022, पृ॰ 9
10. वही, पृ॰ 69
11. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 20
12. वही, पृ॰ 33
13. इरफान सिद्दीकी, रेखता वेबसाईट
14. गीतांजलि श्री, रेत समाधि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 88
15. वही, पृ॰ 208
16. वही, पृ॰ 305
17. वही, पृ॰ 25
18. वही, पृ॰ 102
19. वही, पृ॰ 104
20. वही, पृ॰ 50
21. वही, पृ॰ 69
22. रवींद्र त्रिपाठी, नया ज्ञानोदय, जुलाई-सितंबर 2022, पृ॰ 9

मो॰ 8815694939
manojkhunte00@gmail.com

 ISSN 0975-735X

कलचुरीकालीन अभिलेखों में साहित्य के विभिन्न आयाम

प्रीतम, शोधार्थी
डॉ॰ आशारानी दाश, शोध निर्देशक (सहा॰ प्राध्यापक)
कला एवं मानविकी संकाय
आई॰एस॰बी॰एम॰ विश्वविद्यालय,
नवापारा-कोसमी, छुरा, (गरियाबंद) छ॰ग॰

प्रस्तावना–सन् 550 ई॰ से लेकर 1740 ई॰ तक लगभग बारह सौ वर्षों की अवधि में कलचुरी नरेशों ने भारतवर्ष के उत्तर अथवा दक्षिण स्थित कुछ प्रदेशों में अपना राज्य चलाया है। पूर्व मध्यकाल में भारत वर्ष में कुछ छोटे-छोटे राज्य थे और कुछ बड़े राज्य व साम्राज्य भी स्थापित हुए। उन राज्यों के बीच शांति काल और युद्ध काल दोनों में पारस्परिक संबंध थे। अभिलेखों के आधार पर बहुत सारे कवियों-लेखकों के बारे में ठोस एवं प्रत्यक्ष प्रमाण कम ही उपलब्ध हैं, परंतु उनके द्वारा रचित साहित्य में उपलब्ध विभिन्न संदर्भों के आधार पर उनकी जीवनी एवं उनकी कृतियों के संबंध में कतिपय निष्कर्षों पर आसानी से पहुँचा जा सकता है, लेकिन अभिलेख ही किसी भी शासन को जानने का प्रामाणिक स्रोत होते हैं।

कलचुरीकालीन अभिलेखों में साहित्य के विभिन्न आयाम

वैसे तो अभिलेखों के आधार पर बहुत सारे कवियों-लेखकों के बारे में ठोस एवं प्रत्यक्ष प्रमाण कम ही उपलब्ध हैं परंतु उनके द्वारा रचित साहित्य में उपलब्ध विभिन्न संदर्भों के आधार पर उनकी जीवनी एवं उनकी कृतियों के संबंध में कतिपय निष्कर्षों पर आसानी से पहुँचा जा सकता है।

मायुराज अनंग हर्ष को विभिन्न इतिहासकारों द्वारा कलचुरीकाल का सर्वथा प्रथम ज्ञात कवि माना गया है, जिनकी दोनों संस्कृत कृतियाँ 'उदात्तराघव' एवं 'तापसवत्सराज' आज उपलब्ध नहीं हैं, परंतु विभिन्न परवर्ती रचनाओं में इनके जिक्र के आधर पर इनके बारे में इतिहास के ग्रंथों में चर्चा होती रही है। डॉ॰ मिराशी ने मायुराज के उपर्युक्त दोनों ग्रंथों से पहले भी 'हरपार्वतीय' नामक ग्रंथ की उपलब्धता स्वीकारी है।[1] कलचुरी संवत् 436 में निर्मित धराश्रय-जयसिंह के नासिक पत्रों की पंक्ति संख्या 10 एवं 11 में 'हरपार्वतीय' नामक नाटक के रचियता के रूप में किसी ऐसे व्यक्ति की चर्चा मिलती है जिसके नाम के अंत में 'शिव' आया है, नाम के प्रथम अक्षरों के ध्वस्त हो जाने के चलते इस ख्यातिलब्ध लेखक का पूरा नाम (हरपार्श्वति (ती) य नाटककरणविख्यात कवि... शिवभट्ट (ट्टा) रका (क) श् ..) तो ज्ञात नहीं हो पाता परंतु उक्त नाटक के चलते उनके एक चर्चित लेखक होने की बात अवश्य स्थापित हो जाती है। इसके अलावा यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि धराश्रय-जयसिंह इनका बेहद सम्मान (भिक्षवयर्च्चनमुढा) करते थे। चूँकि इस कृति का संदर्भ न तो किसी अभिलेख में प्राप्त होता है और न ही बाद के ग्रंथों में कहीं इसकी कोई चर्चा मिलती है, इसलिए इसकी रचना के प्रयोजन अथवा विषयवस्तु पर कोई विशेष टिप्पणी करना

संभव नहीं है फिर भी शीर्षक के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उपर्युक्त नाटक के माध्यम से शिव एवं पार्वती के जीवन से संबंधित किसी विशेष प्रसंग को प्रस्तुत किया गया होगा। डॉ॰ मिराशी ने लेखक का नाम 'शिव' शब्द पर खत्म होने को आधार बनाते हुए उन्हें शैव संप्रदाय का तपस्वी माना है।[2]

मायुराज के संबंध में सर्वाधिक प्रामाणिक टिप्पणी जल्हड़ के सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत राजेशखर के एक श्लोक को माना जाता है, जिसमें कहा गया है कि मायुराज के समान श्रेष्ठ एवं जगविख्यात कवि कोई दूसरा नहीं था।[3] मायुराज की ख्याति एवं उनकी कृतियों की आलंकारिक विशेषताओं एवं काव्यशास्त्रीय परिपक्वता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इन कृतियों का संदर्भ हमें संस्कृत के विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों यथा–'दशरूपक' (द्वितीय पृ॰ 24 एवं चतुर्थ, पृ॰ 13 व 28), 'वक्रोक्तिजीविता' (पृ॰ 225 व 244) एवं 'नाट्यदर्पण' (पृ॰ 66, 116, 194) आदि में प्राप्त होता है जहाँ एक तरफ मायुराज द्वारा लिखित नाटक उदात्तराघव की एक हस्तलिखित प्रति डॉ॰ बी॰ राघवन् के पास उपलब्ध होने तथा उनके दूसरे नाटक 'तापसवत्सराज' की शारदा लिपि में लिखित एकमात्र खंडित पांडुलिपि के आधार पर यदुगिरि यतिराज द्वारा उसकी एक आवृत्ति प्रकाशित करने का दावा डॉ॰ अजयमित्र शास्त्री करते हैं[4] वहीं दूसरी तरफ 'तापसवत्सराज' की शारदा लिपि में ही लिखी गई हस्तलिखित प्रति को बर्लिन के एक पुस्तकालय में उपलब्ध होने का दावा डॉ॰ आर॰के॰ शर्मा करते हैं।[5] इन प्रतियों पर मायुराज के स्थान पर लेखक का नाम 'मात्रराज' अथवा 'अनंगहर्ष' दर्ज होने की बात भी दोनों इतिहासकारों ने स्वीकार की है, परंतु नाम में हुए परिवर्तन को लेकर किसी स्पष्ट साक्ष्य की अनुपलब्धता के चलते इन तीनों नाम से एक ही व्यक्ति को संबोधित किए जाने की बात मानी जाती है। नाटक के शीर्षक एवं उपर्युक्त ग्रंथों में विभिन्न स्थानों पर उद्धृत अंशों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उदात्तराघव की मूल विषयवस्तु निश्चित रूप से वाल्मिकीकृत रामायण में वर्णित राम कथा से ली गई है परंतु मायुराज ने राम के चरित्र को और उदात्त बनाते हुए पूरी तौर पर एक दोषरहित नायक के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है जैसा कि 'दशरूपक' (तृतीय पृ॰ 24) में हुए इस नाटक के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है।[6] मूल रामायण में जहाँ राम द्वारा बाली का छलपूर्वक वध करने का प्रसंग मिलता है वहीं मायुराज द्वारा इस पूरे प्रसंग के परित्याग की बात सामने आती है। इस प्रसंग का जिक्र न होने से राम के नायक के रूप में उनके चरित्र के ऊपर लगे आरोपों का शमन हो जाता है। ऐसे ही मारीच वध के प्रकरण में भी मायुराज द्वारा यथेष्ट संशोधन (दशरूपक, चतुर्थ, पृष्ठ 28) कर राम के नायकत्व को और प्रखर एवं प्रभावी बनाया गया है।

कलचुरी काल का दूसरा ज्ञात कवि भीमट हुआ जिसके बारे में जल्हड़ ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर को उद्धृत करते हुए लिखा है कि भीमट कालंजर का राजा था और उसने 5 नाटकों की रचना की जिसमें से 'स्वप्नदशानन' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। 'नाट्य-दर्पण' (पृष्ठ 12) में भीमट के एक अन्य नाटक 'मनोरमावत्सराज' का उल्लेख मिलता है।[7] सूक्तिमुक्तावाली में भी भीमट द्वारा रचित कुछ सुभाषित पदों का उल्लेख मिलता है। कसया अभिलेख के पंक्ति 17 और 21 में भी भीमट के नाम का उल्लेख मिलता है, परंतु डॉ॰ मिराशी के अनुसार उनका काल भिन्न है।[8] शंकरगण द्वितीय अथवा मुग्धतुंग, जिसने संभवत: 890-910 ई॰ तक त्रिपुरी पर शासन किया, को भी अपने काल का एक श्रेष्ठ कवि एवं साहित्यप्रेमी माना जाता है। चूँकि इस नाम से कई कलचुरी शासक हुए हैं, इसलिए इतिहासकारों में इसको लेकर परस्पर मतभेद है, और यहाँ तक भी माना

जाता है कि इस कवि का राजपरिवार से कुछ भी लेना-देना नहीं था। चूँकि शंकरगण द्वितीय को कवि राजशेखर के पूर्वज कवि सुरानंद का आश्रयदाता भी माना गया है इसलिए उनकी साहित्य में विशेष रुचि होने से इंकार नहीं किया जा सकता। जल्हड़ की सूक्तिमुक्तावली में संग्रहित राजेशखर के एक सुभाषित के अनुसार सुरानंद राजा रणविग्रह का समकालीन था और 'रणविग्रह' राजा शंकरगण के लिए ही प्रयुक्त होने वाला विरुद्ध था। अतिशयोक्ति अलंकार की काव्यशास्त्रीय विवेचना करते समय जल्हड़ ने जिस संस्कृत श्लोक को उद्धृत किया है उसे शंकरगण द्वितीय द्वारा प्रणीत माना जाता है। ऐसे ही बल्लभदेव की सुभाषितावली[9] और भोजकृत 'सरस्वती कंठाभरण' में भी इस कवि के कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं।

राजशेखर कलचुरी शासनकाल के सर्वाधिक प्रतिष्ठित साहित्यकार माने जाते हैं। वे कवि एवं नाटककार होने के साथ-साथ एक बेहद महत्त्वपूर्ण टीकाकार एवं काव्यशास्त्री भी थे। इनकी अपनी रचनाओं एवं अन्य परवर्ती कृतियों के आधार पर इनके कुल जीवन एवं काल के बारे में अपेक्षाकृत अधिक जानकारियाँ उपलब्ध हैं। राजशेखर एक यायावार कुल के ब्राह्मण थे। उनकी प्रमुख कृति 'बालरामायण' के अनुसार उनके पूर्वज मूलतः महाराष्ट्र के अकोला जिले में स्थित वत्सगुल्म (वर्तमान वाशीम) नामक स्थान के निवासी थे। हालाँकि राजशेखर द्वारा उल्लिखित महाराष्ट्र की पहचान को लेकर इतिहासकारों में परस्पर मतभेद है परंतु डॉ॰ मिराशी ने एम॰एम॰ घोष द्वारा 'कर्पूरमंजरी' के उनके संस्करण में व्यक्त किए गए मत को उसमें निहित विरोधाभासों के आधार पर खारिज किया है। बालरामायण में ही राजशेखर ने अपने चार पूर्वजों का जिक्र करते हुए अकालजलद, सुरानंद, तरल एवं कविराज की चर्चा की है।[10] राजशेखर के पूर्वज अकालजलद को बेहद विख्यात कवि मानते हुए सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत राजशेखर के श्लोक में उनकी तुलना एक ऐसे चंद्रमा से की गई है जिसकी ज्योत्स्ना कवि रूपी चकोरों द्वारा निरंतर पान करने के वाबजूद खत्म नहीं होती सुरानंद के बारे में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं, परंतु दुर्भाग्यवश आज उनकी कोई भी कृति अथवा उसका अंश उपलब्ध नहीं है और आश्चर्यजनक रूप से उनका कोई श्लोक भी कहीं किसी परवर्ती संग्रह में प्राप्त नहीं होता। राजशेखर के एक अन्य पूर्वज तरल के काल एवं कृतियों के बारे में तो कुछ विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है परंतु उनके काव्य की एक प्रमुख विशिष्टता पर निश्चित रूप से सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत एक श्लोक के माध्यम से प्रकाश डाला जा सकता है। उक्त श्लोक में उन्हें यायावर कुल में उत्पन्न एक ऐसा कवि बताया गया हैं जिन्हें 'सुवर्णबंध' (जिसे अजय मित्र शास्त्री ने 'सुंदर अक्षर विन्यास'[11] और डॉ॰ मिराशी ने 'उत्कृष्ट अनुप्रास'[12] के रूप में निरूपित किया है) रचना में महारत हासिल थी। तरल के बाद राजशेखर के कुल में उत्पन्न कविराज के बारे में दुर्भाग्यवश कोई भी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

अपनी कृतियों बालरामायण और विद्वशालभंजिका में राजशेखर ने स्वयं को महामंत्री दुर्दुक अथवा दुहिका एवं शीलवती का पुत्र बताया है। 'कर्पूरमंजरी' से यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के बावजूद राजशेखर ने चौहानवंशी अवंतिसुंदरी से विवाह किया। अवंतिसुंदरी भी एक प्रबुद्ध स्त्री थी जिसे अलंकार का अच्छा ज्ञान था। काव्यशास्त्र से संबंधित उसके विचारों को राजशेखर ने अपने इस विषय पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत भी किया है। अपने जीवन के आरंभिक वर्षों में राजशेखर ने कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेंद्रपाल के यहाँ राज्याश्रय लिया जहाँ उन्होंने अपनी रचनाशीलता का प्रदर्शन करते हुए तीन प्रमुख रचनाएँ 'बालरामयण', 'बालभारत' अथवा 'प्रचंडपांडव' एवं 'कर्पूरमंजरी' लिखी। अपने कन्नौज प्रवास से पहले ही

उन्होंने कुछ छोटी-छोटी काव्य रचनाएँ की थी जो आज उपलब्ध तो नहीं है परंतु उनके आधार पर ही उन्हें बालकवि की उपाधि से विभूषित किया जा चुका था। राजशेखर ने अपनी साहित्यिक विशेषताओं के बल पर कन्नौज में अत्यधिक प्रतिष्ठा अर्जित की और जैसे कि उन्होंने स्वयं कर्पूरमंजरी में उल्लेख किया है। राजा महेंद्रपाल ने उन्हें अपने गुरु का दर्जा दिया था।

महेंद्रपाल के उत्तराधिकारी महिपाल के काल में कन्नौज को काफी विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा जिससे वहाँ की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियाँ उत्तरोत्तर गिरने लगीं। कन्नौज में महिपाल को कई हमलों का सामना करना पड़ा, जिनमें राष्ट्रकूटवंशी राजा इंद्र तृतीय एवं कलचुरी सम्राट युवराजदेव प्रथम के आक्रमण प्रमुख हैं। जहाँ इंद्र तृतीय के आक्रमण ने कन्नौज की चूलें हिला दीं वहीं युवराजदेव प्रथम के हमले से कन्नौज का राजवंश पूरी तरह बिखर गया। युवराजदेव प्रथम की निरंतर बढ़ रही शक्ति एवं उसके द्वारा देश के विभिन्न हिस्सों में चलाए गए विजय अभियान इस बात का संकेत दे रहे थे कि त्रिपुरी का कलचुरी राजवंश आने वाले समय में बेहद शक्तिशाली हो जाएगा। इन परिस्थितियों में राजशेखर ने त्रिपुरी की ओर रुख किया। त्रिपुरी में रहते हुए उन्होंने मुख्य रूप से 'विद्वशालभंजिका' नामक नाटक एवं काव्यमीमांसा जैसे उत्कृष्ट एवं परिपक्व शास्त्रीय ग्रंथ की रचना की विद्वशालभंजिका को प्रस्तुत करते हुए राजशेखर ने समकालीन इतिहास को साहित्यिक दृष्टि से प्रस्तुत किया। इस नाटक को इतिहासकारों ने एक ऐतिहासिक दस्तावेज भी माना है। चूँकि नाटक में प्रस्तुत की गई ढेरों घटनाओं एवं तथ्यों का जिक्र विभिन्न अभिलेखों में भी (युवराजदेव प्रथम का बिल्हड़ी शिलालेख) मिलता है इसलिए उक्त नाटक का महत्त्व अपने आप काफी बढ़ जाता है। साथ-ही-साथ राजशेखर की अपनी साहित्यिक यात्रा में भी यह नाटक एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव माना जा सकता है क्योंकि उनके द्वारा लिखा गया यह इकलौता ऐतिहासिक नाटक है। इसके पूर्व लिखे गए उनके दोनों संस्कृत नाटक 'बालरामायण' एवं 'बालभारत' मिथकीय कथानकों पर आधारित है। 'विद्वशालभंजिका' एक दूसरे अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि इसकी रचना युवराजदेव प्रथम द्वारा राष्ट्रकूट राजा गोविंद चतुर्थ के नेतृत्व में लड़ रहे दक्षिण के राजाओं के ऊपर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में विशेष रूप से की गई थी।

राजशेखर की अंतिम कृति 'काव्यमीमांसा' नाम से उपलब्ध है जिसमें काव्यपुरुषोत्पत्ति, पदवाक्यविवेक, पाठप्रतिष्ठा, कविचर्या, शब्दहरण, अर्थहरण, कविसमय, देशविभाग एवं कालविभाग आदि की विवेचना की गई है। इसे जहाँ एक तरफ अजयमित्र शास्त्री ने 'समकालीन जीवन' कोश[13] कहा है, वहीं आर॰के॰ शर्मा ने इसके पूर्ण होने पर इसके 'साहित्य का विश्वकोश'[14] होने की संभावना व्यक्त की है। राजशेखर ने शास्त्रीय भारतीय साहित्यिक परंपरा में एक बेहद महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ी और पहली बार एक विस्तृत तत्त्वान्वेषी ढाँचा उपलब्ध कराने की कोशिश की।[15] इसके पूर्व की संपूर्ण साहित्यिक विवेचना विभिन्न दार्शनिक/सैद्धांतिक मतों/शाखाओं में विभाजित थी परंतु राजशेखर ने अपनी इस अपूर्ण कृति में बिना किसी विशेष दार्शनिक शाखा से संबद्धता दर्शाते हुए अपने तरह का एक अनोखा मानक प्रस्तुत किया है। 'काव्यमीमांसा' में उन्होंने मुख्य रूप से आख्यानात्मक नाटकीय तत्त्वों, पदों के प्रकार, वाक्य विन्यास, साहित्यिक अर्थ की प्रकृति एवं मूल्यांकन के मानदंड आदि की विशेष रूप से व्याख्या की है। उन्होंने एक साहित्यिक कृति को श्रव्य, प्रेक्ष एवं श्रव्य-प्रेक्ष जैसी श्रेणियों में विभाजित किया है। राजशेखर की उपर्युक्त कृतियों के अध्ययन एवं अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर को संस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था एवं उन्होंने कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली एवं साहित्य के अन्य

तकनीकी पक्षों पर विशेष ध्यान देते हुए ढेरों प्रयोग किए जिससे उनके लेखन में जहाँ एक तरफ प्राचीन भारतीय साहित्यिक परंपरा के विशिष्ट तत्त्वों का समावेश दिखाई पड़ता है वहीं दूसरी तरफ नए तरह के प्रयोगों की इच्छा भी झलकती है। उनके परवर्ती लेखक हेमचंद्र ने अपने ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में राजशेखर द्वारा रचित एक अन्य काव्य 'हरविलास की चर्चा करते हुए उसके दो श्लोक भी उद्धृत किए हैं। युवराजदेव द्वितीय के बिल्हड़ी शिलालेख के श्लोक 85 से हमें ज्ञात होता है कि राजशेखर न केवल राजदरबार में प्रशंसित एवं सम्मानित थे बल्कि अन्य समकालीन कवियों एवं लेखकों द्वारा अनुकरणीय भी थे क्योंकि इस लेख में इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है कि उक्त प्रशस्ति की प्रशंसा कवि राजशेखर ने भी की। उनके द्वारा रचित कतिपय श्लोकों को विभिन्न कलचुरी अभिलेखों में भी उद्धृत किया जाता रहा है जिनमें प्रमुख रूप से कर्ण के बनारस ताम्रपत्र लेख में उद्धृत 'बालभारत' का श्लोक (1.62) रत्नदेव द्वितीय के सरखों पत्र पर उद्धृत 'बालरामायण' का श्लोक (1.22)10 एवं पृथ्वीदेव द्वितीय के दाईकोनी पत्र पर उद्धृत 'बालरामामायण' का श्लोक (1.22) आदि की चर्चा की जा सकती है।

युवराजदेव द्वितीय के बिल्हड़ी शिलालेख से हमें युवराजदेव द्वितीय के बारे में एक अन्य रोचक जानकारी प्राप्त होती है श्लोक 72 के अनुसार इस महान शिवभक्त कलचुरी राजा ने अपने शास्त्र एवं आगम आदि के ज्ञान की मदद से ईश्वर की आराधना के लिए श्लोकों की रचना भी की थी। उन श्लोकों को उक्त अभिलेख में 73 से 76 तक क्रम से प्रस्तुत भी किया गया है। उक्त श्लोकों में राजा ने ईश्वर की आराधना करते हुए लिखा है कि जो भी राजा भगवान को याद करते हुए अपना धन परोपकार के कार्यों में लगाते हैं वे सदैव प्रसन्न रहते हैं। उन्होंने आगे लिखा है कि स्वर्ण, अश्व, वस्त्र एवं आभूषण आदि का कोई उपयोग नहीं है यदि उनका प्रयोग प्रभु की अराधना में न होता हो राजपरिवार में जन्म, ज्ञान, सुंदर रूप और युद्धों में विजय आदि उन्हीं को प्राप्त होता है जो ईशवंदना में रत रहते हैं। अंत में उन्होंने अपने द्वारा किए गए सारे कार्यों को प्रभु को समर्पित करते हुए चरम आनंद के प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की है। युवराजदेव द्वितीय द्वारा रचे गए इन श्लोकों को प्रसाद, गुण एवं शांत रस का उत्कृष्ठ उदाहरण माना जाता है।

युवराजदेव प्रथम तथा युवराजदेव द्वितीय के पश्चात् कर्ण के शासन काल में हमें साहित्यिक गतिविधियों के ढेरों प्रमाण मिलते हैं। कर्ण को एक प्रतापी राजा महाविजेता एवं कुशल शासक होने के साथ-साथ त्रिपुरी को एक प्रमुख साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र बनाने का भी श्रेय दिया जाता है जहाँ एक तरफ उसके काल में प्रसिद्ध कश्मीरी कवि बिल्हण ने इन क्षेत्रों की यात्रा की और कर्ण को अपनी रचनाओं से अभिभूत किया वहीं दूसरी तरफ उसके दरबार मे विद्यापति, गंगाधर, वल्लण, कर्पूर एवं नाचिराज आदि कवि मौजूद थे। बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' के अनुसार बिल्हण ने कर्ण की राजसभा में आयोजित काव्य-गोष्ठी में गंगाधर को पराजित किया था। गंगाधर की बहुतेरी रचनाएँ परवर्तीकाल के विभिन्न काव्य-संग्रहों में संकलित हैं। अजयमित्र शास्त्री के अनुसार कवि गंगाधर एवं गंगाधर शर्मा नामक ब्राह्मण जिसे कर्ण के पुत्र यश: कर्ण द्वारा एक गाँव का दान देने की चर्चा उसके खैरहा ताम्रपत्र लेख में मिलती है वे दोनों संभवत: एक ही हैं। विद्यापति को कर्ण का सर्वाधिक प्रमुख दरबारी कवि माना जाता है। बल्लभदेवकृत सुभाषितावली में संकलित एक श्लोक के आधार पर कर्ण के दरबार में उनकी प्रतिष्ठा का अनायास ही अंदाजा लगाया जा सकता है। उक्त श्लोक के अनुसार जिस प्रकार वाल्मीकि से राम को, व्यास से युधिष्ठिर को कालिदास से विक्रमादित्य को एवं बिल्हण से भोज को प्रसिद्धि मिली उसी प्रकार की ख्याति कर्ण

को विद्यापति के कारण प्राप्त हुई। जैन आचार्य मेरूतुंग ने भी विद्यापति को कर्ण के दरबार का एक प्रमुख कवि माना है। इनके अलावा नाचिराज एवं कर्पूर का भी उल्लेख मेरुतुंग ने कर्ण के राजकवियों के रूप में किया है। इनके कई सुभाषित प्राचीन ग्रंथों मे संग्रहित हैं।

प्राय: सभी इतिहासकारों ने विभिन्न प्रशस्तियों एवं अभिलेखों के रचनाकारों को भी उच्च कोटि का लेखक माना है। कलचुरी अभिलेखों (विशेषकर अपेक्षाकृत लंबे अभिलेखों) में वे सारे गुण विद्यमान हैं जो सामान्यतया हम किसी भी साहित्यिक ग्रंथ में खोजते हैं। इनमें न केवल रस, छंद एवं अलंकार आदि की प्रचुरता है बल्कि इनसे हमें काल के जीवन मूल्य दर्शन एवं मान्यताओं की स्पष्ट झलक भी मिलती है जो उन्हें साहित्यिक अभिव्यक्तियों की श्रेणी में लाकर खड़ा करता है। धांसट द्वारा रचित चंद्रेहे शिलालेख, धार्मिक दस्तावेजों के लेखक माने जाने वाले वच्छुका द्वारा लिखित यश:कर्ण का जबलपुर पत्र वास्तुशास्त्र के जानकार महीधर द्वारा रचित गयाकर्ण का तेवर शिलालेख, पृथ्वीधर एवं उसके छोटे भाई शशिधर द्वारा रचित नरसिंह का भेड़ाघाट शिलालेख, जनक द्वारा लिखा गया सोढदेव का कहला पत्र देवपाणि द्वारा रचित रत्नदेव द्वितीय का अकलतारा शिलालेख, साहित्य, राजनीति एवं काव्यकला के जानकार जल्हण के अनुज है। हयवंशी कुमारपाल द्वारा रचित रत्नदेव तृतीय का खरोद शिलालेख एवं किसी अनाम लेखक द्वारा रचित जयसिंह का करनबेल शिलालेख आदि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो कलचुरी अभिलेखों में विद्यमान उनकी साहित्यिक विशिष्टताओं को प्रभावी ढंग से इंगित करने में सक्षम हैं।

निष्कर्ष–अभिलेख किसी भी काल के इतिहास सृजन की दृष्टि से सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत माने जाते हैं। इनमें दर्ज साहित्य का मूल्यांकन हमें किसी भी काल या क्षेत्र विशेष के इतिहास लेखन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराता है। इन सूचनाओं को निश्चित रूप से हम हर तरह के पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त तो नहीं मान सकते परंतु, उनमें दर्ज तथ्यों की समीक्षा हम उस काल अथवा उसके परवर्ती काल-खंडों में रचित साहित्य अथवा अन्य प्रामाणिक पुरातात्विक स्रोतों के आधार पर अवश्य कर सकते हैं। इतिहास लेखन की प्रक्रिया से जुड़े विभिन्न सिद्धांतों के अनुसार साक्ष्यों पर आधारित इतिहास लेखन एवं पुनर्नृजित इतिहास की प्रामाणिकता के संबंध मे विमर्श की लंबी परंपरा रही है, परंतु इस बात से निश्चय ही इंकार नहीं किया जा सकता कि अभिलेखों के अध्ययन से उस काल की विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं धार्मिक-आर्थिक अवस्थाओं का परिचय प्राप्त होता है।

संदर्भ

1. विष्णु वासुदेव मिराशी, कलचुरी नरेश और उनका काल, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल, 2022, पृ॰ 4
2. वी॰वी॰ मिराशी, पूर्वोक्त, भाग 1, पृ॰ 128
3. अजयमित्र शास्त्री, त्रिपुरी, भोपाल, पृ॰ 117
4. वही, पृ॰ 117
5. राजकुमार, शर्मा, कलचुरी राजवंश और उनका युग, नई दिल्ली, 1998, पृ॰ 319
6. वी॰वी॰ मिराशी, पूर्वोक्त, पृ॰ clxxiii
7. राजकुमार, शर्मा, पूर्वोक्त, पृ॰ 319
8. वी॰वी॰ मिराशी पूर्वोक्त, पादटिप्पणी 11, पृ॰ clxxiii
9. सुभाषित, श्लोक 1516, 1905

10. बालरामायण, 1.13.
    स मूर्ती यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलद सुरानन्दः
    सोडपि तरलकविराजप्रभृतयों, श्रवणपुरोयेन वचसा।
    न चान्ये गण्यन्तेमहाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले।।
11. अजयमित्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृष्ठ 120
12. वी॰वी॰ मिराशी, पूर्वोक्त, पृ॰ clxxv
13. अजयमित्र शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ॰ 121
14. आर॰के॰ शर्मा, पूर्वोक्त, पृ॰ 321
15. Kapil Kapoor, library theory: Indian conceptual Framework, New Delhi, 1998, P. 34-35

Preetam
Villege-Dodki, Post-Chicha,
Block-Dhamdha, Dist-Durg (C.G.) 491001
preetamsau4@gmail.com
Mob. 9993143397

हिंदी कल, आज और कल

डॉ॰ पूनम अग्रवाल
(एम॰ए॰ हिंदी, अँग्रेजी, संस्कृत), पी-एच.डी., नेट
असि॰ प्रोफेसर, हिंदी विभाग
रमा जैन कन्या महाविद्यालय, नजीबाबाद (बिजनौर) उ॰प्र॰

हिंदी देवनागरी लिपिबद्ध वह भाषा है जिसकी शब्दावली, साहित्यिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में संपूर्ण राष्ट्र की आत्मा निहित है। हिंदी भाषा की प्रवृत्ति व प्रकृति किसी वर्ग प्रांत अथवा वाद विशेष तक सीमित न रहकर संपूर्ण राष्ट्र के अनुकूल ठहरती रही है। हिंदी भाषा की व्यापकता, उसमें अभिव्यक्ति करने की सरल शैली और उसकी लोकप्रियता के कारण इस देश में विदेशों से आने वाले शासकों और देश के अहिंदी भाषी शासकों ने किसी-न-किसी रूप में हिंदी को ही ग्रहण किया। इसकी स्वरूप रचना, अभिव्यक्ति और लोक मंगलकारी विचारों से प्रभावित होकर डॉ॰ ग्रियर्सन और वराहन्निकोव प्रभूति विद्वानों ने इस भाषा की सेवा की है। हिंदी के प्रचार-प्रसार अध्ययन-अध्यापन आदि में अहिंदी भाषी विद्वानों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

हिंदी शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। सिंधु नदी के आसपास का क्षेत्र सिंध प्रदेश तथा यहाँ के रहने वाले सिंधी कहलाए। ईरानी भाषा में 'स' को ह कहने की प्रवृत्ति के कारण सिंध प्रदेश को हिंद प्रदेश और सिंधी को हिंदी कहा गया। इस प्रकार हिंदी शब्द का प्रथमतः जातिगत प्रयोग हुआ भाषागत नहीं। हिंद शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंदीक' बना जिसका अर्थ है हिंदी का। इसी अर्थ में हिंदीक का परिवर्तित रूप हिंदी बना। हिंदी शब्द विशेषण के रूप में अनुप्रयुक्त हुआ किंतु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया। भाषा के लिए हिंदी शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी के जफरनामा (1424) में मिलता है।

हिंदी की उत्पत्ति 11वीं शताब्दी से मानी जाती है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद हिंदी की उत्पत्ति के संबंध में लिखते हैं, 'उस प्राकृत को जिसमें फारसी और अरबी मिली हिंदी कहो चाहे खरी बोली, उर्दू कहो चाहे उर्दूइमुअल्ला, उसके बीज तभी से बोए गए कि जब महमूद गजनवी ने चढ़ाई की।'[1] हिंदी के विकास को तीन कालखंडों में विभक्त माना गया है।

वैदिक काल (1500 ई॰ पूर्व से 500 ई॰ पूर्व)–इसकी प्रमुख भाषा रहीं–वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत।

प्राकृत काल (500 ई॰ पूर्व से 1000 ई॰)–इस काल की प्रमुख भाषाएँ रहीं–पालि, प्राकृत और अपभ्रंश।

हिंदी काल (1000 ई॰ से अब तक)–इसके अंतर्गत सभी आधुनिक : भारतीय आर्य भाषाओं का समावेश हो जाता है। अपभ्रंश को प्राकृत में गिना जाता है इसलिए राजा शिवप्रसाद ने हिंदी की उत्पत्ति प्राकृत से मानी है और उर्दू व हिंदी को भिन्न शैलियों से युक्त एक भाषा माना है।

 ISSN 0975-735X

हिंदी के विकास क्रम को इस रूप में भी देखा जाता है–

संस्कृत (1500 ई॰पू॰ से 500 ई॰पू॰)–वैदिक संस्कृत लौकिक : संस्कृत।

पालि (प्रथम प्राकृत, 500 ई॰पू॰ से 1 ई॰पू॰ तक)–भारत की प्रथम : देश भाषा, भगवान बुद्ध के सारे उपदेश पालि में हैं।

प्राकृत (द्वितीय प्राकृत, 1 ई॰ से 500 ई॰ तक)–भगवान महावीर के समस्त उपदेश प्राकृत में हैं।

अपभ्रंश या अवहट्ट (तृतीय प्राकृत, 500 ई॰ से 1000 ई॰ तक)–संक्रांतिकालीन भाषा।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा (1000 ई॰ से अब तक)–आधुनिक भाषाएँ।

इसके अतिरिक्त संस्कृत को प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, पालि प्राकृत व अपभ्रंश को मध्यकालीन आर्य भाषा तथा हिंदी और हिंदीतर भाषाओं को आधुनिक भारतीय आर्य भाषा भी कहा गया है। अपभ्रंश से उत्पन्न हिंदी एक हजार वर्ष से अधिक पुरानी भाषा है जिसका कोई-न-कोई रूप साहित्य में व्यवदृत होता रहा है चाहे वह बज्र हो या अवधी। सर चार्ल्स लाइल ने कहा है– 'दुनिया में कोई जबान भी हजार बरस से जियादा कायम नहीं रहती है। जो जबाने कि अब बोली जाती है हजार बरस पेश्तर इनमें से किसी का वजूद न था।'[2]

हिंदी के स्वरूप को लेकर एक लम्बा विवाद चला। फोर्ट विलियम कॉलेज के चारों लेखकों ने हिंदी के अलग-अलग स्वरूपों की हिमायत की। मुंशी सदासुख लाल ने शुद्ध तत्सम व तदभव शब्दों से युक्त खड़ीबोली का प्रयोग किया जिसमें एक भी विदेशी शब्द नहीं आया। इन्होंने संस्कृत शब्दों को ठूसने का प्रयास नहीं किया। इनके लेख 'सुरासुर निर्णय' से इनकी भाषा का नमूना प्रस्तुत है 'प्रसिद्ध योनि है। सुर देवता, असुर दैत्य संज्ञा है। जो कहिए असुर दैत्य है, इस बात में दूषण है। कंस दैत्य न था, मनुष्य था, श्रीकृष्ण का मामा उग्रसेन का बेटा था। तो इससे समझिए कि स्वभाव असुर है, मनुष्य होय कि अथवा देवता दैत्य होय।'[3] सैयद इंशाअल्लाह खाँ ने शुद्ध खड़ीबोली को अपनाने का प्रयास किया जिसमें विदेशी शब्द और ब्रजभाषापन न हो। उनकी 'रानी केतकी की कहानी' से एक उदाहरण दृष्टव्य है, 'एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान चढ़ी कोई कहानी ऐसी कहिये जिसमें हिंदवी छूट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले, बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।'[4] लल्लूलाल जी की भाषा विदेशी प्रभाव से मुक्त ब्रजभाषापन लिए थी। इनकी शैली अधिक पुष्ट हो चुकी थी वाक्य रचना भी वर्तमान रूप धारण कर चुकी थी। इन्होंने अने मौलिक और अनुदित गद्य रचनाएँ कीं। सदल मिश्र की भाषा पूरबीपन लिए थी। इनके वाक्यों में सकर्मक क्रियाओं के साथ अनावश्यक 'को' के प्रयोग से पंडिताऊपन आ गया है जैसे 'अंहकार को जीतते' बात को सुनते आदि। उस समय उर्दू पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई थी। फोर्ट विलियम कॉलेज की खड़ीबोली लिखने वाले के कुछ बरसों बाद राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद हुए जिनकी भाषा में फारसी और अरबी के शब्द इतनी बहुतायत में थे कि इनके हिंदी लेखों को उर्दू कहा जा सकता है। इनके लेख 'भाषा का इतिहास' से एक उदाहरण प्रस्तुत है, गरज प्राकृत वह जबाने ठहरीं जो संस्कृत शब्दों से बनी थी, मगर जिस तरह पर उनको आवाम काम में लाते थे और जिनमें भूमियों के शब्द भी मिले होते थे। व्याकरण उसका किसी कदर संस्कृत से निकालकर हर एक जिले की हालत के मुवाफिक कुछ-कुछ बदल-सदल कर अपने तौर पर बना लिया था।[5] इन्हीं के समकालीन राजा लक्ष्मण ने फारसी अरबी के शब्दों से रहित शुद्ध एवं मधुर खड़ीबोली हिंदी को अपनाया। शकुंतला नाटक से उनकी भाषा का एक नमूना

प्रस्तुत है–'दुष्यंत! (अकुलाता सा) वाचक तो अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं, परंतु जो राजा अपने अंत:करण से प्रजा का निर्धारण करता है, नित्य चिंता में रहता है।'[6]

हिंदी की विविध शैलियों के कारण इसे हिंदुई, हिंदवी, रेख्ता, रेख्ती, दक्खिनी, ऊर्दू, गुजरी, भारवा, खड़ीबोली, हिंदुस्थानी, हिंदुस्तानी, आर्यभाषा, नागरी आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। बोलचाल की वह भाषा जो आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी-फारसी-तुर्की शब्दों से युक्त हो, हिंदुस्तानी कहलायी। गार्स द तासी ने हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग उस भाषा के अर्थ में किया है जिसमें अरबी फारसी तुर्की शब्दों का प्रयोग अधिक हो। धीरे-धीरे ऐसी भाषा को उर्दू नाम दिया गया और हिंदुस्तानी उस भाषा को कहा गया जिसमें न तो संस्कृत के कठिन शब्द होते हैं और न अरबी फारसी कें गाँधी जी ने भी इसी अर्थ में हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग किया है। हिंदुई या हिंदवी का प्रयोग प्राचीन हिंदी के लिए पहले से ही किया गया है। 13वीं सदी में अमीर खुसरा की 'खालिक बारी' में हिंदवी शब्द का प्रयोग बहुत अधिक मिलता है। हिंदवी उस भाषा को कहा गया जिसमें संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक थे। दक्षिण के मुसलमानों की भाषा दक्खिनी कहलाई। रेख्ता भी उर्दू का एक ही प्रकार है जिसका प्रयोग महिलाओं या कम पढ़े-लिखे लोगों द्वारा किया जाता था। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद एक ऐसी भाषा के पक्षधर थे जिसकी लिपि नागरी हो और भाषा ऐसी मिली जुली रोजमर्रा के बोलचाल की हो कि किसी दल वालों को ऐतराज न हो। स्वरूप चाहे जो हो शैली चाहे जो हो हिंदी मूलत: एक ही है। हिंदी के बहुत कुछ रूपांतर हुए। हिंदी में चाहे जिसका भेद देखिए चाहे उसे बंगालिन के भेष में देखिए चाहे पश्चिमात्य बड़े-बड़े घाघरे और ओढ़नी के घूँघट में पाइए और चाहे पायजामा और दुपट्टे की पोशाक पहने यवनगृह में देखिए परंतु जिस समय देखेंगे अनायास पहचान लेंगे–यह तो हिंदी है। हिंदी को अनेक प्रकार के व्याख्यायित किया गया। बाबू राधाकृष्ण दास कहते हैं–'हिंदोस्तान निवासी जनसाधारण की भाषा का नाम हिंदी है।'[7] डॉ॰ श्यामसुंदर दास के अनुसार, 'हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जाने वाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है किंतु व्यवहार में हिंदी एक बड़े भूमि भाग की भाषा मानी जाती है।'[8]

डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी ने पूर्वी पंजाब से बंगाल तक के उत्तर भारत में बोली जाने वाली सब बोलियों तथा भाषाओं का प्राचीनतम एवं सरलतम नाम हिंदी है, ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार हिंदी खड़ीबोली हिंदी का ही नाम नहीं है वरन् अनेक भाषाएँ-उपभाषाएँ हिंदी के अंतर्गत समाहित हैं। हिंदी की पाँच उपभाषाएँ व अट्ठारह बोलियाँ मानी गई हैं जो निम्न प्रकार हैं–

उपभाषायें	**बोलियाँ**	**क्षेत्र**
राजस्थानी	मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी	राजस्थान
पश्चिमी हिंदी	खड़ी बोली, ब्रजभाषा, हरियाणवी, कन्नौजी, बुंदेली	हरियाणा, उत्तर प्रदेश
पूर्वी हिंदी	अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी	मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, छत्तीसगढ़
बिहारी	भोजपुरी, मगही, मैथिली	बिहार
पहाड़ी	कुमाऊँनी, गढ़वाली, नेपाली	उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, नेपाल

इसके अतिरिक्त भिन्न बोलियों की उपबोलियाँ भी हैं जैसे ब्रजभाषा की उपबोलियाँ हैं

 ISSN 0975-735X

गाँववारी, धौलपुरी, भरतपुरी, जादोबारी सिकरवाड़ी, कठेरिया, माथुरी आदि। हिंदी का भौगोलिक क्षेत्र भी अत्यंत विस्तृत है। यह पश्चिम में अंबाला (हरियाणा) से लेकर पूर्व में पूर्णिया (बिहार) तक, उत्तर में बद्रीनाथ-केदारनाथ (उत्तराखंड) से लेकर दक्षिण में खंडवा (मध्यप्रदेश) तक बोली जाती है हिंदी भारत के दस राज्यों में बोली जाती है उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार, झारखंड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व केंद्र शासित प्रदेश दिल्ली। इस क्षेत्र में भारत की कुल जनसंख्या के 43 प्रतिशत लोग रहते हैं।

दुनियाभर में बोली जाने वाली लगभग सात हजार भाषाओं को कम-से-कम दस परिवारों में विभाजित किया गया है जिसमें भारत-यूरोप अर्थात् भारोपीय परिवार सबसे बड़ा व महत्त्वपूर्ण है। विश्व जनसंख्या के लगभग 45 प्रतिशत लोग भारोपीय भाषा बोलते हैं। भारत में विश्व के चार प्रमुख परिवारों की भाषायें बोली जाती है। उत्तर भारत में भारोपीय भाषा परिवार जिसे आर्य भाषा परिवार भी कहते हैं, दक्षिण में द्रविड़ भाषा परिवार पूर्वात्तर के सात राज्यों, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, असम, त्रिपुरा, मिजोरम और नागालैंड में चीनी तिब्बती परिवार तथा आस्ट्रो एशियाटेक परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। हिंदी सतम् वर्ग की भारापोयी भाषा परिवार की संभ्रांत भाषा है।

उद्भवकाल से अद्यपर्यंत हिंदी भारत का अभिन्न अंग रही है। 10वीं शताब्दी के लगभग महमूद गजनवी के भारी आक्रमणों के पश्चात 12वीं शताब्दी में मौहम्मद गौरी के आक्रमण हुए जिसमें भारतीय शासकों की पराजय के परिणामस्वरूप उत्तरी भारत का बहुत सा भाग विदेशियों के अधिकार में चला गया जिसका प्रभाव सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों पर पड़ा। उस भीषण निराशाजनक परिस्थिति में 'भारतीय गौरव तथा संस्कृति संरक्षण की दृष्टि से चारणों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई... वे तत्कालीन हिंदी भाषा के माध्यम से राजा, प्रशासन और जनमानस में विदेशी सत्ता के प्रति एक प्रकार की क्रांति जगाते रहे तथा उन्हें उनके कर्त्तव्य का बोध कराते रहे।'[9] यह वह समय था जब अपभ्रंश साहित्यिक रूप से स्थिर हो गई और उसका ग्राम्य व सर्वसाधारण रूप अवहट्ट या अपभ्रष्ट कहलाया। यही अपभ्रंश कालांतर में हिंदी भाषा कही जाने लगी। 12वीं शती में प्रशासनिक भाषा हिंदी ही थी। चित्तौड़ नरेश रावत द्वारा दिल्ली नरेश महाराज पृथ्वीराज चौहान को लिखा पत्र उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है जो तत्कालीन हिंदी में लिखित है– 'स्वास्ते श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपेराज श्री श्री रावल जी श्री समर निधि जी वचनातुदा अभा आचारज ठाकर रुसी केस कस्य थानेदली सुडाय जे लाया अणी राज में ओषद धारी लेवेंगा।'[10] सन् 1192 में तराईन के युद्ध में पृथ्वीराज चौहान की हार और शहाबुद्दीन (मौहम्मद गौरी) की विजय ने भारत की सत्ता पर मुसलमानों काबिज कर दिया। उस समय हिंदी निरंतर प्रचलन में रही। विदेशी शासकों को भारत में मजबूत शासन स्थापित करने के लिए यहाँ की केंद्रीय भाषा हिंदी का सहारा लेना आवश्यक था। अत: उन्हें हिंदी को राजकाल में स्थान देना पड़ा। मौहम्मद गौरी ने अपने सिक्कों पर देवनागरी लिपि में चारों ओर 'श्री हमीर', 'श्री महमूद साम' तथा दूसरे पट भाग पर नंदी की मूर्ति अंकित कराई थी। 13वीं सदी में गुलामवंश के शासनकाल में भी जिसका प्रथम शासक कुतुबदद्ीन ऐबक था, हिंदी को प्रशासनिक कार्यों में स्थान प्राप्त था। सन् 1290 ई॰ में खिलजी वंश के शासनकाल में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने शासन को लोकप्रिय और लोकव्यापी बनाने की दृष्टि से राजकाज में हिंदी को समुचित आदर किया। तुगलवंश या बहमनी प्रशासन हो, लोदीवंश या मुगलशासन हो सत्ता में हिंदी को सभी ने स्थान दिया। ये उनकी विवशता थी क्योंकि देशी लोगों से

व्यवहार के लिए उन्हीं की देशी भाषा अपनाना आवश्यक था। मौहम्मद तुगलक ने सन् 1327 ई॰ में अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरी स्थानान्तरित की जिसके साथ हिंदी भी उत्तर से दक्षिण की ओर रवाना हुई। सभी विदेशी शासकों ने कुछ सिक्कों पर देवनागरी लिपि में लिखवाया और राजकाज में फारसी के साथ-साथ हिंदी का भी स्थान सुरक्षित रखा। मुगल सम्राट अकबर द्वारा अपने अधिकारियों को दिए गए आदेश 'अमरदस्तूर' में संग्रहित है जो हिंदी में लिखित है। 18वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासनकाल में कंपनी सरकार ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्वार्थों की पूर्ति की दृष्टि से हिंदी को ही स्वीकार किया ताकि वे तत्कालीन देशी प्रशासकों, प्रजा व्यापारी और किसानों आदि के संपर्क में आएँ परंतु ब्रिटिश सरकार राजकाज में हिंदी के पक्षपाती तभी तक थी जब तक हिंदी प्रशासन के लिए आवश्यक थी। सन् 1857 की क्रांति पर सफलता पाने के पश्चात उन्होंने अँग्रेजी भाषा को अप्रत्यक्ष रूप से स्थान देना प्रारंभ कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने दोहरी नीति अपनाई। एक ओर अँग्रेजी को बढ़ावा दिया ताकि भारत में ऐसी विचारधारा का निर्माण हो सके जो आंग्ल पद्धति व्यवस्था और संस्कृति के ढाँचे पर अवलंबित हो। दूसरी ओर प्रशासन संबंधी कार्यों में हिंदी के प्रयोग, उनके अँग्रेजी में अनुवाद तथा अँग्रेजी के हिंदी में अनुवाद पर भी बराबर जोर देते रहे।

10 जून सन् 1834 को लार्ड मैकाले भारत आया। वह अँग्रेजी भाषा, धर्म और संस्कृति का प्रबल समर्थक व विस्तारवादी विचार का व्यक्ति था। उसका मानना था, 'भारत में प्रचलित देशी भाषाएँ साहित्यिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से इतनी अविकसित और गँवारू है कि जब तक उन्हें किसी विदेशी भाषा से संपन्न नहीं किया जाएगा उनमें किसी भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद नहीं हो सकेगा।'[11] वह अँग्रेजी भाषा के प्रचार और हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के ह्रास के द्वारा भारतीय संस्कृति, साहित्य और धर्म का उन्मूलन करने के पक्ष में था जिसके परिणामस्वरूप भारतवासी अपना आत्मविश्वास व अस्मिता खो दे।

यद्यपि प्रशासनिक स्तर पर हिंदी को बढ़ावा नहीं दिया गया परंतु तब भी हिंदी भारत की जनभाषा थी। हिंदी साहित्य में अप्रत्याशित प्रगति होती रही। मध्यकाल को हिंदी का स्वर्ण युग माना जाता है। मध्यकालीन संपूर्ण काव्य उस समय रचा गया जब प्रमुख रूप से पठान वंश व मुगल वंश (सन् 1343 से 1643) का आधिपत्य था। ब्रिटिश शासन ने हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के क्षेत्र में तीव्र गति से विकास हुआ। सन् 1900 ई॰ से हिंदी साहित्य का आधुनिक काल आरंभ होता है। सन् 1925 से 1950 की अवधि को पुनर्जागरण काल के नाम से अभिहित किया गया। इस अवधि में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा में नवीन विधाओं में लेखन कार्य किया। अँग्रेजी के माध्यम से भारतीय सिहत्यकार आंग्ल साहित्य के संपर्क में आए। इसके सकारात्मक परिणाम निकले और भारतीय साहित्यकारों ने आंग्ल साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों एवं विधाओं से अपने साहित्य का समन्वय स्थापित कर नवीन युग को जन्म दिया। हिंदी की लोकप्रियता ने अनेक विदेशी विद्वानों को भी आकर्षित किया। उन्होंने हिंदी की व्याकरणिक एवं पाठ्य पुस्तकों का निर्माण किया तथा हिंदी भाषा के क्षेत्र में नवीन शोध किए। गिलक्राइस्ट, एडविन, ग्रीब्स, ग्राउस, ग्रियर्सन, ग्रिफिथ, हार्नली रुडाल्फ, टेसीटरी, ओल्डहाम, पिनकाट, फादर कामिल बुल्के आदि विद्वानों ने हिंदी के महत्त्व को समझकर उसके विकास के लिए सराहनीय कार्य किए। अनेक अहिंदी भाषा विद्वानों ने भी हिंदी के विकास में महत्त्वूपर्ण योगदान दिया। इनमें बिहार में पुण्यस्लोक भूदेव, बंगाल में राजाराम मोहनराय, बंकिमचंद्र चटर्जी, केशवचंद्र सेन आदि, गुजरात में दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी, राजस्थान में

 ISSN 0975-735X

लज्जराम मेहता, महाराष्ट्र में विष्णुपराडकर, माधव सप्रे, पंजाब में लाला लाजपतराय आदि अनेक नाम सम्मिलित है जिन्होंने राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने के लिए हिंदी का समर्थन किया।

स्वतंत्रता आंदोलन की प्रमुख संचालिका भाषा भी हिंदी रही। हिंदी की व्यापकता एवं सरलता ने राष्ट्रीय आंदोलन को जनसाधारण का आंदोलन बना दिया। 15 अगस्त सन् 1947 को देश आजाद हुआ और 14 सितंबर 1949 को संविधान द्वारा हिंदी को भारत की राजभाषा घोषित किया गया। वास्तविकता यह है कि हिंदी सदा ही भारत की राजभाषा रही परंतु आधिकारिक रूप से उसे यह सम्मान आजादी के बाद प्राप्त हुआ। संविधान के भाग 5 एवं 6 के क्रमशः अनुच्छेद 120 तथा 210 में तथा भाग 7 के अनुच्छेद 343 से 351 में राजभाषा हिंदी के संबंध में अनेक प्रावधान किए गए। संविधान की 8वीं अनुसूची में देश की 22 भाषाओं को मान्यता दी गई है। इनके नाम हैं–हिंदी, पंजाबी, संस्कृत, उर्दू, कश्मीरी, असमिया, ओड़िया, बांगला, गुजराती, मराठी, सिंधी, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, मणिपुरी, कोंकणी, नेपाली, संथाली, मैथिली, बोडो और डोगरी। भारत सरकार ने राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन और उसे पूर्ण समर्थ बनाने के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के कदम उठाए। राजभाषा हिंदी के कार्यों में बढ़ावा देने की दृष्टि से केंद्रीय समिति का गठन किया गया जो प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में काम करती है। भारतीय संविधान के भाग 17 अध्याय 4 के अनुच्छेद 351 में निहित दिशा निर्देशों के अनुरूप हिंदी को अपनी विविध भूमिकाएँ निभाने में समर्थ और सक्रिय बनाने के उद्देश्य से सन् 1961 में भारत सरकार के द्वारा शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय द्वारा केंद्रीय हिंदी संस्थान की स्थापना उत्तर प्रदेश के आगरा शहर में की गई। इस संस्थान का मुख्य कार्य हिंदी भाषा से संबंधित शैक्षणिक कार्यक्रम चलाना, शोधकार्य संपन्न करना एवं हिंदी के प्रचार प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाना है। 1 मार्च सन् 1960 को शिक्षा मंत्रालय के अधीन केंद्रीय हिंदी निदेशालय की स्थापना की गई। हिंदी को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने और हिंदी को वैश्विक धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिए निरंतर प्रयासरत हिंदी की यह शीर्षस्थ-सरकारी संस्था अनेक योजनाओं को कार्यान्वित कर रही है। 1 मार्च 1971 को गृह मंत्रालय के अधीन केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो की स्थापना की गई जो केंद्र सरकार के स्तर पर अनुवाद करने और कार्य अनुवाद प्रशिक्षण के लिए एक मात्र संस्था है। संविधान के अनुच्छेद 344 के खंड (4) के अंतर्गत 21 दिसंबर 1960 में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग का गठन किया गया जिसका उद्देश्य है हिंदी और सभी भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली का विकास करना और परिभाषित करना, पारिभाषिक शब्दकोश और विश्वकोश तैयार करना आदि।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व हिंदी के विकास, प्रचार-प्रसार एवं संवर्धन के लिए शासकीय सहायता या शासकीय अनुदान कभी प्रेरक नहीं रहे। हिंदी अपनी आभ्यंतर ऊर्जा से अपनी सार्वभौम लोकप्रियता से विकास के पथ पर निरंतर प्रगति करती रही। आज इसी कारण कानूनी संरक्षण न प्राप्त होते हुए भी हिंदी स्वतः ही भारत की राष्ट्रभाषा बनी हुई थी, है और रहेगी। हिंदी भारत की राजभाषा है, संपर्क भाषा है। आज हिंदी विश्व में चीनी भाषा मंदारिन के बाद दूसरे नंबर की भाषा बन गई है। यद्यपि यह स्थान उसे संख्या बल के आधार पर प्राप्त है परंतु हिंदी को अपनी समर्थता से विश्व की नंबर एक भाषा बनना है। आज हिंदी सीखने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। वैश्विक परिदृश्य में हिंदी की लोकप्रियता बढ़ रही है। मनोरंजन की दुनिया में हिंदी सबसे अधिक मुनाफे की भाषा है कुल विज्ञापनों का 75 प्रतिशत हिंदी माध्यम में है। शताब्दियों बाद भी अँग्रेजी जन भाषा नहीं बन पाई है जो हिंदी सदा से रही है। आज विदेशों में हिंदी के पठन-पाठन का चलन

जोर पकड़ रहा है। हिंदी सोसाइटी सिंगापुर कुल 7 हिंदी प्रशिक्षण केंद्र चला रही है। आस्ट्रेलिया में हिंदी को राष्ट्रीय पाठ्यक्रम में शामिल करने पर विचार विमर्श किया जा रहा है। भारत के अलावा इसे नेपाल, मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, यूगांडा, दक्षिण अफ्रीका, केरिबियन देशो, त्रिनिदाद एवं टोबेगो, कनाडा, इंग्लैण्ड, अमेरिका, मध्य एशिया आदि में हिंदी बोलने व समझने वालों की संख्या अच्छी खासी है। आज विश्व के लगभग 150 से 200 विश्वविद्यालयों में हिंदी में शिक्षण कार्य हो रहा है। विश्व में हिंदी के प्रचार प्रसार को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से विश्व हिंदी सम्मेलन की शुरुआत की गई। 10 जनवरी सन् 1975 को नागपुर में पहला विश्व हिंद सम्मेलन आयोजित किया गया। इसी कारण 10 जनवरी को प्रत्येक वर्ष अंतर्राष्ट्रीय हिंदी दिवस मनाया जाता है। भारत में 14 सितंबर को हिंदी दिवस मनाया जाता है। विदेशों से हिंदी पत्र पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं जैसे भारत दर्शन (न्यूजीलैंड), सरस्वती पत्र (कनाड़ा) HELM (यू॰के॰) अनुभूति (संयुक्त अरब अमीरात) आदि।

विश्व के धरातल पर हिंदी के बढ़ते कदमों के पीछे संभवत: जो घटक काम कर रहे हैं, वे हैं वैश्वीकरण, भारत की बढ़ती लोकप्रियता, विदेशों से बढ़ते व्यापारिक संबंध, भारतीय प्रवासी, मनोरंजन जगत और इंटरनेट। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापकता के साथ-साथ हिंदी भाषा के क्षेत्र में रोजगार के अवसरों में भी जबरदस्त प्रगति हुई है। तकनीकी भाषा के रूप में हिंदी भाषा के विकास पर पर्याप्त कार्य किए जा रहे हैं। सन् 1991 में इलैक्ट्रानिकी विभाग के अधीन भारतीय भाषा प्रौद्योगिकी विकास मिशन की स्थापना की गई है। आज हिंदी में कई वर्ड प्रोसेसर उपलब्ध हैं जैसे सिद्धार्थ, आई॰एम॰एम॰आई॰ लीप आदि। सीडैक पुणे ने जिस्ट टेक्नॉलाजी विकसित की है जिससे सूचना प्रौद्योगिकी में भारतीय भाषाओं का प्रयोग सुविधाजनक हुआ है। कंप्यूटर को पूर्ण रूप से हिंदी में बनाने के लिए 2005 में माइक्रोसॉफ्ट ने विंडोज एक्स॰पी॰ के लिए लीप निर्माण किया है इसके अतिरिक्त 2007 में विंडोज विस्टा और 2011 में लीप निर्माण किया गया है। माइक्रोसॉफ्ट ने हिंदी की वेबसाइट ww.bsaaindia.com का निर्माण भी किया है। इसमें यूनीकोड के सपोर्टिंग उपकरणों जैसे IME India.smart tag आदि नि:शुल्क रूप से डाउनलोड कर सकते हैं। इंटरनेट पर हिंदी के पोर्टल अब व्यावसायिक तौर पर आत्मनिर्भर हो रहे हैं। कई दिग्गज कंपनियाँ चाहे वो याहू हो या गूगल सभी हिंदी को अपना रहे हैं। इंटरनेट एक्सप्लोरर, नेटस्केप, मोजिला आदि इंटरनेट ब्राउजर भी खुलकर हिंदी का समर्थन कर रहे हैं। किसी भी कार्य क्षेत्र का नाम ले कंप्यूटर पर उससे संबंधित हिंदी वेबसाइट सदैव उपलब्ध हैं। यूनिकोड के आने से कंप्यूटर पर अँग्रेजी के अलावा अन्य भाषाओं में भी काम करना बहुत आसान हो गया है। आज हिंदी का विकास साहित्य की अपेक्षा सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से अधिक तेजी से हो रहा है। प्रिंट मीडिया हो या इलैक्ट्रॉनिक मीडिया, फिल्में हो या सीरियल्स, डिस्कवरी हो या कार्टून सभी जगह हिंदी का वर्चस्व है। विश्व की शीर्षस्थ सूचना प्रौद्योगिकी प्रयोगशाला में संस्कृत, हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं को यूरोपीय भाषाओं से अधिक सशक्त व समृद्ध माना है।

नि:संदेह, हिंदी भाषा ने सभी क्षेत्रों में अप्रत्याशित उन्नति की है। भारत के संदर्भ में यदि बात करें तो व्यावहारिक धरातल पर दृश्य परिवर्तित हो जाता है। सभी क्षेत्रों में हिंदी की भागीदारी बढ़ी है परंतु उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी की स्थिति अत्यंत संतोषजनक नहीं है। आजादी के लगभग 70 वर्ष बाद भी भारत में सूचना प्रौद्योगिकी, कंप्यूटर, तकनीकी, चिकित्सा विज्ञान की पढ़ाई अँग्रेजी माध्यम से होती है। इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेजों, वैज्ञानिक अनुसंधानों, बैंक एवं प्रबंधन

संस्थानों में हिंदी का दोयम दर्जा है। रूस, चीन, जापान, जर्मनी और फ्रांस जैसे देश यदि विज्ञान और तकनीकी ने अपनी भाषाओं का उपयोग कर रहे हैं तो हमें हिंदी को इस क्षेत्र में विकसित करने में क्या कठिनाई है। 7वीं शताब्दी में चिकित्साशास्त्र, खगोलशास्त्र, गणित, अर्थशास्त्र, तकनीकी रसायनशास्त्र सभी का अध्ययन संस्कृत में किया जाता था जो इतना उन्नत था कि भारत को जगद्गुरु कहा जाता था। विदेशी छात्र यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे तो आज संस्कृत की बेटी हिंदी इतनी असमर्थ कैसे हो गई। शिक्षा के क्षेत्र में अँग्रेजी का बढ़ता आधिपत्य मैकाले के सपने को साकार करने की दिशा में बढ़ता कदम है। मीडिया में ऐसे शब्दों के लिए अँग्रेजी के भारी-भारी शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिनके लिए हिंदी में आसान शब्द उपलब्ध है टी॰वी॰ चैनलों पर उच्चारित भाषा हिंदी होती है परंतु लिखित भाषा अँग्रेजी होती है, यह भी सच है कि मीडिया के सहारे ही हिंदी अखिल भारतीय ही नहीं बल्कि वैश्विक विस्तार के नए आयाम छू रही है। विज्ञापनों आदि की भाषा शुद्धता की दृष्टि से भले ही स्वीकार्य न हो परंतु देश भर की वह सक्रिय भाषा है।

स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था–'राष्ट्र के रूप में हिंदी हमारे देश की एकता में सबसे अधिक सहायक है।' हिंदी भारत के काम-काज की भाषा है, बोलचाल की भाषा है, व्यापार-व्यवसाय की भाषा है, कानून-विज्ञान की भाषा है, मातृभाषा है, संपर्क भाषा है, राष्ट्रभाषा है। हिंदी भारत के आत्म विश्वास की भाषा है। हिंदी सशक्तिकरण की ओर बढ़ रही है। टैक्नॉलोजी और नए संचार के साधनों ने हिंदी के विकास में आशा का संचार किया है। हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है। बशर्ते, हम हिंदी को केवल उच्चारित भाषा न बनने दें और शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी के वर्चस्व की ओर सकारात्मक कदम उठाएँ।

संदर्भ

1. हिंदी भाषा सार, संग्रहकर्त्ता–लाला भगवानदीन, रामदास गौड़, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ॰ 50
2. वही, पृ॰ 48
3. वही, पृ॰ 02
4. वही, पृ॰ 13
5. वही, पृ॰ 45
6. वही, पृ॰ 78
7. वही, पृ॰ 176
8. हिंदी भाषा, भोलानाथ तिवारी
9. 12वीं सदी से राजकाज में हिंदी, रामबाबू शर्मा (केंदीय हिंदी संस्थान, आगरा)
10. वही, पृ॰ 23-24
11. भारतीय शिक्षा का इतिहास, बी॰आर॰ गुप्ता, पृ॰ 32-33

मो॰ 9410847258
poonamrjc@gmail.com

मुक्तिबोध की कविता अँधेरे में : संवेदना के विविध आयाम

डॉ॰ प्रीति राय, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ

कविवर गजानन माधव मुक्तिबोध (1917-1964) की गणना प्रगतिवादी कवियों में की जाती है। उन्हें भले ही उम्र कम मिली हो लेकिन अपनी रचनाओं के द्वारा उन्होंने युग परिवर्तन का काम किया। मुक्तिबोध पहली बार व्यवस्थित ढंग से अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' के माध्यम से सामने आए। यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि मुक्तिबोध के जीवनकाल में उनकी एक ही रचना 'एक साहित्यिक की डायरी' प्रकाशित हुई। मुक्तिबोध को जो प्यार और सम्मान मिलना चाहिए या हिंदी जगत में वह मिला मृत्यु के बाद, वह एक विलक्षण रचनाकार साबित हुए। जिसका प्रभाव कविता, कहानी, विचार और आलोचना में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। मुक्तिबोध का जीवन और काव्य अभिन्न है। उनका संपूर्ण साहित्य संवेदनशील रचनाकार की अभिव्यक्ति है जिसने अपने युग के यथार्थ को ब्रह्म एवं आंतरिक दोनों स्तरों पर गहराई से महसूस किया। स्वाधीनता के बाद देश जिस भ्रष्ट शोषक और अन्यायपूर्ण व्यवस्था से पीड़ित था 'मुक्तिबोध' उस व्यवस्था का वास्तविक चेहरा 'अँधेरे में' नामक कविता में सामने लाए और साथ ही उसमें व्यक्ति की अपनी भूमिका पर प्रश्नचिह्न लगाए।

' अँधेरे में' मुक्तिबोध की एक फैंटेसी रचना है। हिंदी काव्य साहित्य में यह शिल्प मुक्तिबोध की अपनी खोज है, जिसे उन्होंने पश्चिम के मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों से लिया है। मुक्तिबोध के पहले यह किसी को ज्ञात नहीं था कि मन की गुत्थियों का आख्यान करने वाली फैंटेसी प्रविधि में ठोस सामाजिक सत्यों की भी अभिव्यक्ति हो सकती है। मुक्तिबोध फैंटेसी की शर्तों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसके माध्यम से वस्तु पक्ष नेपथ्य में चला जाता है। भाव पक्ष तथा अन्य द्वंद्वात्मक-भावात्मक स्थितियों की बुनावट के माध्यम से ध्वनित होता है। फैंटेसी के माध्यम से थोड़े विस्तार में अधिक बातें कहीं जा सकती हैं। फैंटेसी के माध्यम से अतृप्त इच्छाएँ, वांछित स्थितियाँ, अप्राप्य स्थितियाँ प्रक्षेपित होती हैं। उक्त दृष्टि से देखा जाए तो कविता रचना के संदर्भ में इस प्रविधि की मूलप्राणवत्ता स्वत: उजागर हो जाती है। ब्रह्मराक्षस कविता से गुजरते हुए पाठक आरंभिक चार बंधों में तो बहुत कुछ वैसा ही सभ्रमपूर्ण भयावह परिदृश्य का साक्षात्कार करता है, जैसा कि चंद्रकांता संतति जैसे तिलिस्मी उपन्यासों में दृष्टिगत होता है, लेकिन इस दृश्य-योजना के माध्यम से मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना को संवेदनात्मक ज्ञान में परिणत करते हैं, जो कि काव्य की शक्ति का बहुत कुछ राज इन तनावपूर्ण दृश्यों से होकर गुजरता है। चार बंध के पश्चात मुक्तिबोध पाँचवें बंध में केंद्रीय विषय पर आते हैं कि परिव्यक्त सूनी बावड़ी की ठंडी अँधेरी गहराइयों में एक ब्रह्म राक्षस बैठा हुआ है, जो अपनी पाप-छाया दूर करने के लिए दिन-रात संघर्षरत है।

जाहिर है कि पाप की यह छाया एक स्तर पर मुक्तिबोध की फैंटेसी ब्रह्मराक्षस की प्रकृति

 ISSN 0975-735X

से जुड़ रही है और दूसरे स्तर पर जहाँ यह फैंटेसी यथार्थ को प्रक्षेपित कर रही है, वहीं मध्यवर्गीय गहन मासिक भ्रम को ध्वनित कर रही है। लोकमिथक के अनुरूप गहन अज्ञानता और अतृप्ति को लिए हुए को प्राप्त व्यक्ति ब्रह्मराक्षस की योनी को प्राप्त हो जाता है, जो सामान्य प्रेम की घोर एवं निकृष्ट मनोवृत्तियों से अलग प्राय: उदात्त चरित्र का होता है। इसलिए मुक्तिबोध ने भी ब्रह्मराक्षस के चरित्र में यहाँ मूल रूप से उसके मनोद्वंद्व का ही उद्‌घाटन किया है।

ब्रह्मराक्षस वस्तुत: उस मध्यवर्गीय नायक का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जो अपनी ही सीमाओं में घिरा हुआ है, अपनी ही श्रेष्ठता के दंभ से संक्रमित है, अपनी उपेक्षाओं के दंश की पीड़ा सह रहा है। यही पाप छाया है कि वह अपने स्व के घेरे में घिरा हुआ हैं। ब्रह्मराक्षस की अहंचेष्टा का प्रमाण यही है कि सूर्य की रोशनी जब बावड़ी तक पहुँचती है तो वह समझता है सूर्य ने झुककर नमस्ते किया और चंद्रमा की किरणें जब बावड़ी में पहुँचती है तब बह्मराक्षस समझता है कि चंद्रमा ने उसे ज्ञान गुरु माना है।

वह सोचता है कि आकाश ने भी उसकी श्रेष्ठता मान ली है और अहं के इसी उल्लास में वह सुमेरी, बेबीलोनी जन कथाओं से लेकर वैदिक ऋचाओं तक अनेक दार्शनिक मार्क्स, एंजिल्स, हेडेगर, सार्त्र-गांधी आदि सभी के सिद्धांतों की अभिनव व्याख्या करता है। उसकी व्याख्याएँ सुनने वाले भी कौन हैं–'बावड़ी' के किनारे खिले फूल, उलसी वनस्पतियाँ शाखा पर बैठे उल्लू आदि। यदि इस प्रतीकात्मक की यथार्थ चेतना की व्याख्या की जाए तो कहा जा सकता है कि मध्यवर्गीय व्यक्ति जो अपनी अहंनिष्ठ चेतना के संभ्रमपूर्ण उन लोगों के बीच बहा रहा है, जो उनके ज्ञान को आत्मसात करने में सक्षम नहीं है।

प्रतीक योजना भी फैंटेसी की अपरिहार्यता होती है, क्योंकि तमाम बार दृश्यों के माध्यम से, वैचारिक सूत्र के माध्यम से, विशिष्ट शब्दों के माध्यम वस्तुपक्ष को दोहरे अर्थ के साथ ध्वनित करना फैंटेसी प्रविधि का लक्ष्य होता है–उदाहरणार्थ–ब्रह्मराक्षस स्वयं मध्य वर्गीय आत्मभिशाप ग्रस्त बुद्धिजीवी का प्रतीक है, बावड़ी का परित्यक्त होना शहर से दूर होना, उसके अपने सामाजिक अलगाव एवं दूसरे स्तर पर सामाजिक उपेक्षा का प्रतीक है, पाप छाया ग्रस्त ब्रह्मराक्षस के अखंड स्नान का पागल प्रवाह उसकी उस चेतना का प्रतीक है, जो अपनी संभ्रमपूर्ण स्थिति से मुक्ति पाना चाहती है।

यह कविता अपने अभिव्यंजना शिल्प में अत्यंत सघन रचाव की कलात्मक साक्ष्य है। ब्रह्मराक्षस जैसी कविता के छोटे कलेवर में कवि ने जितना विराट एवं विस्तृत वैचारिक कैनवास संगठित किया है, वह अपने-आपमें कवि की कलासिद्धि का मानदंड है। पाठक इस कविता को पढ़ते हुए ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान की दृष्टि से लोक मिथक, इतिहास दर्शन, विज्ञान, समाजशास्त्र आदि विविध अनुशासनों के वैचारिक परिपार्श्वों से अपने को गुजरता हुआ पाता है।

सन् 1965 के 'नया ज्ञानोदय' में 'श्रीकांत वर्मा का' एक लेख छपा था जिसमे उन्होंने लिखा था–'अप्रिय सत्य की रक्षा करने का काव्य रचने वाले कवि मुक्तिबोध को अपने जीवन में कोई लोकप्रियता नहीं मिली और आगे भी कभी भी शायद नहीं मिलेगी।'[1]

आगे चलकर उनकी आशंका गलत सिद्ध हुई मुक्तिबोध, निराला के बाद हिंदी के सबसे बड़े और चर्चित रचनाकार स्थापित हुए। सच्चाई तो यह है कि मुक्तिबोध ने सफलता के लिए किसी दोयम दर्जे के तौर-तरीके का उपयोग नहीं किया। चालाकी और छल-छद्म से जिंदगी के ऊँचे

शिखर तक पहुँचने की कोई लालसा भी उनमें न थी। तभी तो वह दो टूक शब्दों में कहते हैं–

असफलता का धूल ओढ़े है
इसलिए कि सफलता
छल-छद्म के चक्रदार जीनो पर मिलती है
किंतु मैं जीवन की
सीधी-सादी पटरी-पटरी दौड़ा हूँ।[2]

'अँधेरे में' कविता के माध्यम से गंभीर संवेदनशील तथा भावानुभूतियों को अभिव्यक्ति में उन्होंने शासक और बौद्धिक वर्ग के बीच के गठबंधन का पर्दाफाश किया है। शासकों से बड़ी-बड़ी उम्मीद पाल रखी थी लेकिन जल्दी ही मोहभंग हो गया। साधारण जन के सारे सपने टूट गए थे उस वक्त मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' नामक कविता लिखी और शासक वर्ग के वास्तविक चेहरे पर प्रकाश डाला। सत्ताधारी और बौद्धिक वर्ग के बीच का गठजोड़ जनता पर उसका शोषण परंपरा का ध्वंस, व्यक्ति स्वतंत्रता की अवहेलना अभिव्यक्ति की समस्या आदि पक्षों को यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है।

'अँधेरे में' कविता का आरंभ व्यक्ति (नायक) से होता है लेकिन व्यक्ति का आत्मसंघर्ष एक बहुत सुदृढ़ सामाजिक संदर्भ है। मार्शल लॉ अँधेरे में कविता की मुख्य वस्तु देश में कायम हुकूमत है और प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आत्मसंघर्ष। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने 'अँधेरे में' को विभाजित व्यक्तित्व की कविता कहा है। जबकि नामवर सिंह ने अस्मिता की खोज की कविता माना है। इस तरह विद्वानों ने कविता में जो खोया था उसे प्रमुख बना दिया। स्वयं कवि की दृष्टि में इस कविता की मुख्य वस्तु क्या है? इसका पता अग्येश्का सोनी को लिखे गए उनके पत्र में मालूम होता है–

'उसमें एक आशंका है अँधेरी आशंका का वातावरण है–कहीं हमारे भारत में ऐसा-वैसा न हो।' अँधेरा मुक्तिबोध के लिए टैकनीक नहीं था न ही वह उसकी गुप्त पीड़ाओं, चिंताओं से उपजा था वह यथार्थ था उनके समय और समाज का अंधकार जिसे निराला ने भी देखा था–

उगलता गगन घन अंधकार
खो रही दिशा का ज्ञान
स्तब्ध है पवन चार। (निराला)[3]

उस अँधेरे को मुक्तिबोध ने भी देखा–

चिंता हो गई कविता पढ़ते ही
उसमें से अँधेरे का भभकारा उमड़ा।[4]

चिंता यह थी कि आजादी के बाद अँधेरे को खत्म होना था लेकिन यह आजादी के बाद भी यह बढ़ता ही जा रहा है। मुक्तिबोध ने जुलूस के माध्यम से उन लोगों से पर्दा उठाया है जो छिपे तौर पर सत्ताधारियों का समर्थन ही नहीं करते, उनकी रक्षा में भी हाजिर रहते हैं। कवि को दुख होता है उस जुलूस में बड़े-बड़े पत्र कर भी शामिल हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था का समर्थन पूरी निष्ठा से और शक्ति के साथ करते हैं और पूँजीवाद द्वारा लाई गई व्यवस्था फासिज्म का यशोगान करते हैं जिसकी अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है–

कर्नल ब्रिगेडियर/चेहरे वे मेरे जाने-बूझे से लगते
उनके चित्र समाचार पत्रों में छपे थे

उनके लेख देखे थे/ यहाँ तक कि कविताएँ पढ़ी थीं
भाई वाह/ उनमें कई प्रकांड आलोचक विचारक जगमाते कवि गण
मंत्री भी उद्योगपति और विद्वान/ यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
डोमा जी उस्ताद.../ भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब
साफ उभर आया है।/ छिपे हुए उद्देश्य।[5]

कवि समाज व्यवस्था के नग्न रूप का चित्रण करते हुए कहते हैं कि अगर कोई उन्हें वास्तविक रूप में देख ले तो उसकी हत्या कर देते हैं जिसकी अभिव्यक्ति इन पंक्तियों में हुई है–

यारो गोली दागो सालों को एकदम...
आधी रात अँधेरे में उसने
देख लिया हम को।[6]

अँधेरे में कविता कट्टर राहों से अलग जनता के जनराष्ट्रवाद का मार्ग सुझाती है इस कविता में तिलक और गांधी जी के रूपकों के माध्यम से कवि ने समझाया है तिलक की प्रतिमा का हिलना, चिंता से मस्तिष्क का फटना तथा खून की धारा बहना राष्ट्रीय मुक्ति की क्रांतिकारी चेतना का प्रतीक है–

भव्य ललाट की नासिका में से
बहा रहा खून न जाने कब से
लाल-लाल गरमीला रक्त टपकता
मस्तक कोष ही फूट पड़े सहसा।[7]

तत्पश्चात गांधीजी बोरा ओढ़े हुए दिखाई देते हैं। गांधीजी के माध्यम से कवि ने जनता की शक्ति का चित्रण किया है। गांधी काव्य नायक से कहते हैं कि शक्ति नेता में नहीं जनता में होती है। गांधी जी के कंधों पर सवार बच्चा 'यहाँ स्वतंत्रता का शिशु' गांधीजी काव्य नायक को सौंपकर गायब हो जाते हैं–

जनता के गुणों से ही संभव / भावी का उद्भव...
मुस्करा उस द्रुति पुरुष ने कहा तब/ मेरे पास सोया हुआ यह था
सँभालना इसको सुरक्षित रखना।[8]

आजादी के बाद देश के सामने प्रश्न शेष थे–किसकी आजादी? कैसी आजादी? किसका राष्ट्र? क्या वह यही आजादी थी जिसके स्वप्न भारतीय जनता ने देखे थे। इस कविता में आजादी के बाद मोह भंग का चित्रण कवि ने बड़े कलात्मक ढंग से किया है–

जम गए हुए, फँस गए/ अपने ही कीचड़ में धँस गए
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में/ आदर्श खा गए।[9]

इस कविता में मध्यवर्गीय काव्य नामक के सम्मुख पागल छंद युक्त गीत यूँ ही नहीं गाता है इस गीत के माध्यम से कवि ने स्थिति का विश्लेषण किया है कि कैसे स्वार्थ टेरियार कुत्ते पाल हमने भावना का कर्त्तव्य त्याग दिया, किस तरह हमने अपने स्वार्थ को अपने देश से अधिक महत्त्व दिया। आज मध्यकालीनता और उत्तर आधुनिकता के विभ्रमकारी भँवर में इस कदर फँस गया है उसका असंग व्यक्तित्व भावी विध्वंस की ओर उन्मुख है जहाँ पहले कला को कला के लिए प्रश्न उठाया जाता था लेकिन आज कला जीवन के लिए नहीं जीवनयापन और आत्मविज्ञापन के लिए बन गई है इस दृष्टि से भी मुक्तिबोध और उनका काव्य अँधेरे में की प्रांसगिकता और अधिक बढ़

गई है।

अब तक क्या किया / जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया और दिया बहुत कम
मर गया देश और जीवित रह गए तुम।[10]

इस कविता में आगे एक मध्यवर्गीय कलाकार की असंगत मृत्यु का वर्णन करते हुए लिखते हैं। जब शिशु फूल से रायफल में बदल जाता है तो ठीक उसी समय एक एकांतप्रिय कलाकार की हत्या हो जाती है। काव्य नायक टार्च के प्रकाश में खून भरे बाल में गोली का निशान, होठों पर कत्थई धारा, फूटा चश्मा दिखाई पड़ता है जिसकी मार्मिक अभिव्यक्ति कवि ने इन पंक्तियों के माध्यम से की है–

सच्चाई थी सिर्फ एक एहसास/ वह कलाकार था
गलियों में अँधेरे का हृदय में भार था/ परकार्य क्षमता से वंचित व्यक्तित्व
चलता था अपना असंग अस्तित्व/
... किंतु न जाने किस झोंक में क्या कर गुजरा कि
संदेहास्पद समझा गया और/ मारा गया वह वधिकों के हाथों।[11]

मुक्तिबोध के काव्य नायक की समस्या केवल बाह्य औपनिवेशिक आधुनिक नहीं है बल्कि आंतरिक गढ़वाद और मठवाद भी है। सच्ची जनमुक्ति और जनक्रांति के लिए वह अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाना चाहता है–

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/ उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब/ पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी बाहें/ जिसमें कि प्रतिफल काँपता रहा
अरुण कमल एक।[12]

इन पंक्तियों के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्ति की आजादी की माँग की है। साथ ही पुरानी इमारतों, मठों की जर्जरता हमारे सामने एक वैकल्पिक सभ्यता निर्माण का चित्र उपस्थित करती है।

'अँधेरे में' कविता के माध्यम से मुक्तिबोध स्वतंत्रता के बाद की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन आया उसकी व्यथा कथा को व्यक्त करते हुए नजर आते हैं। मुक्तिबोध ने सत्तावर्ग और बुद्धिजीवियों की दोहरी मानसिकता का पर्दाफाश किया है। सत्ताधारियों ने अपने हित के लिए समाज को बाँट दिया है ताकि कोई बगावत न करे। इस कविता के माध्यम से कवि अपने युग की चिंता का ही चित्रण नहीं करते बल्कि भविष्य की भयानक स्थितियों की तरफ इशारा करते हैं। आज साहित्यकार अपने वास्तविक कर्त्तव्य से विमुख हो गया है। आज साहित्य जीवनयापन और आत्म विज्ञापन का साधन बनता जा रहा है। मुक्तिबोध इस पर व्यंग्य करते हुए उसे सही राह दिखाते हैं।

मुक्तिबोध के समय में भले ही कविता फैंटेसी में हो रही हो लेकिन आज यह हमारे समाज सत्ता व्यवस्था जनता की वास्तविक तस्वीर है। कविता अपने समय और समाज का भयंकर सच बन चुकी है जो लगातार इतिहास और वर्तमान के फिर इतिहास बनने के अतिक्रमण कर भविष्य का बयान करती चल रही है। यह निराशा की नहीं बल्कि संघर्ष की कविता है जो व्यक्ति से आरंभ होकर समृष्टि मे समाहित हो जाती है। 'अँधेरे में' के माध्यम से कवि ने मानव अवचेतना पर हो रहे दमन, अधिग्रहण और अतिक्रमण का विरोध किया है। मुक्तिबोध द्वारा रचित काव्य 'अँधेरे में'

हमेशा प्रासंगिक बना रहेगा।

संदर्भ

1. गजानन माधव मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1976, पृ॰ 256
2. वही, पृ॰ 257
3. नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावली-2 दिल्ली राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ॰ 173
4. आलोक गुप्त, मुक्तिबोध युग चेतना और अभिव्यक्ति गिरनार प्रकाशन, 1985, पृ॰ 257
5. वही, पृ॰ 259
6. निराला सूर्यकांत त्रिपाठी, अपरा नई दिल्ली, राजकमल प्रकाश, 2009
7. मुक्तिबोध गजानन माधव, चाँद का मुँह टेढ़ा है, नई दिल्ली भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1976, पृ॰ 257
8. वही, पृ॰ 258
9. वही, पृ॰ 259
10. वही, पृ॰ 269

मो॰ 9451888162
pritirai14.mzu@gmail.com

रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना

सरला माधव प्रसाद तिवारी
डॉ॰ दीपिका जैन (शोध निर्देशक)
डॉ॰ ए॰पी॰जे॰ अब्दुल कलाम विश्वविद्यालय, इंदौर (म॰प्र॰)

आधुनिक साहित्य के इतिहास में राष्ट्रीय चेतना को उभारने वाले साहित्यकारों में रामनरेश त्रिपाठी का नाम हम बिसरा नहीं सकते। स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्र के पश्चात हुई समस्त सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि का भली-भाँति ज्ञान रखने वाले रामनरेश त्रिपाठी उस ज्ञान का अपने साहित्य में उत्कृष्ट पद्धति से उपयोग करते दिखाई देते हैं। रामनरेश त्रिपाठी के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना को समझने से पहले हमें राष्ट्रीय चेतना की परिभाषा को समझना आवश्यक है।

राष्ट्रीय शब्द 'राष्ट्र' को उद्घोषित करता है। राष्ट्र एक अनुबंध है, वह भूखंड की उस सीमा को दर्शाता है; जिस भूखंड का अधिपत्य किसी राजा अथवा राज्यकर्ता की अगुवाई में नियंत्रित अथवा अनुशासित होता है। इस राष्ट्र की सीमा में रहने वाले हर व्यक्ति, इसमें पाए जाने वाले हर प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक संसाधन उस राष्ट्र की धरोहर हैं। राष्ट्र के संचालन हेतु राष्ट्र की प्रगति हेतु उस राष्ट्र में हर क्षेत्र का होना अनिवार्य होता है। कृषि, पर्यटन, व्यापार इत्यादि के साथ-साथ उस राष्ट्र की सुरक्षा हेतु हरसंभव प्रयास किए जाते हैं। एक राष्ट्र में राजा सेनापति और सैनिकों की सुरक्षा की जवाबदेही तो निश्चित होती ही है, किंतु यदि उस राष्ट्र को अखंड, सुरक्षित रखना हो तो हर व्यक्ति अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिए हमेशा तत्पर रहे; तभी वह राष्ट्र संपूर्णत: सुरक्षित रहता है। किसी राष्ट्र को आक्रमण कर हासिल करना कई बार किसी राजा के लिए आसान भी रह सकता है; किंतु एक अच्छे राष्ट्र का निर्माण करना उतना ही जटिल एवं असंभव कार्य हो सकता है।

किसी भी राष्ट्र की तरक्की राजाओं की परिपक्वता, सम्यक दृष्टि, न्याय दृष्टि एवं दूर दृष्टि पर निर्भर होती है। एक उत्कृष्ट राजा के पास उत्कृष्ट सेनापति, विद्वान प्रधानमंत्री, एक सुलभ मंत्रालय, अच्छा न्यायमंडल, अच्छा विधिमंडल और प्रामाणिक सेनानियों का होना उस राष्ट्र को मजबूत राष्ट्र बनाने में सहायक होते हैं। रामनरेश त्रिपाठीजी राजा को जननायक की उपाधि देकर जननायक के संदर्भ में उसकी प्रतिमा को उभारते हुए उसे यूँ अंकित करते हैं–

सागर सा गंभीर रहे हो, /गिरी-सा ऊँचा हो जिसका मन
ध्रुव-सा जिसका लक्ष्य अटल हो/ दिनकर सा हो नियमित जीवन
जिसकी आँखों में स्वदेश का/ अति उज्ज्वल भविष्य हो चित्रित
इच्छा में कल्याण बसा हो,/ चिंता में गौरव हो रक्षित।[1]

एक राजा अथवा जननायक का हृदय इतना गंभीर हो कि उसके हृदय की गहराई समुद्र की भाँति अगणित हो। उसके मन की ऊँचाई हिमालय की भाँति ऊँची हो। जननायक हर व्यक्ति के मनोभाव को पूरी तरह से समझने की शक्ति को आवंटित करे। उसके मन में कभी-भी किसी के लिए गलत धारणा उत्पन्न न हो, इतना विशाल हृदय उसका रहे कि अपने इस विशाल हृदय की

 ISSN 0975-735X

सहायता से वह हरएक जरूरतमंद व्यक्ति की सहायता कर सके। यहाँ सागर-सा गंभीर इसका अर्थ विद्वत्ता से या यूँ कहें ज्ञान से भी जोड़ा जाता है। एक जननायक एक राजा इतना ज्ञानी हो, कि उसे उचित अथवा अनुचित की भलीभाँति पहचान हो और इसी उचित-अनुचित को समझते हुए, वह अपने विशाल हृदय से न्याय करें। क्योंकि न्याय ही राष्ट्र के हित में परिलक्षित होता है; न्याय से ही विश्वास उत्पन्न होता है; और न्याय से ही सुरक्षा अखंडित रहती है। आगे रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं कि जननायक का लक्ष्य ध्रुव-सा अटल रहना चाहिए। एक राजा का लक्ष्य हमेशा अटल और अटूट रहे तो उसे निर्णय लेने में सुविधा होती है और योग्य निर्णय से वह अपेक्षित परिणामों को हासिल कर पाता है। राजा का लक्ष्य अटल इसलिए कहा गया है, क्योंकि ध्रुव उस भाव को संबोधित करता है, जिसमें प्रकाश, सच्चाई, भक्ति, प्रेम, वात्सल्य, भोलापन, बालमन आदि का आभास होता है। जब मन में योग्य लक्ष्य होगा, जनहित का लक्ष्य होगा, लोकहित का लक्ष्य होगा, जब मन में परोपकार का लक्ष्य होगा, तभी उस लक्ष्य को पारदर्शी लक्ष्य मानकर राष्ट्रीय भाव की परिकल्पना की जा सकती है। राजा का जीवन दिनकर जैसा होना चाहिए, जो नित्य नियम से अपने कार्य को करे। दिनकर का जीवन समयबद्ध तरीके से एवं केवल औरों के लिए समर्पित होता है; उसी प्रकार राजा का जीवन भी समयबद्ध तरीके से व्यतीत हो और उसका जीवन भी प्रजा के प्रति समर्पित हो; तो वह राजा श्रेष्ठ कहलाता है। जननायक की आँखों में केवल स्वदेश का भाव हो; जो केवल अपने देश की चिंता करें, अपने देश के लिए जिए-मरे और ऐसा करने से ही उस देश का उज्ज्वल भविष्य चित्रित हो सकता है। स्वदेश में केवल एक कल्पना से कार्य नहीं चलता। स्वदेश का मतलब अपने देश की केवल बाह्य रक्षा करना नहीं है; अपितु देश के अंतर्गत रहने वाले सभी समूहों के बीच प्रेम-वात्सल्य का निर्माण करना और उसका यथासंभव संचालन करना, जन समुदाय के मन में राजा के प्रति आदर सम्मान की भावनाओं को बनाए रखना, यह स्वदेश की कल्पना है। स्वदेश की परिकल्पनाओं में भाईचारा, अपनापन, आत्मनिर्भरता, सामंजस्य जैसी कई परिकल्पनाओं का सम्मेलन होता है।

किसी भी राष्ट्र के लिए यदि उज्ज्वल भविष्य का चित्रण करना है, तो उसमें हर व्यक्ति के मन में स्वदेश की भावना का निर्माण अति आवश्यक है। जब तक लोगों को यह न लगे कि यह मेरा देश है, यह मेरे देश की मिट्टी है, और इसकी सुरक्षा मेरी स्वयं की जिम्मेदारी है, तब तक उस राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का चित्रण करना मुश्किल है। रामनरेश त्रिपाठी अपने इस काव्य के अंतिम चरण में कहते हैं कि इच्छा में कल्याण बसा हो, जननायक के मन में, जननायक के आत्मा में, उसकी इच्छाओं में, उसकी कल्पनाओं में यदि अपने देश के कल्याण का, अपने देश के उज्ज्वल भविष्य का उत्कृष्ट चित्रण, उत्कृष्ट मानसिक चित्रण हुआ है; तभी उस राष्ट्र की चिंता में उसका गौरव रक्षित रहता है। रामनरेश त्रिपाठी ने किसी साधारण सी बात की कल्पना इन पंक्तियों में नहीं की है—यहाँ पर एक देश के जननायक को कैसा होना चाहिए? और एक जननायक ही किसी राष्ट्र का उत्कृष्ट राष्ट्र निर्माता कैसे हो सकता है इसका हमें आकलन कराया है।

हमारी भारतीय परंपराओं ने हमें शुरू से लेकर सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन शैली को किस प्रकार संचालित करना है; उसके संदर्भ में अनेक प्रकार से मार्गदर्शन दिया है और इस मार्गदर्शन में धर्म की संज्ञा दी है। राजा अपने व्यवहार को, आचरण को, सिद्धांतों को और अपने दायित्व को किस प्रकार निभाए, उसके लिए राजधर्म संज्ञा से परिचित किया है। नैतिकता पूर्ण जीवन जीने के मार्ग को ही हमारी संस्कृति ने धर्म कहा है। राजधर्म में स्वदेश के प्रति आदर तो होता ही

है; किंतु उस देश से जुड़े हुए पड़ोसी देशों के साथ भी मधुर संबंधों का होना राजधर्म कहलाता है।

जिसका ज्ञान भावनामय हो
उद्देश्य-साधन में तत्पर
जिसका धर्म लोकसेवा हो
जिसका वचन कर्म का अनुचर
सदा लोक संग्रह में जिसकी
हो प्रवृत्ति हो वृत्ति अचंचल
सदाध्येय के सन्मुख जिसका
प्रगतिशील हो एक-एक पल।[2]

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय राष्ट्रीय लोकचेतना का निर्माण करते हुए रामनरेश त्रिपाठी जी काव्य का सहारा लेते हुए दिखाई देते हैं। अपने पंक्ति में कहते हैं कि युवकों तुम जागो, तुम याद करो; अपने उन पूर्वजों के कार्यों को, उनके प्रताप को, उनके शौर्य को याद करो कि यह देश किस प्रकार सबसे सुंदर, अनूठा और बलशाली था। यह वही देश है जिस देश में सूरज सबसे पहले आकर दस्तक देता है। यह वही देश है; जिसे सोने की चिड़िया कहा जाता था। हमारी भारतीय संस्कृति केवल कुछ वर्षों की नहीं है; अपितु लाखों वर्षों से अपना अस्तित्व बनाए हुए है और इसीलिए तुम भूल मत जाओ कि तुम प्रतापी, बलशाली और शौर्यवान पिता के पुत्र हो। इसलिए तुम्हें इस आजादी की लड़ाई में अपना योगदान देना ही होगा। आजादी की लड़ाई में अपना सर्वस्व त्यागकर इसे हासिल करना–यही उद्देश्य, यही कामना, हमारे मन में होनी चाहिए–

हे युवको! तुम उन्हीं पूर्वजों के वंशज, उनके हो प्रतिनिधि
तुम ही मान-रक्षक हो उनके कीर्ति-तरंगिणियों के वारिधि
रवि, शशि, उडुगण, गगन दिशाएँ, है गिरि नदी, मेदिनी तब तक
निज पैतृक धन स्वतंत्रता को क्या तुम तज सकते हो तब तक?[3]

रामनरेश त्रिपाठी जी युवकों को केवल आंदोलित करना नहीं चाहते; किंतु वह उनकी परंपराओं से उनके धरोहर से उन्हें परिचित कराते हुए आने वाले भविष्य की परिकल्पना को चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं। यदि आज हमारा युवक नहीं जागा, तो उनका अस्तित्व हमेशा के लिए खत्म हो जाएगा। यह संदेश भी वह अंतिम पंक्तियों में देते हैं। वह नवयुवकों को उत्तेजित करते हुए उन दसों दिशाओं की याद दिला रहे हैं जहाँ पर केवल हमारे विशाल भारत की अखंड एवं सुसंस्कृत भारत की विशाल परिसीमाएँ थीं। इसमें उनका स्पष्ट संदेश है कि हम किस प्रकार से सिकुड़ते जा रहे हैं, किस प्रकार से हमारी राज्य की सीमाएँ सिकुड़ती जा रही है और किस प्रकार हमारे और हमारे संस्कृति का पतन हो रहा है। इसके लिए केवल एक व्यक्ति अथवा कोई जाति विशेष जिम्मेदार नहीं है, इसके जिम्मेदार हम सभी हैं। इसका जिम्मेदार हर वह व्यक्ति है, जो अपने संस्कृति को भुलाकर अन्य संस्कृतियों को अधिक महत्त्व दे रहा है। स्वदेश गौरव कि यह चौथी काव्य पंक्ति है जिसमें त्रिपाठी जी स्पष्ट संकेत करते हुए दिखाई देते हैं कि हमारी जागृति किस प्रकार आवश्यक है। वह युवकों से आवाहन करते हैं क्योंकि मुझे पता है कि यही हमारा भविष्य है और जब तक युवक नहीं जागेगा तब तक किसी भी देश के लिए उस देश का उत्थान असंभव है।

पर-पद-दलित, पर-मुखापेक्षी,/ पराधीन, परतंत्र, पराजित
होकर कहीं आर्य जीते हैं?/ पामर, पशु-सम पतित, पराजित

तुम ही देश के आशा-स्थल हो/ तुम्ही शक्ति संपदा तुम्ही सुख
जर्जर होकर भी जीवित है/ देश तुम्हारा देख-देख मुख।[4]

हमारे भारत का एक नाम आर्यवर्त भी है। इसी को ध्यान में रखते हुए त्रिपाठी कहते हैं कि उस आर्यवर्त में रहने वाला हर व्यक्ति आर्य है। अरुण का यह प्रश्न भी है कि क्या दूसरों के दलित कदम अर्थात् उनके वह अछूते गंदे कदम हमारे धरती पर यदि लगे और यदि हम दूसरों का मतलब अन्य राष्ट्र के किसी नागरिक का हम मुख देखकर उन्हें अपना मान लें, उनके गोरे चमड़े को देखकर हम यदि लालायित तो हो जाएँ, हम उनके अधीन होकर यदि अपना जीवन जीना शुरू कर दें, हम उनकी गुलामी करके अपनी स्वतंत्रता को समाप्त यदि कर दें; तो ऐसे पराजित हृदय से क्या हम कभी जीत पाएँगे। इस पृष्ठ में स्पष्ट संकेत छुपे हुए हैं कि हमारी जो लालसा, हमारी जो कामना है; हम अपने ही भाई-बहनों के साथ दुर्व्यवहार करके, परराष्ट्र में रहने वाले अन्य नागरिकों का सम्मान करें, उन्हें अपना माने, उन्हें अपना सर्वस्व दे दें, तो हम कभी भी स्वतंत्र जीवन नहीं जी सकते। इसलिए अपने स्वदेश के प्रति अपने मन में आस्था का होना अनिवार्य है और यह जो चूक हमारे ही कुछ लोगों ने की है; तो आज उसी का परिणाम है कि हम पराधीन होकर पामर बनकर एक पशु-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस पर आश्रित जीवन में यदि कोई आशा की किरण है तो वह हमारे नवयुवक ही है। इतना नुकसान हमारे देश का होने के बाद भी यदि कोई आशा स्थल है तो वह केवल इस देश का वह नागरिक है जो जर्जर होकर भी स्वतंत्रता की आस लगाए बैठा है। हमने जितनी कामना गैरों से की; उतनी यदि आज हम अपनों से कर लें और इस स्वतंत्रता के संग्राम में बढ़-चढ़कर अपनों के हाथों में हाथ मिलाकर हिस्सा लें तो निश्चित ही आने वाला कल हमारा होगा।

रामनरेश त्रिपाठी की काव्यधारा में उनकी राष्ट्रीय चेतना को उद्घोषित करने वाली इन पंक्तियों में हमें उनका राष्ट्रप्रेम स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जब तक स्वयं के मन में राष्ट्र के प्रति आदर, सम्मान और अपने राष्ट्र के प्रति अपने स्वदेश के प्रति अपनेपन की भावना न हो, तब तक काव्य में भी उस भाव को लाना असंभव है। यह काव्य पंक्तियाँ स्पष्ट निर्देश दे रही हैं कि कवि रामनरेश त्रिपाठी एक राष्ट्रीय भावधारा के देशभक्त थे।

संदर्भ

1. आधुनिक कवि, आचार्य पंडित रामनरेश त्रिपाठी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2001, जननायक, पृ॰ 31/2
2. वही, पृ॰ 31/1
3. वही, पृ॰ 34/4
4. वही, पृ॰ 35//7

सरस्वती नगर, भुसावल- 425201
मो॰ 9284040119
sarlatiwari70@gmail.com

डॉ॰ माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' की रचनाओं में मानवीय मूल्य

डॉ॰ (श्रीमती) कल्याणी जैन, शोध निर्देशिका
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
शास॰ बिलासा कन्या स्नात॰ स्वशासी महाविद्यालय, बिलासपुर (छ॰ग॰)
श्रीमती संगीता शर्मा, शोधार्थी, कला संकाय (हिंदी)
अटल बिहारी बाजपेयी विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ॰ग॰)

मानव जीवन की श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए जिन मूल्यों और मर्यादाओं का पालन आवश्यक है उन्हें ही मानव मूल्य कहा गया है। मानव मूल्य दो शब्दों से मिलकर बना है–मानव और मूल्य। मूल्य को अँग्रेजी में value कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के valera शब्द से हुई है जिसका अर्थ है–उपयोगिता, वांछनीय गुण विशेषता आदि। मूल्य शब्द का प्रयोग बहुत ही विस्तृत है, इसका प्रयोग वाणिज्य से लेकर कला तक मानवीय ज्ञान एवं साहित्य की विस्तृत परंपरा में किया जाता है। 'अर्बन' के अनुसार–'कोई भी ऐसी वस्तु मूल्य हो सकती है जो जीवन को आगे बढ़ाती और सुरक्षित करती है।'[1] मूल्यों को एक मान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि व्यक्तिगत भी हो सकती है और सांस्कृतिक भी। 'वुड्स' के अनुसार, 'मूल्य दैनिक जीवन में व्यवहार को नियंत्रित करने के सामान्य सिद्धांत हैं। मूल्य केवल मानव व्यवहार की दिशा निर्धारित ही नहीं करते, बल्कि अपने आपमें आदर्श एवं उद्देश्य होते हैं।'[2] 'प्रो॰ राधाकमल मुखर्जी के अनुसार, 'मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत इच्छाओं एवं लक्ष्यों का नाम है।'[3]

मानव मूल्य व्यष्टिगत होते हुए भी समष्टिगत होते हैं। मानव जीवन की उन्नति का आधार ये मूल्य ही होते हैं और ये समाज के लिए मंगलकारी और हितकारी होते हैं। मानव मूल्यों के बिना मानव अस्तित्व निरर्थक है। सभ्यता का मूल ये नीतियाँ ही होती हैं।

मानव जीवन निरंतर परिवर्तनशील है। ऐतिहासिक परिस्थितियों की द्वंद्वात्मक परिणिति में नए जीवन मूल्यों का निर्माण होता है जो इतिहास की बदली हुई स्थिति में जीवन की श्रेष्ठता का मानदंड बना जाते हैं। हर ऐतिहासिक परिवर्तन पर जीवन मूल्यों के निर्धारण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता मूल्यों को प्रतिपादित करती है, यही कारण है की अलग-अलग समय में अलग-अलग साहित्यिक मूल्यों की स्थापना होती है। मूल्य ही वह जीवन पथ है, जिसमें मानव संस्कृति रूपी वृक्ष पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है, इसलिए वर्तमान समय में हमारी संस्कृति मानव मूल्यों के परिणाम की ही स्थिति है। मूल्यों का महत्त्व व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भिन्न-भिन्न रूपों में है। मानव मूल्य हमारी संस्कृति, परंपरा, प्रथा, रीति रिवाज, सामाजिक विश्वासों, मान्यताओं और आदर्शों का सार है। सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, परोपकार, दयालुता, सदाचार, नैतिकता, आदर्शवादिता को मानव मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। मूल्य सदैव बनते और बिगड़ते रहते हैं।

साहित्य में मानव मूल्य सर्वोपरि हैं, क्योंकि साहित्यकार अपने युग परिवेश और परिस्थितियों

 ISSN 0975-735X

के साथ-साथ देश के प्रति सचेत होकर अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से मानवीय मूल्यों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। मानव और उससे संबंधित प्रत्येक क्षेत्र साहित्य सृजन का आधार है, इसलिए सभी क्षेत्रों से संबंधित मानव मूल्यों से भी साहित्य का संबंध है। मानव मूल्य साहित्य को हर परिस्थिति में प्रासंगिक रहने की शक्ति प्रदान करते हैं। डॉ॰ जगदीशचंद्र गुप्त–तत्त्वत: सभी मानव मूल्य हैं, चाहे वे नैतिक मूल्य हों या सौंदर्यपरक मूल्य या कोई और पर इस अर्थ में मानव मूल्यों से तात्पर्य उन मूल्यों से है, जो मानव के आंतरिक सहज रूप से प्रगट होते हैं तथा उनके संवेदनात्मक व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से संबद्ध हैं। जीवन में उन मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानव एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है। इनसे ही विश्वबंधुत्व की भावना को बल मिलता है।

मानव मूल्यों को जन-जन तक पहुँचने का सशक्त माध्यम साहित्य ही रहा है। साहित्य की सभी विधाओं का इसमें योगदान रहा है परंतु काव्य इसमें विशेष स्थान रखती है। हिंदी काव्य की समस्त विधाओं को देखें तो आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक इसके केंद्र में मनुष्य है, मानव जीवन एवं जीवन मूल्य है। युग परिवर्तन के साथ ही जीवन के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहा है। मानव मूल्य साहित्य में हमें कई रूपों में देखने को मिल रहा है, यह विषयानुरूप वर्गीकृत हो जाते हैं, जैसे–सामाजिक मानव मूल्य, राजनीतिक मानव मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, आर्थिक मूल्य इत्यादि।

कवि, लेखक, संपादक, समीक्षक एवं समालोचक डॉ॰ माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' हिंदी एवं छत्तीसगढ़ी के कुशल शिल्पकार हैं। डॉ॰ माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' का रचना-संसार विशाल एवं बहुआयामी है। डॉ॰ 'नवरंग' की काव्य रचनाओं का संसार विविध रंगों से सुसज्जित है। आप मानवीय प्रेम और करुणा के कवि हैं। व्यष्टि एवं समष्टि के बीच आपकी सारी रचनाएँ घूमती दिखाई देती हैं–

आते जाते रहे हैं लोग झूठे अनुबंध के लिए,
रिश्तों से जूझते रहे हम नए संबंध के लिए।[4]

डॉ॰ नवरंग साहित्य लेखन का मूल उद्देश्य लोकमंगल की भावना का मानते हैं। आपकी हिंदकी (हिंदी गजल) में लोकमंगल की भावना दर्शाती गजल की पंक्तियाँ हैं–

तेरे शहर में फिर से अमन हो खुदा करे,
रहमत सभी के दिल में सुखन हो खुदा करे।
दो वक्त की रोटी के लिए तड़पे न कोई,
घर में खुशी के सारे जतन हो खुदा करे।[5]

डॉ॰ नवरंग पूरे विश्व से धर्म और जातिगत संकीर्णता समाप्त कर सर्वधर्म समभाव की भावना जाग्रत करना चाहते हैं–

क्यूँ हम हटते जा रहे हैं मानवता के मार्ग से,
इस पर चिंतन मनन और अनुसंधान होना चाहिए।
आपसी कटुता से ही बढ़ती हैं दरारें दोस्तो,
मन में एक दूजे की खातिर सम्मान होना चाहिए।[6]

डॉ॰ नवरंग सहिष्णुता का संदेश अपनी गजल की पंक्तियों से देते हैं–

कितना अच्छा होता बढ़ते साथ मिलकर,

गीता और कुरान पढ़ते साथ मिलकर।
राम दिखलाये हमें और रहीम तुमको,
क्यों नहीं ऐसा बुत गढ़ते साथ मिलकर।[7]

वर्तमान समय में प्रत्येक समाज संस्कृति के क्षरण से जूझ रहा है। युवा पीढ़ी आधुनिकता में रँग कर अपनी पहचान अपनी संस्कृति से दूरी बना रही है। डॉ॰ नवरंग अपनी हिंदी गजल की इन पंक्तियों से अपनी यह चिंता व्यक्त कर रहे हैं–

अपनी संस्कृति बचाना है जरूरी वरना,
खोजते खोजते थक जाओगे संतानों में।
भूल से भी कभी ना देव बनाना नवरंग,
वरना बँट जाऊँगा मैं मजहबी इंसानों में।[8]

आज जहाँ वैश्वीकरण का विकास हो रहा है, वहीं साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा नए-नए रूपों में दिखाई दे रही है। कवि का संवेदनशील हृदय महाविनाश को सोचकर ही काँप उठता है–

राजमार्ग में खून के छींटे पड़े हैं,
हर गली चौराहे पर खूनी खड़े हैं।
मन से आशा और निराशा जा चुकी है,
अब जीने और मरने की परीक्षा है।[9]

डॉ॰ नवरंग मानव मूल्यों के पक्षधर कवि के रूप में जाने जाते हैं, आपके काव्य का उद्देश्य मानव और मानवतावाद की स्थापना है। आपकी रचनाएँ मानव मूल्यों को संपूर्णता प्रदान करती हैं–

शोषण जहाँ दमन होता है, उस पथ पर मैं नहीं चलूँगा,
मैं दीपक हूँ सत्य प्रेम का, हिंसा के संग नहीं जलूँगा।[10]

डॉ॰ नवरंग का मत है कि किसी धर्म, वर्ग या जाति विशेष के लिए नहीं बल्कि संपूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए मानवता की स्थापना की जाए–

हे दीप तुझे शत-शत प्रणाम,
अँधियारे में भर दे प्रकाश,
हो नई चेतना का विकास,
लगे पीड़ा कुंठा में विराम।[11]

आपने अपनी कविता का लक्ष्य ही मानव प्रेम को माना है–

मेरे लहू का रंग है, तेरे लहू की तरह,
क्यूँ न हम मिलके चमन में रहें, खुशबू की तरह।[12]

डॉ॰ नवरंग की मान्यता है की वैमनष्य से समस्याओं का हल नहीं निकल सकता बल्कि प्रेम सद्भाव सहिष्णुता और मानवतावाद से ही दुनिया में सुख-समृद्धि आ सकती है–

सहिष्णुता का बुत हमें गढ़ना है यारो,
विश्व शांति के लिए लड़ना है यारो,
सांप्रदायिकता की जगह हर ढाँचे में,
सत्य और अहिंसा को मढ़ना है यारो,
वक्त झुकने और रुकने का नहीं,
संकटों के सामने अड़ना है यारो,

 ISSN 0975-735X

अपने ही घर मत करो आतंक पैदा,
शांति के पथ पर हमें बढना है यारो,
हिंदू, मुस्लिम, सिख, इसाई छोड़कर 'नवरंग'
सार इन धर्मों का अब पढ़ना है यारो।[13]

जीवन का आधार प्रेम है। जो प्रेम करता है वह मनुष्योचित व्यवहार में रहता है, वहीं पाप मनुष्य को पशुतुल्य बना देता है–

चिंगारी पाकर हवा बन जाती है आग
आओ कटुता त्यागकर गाएँ राग मल्हार।[14]

* * *

पनपे अच्छी भावना, पनपे नेक विचार
है मानव का धर्म ये, है जीवन का सार।[15]

* * *

सबका रखना ध्यान तुम, खत्म न हो विवेक,
नेकी की राह में, होंगे खार अनेक।[16]

* * *

तू ही मेरा धर्म है, तू ही है भगवान,
तेरे दम से विश्व में, काबिज है ईमान।[17]

डॉ॰ नवरंग की इच्छा है कि चारों ओर समानता स्थापित हो और समानता का प्रमुख आधार हो गरीबी और शोषण की समाप्ति–

हम गलियों की आज तक छान रहे हैं खाक,
रहने दो उड़ाओ मत गरीबी का मजाक।[18]

* * *

भूख से ताबजर है, शहर इन दिनों,
पेट घटने लगा, बढ़ गई हैं पसलियाँ।[19]

डॉ॰ माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' की रचनाओं में सामाजिक सरोकार के दर्शन होते हैं–

हर दर्पण के आगे पीछे, एक-सा रूप नहीं होता,
एक दिखाता है चेहरा तो, दूजा अँधियारा ढोता है।
ये जीवन का कर्म है बंधु, कहीं उजाला कहीं अँधेरा,
लाख चलाओ आतिशबाजी, पर, भूख नहीं घटने वाली।[20]

समाज की समस्याओं, पीड़ाओं, कुंठाओं, क्षुब्ध पात्रों और उत्पीड़नों के विरुद्ध आक्रोश तथा सामाजिक दायित्वों के प्रति संवेदना के स्वर दृष्टिगोचर होते हैं–

नेकी को ढोना बाकी है, अभी प्रलय होना बाकी है,
रह पाओ तो तुम रह लेना, घर का एक कोना बाकी है।[21]

आपकी रचनाओं में जीवन की विसंगतियों एवं विद्रूपताओं का सजीव चित्रण है। आपके गीतों में नवताल की स्वर लहरियाँ हैं–

ढूँढ रहे हैं नाम कहाँ है, सत्ता का ईनाम कहाँ है,
हिंसा में डूबा है मानव, ईश्वर का पैगाम कहाँ है।[22]

डॉ॰ नवरंग के गीतों में समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, महँगाई एवं नैतिकता के पतन के दृश्य अपनी संपूर्ण छटा के साथ दिखाई देते हैं–

मन में प्रेम नहीं है शंका, हर घर है रावण की लंका,
आपस में लड़वाकर खुद ही, शांति का बजवाते डंका,
ये शब्दों के जादूगर है, इनका लक्ष्य विवेक नहीं।[23]

आपने वर्तमान के समाज की कड़वी सच्चाई सामने रखी है। आज के समय इतना ज्यादा बेगानापन है कि कोई किसी का साथ नहीं देता–

कोई साथ नहीं आएगा, स्वप्न सुनहरा भरमाएगा
जख्म कुरेदोगे तुम जितना, उतना ही वो गहराएगा
आँसू देख न पाए कोई, छुपकर रो लो तो अच्छा है।[24]

डॉ॰ नवरंग रंग और व्यंग की सधी शैली में अर्धसत्य जीवन की परतों को उधेड़कर जब यथार्थ बयाँ करते हैं तो सहृदयों को आह्लादित कर देते हैं–

आँखों में परवाज नहीं है, अब हंसों का राज नहीं है,
बचकर रहना इस बस्ती में, उड़ने का रिवाज नहीं है।[25]

नवरंग जी कभी किसी वाद से नहीं बँधे। गद्य हो, गीत हो, गजल हो या समसामयिक लेख, आप समय के साथ चलने वाले रचनाकार हैं। आपकी रचनाओं में विचारधारात्मक लय चलती है जो समाज सापेक्ष बदलाव की अग्रणी होती है–

लाया हूँ राहों से कुछ दीप चुन के,
इन्हें तुम सजाना हैं सारे सगुन के,
नेकी के पथ पर ये जलते रहेंगे,
आँधी बारिश में सँभलते रहेंगे,
हरदम रहेंगे पक्के अपनी धुन के।[26]

कम शब्दों में विस्तृत भाव व्यक्त करने की कला आपको समसामयिक रचनाकारों से अलग करती है–

बिना खाद पानी के खेत हुए हम,
बरसों का साथ रहा दूर तक बहे,
टूट गए लेकिन, उफ तक नहीं कहे,
नदी साथ छोड़ गई, रेत हुए हम।
ऋतुओं की पीड़ा को झेल रहे हैं,
अपने ही जख्मों से खेल रहे हैं,
लोगों की नजरों में प्रेत हुए हम।[27]

ईश्वर की आराधना के लिए दिखावा या पाखंड आवश्यक नहीं अपितु सच्ची मानवीय भावनाओं की आवश्यकता है। आपकी रचनाओं में मानवीय मूल्य लिए धार्मिक मूल्यों के भी दर्शन होते हैं–

लड़ता हूँ स्वाभिमान के लिए,
गली गाँव खलिहान के लिए,
रात रात भर जागता हूँ मैं,

 ISSN 0975-735X

अँधियारे के निदान के लिए,
मुझसे मिलने द्वार तक,
आएगा भगवान देखना।[28]

आपकी रचनाएँ मुखर चित्र हैं आप अपनी लेखनी से समाज को सही दिशा देने के लिए तर्कसंगत विचारों को संप्रेषित करते रहे हैं–

सालों मेरे पास रहा है/ मेरे गले की फाँस रहा है
जड़ें खोदता रहा है हरदम/ फिर भी मेरा खास रहा है।
धूप छाँव के झगड़े में/ कटना पड़ता है डाली को
दंड सूर्य की गुस्ताखी का/ भरना पड़ता है माली को
हरे पेड़ की सूखी टहनी-सा/ मेरा इतिहास रहा है।[29]

डॉ॰ नवरंग के नवगीत हमें सभी प्रतिकूल परिस्थितियों से डटकर लड़ना सिखाते हैं और तन कर खड़े रहने का विश्वास दिलाते हैं–

मर्यादित हम बने हुए हैं,
दु:ख सहकर भी तने हुए हैं,
जितने काटे गए हैं मित्रों,
उतने ही हम घने हुए हैं।[30]

गीतकार का विश्वास समाज के जन-जन का विश्वास बन गया है–

जो सागर संग इतराए
रीते थे, अब भी रीते हैं
हम बूंदों के अनुयायी हैं,
गागर में सागर पीते हैं।[31]

डॉ॰ नवरंग की रचनाओं में समकालीन मनुष्य, समाज, देश, राजकाज, अर्थतंत्र, सांप्रदायिकता, पारिस्थितिकी और तद्जन्य विडंबनाओं, कुंठाओं और संत्रास को बारीक इशारों से कहा गया है, वह गीतकार की सूक्ष्म संवेदना का प्रतिफल है–

कभी बूँद अश्रु की, कभी गंगाजल हुए,
कडुवाहट इतनी मिली, अमृत थे हम गरल हुए,
आँखों के आगे लुट गई, नन्ही सी चिड़िया नीड़ में,
आए हजारों मसीहा, आँसू बहाने भीड़ में,
सेंके जो रोटी लाश पर, मित्रों वो ही सफल हुए।[32]

'नवरंग' जी के शब्दों में 'शब्द ब्रह्म हैं, तो कोई भी शब्द जाया नहीं जाना चाहिए।' आपके शब्दों की बानगी देखिए–

हम अंधों के शहर में साहिब आईना बेचा करते हैं,
गूँगे को गूँगा, बहरे को बहरा कहने से डरते हैं।[33]

आपकी रचनाओं में न केवल मानवीय मूल्यों की समस्याओं का चित्रण है, बल्कि उनका समाधान भी सोने पर सुहागा है–

वही पुराना गाँव चाहिए
बरगद वाली छाँव चाहिए,

राह में न कोई हो घायल,
रुनझुन रुनझुन बाजे पायल,
माहुर वाले पाँव चाहिए।
हर आँगन में हो हरियाली,
किसी का चूल्हा न हो खाली,
सबकी खातिर ठाँव चाहिए,
तट पर बच्चे निर्भय खेलें,
लहरों का आतंक न झेले,
नदी किनारे नाव चाहिए।[34]

निष्कर्ष–समग्र साहित्य की आधार भूमि ही मानव धर्म है। ईश्वर भक्ति की पहचान और ईमान की कसौटी मानव प्रेम ही है। साहित्यकार निष्प्रयोजन कभी नहीं लिखता, वह अपने साहित्य के द्वारा क्या संदेश देना चाहता है, यह संदेश ही मानव मूल्य हैं। जीवन मूल्य मूलत: संस्कृति की साधना का प्रतिफल है, जो राष्ट्र के जीवंत प्रतिमानों और मानवीय मूल्यों का आधार है। भारत देश के जीवन मूल्य गंगा के समान पवित्र और सर्वसमावेशी हैं। इसमें अनेक संस्कृतियों और धार्मिक अनुभवों की धाराएँ समय-समय पर मिली, किंतु वे सभी धाराएँ मूल धारा में रच बस गईं। समय के साथ आज आधुनिकता की आड़ में जहाँ संस्कृति का हनन हो रहा है, मानव मूल्य बदल रहे हैं और कहीं कहीं समाप्त हो रहे हैं। तब आवश्यकता है आज हमारी संस्कृति को बचाए रखने की, जिससे हमारी सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रहे और मानवता का भविष्य उज्ज्वल रहे। डॉ॰ नवरंग जनवादी कवि हैं और मानवीय मूल्य एवं मानवीय सभ्यता के प्रबल पक्षधर हैं। डॉ॰ नवरंग ने मर्मस्पर्शी काव्यानुभूति और सरस भाषा के द्वारा अपनी समग्र रचनाओं में मानव मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया और नई पीढ़ी को संदेश दिया। शाश्वत और निश्छल प्रेम आपके गीतों के मूल में है और वर्तमान समाज और मानव के सभी पक्षों का सूक्ष्म चित्रण भी किया गया है। अपनी लेखनी से सिर्फ समस्याओं का चित्रण नहीं किया बल्कि उनका समाधान करने का प्रयास और मानव मन में प्रेम और मानवता के भाव जगाने की कोशिश की और एक गीतकार के रूप में सफल हुए।

संदर्भ

1. फंडामेंटलस ऑफ इंथिक्स, डब्लू॰ एस॰ अर्बन, पृ॰ 16
2. Ed Charles Morris of human values , P.11
3. राधाकमल मुखर्जी, द फ्रंटियर्स ऑफ सोशल साइंस, पृ॰ 23
4. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत-संग्रह), वैभव प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), 2007, पृ॰ 19
5. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', पसंगा (गजल-संग्रह), वैभव प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), 2010, पृ॰ 37
6. वही, पृ॰ 87
7. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', सर्पदंश (गजल-संग्रह), वैभव प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), वर्ष 2007, पृ॰ 92
8. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', पसंगा (गजल-संग्रह), पृ॰ 82
9. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत-संग्रह), पृ॰ 46

10. वही, पृ॰ 58
11. वही, पृ॰ 44
12. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', सर्पदंश (गजल-संग्रह), पृ॰ 35
13. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', पसंगा (गजल-संग्रह), पृ॰ 67
14. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', द्विविध (दोहा एवं मुक्तक-संग्रह), वैभव प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), 2013, पृ॰ 27
15. वही, पृ॰ 34
16. वही, पृ॰ 39
17. वही, पृ॰ 55
18. वही, पृ॰ 42
19. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', पसंगा (गजल-संग्रह), पृ॰ 65
20. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', लंबे दिन लंबी रातें (गीत-संग्रह), वैभव प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), 2010, पृ॰ 59
21. वही, पृ॰ 10
22. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', रिश्ते टूट गए (नवगीत-संग्रह), सर्वप्रिय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021, पृ॰ 119
23. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', लंबे दिन लंबी रातें (गीत-संग्रह), पृ॰ 61
24. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', रिश्ते टूट गए (नवगीत-संग्रह), पृ॰ 39
25. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत-संग्रह), पृ॰ 16
26. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', लंबे दिन लंबी रातें (गीत संग्रह), पृ॰ 23
27. साहित्य के माणिक 'नवरंग, साहित्य वैभव त्रैमासिक विशेषांक परिशिष्ट, वैभव प्रकाशन, रायपुर (छ॰ग॰), 2015
28. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', रिश्ते टूट गए (नवगीत संग्रह), पृ॰ 27
29. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत-संग्रह), पृ॰ 19
30. वही, पृ॰ 49
31. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', लंबे दिन लंबी रातें (गीत-संग्रह), पृ॰ 55
32. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत-संग्रह), पृ॰ 58
33. वही, पृ॰ 27
34. डॉ॰ माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग', रिश्ते टूट गए (नवगीत-संग्रह), पृ॰ 100

श्रीमती संगीता शर्मा
द्वारा श्री अभिषेक शर्मा
R-7/57 **रामा वैली, बोदरी**
रायपुर रोड, बिलासपुर (छ॰ग॰) 495220
मो॰ 6263539665
ranuasangeeta22@gmail.com

समसामयिक परिप्रेक्ष्य में चंद्रकांता के उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' की प्रासंगिकता

शमीना टी॰, शोध छात्रा
डॉ॰ शोभना कोक्काडन
अविनाशिलिंगम इंस्टीट्यूट फॉर होम साइंस
एंड हायर एडुकेशन फॉर वुमेन, कोयंबत्तूर, तमिलनाडु

प्रस्तावना–हिंदी कथासाहित्य में समकालीन महिला उपन्यासकारों की लंबी कतार में कश्मीर में जन्मी श्रीमती चंद्रकांता का अनोखा स्थान है। मानव जीवन की विभिन्न अनुभूतियों तथा मानव जीवन को कलुषित बनाने वाली विभिन्न मानवकृत एवं अन्य समस्याओं को मार्मिक प्रभावोत्पादक एवं कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने में उनका रचना कौशल अत्यंत सराहनीय है। चंद्रकांता के उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' में भारतीय संस्कृति एवं विभिन्न धर्म और जातियों के समन्वय भावना का वर्णन मिलता हैं।

'अपने-अपने कोणार्क' में लेखिका चंद्रकांता ने उड़ीसा के साधारण लोगों का वर्णन किया है। भारतीय समाज में आज भी ज्यादातर परिवारों में छोटी-बड़ी नैतिक, सामाजिक रूढ़ियाँ प्रचलित हैं। 'अपने-अपने कोणार्क' उपन्यास का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से मालूम होता है कि उपन्यास में प्रस्तुत हरएक घटना आज के जमाने में बिल्कुल प्रासांगिक है। हम शिक्षित होते हुए भी विभिन्न प्रकार के बंधनों में जी रहे हैं। यह बंधन सिर्फ अशिक्षित लोगों के लिए नहीं, बल्कि शिक्षित लोगों के लिए भी होता है। जिसमें सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक और धार्मिक समस्याएँ प्रमुख हैं। इस उपन्यास में अविवाहित नारी की मानसिक स्थिति एवं तनाव का खुला वर्णन है।

साहित्य अपने समय एवं समाज से बनता है। समय के साथ सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव आते हैं। व्यक्ति एवं समाज के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, सामाजिक धारणाओं एवं मान्यताओं में बदलाव आते हैं। लेखिका ने यहाँ पारिवारिक एवं समाजिक समस्याओं को पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास करने के साथ-साथ मानव जीवन की अनुभूतियों को भी दर्शाया है। मूल्यों का टकराव, आधुनिक मानव के प्रति मोहभंग, स्त्री-पुरुष संबंधों में विघटन से उत्पन्न स्थितियों की अभिव्यक्ति आदि मुख्य विषय वस्तु बन गया है। यह सब प्रकार की समस्याएँ आज भी समाज में कहीं-न-कहीं देखने को मिलती हैं। इसका मुख्य कारण मानव का व्यवहार है। मानव शिक्षित होते हुए भी अशिक्षितों जैसा व्यवहार करता है। यहाँ तत्कालीन भारतीय समाज के वातावरण को अपने खूबियों एवं कमियों से साथ अंकित किया है।

भारतीय परंपरा में संयुक्त कुटुंब प्रणाली का विशेष महत्त्व रहा है। परिवार के सदस्य दादा-दादी, माता-पिता, भाई-बहन, मौसा-मौसी आदि बच्चों में संस्कार डालते हैं। उनकी रुचियों को ध्यान में रखकर उनका मनोरंजन एवं ज्ञानार्जन करते हैं। परिवार में पुत्र पढ़-लिखकर नौकरी करता है तो उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह परिवार के दायित्वों की पूर्ति करे। लेकिन यहाँ

 ISSN 0975-735X

उपन्यास की नायिका कुनी अपने परिवार की पूरी जिम्मेदारियों को सफल रूप में निभा रही है। वह एक अविवाहित शिक्षित युवती है जो समाज की अनुशीलनों का पालन करने वाली है।

मानव के उद्‌गम के साथ ही समस्याओं का भी उद्‌गम हुआ है। उपन्यास में घटित हरएक घटना वर्तमान में भी प्रासंगिक है। परस्पर विरोधी स्थितियों के संघर्ष से समस्या का उद्‌भव होता है। नायिका कुनी कई प्रकार की समस्याओं को झेलती रहती है। अपने इन संघर्ष भरे हालातों में भी घर का पूरा दायित्व ठीक तरीके से सँभालती है। आविष्कार की जननी आवश्यकता है तो आवश्यकता की जननी समस्या है।

'परिवार' सामाजिक संरचना का प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण इकाई है। 'सामाजिक इकाई के रूप में परिवार स्त्री-पुरुष का एक समूह है जो विवाह संबंधों से या गोद लेने से बँधा होता है तथा जो आय, लिंग व अन्य संबंधों पर आधारित भूमिकाओं को अदा करता है और सामाजिक दृष्टि से एक घर या उपघर के रूप में पहचाना जाता है।"[1] परिवार के सदस्यों के बीच आजकल अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। दांपत्य जीवन ही परिवार का मूलाधार एवं उसके विकास का माध्यम है। दांपत्य जीवन की मिठास केवल दंपतियों के बीच में ही नहीं पूरे परिवार में शांति, समाधान और सुख फैला देती है किंतु वर्तमान समय में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। उपन्यास में भी इसी प्रकार टूटते दांपत्य जीवन को प्रस्तुत किया गया है। दिवाकर और कावेरी पति-पत्नी हैं। दिवाकर नागालैंड में काम करता है। पत्नी कावेरी रसायन विज्ञान में एम॰फिल कर चुकी है। वे पढ़ाई के सिलसिले में पिछले दो वर्षों से घर से दूर रहती हैं। हॉस्टल में रहकर छात्राओं को पढ़ाती हैं। शादी के बाद भी दोनों को एक साथ रहने का अवसर मिल नहीं पा रहा है। उनकी कई शिकायतों में एक बड़ी शिकायत यह है कि शादी के बाद भी वह पति से अलग और अकेली रहने को मजबूर हैं। दोनों को एक साथ रहने का अवकाश न मिलने पर दोनों के बीच में रिक्तता एवं घुटन उत्पन्न होता है। कावेरी पति की गैर-जिम्मेदारी के बारे में कुनी से एक बार शिकायत करती है।

परिवार की सुख एवं शांति के लिए पति-पत्नी के बीच जितनी एकरसता आवश्यक है उतनी एकरसता माता-पिता और बच्चों के बीच में भी आवश्यक है। कुनी एक ब्राह्मण परिवार की युवती है। उसके पिता पारंपरिक विश्वासों को पालन करनेवाले थे। बहन प्रीति को एक लड़का पसंद आया। लड़का एक निम्नवर्ग का है, इसी कारण से बप्पा ने उस रिश्ता को मंजूर नहीं किया। लेकिन कुनी ने बप्पा से बात करके उसकी शादी करवा दी। प्रस्तुत घटना माता-पिता एवं बच्चों के बीच में संघर्ष का एक कारण बनी है। यहाँ लेखिका द्वारा परिवार के आंतरिक रिश्तों में हुए संघर्षों को पाठकों के सामने दर्शाया गया है।

संयुक्त परिवार के सुख-शांति के लिए, परिवार की पुरानी और नई पीढ़ी के बीच यथासंभव समायोजन एवं सदस्यों के बीच प्यार, आत्मीयता और सहयोग लाना अनिवार्य है। इसके अभाव में ही संयुक्त परिवार में विघटन होता है। यहाँ चंद्रकांता ने इसी प्रकार के संयुक्त परिवार के विघटन को दर्शाया है। घर के सब लोग शिक्षा तथा काम के कारण दूर रहते हैं। नायिका कुनी संबलपूर में है। भाई दिवाकर नागालैंड में काम करता है। दिवाकर की पत्नी कहीं दूर एक हॉस्टल में रहते हुए पढ़ाई और काम दोनों एक साथ चलाते हैं। बहन मति और प्रीति दोनों अपनी शादी इच्छानुसार कर ससुराल चली जाती हैं। प्रद्युम्न और मंदा ही सिर्फ घर में है। इन सभी प्रकार की जीवन शैली के कारण आपस में मिलना-जुलना मुश्किल पड़ता है। संयुक्त परिवार के विघटन से हर व्यक्ति अपने में केंद्रित एवं स्वार्थी हो जाता हैं। यह आज के जमाने में बहुत प्रासंगिक समस्या बन गई है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वृद्धजनों को बहुत आदर एवं सम्मान दिया जाता है। परिवार में वृद्धों के सान्निध्य को अत्यंत महत्त्व दिया जाता है। उपन्यास में राधानाथ मौसा के द्वारा परिवार में वृद्धों के महत्त्व को चंद्रकांता इस प्रकार व्यक्त करती है, 'बड़े-बुजुर्ग ठाकुर बनकर खटोले में रहे तो साहस बढ़ता है।'[2]

आधुनिक समय में वृद्धजनों के सामने एक मुख्य समस्या है, अकेलापन। कुनी की बप्पा घर में रहकर भी संन्यासी जैसे हो गई। यह तो समसामयिक परिप्रेक्ष्य में बहुत प्रासंगिक विषय हो गया है। उपन्यास में इसका खुला वर्णन किया गया है। घर में बहुओं के आने के बाद उनका अपना अधिकार नहीं है। उन्हें एकदम अकेलापन महसूस होने लगा। वृद्धों की त्रासदी आज के परिवर्तनशील युग में बहुत प्रासंगिक विषय है। बदलते युग के साथ इस मनोभाव में बदलाव आ गया और वृद्धत्व को अभिशाप एवं वृद्धजनों को बोझ माना जाने लगा।

डॉ॰ अजित चव्हाण के अनुसार, 'वृद्ध जीवन अस्तित्व युक्त होते हुए भी अस्तित्वहीनता के संकट बोध को झेलता हुआ जिंदगी ढो रहा है। अपनी बाहरी-भीतरी यातनाओं को झेलते हुए जीना मानो उसकी नियति बन गई है। संत्रास, क्षणवादिता, अकेलापन, भयावहता, लाचाही, बेचारगी आदि वृद्ध जीवन की नियति का मानो अनिवार्य फल बन गया हो। यह आधुनिक युग का अत्यंत भयावह यथार्थ है।'[3] प्रस्तुत उपन्यास में वृद्ध जीवन से संबंधित विभिन्न समस्याओं का जीवन चित्रण किया है।

भारत की गरिमामय संस्कृति पर कलंक बनकर दहेज प्रथा भारतीय समाज में आज भी उपस्थित है। भारत के गाँवों, नगरों एवं महानगरों के सभी वर्ग इस समस्या से गंभीर रूप से ग्रस्त है। दहेज प्रथा के कारण परिवारवालों के सम्मुख कन्या का विवाह अत्यंत चिंता का विषय बन रहा है। इस विषम परिस्थिति के प्रति चंद्रकांता की एक कहावत है, 'लड़की अनब्याही तो खाए माँ-बाप का खान, ब्याही तो खाए माँ-बाप की आत।'[4] उपन्यास में कुनी और प्रभाकर एक-दूसरे को पसंद करते हैं किंतु प्रभाकर के पिता की भारी माँगें पूरी करने में कुनी के पिता असमर्थ रह जाते हैं। फलस्वरूप वह रिश्ता टूट जाता है।

दहेज को लेकर हठ करनेवाले लड़के वालों से अनुनय करते पिता को देखकर कुनी के स्वाभिमान पर तीखी चोट लगती है। अपने आत्मसम्मान की रक्षा हेतु कुनी लेन-देन का विरोध करती है, 'नहीं, मैं बिकाऊ नहीं हूँ, मेरा मोल नहीं लगेगा।'[5] कुनी मन-ही-मन आजन्म कुँवारेपन को स्वीकृति देती है। जब भी शादी की बात उठती है तो वह गुस्से में भर उठती है और कहती है 'शादी का सौदा? तन के व्यापार के लिए सामाजिक ठप्पा।'[6] जिसे स्वीकारने के लिए वह तैयार नहीं थीं। तत्पश्चात जब कुनी की छोटी बहन मति के लिए डॉ॰ मानस आचार्य का रिश्ता आता है तब भी वर के पिता की भारी माँगों से कुनी के पिता चिंतित होते है। किंतु कुनी सारी माँगें पूरा करने का निर्णय लेती है। इस प्रकार बस दहेज देने के कारण ही मति का विवाह संपन्न होता है।

आज भारतीय समाज में अंतरधर्मीय एवं अंतर्जातीय विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है। नारी जागरण के फलस्वरूप घर की सीमित दायरे से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में स्त्री का पदार्पण, स्त्री और पुरुष को निकट संपर्क में आने का अनगिनत अवसर प्रदान करने लगा। फलस्वरूप युवा पीढ़ी में प्रेम-संबंधों को बढ़ौती मिली और उनकी दृष्टि में जीवनसाथी के चुनाव में धार्मिक और जातीय प्रतिबंध महत्त्वहीन होने लगे। उपन्यास में विवाह-संबंधी समस्याओं के चित्रण के साथ-साथ अंतर्जातीय विवाह-संबंधी समस्याओं पर भी पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया है। निस्संदेह जाति संबंधित पुरानी पीढ़ियों की संकुचित मानसिकता नई पीढ़ी के अंतर्जातीय विवाह को स्वीकृति नहीं दे पा रही है। ऐसी

जाति संबंधित रूढ़ मानसिकता एवं बिरादरीवालों द्वारा तिरस्कार के भय के कारण ही ब्राह्मण समुदाय की कुनी के पिता अपनी छोटी बेटी प्रीति का विवाह एक मारवाड़ी व्यापारी के साथ कराने की अनुमति देने में पहले संकोच प्रकट करते हैं। वे अपनी बड़ी बेटी कुनी से पूछते है, 'गैर बिरादरी में लड़की दे दें? कल को कुछ उल्टा-सीधा हो गया तो कौन जिम्मेदार होगा? आखिर हम लोग बिरादरीवालों को क्या जवाब देंगे? बाप-दादाओं की चौदह पीढ़ियों ने जो न किया, वह हम करेंगे?[7]

हिंदी साहित्य में ही नहीं संसार-भर के साहित्य में नारी का जीवन एवं नारी जीवन की समस्याएँ सार्वकालिक विषय रही हैं। हम शिक्षित होते हुए भी नारियों पर अत्याचार करने में पीछे नहीं है। आज उच्चशिक्षित एवं आर्थिक आत्मनिर्भर नारी एक ओर पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर हर क्षेत्र में अग्रसर हो रही है तो दूसरी ओर नई-नई समस्याएँ उसके सुखी, संतुष्ट एवं सुरक्षित जीवन में अनेक प्रतिधान करती हुई उसे तोड़ती रहती है। डॉ॰ बयाबान रंभाजीराव के अनुसार, 'उसे आज पुरानी रूढ़ि परंपरा समस्यारूपी कुएँ से निकलकर नई आधुनिक बावड़ी रूपी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।'[8]

निष्कर्ष–आज कल समाज में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ हैं जिनमें पारिवारिक जीवन की समस्या सर्वप्रमुख एवं प्रासंगिक है। पारिवारिक जीवन की दुर्दशा का मुख्य कारण है–व्यावहारिक जीवन की शिक्षा का अभाव। चंद्रकांता के उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' में प्रतिबिंबित हर एक छोटी-बड़ी समस्या का वर्णन संदर्भोचित, स्वाभाविक एवं प्रभावी ढंग से हुआ है। उनमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक समस्याएँ प्रमुख रूप से उभरकर सामने आई हैं। समाज के विस्तृत फलक के अंतर्गत के पारिवारिक जीवन, विवाह, नारी समस्याएँ, नारी शोषण, अविवाहित नारी की मानसिक व्यथा जैसी मुख्य समस्याओं को सूक्ष्मातिसूक्ष्मता से अंकन किया है। वास्तव में समस्याएँ हमारे जीवन का एक छोटा सा हिस्सा होती हैं। जीवन में समस्या आने का अर्थ है कि आपकी जिंदगी और अधिक बेहतर होने वाली है। प्रत्येक समस्या के भीतर ही उसका समाधान छिपा हुआ होता है। इस प्रकार देखा जाए तो चंद्रकांता के उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' के समसामयिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित हर एक समस्या बहुचर्चित एवं प्रासंगिक है। निसंदेह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' बुनियादी सच्चाईयों को उजागर करने के साथ ही पारिवारिक संबंध, विवाह-संबंधी बदलते मूल्य, बदलते स्त्री-पुरुष संबंध, नारी समस्याएँ आदि पहलुओं से सूक्ष्मता से परिचित कराता है।

संदर्भ

1. डॉ॰ सुधीर राजाराम देवरे, समाज शास्त्र, अवधारणा एवं विकास, पृ॰ 136
2. चंद्रकांता, अपने-अपने कोणार्क, पृ॰ 38
3. डॉ॰ अजित चव्हाण, कहानीकार महीप सिंह : संवेदना और शिल्प, पृ॰ 99
4. चंद्रकांता, यहाँ बितस्ता बहती है, पृ॰ 66
5. चंद्रकांता, अपने-अपने कोणार्क, पृ॰ 51
6. वही, पृ॰ 54
7. वही, पृ॰ 147
8. डॉ॰ बयाबान संभाजी राव बोड़के, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की कहानियों में नारी, पृ॰ 239

मो॰ 9656250594
justonly4article@gmail.com

मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथासाहित्य में शिक्षा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य

सुनीता रानी, शोधार्थी, पी-एच॰डी॰ हिंदी
गुरु काशी विश्वविद्यालय, तलवंडी साबो, बठिंडा (पंजाब)

शिक्षा एक ऐसी शक्ति है जो समाज को गहरे रूप से प्रभावित करती है। इसका सीधा और प्रभावशाली परिणाम सामाजिक परिवेश पर पड़ता है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति की सोच, संवेदनशीलता और सामाजिक उत्प्रेरणा में वृद्धि होती है। जब एक समाज में शिक्षा का स्थान गरिमामय होता है, तो इसका प्रभाव सभी सामाजिक तत्त्वों पर दिखाई देता है। पहले तो, शिक्षा सामाजिक न्याय को समर्पित करने की क्षमता प्रदान करती है। शिक्षित व्यक्ति ज्ञान, संवेदनशीलता, और समरसता के माध्यम से अन्य लोगों के अधिकारों और मानवाधिकारों की समझ और समर्थन करते हैं। इससे वे समाज में न्याय, इंसानियत, और उच्चतम मानकों के प्रति सकारात्मक बदलाव लाने में सक्षम होते हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में, शिक्षा के माध्यम से समाज में समानता, न्याय और मानवीयता की महत्ता को उजागर किया है। वे अपनी कहानियों के माध्यम से अनपढ़ता, सामाजिक असमानता और परंपरागत मान्यताओं के प्रति सवाल उठाती हैं। अंधविश्वास और रूढ़ियाँ किस प्रकार एक अच्छे भले इंसान को शैतान मान उनके जीवन को बर्बाद कर देता है इसका चित्रण 'कुरजाँ' कहानी में हुआ है। वह समाज के हित एवं जानकारी के लिए तथ्यों को यथावत एवं विशुद्ध रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। वह मीडिया को भी प्रस्तुतीकरण का ऐसा ही साधन मानती हैं, जो समाज का मार्गदर्शन कर सके। उनमें उत्तम लेख, श्रेष्ठ मनोरंजन के साथ सामग्रियों का समावेशन होना चाहिए, तभी समाज को सही दिशा प्रदान की जा सकती है।

शिक्षा का प्रचार

समाज में मानव जीवन के सफल निर्वाह एवं सकारात्मक योगदान में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। शिक्षित समाज प्रगति एवं कल्याण का द्योतक समझा जाता है। वर्तमान समय में हर व्यक्ति ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में बहुत उत्सुक दिखाई देता है। शिक्षा का व्यापक स्वरूप समाज के लिए हितकारी बन गया है। स्कूली शिक्षा ही नहीं कॉलेज एवं तकनीकी क्षेत्रों में भी भारतीय समाज में काफी परिवर्तन आया है। भारतीय संविधान में भी शिक्षा के अधिकार की व्यवस्था करके हमारा देश विश्व के सामने उत्तम नमूना बन गया है। देश के सभी बच्चों को शिक्षा की व्यवस्था करने हेतु पिछड़े हुए लोगों को भी समाज की मुख्यधारा की ओर लाने का कार्य सुचारू रूप से चल रहा है। हमारे देश में शिक्षा अधिकार नियम पारित होने पर ग्रामीण क्षेत्रों के छात्रों को भी सुचारू रूप से पठन कार्य संभव हुआ। किंतु पूर्ण रूप से देश के सभी जनविभागों की ओर ये नियम अब तक नहीं पहुँचा है। जनजाति के लोगों के पिछड़ेपन एवं अव्यवस्थित जीवन शैली से उनके बच्चों की पढ़ाई विरले ही होती है। है। लेखिका मनीषा कुलश्रेष्ठ की दृष्टि में शिक्षा और समाज के बीच एक गहरा संबंध है, जो उनके द्वारा लिखे गए साहित्य में व्यक्त होता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ जी की कहानियों

 ISSN 0975-735X

में शिक्षा का महत्त्व व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर पर दिखाया गया है। उनकी कहानियाँ विभिन्न मुद्दों, समस्याओं और जीवन के पहलुओं को छूने वाली दृष्टि से पेश की गई हैं।

शिक्षा और समाजिक परिप्रेक्ष्य

आधुनिक समाज की सबसे बड़ी सफलता शिक्षा का प्रचार-प्रसार है। प्राचीन समाज में शिक्षा धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं पर आधारित थी और समाज के कार्यान्वयन के लिए ज्ञान और कौशल प्रदान करने का उद्देश्य रखती थी। समय के अनुसार शिक्षा में परिवर्तन आने लगे। प्राचीन गुरुकुल संप्रदाय से वर्तमान अँग्रेजी शिक्षा प्रणाली का जो दौर है, उसमें अनेक बदलाव आए। शिक्षा जाति, वर्ण एवं धार्मिक मान्यताओं की सीमा लाँघकर आज विज्ञान, कला एवं तकनीकी संभावना की ओर बढ़ रही है जिसमें समाज एवं देश की प्रगति निहित है। सरकार की शिक्षा नीति के कारण समाज के हर व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर एवं अधिकार प्राप्त हुए हैं। सभी सरकारी स्कूलों में पढ़ने का अवसर सभी बच्चों को मिल रहा है। मनीषा जी की कहानी 'कुरजां' के जुगुनू को उनकी माँ गाँव के स्कूल में भर्ती करवाना चाहती है किंतु गाँव के अन्य लोग अपने बच्चों के साथ उसे बिठाने को तैयार नहीं। देश के शिक्षा-संबंधी अधिनियम आज भी पूरी तरह से न समझने वाले ग्रामीणों को समझाकर वहाँ के मास्टर अपनी जिम्मेदारी पर जुगनू को स्कूल में दाखिल करा देते हैं–

'उसे स्कूल में क्यों नहीं घुसने देते? सरकारी स्कूल सबके लिए होते हैं।'

'डाकणों की औलादों को स्कूल में रखोगे तो, बाकी के लोग बच्चे भेजना बंद कर देंगे।'[1] हमारे समाज में आज भी कुछ असहाय बच्चों को उनकी भौतिक स्थितियों के कारण शिक्षा से दूर रखा जाता है। ऐसी सोच वाले लोगों को पढ़ाई का महत्त्व समझाना मुश्किल बात है। फिर भी उपेक्षित समाज के उद्धार के लिए इन्हें भी मुख्यधारा की ओर लाना जरूरी है। मनीषा जी के 'पंचकन्या' उपन्यास में कालबेलिया समाज का विवरण है, जो घुमक्कड़ हैं, जीवनयापन के लिए सपेरे बनते हैं या उनकी औरतों के नृत्य से आजीविका ढूँढते हैं। इन लोगों को बच्चों की पढ़ाई की कोई चिंता नहीं।' स्कूल जाकर बच्चे करेंगे तो नाच ही। सोपीना भी तो पाँचवीं पढ़ी हुई है स्कूल में, मैं भी। उसके बाद नौकरी कौन देता है? कहने को जनजातियों का आरक्षण है।'[2] ऐसी सोच रखने वाले लोगों को पढ़ाई का महत्त्व समझाना मुश्किल है। फिर भी पिछड़े वर्ग के उद्धार के लिए इन्हें भी मुख्यधारा की ओर लाना जरूरी है।

भारत के कुछ प्रांतों में आतंकवाद एवं विद्रोही प्रवृत्तियों के कारण शिक्षा का महत्त्व कम होता जा रहा है। कश्मीर जैसे राज्यों में आतंकवाद की भयानकता के कारण शिक्षा से वंचित रहने वाले अनेक बच्चे हैं, जो पढ़ने की इच्छा को मन में ही छिपा लेते हैं। मनीषा जी के शिगाफ उपन्यास में बंद पड़े कश्मीरी स्कूलों का दृश्य मन को दु:ख पहुँचाता है–'जुबीना स्कूल को हैरानी से देख रही थी। लंबी घासों और दरख्तों के बीच उसका पुराना स्कूल कहीं गुप्त हो गया था। गर्द और पत्तों से भरे दालान और जालों भरे कमरे। काँच की खिड़कियों में से झाँकते हुए ब्लैकबोर्ड पर कुछ हर्फ लिखे थे।'[3] ज्ञान का केंद्र बनने वाले इन स्कूलों को आतंकवादियों ने अपना केंद्र बना लिया था। कश्मीर के आम स्कूलों में ही नहीं, मेडिकल कॉलेजों में पढ़ने वाले तेज दिमागवाले युवाओं को भी आतंकवादी लोग अपने चक्कर में फँसाते हैं। यास्मिन का प्रेमी वसीम भी मेडिकल की पढ़ाई अधूरी छोड़कर मिलिटेंस के लिए काम करता था। जो युवा इनकी बात नहीं मानते थे उन्हें वे जबरदस्ती अपने साथ ले जाते थे। शिगाफ का पात्र वाहिद एक ऐसा कश्मीरी युवा था जिसे

बलपूर्वक मिलिटेंट ग्रुप में शामिल कर दिया था। 'मुझे नहीं चाहिए असलहों के ट्रेनिंग... मैं बंदूक पकड़ना नहीं चाहता, अम्मी... बचा लो मुझे। अब्बू से कहो, ले जाएँ मुझे।'[4] कश्मीर के गाँवों से गायब होने वाले अनेक ऐसे युवा हैं जिन्हें आतंकवादियों ने गिरफ्तार करके रखा हुआ है। इन युवाओं को व्यवस्थित शिक्षा प्रदान करना उग्रवादियों को पसंद नहीं। शिक्षित होकर अच्छे नागरिक बनाने के बजाय, उनके हाथों में हथियार देकर धार्मिक मामलों के वास्ते समाज के लिए हानिकारक बना देते हैं। कश्मीर की स्थिति सुधारने हेतु सरकार एवं सैनिकों के सेवा से वहाँ कुछ बदलाव आ रहा है। जिसके कारण सदा घर में छिपी रहने वाली लड़कियाँ आज बुर्का पहनकर स्कूल जाने लगीं। शिक्षा के प्रचार से कश्मीर की नई पीढ़ी भी बदलने लगी। 'आज का काश्मीरी लड़का किसी अनपढ़ मिलिटेंट को हीरो नहीं मानता, अमितजी। अब वो फेम गुरुकुल और इंडियन आइडल देखता है। इंफोसीय के नारायण मूर्ती उसके सक्सेस आइकॉन हैं। वह सॉफ्टवेर रेवोलुशन का हिस्सा बनना चाहता है। आजकल का कश्मीरी यूथ क्रिकेट खेलता हैं... इंटरनेट सर्फ करता है ...डेटिंग पर जाने लगा है।'[5] अशिक्षित समाज के युवाओं में यह बदलाव लाना संभव नहीं। सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए सभी का शिक्षित होना अनिवार्य है।

नारी शिक्षा

भारतीय समाज में लड़कियों को घर सँभालने तक सीमित रखते हैं। कुछ ग्रामीण इलाकों में लड़कियों की शिक्षा की उपेक्षा की जाती है। लड़कियों को घर सँभालने तक सीमित रखा जाता है। कुछ गाँवों में लड़कियों की शिक्षा प्राथमिक स्तर तक करने की सुविधा है। उसके बाद उन्हें घर में रहना पड़ता है। उच्च शिक्षा के लिए स्कूल व कालेज की सुविधाएँ नहीं है। उच्च शिक्षा का आयोजन केवल लड़कों के लिए ही है। मनीषाजी के एक साँवली छाया कहानी में राजस्थानी कस्बे के लड़के-लड़कियों की शिक्षा व्यवस्था का वर्णन है। प्राथमिक स्तर तक शिक्षा पाने पर कस्बे की लड़कियाँ पढ़ाई छोड़ देती हैं। एक साँवली-सी परछाई कहानी के फरजाना अपनी वकील पापा से जिद करके आगे पढ़ लेती है। विज्ञान पढ़ने के लिए उस कस्बे में लड़कियों को अवसर नहीं थे। 'यूँ हम चार लड़कियाँ थीं, जो गर्ल्स स्कूल साइंस फैकल्टी के अभाव में बॉयज स्कूल में नवीं क्लास दाखिल हुई थी।'[6] शिक्षित पिता की बेटी होने पर भी फरजाना को अपनी पढ़ाई के लिए पिता के सम्मुख बहुत कुछ बोलना पड़ा। लड़कियों को आगे पढ़ाने से उनके पापा इसलिए विमुख हुए कि उसे समाज से डर था। परंतु कई बार इसी विरोध के चलते लड़कियाँ समय से पहले ही पढ़ना लिखना छोड़ देती हैं। बेटियों की शिक्षा में उदासीनता रखने वाले माँ-बाप का वर्णन भी इसी कहानी में मिलता है–'शाजिया को पढ़ने में जरा मन न था, पाँचवीं के बाद अम्मी से कह दिया, नहीं पढ़ना, अम्मी भी खुश, बेटी भी।'[7] इन विपरीत स्थितियों से लड़कर आगे बढ़नेवाली नारियाँ भी हैं। फरजाना पढ़ाई के लिए पिता से लड़ती रही तो फिरदौस घर के अंदर रहते हुए प्राइवेट से बारहवीं तक पढ़ी और शादी के बाद बी॰ए॰, बी॰एड॰ करके नौकरी भी प्राप्त की। इसी तरह अपने प्रतिकूल परिवेश से लड़कर जीत पाने वाली नारी पात्र भी मनीषा जी की कहानियों की विशेषता है। 'मास्टरनी' कहानी की सुषमा, 'मि॰ वालरस' कहानी की नायिका आदि अपनी शिक्षा से सुरक्षित होने वाले नारी पात्र हैं। शिक्षित नारी समाज के लिए नुकसान नहीं, अपितु वह घर-परिवार व समाज के लिए कल्याणकारी ही है।

मीडिया का प्रभाव

समकालीन परिवेश के मानव जीवन में मीडिया का प्रभाव बहुत अधिक है। वैश्वीकरण की

 ISSN 0975-735X

प्रक्रिया से मीडिया आम जनता से इतना जुड़े कि दैनिक क्रियाकलापों से इन्हें मुक्त करना आसान नहीं। व्यक्ति जीवन के भीतर तक घुसने का साहस मीडिया में आ गया है। मीडिया का दायित्व केवल जनता तक खबर पहुँचाना ही नहीं, उस खबर से संबंधित सभी कार्य उपस्थित करना भी हो गया है। इसलिए समाज में किसी अत्याचार होने पर अपराधी एवं शिकायत करने वालों की पूछताछ मीडिया में होती रहती हैं। 'स्वप्नपाश' उपन्यास में अपने ऊपर हुए बलात्कार का विवरण मीडिया में देखकर गुलनाज चकित हो जाती है क्योंकि उसने कभी मीडिया से इसके बारे में कुछ नहीं बताया। एक फेमिनिस्ट एक्टिविस्ट के पास शिकायत करने गई गुलनाज की वीडियो उसने ही लेकर सभी चैनलों में दी थी। चैनलों में खबर आने पर वह इसे जोर-शोर संप्रेषित करने लगे। 'उस एक्टिविस्ट ने मेरा धुँधला वीडियो मीडिया को दिया, बात टी॰वी॰ चैनलों पर आ गई। लोग ग्रीन पार्क वाले घर में आकर तंग करने लगे। इंटरव्यू के लिए फोन करने लगे। अगले दिन अखबार मेरे नाम से भर गए थे। टी॰वी॰ पर शोर मच गया था। कई नाम हवा में उछलने लगे।'[8] किसी व्यक्ति के साथ बलात्कार होने की बात मीडिया के लिए 'ब्रेकिंग न्यूज' मात्र रह गया है। एक व्यक्ति का दु:ख भी उसके लिए रेटिंग बढ़ाने का उपाय है। समकालीन परिवेश के मीडिया में जो प्रतिस्पर्धा है, उसमें नैतिकता या वैयक्तिक सुख-दु:ख का कोई स्थान नहीं है। उनके लिए ये सब बिकाऊ माल हैं। 'वो यही पूछते हैं कि मुझे कैसा लग रहा है? हाँ चलो, बता ही दूँ आज कैसा लगता है एक लड़की को जब उसका बलात्कार होता है, सामूहिक। पहला शारीरिक दर्द जो भूला नहीं जा सकता। एक भीषण घुटन कि कोई तुम्हें नीचे पटके हैं। तुम्हें रौंद रहा है और बाकी लोग ठहाके लगा रहे हैं।'[9]

आज हमारे बीच मीडिया वाले अपना दायित्व इसी प्रकार निभाते हैं कि नैतिक मान्यता या व्यक्ति के निजीपन को भी चूसकर अपना लाभ बनाते रहते हैं। आज मीडिया विज्ञापनवाद के चंगुल में फँस गया है। पूँजीपतियों की खुशामद करने वाले या उनके लिए उचित खबर को ही वे करोड़ों रुपयों के विज्ञापन देते हैं। मीडिया का अस्तित्व भी इन्हीं विज्ञापन से संपन्न होता है। मनीषा जी के 'पंचकन्या' उपन्यास में पत्रकार प्रज्ञा, बौद्धिक एवं कलात्मक नजर रखने वाली है, जो प्रशांत के अखबार में काम करती थी। पहले उसकी क्षमता पर पूर्ण विश्वास रखने वाला प्रशांत आगे चलकर उससे चिढ़ने लगता है इसका कारण भी यही विज्ञापनवादी प्रवृत्ति है। 'उस दिन प्रशांत विश्लेषण के मूड में था उसकी रिपोर्टिंग, उसके लेख, उसके क्लिष्ट विषय, अति कलात्मक या साहित्यिक रपटे या अजीबो-गरीब विश्लेषण उसे पसंद नहीं आ रहे थे बल्कि वह कह रहा था कि अखबार के रविवारीय परिशिष्ट को तुम कुछ ज्यादा अवांगार्द अंदाज में पेश करने लगी हो, जिससे देसी टाइप विज्ञापन दाता नाखुश हैं।'[10] इस प्रकार समकालीन परिवेश में मीडिया भी स्वार्थपूर्ति एवं लाभेच्छा का केंद्र बन गया है। मीडिया के लोग सच की दुनिया से केवल व्यावसायिकता पर सीमित हो गया है। जनजीवन से जुड़े रहने की जो विवशता है वह दिखावा मात्र रह गया है। अपनी मर्जी से व्यवहार करने वाले पत्रकार या रिपोर्टर लोग, अपना दायित्व भूल रहे हैं। अत: समकालीन परिवेश में मीडिया भी अपना खोखला रूप ही अधिक उजागर कर दिया है। कई बार मीडिया तत्त्वों को उभारने के लिए मसालेदार और विवादास्पद विषयों पर ज्यादा ध्यान देता है। इसका परिणामस्वरूप, समाज को विभाजित करने और उच्च गुणवत्ता वाली जानकारी को छोड़कर संदेशों को बदल देता है। मीडिया को शिक्षा क्षेत्र में सक्षम लोगों के साक्षात्कार और उनकी कामगिरी की रिपोर्टिंग करके अच्छी संदर्भ सामग्री प्रदान करनी चाहिए। इससे शिक्षा समुदाय को उनके प्रयासों और उपलब्धियों के बारे में ज्ञान मिलता है और दूसरे लोगों को प्रेरित करने में मदद मिलती है। सभ्यता एवं संस्कृति

के प्रहरी के रूप में भी भूमिका निभाता है। पूरे विश्व में घटित विभिन्न घटनाओं की जानकारी समाज के विभिन्न वर्गों को मीडिया के माध्यम से ही मिलती है। अत: उसे सूचनाएँ निष्पक्ष रूप से सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करनी चाहिए।

मीडिया अपनी खबरों द्वारा समाज के असंतुलन एवं संतुलन में भी बड़ी भूमिका निभाता है। मीडिया अपनी भूमिका द्वारा समाज में शांति, सौहार्द, समरसता और सौजन्य की भावना विकसित कर सकता है। सामाजिक तनाव, संघर्ष, मतभेद, युद्ध एवं दंगों के समय मीडिया को बहुत ही संयमित तरीके से कार्य करना चाहिए। राष्ट्र के प्रति भक्ति एवं एकता की भावना को उभरने में भी मीडिया की अहम भूमिका होती है। शहीदों के सम्मान में प्रेरक उत्साहवर्द्धक खबरों के प्रसारण में मीडिया को बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना चाहिए। मीडिया विभिन्न सामाजिक कार्यों द्वारा समाज सेवक की भूमिका भी निभा सकता है। भूकंप, बाढ़ या अन्य प्राकृतिक या मानवकृत आपदाओं के समय जनसहयोग उपलब्ध कराकर मानवता की बहुत बड़ी सेवा कर सकता है। मीडिया को सद्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन हेतु भी आगे आना चाहिए। मीडिया की बहुआयामी भूमिका को देखते हुए कहा जा सकता है कि मीडिया आज विनाशक एवं हितैषी दोनों भूमिकाओं में सामने आया है। अब समय आ गया है कि मीडिया अपनी शक्ति का सदुपयोग जनहित में करे और समाज का मागदर्शन करे ताकि वह भविष्य में भस्मासुर न बन सके।

निष्कर्ष–शिक्षा एक प्रभावशाली सामाजिक द्वारा समर्थित कारक है जो समाज को उन्नति की ओर ले जाने में मदद करता है। समाज जहाँ शिक्षित नागरिकों को महत्त्वपूर्ण मानता है और उनके सिद्धांतों और मान्यताओं का सम्मान करता है, वहाँ सामाजिक संघर्षों की कमी, सामाजिक न्याय की वृद्धि, और उच्चतम स्तर के जीवन के साथ आत्मनिर्भरता और समृद्धि का संभावनापूर्ण विकास होता है। यही कारण है कि शिक्षा सामाजिक परिवेश को सुधारने और समृद्धि की ओर प्रेरित करने में अद्वितीय भूमिका निभाती है। मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथासाहित्य में सामाजिक परिवेश का चित्रण विस्तृत रूप से हुआ है। आपकी कहानी एवं उपन्यासों के विश्लेषण करने पर सामाजिक परिवेश से जुड़ी विभिन्न समस्याओं का यथार्थ प्रस्तुति उपलब्ध है। वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक संबंध में आए बदलाव, नारी समाज, शिक्षा की व्यापकता, स्वास्थ्य एवं मीडिया जिस प्रकार समकालीन सामाजिक वातावरण को प्रभावित करते हैं, उसका पूरा चित्र मनीषा जी के कथासाहित्य से व्यक्त हो जाता है। व्यक्ति अपने परिवेश के अनुसार जीते हैं। वह अपने समाज के रीति-रिवाज का अनुसरण करता रहता है। इसलिए उसके जीवन में सामजिक समस्याएँ असर करती हैं। असुरक्षित बाल जीवन, विभिन्न संघर्षों में जीने वाले युवा लोग, अकेलापन से पीड़ित वृद्ध जीवन आदि अनेक समस्याएँ आज हमारे बीच में हैं, मनीषा जी के कथासाहित्य में इन सबका यथार्थ और पूर्ण वर्णन प्राप्त है। इन समस्याओं का प्रासंगिक रूप और कहीं कहीं इसका समाधान भी उपलब्ध है। सामाजिक जीवन के सुधार एवं प्रगति के लिए जो कानून बना दिया है उससे हमारे परिवेश का पूर्ण उद्धार नहीं हुआ है।

संदर्भ

1. कुलश्रेष्ठ मनीषा, कुरजाँ (रंग रूप रस गंध-1), सामयिक प्रकाशन, संस्करण, 2022, पृ॰ 210
2. कुलश्रेष्ठ मनीषा, पंचकन्या, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ॰ 135
3. कुलश्रेष्ठ मनीषा, शिगाफ, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2012, पृ॰ 193
4. वही, पृ॰ 116

5. वही, पृ॰ 131
6. कुलश्रेष्ठ मनीषा, साँवली- सी परछाई (रंग रूप रस गंध-2), सामयिक प्रकाशन, संस्करण, 2022, पृ॰ 429
7. वही, पृ॰ 430
8. कुलश्रेष्ठ मनीषा, स्वप्नपाश, किताबघर प्रकाशन, संस्करण 2020, पृ॰ 118
9. वही, पृ॰ 119
10. कुलश्रेष्ठ मनीषा, पंचकन्या, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ॰ 14

मो॰ 8901212007
sunitabhakar07@gmail-com

किन्नर का शब्दकोशीय अर्थ और परिभाषिक स्वरूप

डॉ॰ विजय कुमार पटीर

समस्त जगत के संचालन में दो लिंग को महत्त्वपूर्ण माना गया है नर और मादा। यह पूर्ण सत्य है कि इन दो तत्त्वों के बिना इस संसार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आज के इस महाविज्ञान युग में जब परखनली में बच्चे पैदा हो रहे हैं तब भी नर और मादा का अपना महत्त्व है। क्योंकि नर और मादा के बिना परखनली में बच्चे उत्पन्न नहीं किए जा सकते। इस संसार का यह विशिष्ट गुण है कि वह उसे ही समाज के लिए उपयोगी मानता है जो समाज या मानव संतति को आगे बढ़ाता है अथवा जो संसार में बच्चे उत्पन्न करने में अक्षम है। संसार उसे किसी भी तरह का महत्त्व नहीं देता है। यही कारण है किन्नर वर्ग बच्चे उत्पन्न न कर पाने या जो मनुष्य लिंग विकलांग है उसे मनुष्य वर्ग ने अपने समाज से बाहर कर दिया है। आज विश्व के समस्त साहित्य में किन्नर विमर्श की अवधारणा देखने को मिल रही है। किन्नर हजारों-हजारों सालों से अमानवीय जीवन जीने को विवश रहा है। संसार की रूढ़िवादी और मिथकीय धारणा ने विश्व के इस तृतीय लिंगी को अमानवीय जीवन जीने को मजबूर किया है। संसार स्वयं ही ऐसे तृतीय लिंगी जीवन को जन्म देकर स्वयं से अलग कर लेता है। किन्नर की उत्पत्ति मानव समाज के द्वारा ही एक सामान्य शिशु की तरह की जाती है परंतु लिंग दोष की वजह से उसे वह स्वीकार नहीं करता। यह भी एक सच है कि अगर मानव समाज में कोई विकलांग बच्चा जन्म लेता है चाहे उसके शरीर में कैसी भी विकलांगता हो उसे तो स्वीकार किया जाता है लेकिन लिंग दोषी बच्चे को वह अपने लिए अभिशाप मानता है। इस तृतीय लिंगी जीवन को अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग नामों से बुलाया जाता है। जैसे–गुजराती में पावैया, पब्बैया; पंजाबी में जंखा, जनखा, खुसरा, खुस्रा; बंबई में छक्का; तेलुगु में मादा कोजा, नपुसंकुडु; मराठी में–हिजड़ा, छक्का; मद्रासी में ओंबोधु; हिंदी में हिजड़ा, किन्नर; तमिल में शिरूनान गाई, अली, अवन्नी, अरावनी, अरूबनी; उर्दू में हिजड़ा, ख्वाजासरा, कन्नड में जोगप्पा, राजस्थानी में हिजड़ा, खुसरा, किन्नर; सिंधी में खदरा; बंगाल में हिजड़ा, हिजरा, हिजला, हिजरी, अँग्रेजी में थर्ड जेंडर, युनक, ट्रांसजेंडर, हर्मा फ्रोटाईट आदि।

आज इस वर्ग को समाज की मुख्य धारा में शामिल करने की पहल में एक सम्मानित शब्द किन्नर या थर्ड जेंडर को अपना लिया गया है। किन्नर शब्द की इस तृतीय लिंगी वर्ग के लिए आदि समय से प्रचलित रहा है। विभिन्न आदि ग्रंथों और शब्द कोशों में इस वर्ग का विवेचन किन्नर नाम से ही किया गया है। यहाँ हम 'किन्नर' का शब्द कोशीय अर्थ और विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं का विवेचन-विश्लेषण करेंगे। आज के युग में किन्नर का अर्थ दो प्रकार से लिया जाता है एक तो तृतीय लिंगी या थर्ड जेंडर के रूप में और दूसरा हिमालय की किन्नर या किन्नौरी जाति के रूप में। वैश्विक स्तर पर किन्नर का अर्थ तीसरे लिंग के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। जिसे भारतीय भाषा और बोली में ताली मारने वाला, नामर्द, तृतीय लिंगी, थर्ड लिंगी, थर्ड जेंडर, तृतीय प्रकृति, उभय लिंगी, तृतीय प्राणी, ट्रांसजेंडर, जनखा, अली, मौगा, अरावनी वृहन्नला, अवन्नी, खुसरा,

 ISSN 0975-735X

ख्वाजासरा पवौ, नपुंसक आदि। ये सभी नाम हिजड़ा का ही पर्यायवाची हैं।

संस्कृत में किन्नर का अर्थ किम्+नर के रूप में किया गया है। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार–किम् (अव्य॰) (कु+डिमु बा॰) बुराई, ह्रास, दोष कलंक और निंदा के भाव को प्रकट करने के लिए। यह समस्त शब्द के आदि में केवल 'कु' के स्थान में प्रयुक्त होता है–उदाहरण किं सखा बुरा मित्र, किन्नर: बुरा या विकृत पुरुष आदि। सम: दास गुलाम या चाकर, नर: बुरा या विकृत पुरुष, पुराणोक्त पुरुष जिसका सिर घोड़े का हो तथा शेष शरीर मनुष्य का, जयोदाहरणं बाह्रर्गापयामाय किन्नरान्–रघु॰।[1] यहाँ किन्नर को एक बुरे व्यक्ति के रूप में चित्रित करते हुए उसका शरीर घोड़े जैसी आकृति वाला बताया गया है। घोड़े जैसी आकृति का तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष का मुख घोड़े के मुख जैसा हो। इसलिए इन्हें मंगला मुखी भी कहा गया है। मंगला मुखी का अर्थ वेश्या या रंडी के लिए किया जाता है।[2]

मानक हिंदी कोश में किन्नर का अर्थ कई रूपों में प्राप्त होता है यथा–

(i) किं पुरुष–पु॰ (किम्-पुरुष, कर्म सं॰) (1) मनुष्यों की एक बहुत प्राचीन जाति या वर्ग। (2) उक्त जाति के रहने का स्थान जो पुराणानुसार हिमालय और हेमकूट पर्वत के बीच में था। (3) किन्नर। वि॰ दोगला। वर्ण-संकर।[3]

(ii) किन्नर–पु॰ (किम् - नर, कर्म सं॰) (स्त्री, किन्नरी) (1) पुराणानुसार देवलोक या स्वर्ग के एक प्रकार के गायक उपदेवता, जिसका मुख घोड़े के समान कहा गया है। (2) आजकल गाने बजाने को पेशा करने वाली एक जाति।[4]

(iii) हिजड़ा–पु (?) ऐसा व्यक्ति जिसमें शारीरिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष दोनों के कुछ-कुछ चिह्न तथा लक्षण जन्म जात और प्राकृतिक रूप से हों। ऐसा व्यक्ति न पूर्णत: पुरुष ही होता है और न स्त्री ही।[5]

(iv) नपुंसक–वि॰ (सं॰ न स्त्री न पुमान् नि. नपुंसक आदेश) (भाव नपुंसकता) (1) वह व्यक्ति जिसमें काम वासना या स्त्री-संभोग की शक्ति बिलकुल न हो अथवा बहुत ही कम हो। क्लीव। विशेष-वैद्यक में, नपुंसक पाँच प्रकार के माने गए हैं–आसेव्य, सुगंधी, कुंभीक, ईर्ष्यक और षंड। (2) कायर। पु॰ (1) वह पुरुष जिसमें स्त्री संभोग की शक्ति न हो। नार्मद। (2) ऐसा मनुष्य जिसमें न तो पूर्ण पुरुषों के चिह्न हों न स्त्रियों के ही। हिजड़ा। विशेष वैद्यक के अनुसार जब पुरुष का वीर्य और माता का रज समान होता है तब नपुंसक संतान उत्पन्न होती है।[6]

नालंदा विशाल शब्द सागर में श्री नवल जी ने किन्नर का अर्थ किं पुरुष, किन्नर, नपुंसक और हिजड़े के रूप में प्रकट किया है–

(i) किं पुरुष, किंपुरुष (संज्ञा पु॰) (सं॰) 1. किन्नर 2. दोगला। वर्ण संकर। नीच। 3. प्राचीनकाल की एक मनुष्य जाति।[7]

(ii) किन्नर (संज्ञा पु.) (सं॰-1) एक प्रकार के देवता जिनका मुख घोड़े के समान बताया जाता है। (2) गाने बजाने का पेशा करने वाली एक जाति। (संज्ञा पु॰) (देश) विवाद, तरकार, दलील। नपुंसक-(संज्ञा पु.)1 वैधक-मतानुसार वह मानव जिसमें कामेच्छा बिलकुल न हो या बहुत ही कम हो और किसी उपाय विशेष से जाग्रत हो। नपुंसक पाँच प्रकार के बताए जाते हैं–आसेव्य, सुगंधी, कुंभीक, ईर्षक और षंड। क्लीव, हिजड़ा, नामर्द, कायर, डरपोक।[8]

(iii) हिजड़ा(संज्ञा पु॰)(?) वह व्यक्ति जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों में से किसी के भी चिह्न न हों। नपुंसक।[9]

इसी प्रकार सं॰ रामचंद्र पाठक ने किन्नर को योनि याति वाला विशेष व्यक्ति बताते हुए नीच विचार वाला भी कहा है–किन्नर(सं॰पु॰) देव योनि विशेष, इनका शरीर मनुष्य के समान पर सिर घोड़े के जैसा होता है, गान-बजान वाली एक जाति, नीच विचार वाला मनुष्य।[10]

कालिका प्रसाद ने किन्नर-किन्नरी किं पुरुष का अर्थ अपने शब्दकोश में इस प्रकार किया है–

किन्नर–पु॰(सं॰) देवताओं की एक योनि जिसका मुँह घोड़े के जैसा होना माना जाता है किंपुरुष। किन्नरी स्त्री (सं॰) किन्नर स्त्रीय एक तरह का तंबूरा, किंगरी।[11]

किं पुरुष–पु॰(सं॰) किन्नर य जंबूद्वीप का एक खंड, नीच व्यक्ति।[12]

डॉ॰ रमाशंकर शुक्ल रसाल ने भाषा कोश में किन्नर को 'घोड़े के मुख वाले एक प्रकार के देवता अथवा गाने बजाने के पेशे वाले' कहा है।[13] कुछ इसी प्रकार का अर्थ डॉ॰ हरदेव बाहरी ने व्यक्त किया है–'हिजड़ा अथवा गाने-बजाने का पेशा करने वाली एक जाति।'[14]

किन्नर शब्द विवेचन उर्दू के 'खोजा' के पर्याय रूप में भी मिलता है। नालंदा विशाल शब्दसागर के अनुसार–खोजा–संज्ञा पु॰ (हिं॰)–वह सेवक जो मुसलमानी अंत:पुर में रक्षक का कार्य करता है। जो नपुंसक होता है। 2. सेवक, नौकर, 3. सरदार।[15]

राजस्थानी हिंदी लघु कोश के अनुसार–खोजो (सं॰पं॰)–नपुंसक व्यक्ति, अंतपुरों में रखे जाने वाले हिजड़ों में का व्यक्ति।[16]

उर्दू हिंदी शब्दकोश में किन्नर को ख्वाजासरा के अंतर्गत स्पष्ट किया गया है–ख्वाजा:सरा–(तु॰फा॰पु॰)–महल का रखवाला, जनाना, हीजड़ा, नरदाराय शिखंडी)[17]

वृहत् समांतर कोश–हिंदी थिसारस में किन्नर को किं पुरुष और ख्वाजासरा के रूप में अर्थ प्रदान किए गए हैं–

किं पुरुष–किन्नर आदि। किन्नर सं॰ अश्वमुख, किं पुरुष, कुबेर सखा, गायक वादक जाति, तुरंग वदन, संगीत प्रेमी, गंधर्व, यक्ष[18]

ख्वाजा सरा–हिजड़ा। हिजड़ा सं॰ अक्षत वीर्य, अपुरुष, इत्वर, किन्नर, क्लीव, खस्सी, खोजा ख्वाजा, ख्वाजासरा, छक्का, जनखा, जनंत की चिड़िया, नुपंसक पुरुष, नरदारा, नसकटा, नामर्द, प्रजनन में अक्षम नर, बादामी, वृहन्नला, शिखंडी, षंड, स्त्रैण पुरुष, हीज, अंत:पुर-दास, अंत:पुर पहरेदार, हिजड़न, नपुंसक।[19] यहाँ ख्वाजासरा के अंतर्गत किन्नर के पर्यायवाची रूप ही मिलते हैं।

अँग्रेजी में किन्नर का अर्थ Euncuh के रूप में ग्रहण किया जाता है। euncuh यूनक/ noun(c) (i) a man whoes testicles have been removed (csatrated) epecially one who guarded the harem in some Asian countries in the psat. बधिया किया गया पुरुष, विशेषत: जो कुछ एशियाई देशों में पूर्वकाल में हरम की रखवाली किया करता था। नपुंसक, हिजड़ा (2)a person with out power or influence शक्तिहीन या प्रभाव हीन व्यक्ति a political eunuch[20] पाश्चात्य देशों में किन्नर को किसी देव जाति से संबंध न बताकर उसका अर्थ केवल एक उभयलिंगी रूप में ही ग्रहण किया गया है।

इन शब्दकोशों और प्राचीन ग्रंथों के अलावा भी आधुनिककाल में किन्नर शब्द को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। यहाँ हम मुख्य 'किन्नर' शब्द की परिभाषा का विवेचन करने का प्रयास करेंगे। यथा–

 ISSN 0975-735X

किन्नर गुरु लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी का मत है–'जान बूझकर कोई हिजड़ा नहीं होता...वो इतना आसान नहीं है। 'हिज्र' मतलब आत्मा... पवित्र आत्मा। जिस शरीर में ये आत्मा रहती है, वो 'हिजड़ा'। यहाँ व्यक्ति को महत्त्व नहीं है उस आत्मा का और जिसे धारण करने वाले हिजड़ा समाज का। इस समाज से भगवान प्यार करते हैं और इसीलिए उसने उनके लिए एक अलग राह, अलग जगह तैयार की... जो हमेशा के स्त्री-पुरुष की कक्षा से बाहर है। स्त्री और पुरुष इन दो रेखाओं के बीच हम... बिटवीन द लाइंस। हममें स्त्रीत्व है पर हम स्त्री नहीं हैं। पुरुषत्व है, पर हम पुरुष भी नहीं हैं... पुरुषों जैसा शरीर होने की वजह से समाज उस पर उसके तथाकथित पौरुषत्व की कल्पना थोप देता है कि सबमें मैं वो 'पुरुष' नहीं[21] डॉ॰ विमल ग्यानोबाराव सूर्यवंशी ने हिज्र शब्द का अर्थ समाज से अलग होना बताया है–'हिजड़ा उर्दू शब्द है जो अरबी के हिज्र शब्द से लिया गया है। जिसका आशय अपने कबीले को छोड़ना है। अर्थात् घर-परिवार एवं समाज से अलग होना।[22]

डॉ॰ मुक्ता टंडन ने किन्नर को आधुनिक स्वरूप में ही परिभाषित किया है–'चेहरे पर भरपूर रंग-रोगन, होंठो पर चटक लाली, तन पर रंग बिरंगी भड़कीली साड़ी, आकर्षक केश सज्जा, गहनों से सजा शरीर, खुशीके मौके पर नाचते गाते और विशेष करतल ध्वनि से लोगों का ध्यान आकर्षित करते व्यक्ति जिन्हें लैंगिक संदर्भ में हिजड़ा, उभयलिंगी, नपुंसक, किन्नर क्लीव, थर्ड जेंडर या ट्रांसजेंडर आदि नामों से पुकारा जाता है।[23] डॉ॰ मेराज अहमद के अनुसार–'भारतीय भू-भाग में किन्नर यानी कि हिजड़ा ऐसे लोगों को कहा जाता है जिनके जननांग अस्पष्ट होते हैं अर्थात् जिनके जननांग न तो स्पष्ट रूप से स्त्री के होते हैं और न ही पुरुष के। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो जन्म तो पुरुष जननांग के साथ लेते हैं परंतु वह उनके बीच सहज नहीं होते हैं ऐसे लोगों को भी हिजड़ा कहा जाता है।[24] डॉ॰ दिलीप मेहरा का मत है–'किन्नर शब्द ऐसे समाज के लिए प्रयुक्त होता है जो लैंगिक रूप से न नर होते हैं न मादा। इस शब्द को सुनते ही हमारे मानस पटल पर समाज के ऐसे लोगों की छवि उभरकर आती है जिसे हम किन्नर, हिजड़ा, मौसी, पवैया, छक्का, मेहरा, नपुंसक लिंग, थर्ड जेंडर के नामों से जानते हैं। वैसे तो तृतीय लिंग की अवधारणा बहुत ही पुरानी है। महाभारत के शिखंडी तथा अर्जुन का वृहन्नला रूप को हम अच्छी तरह जानते हैं और उसी को हम लोग वर्तमान में हिजड़ा नाम से पहचानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस विकृत प्रकृति वाले मनुष्य को हिजड़ा के बजाय किन्नर जैसे सम्मानित शब्द से नवाजा जाता है।[25]

चौधरी शीतल ने तृतीयलिंगी के रूप में किन्नर को परिभाषित किया है–'किन्नर शब्द कानों में पड़ते ही हमारी आँखों के सामने एक तस्वीर खड़ी हो जाती है, जो दुल्हन की तरह ठाट-बाट सा सजा होता है, जो न ही पुरुष न ही स्त्री है। ईश्वर ने सृष्टि के निर्माण में सभी प्रजातियों को नर और मादा के रूप में निर्मित किया है। यानी सभी संरचना द्विलिंग है। मनुष्य जाति में भी दो लिंग होते हैं, स्त्री लिंग और पुल्लिंग। इसके अलावा भी एक लिंग होता है, जो न ही स्त्री है न ही पुरुष, उसे किन्नर कहा जाता है।[26] प्रो॰ एस॰पी॰ व्यास ने इन्हें यूनानी भाषा से संबंधित बताकर शयन कक्ष का कर्मचारी बताया है–'हिजड़ा शब्द अँग्रेजी में 'Eunuch' का अनुवाद है, जिसकी उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'यूनोकोस' से मानी जाती है–इसका अर्थ है शयन कक्ष का कर्मचारी।[27] पुनित बिसारिया किन्नरों की सहज प्रवृत्ति स्त्रियों के बीच स्वीकर करते हैं–'किन्नर या हिजड़ों से अभिप्राय उन लोगों से हैं, जिनके जननांग पूरी तरह विकसित न हों अथवा पुरुष होकर भी स्त्रैण स्वभाव के लोग जिन्हें पुरुषों की जगह स्त्रियों के बीच रहने की सहजता महसूस होती है।'[28]

इस प्रकार किन्नर का शब्द कोशीय और परिभाषिक स्वरूप इसे एक व्यापक रूप में प्रकट

करता है। भारतीय आदि ग्रंथों में विवेचित किन्नर, देवजाति या योनि आज के हिजड़े (किन्नर) ही है। तत्कालीन समय में इसे दरबारों में संगीत, गान और मनोरंजन के लिए नियुक्त किया जाता था। किन्नर को परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि वह मनुष्य जो लिंग विकलांग हैं, जो प्राकृतिक सैक्स करने में असक्षम है और बच्चे उत्पन्न नहीं कर सकता, जो न तो नर है और न ही नारी या जो नर भी है और नारी भी है उसे हम किन्नर कह सकते हैं। किन्नर नर और मादा दोनों रूपों में होता है। जिस नर का लिंग अविकसित हो वह किन्नर है तथा जिस नारी की योनि विकसित न हो उसे किन्नरी कहा जाना चाहिए। आज के हिजड़े जो खुशी के अवसर पर बधाई लेने का कार्य करते हैं वे किन्नर हैं। उन किन्नरों को आज भी देव योनि या देवता के स्वरूप माना जाता है। आदिकाल से लेकर मध्यकाल तक किन्नर राजदरबारों में पहरेदारी, जासूसी, मनोरंजन, नाच-गान, और अप्राकृतिक सैक्स का काम करते रहे हैं। वर्तमान समय में इस तृतीय लिंगी को साहित्य ने विशेष स्थान दिया है। किन्नर के पर्याय के रूप में नपुंसक शब्द को भी लिया जाता है। नपुंसक (किन्नर) के रूप में लिया जाना (यानी जो व्यक्ति न नर है न नारी, तृतीय लिंगी है) ठीक है। साथ ही जो व्यक्ति पूर्ण लिंगी होकर, स्वस्थ संयोग करते हुए भी बच्चे उत्पन्न न कर सके वह न नपुंसक और न ही उसे किन्नर कहा जा सकता है। समाज में कई ऐसे लोग भी होते हैं जो प्राकृतिक सेक्स करते हैं परंतु संतान पैदा नहीं कर पाते, वे किन्नर की श्रेणी में नहीं आते हैं। अत: किन्नर भी नर और मादा की तरह एक स्वस्थ व्यक्ति होता है अंतर केवल लिंग का है। इसी लिंगाभाव के कारण आदिकाल में किन्नर को धर्म और रूढ़ि परंपरा से जोड़कर समाज की मुख्य धारा से अलग जीवन जीने को विवश किया गया था। जिसकी विभीषिका यह वर्ग आज भी भुगत रहा है।

संदर्भ

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिंदी कोश, चौखंभा संस्कृत भवन वाराणसी, सं॰ 2073, पृ॰ 275
2. सं॰ रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2007 (भाग-चार), पृ॰ 254
3. वही (भाग-पहला), पृ॰ 528
4. वही (भाग-पहला), पृ॰ 529-530
5. वही (भाग-पाँच), पृ॰ 548
6. वही (भाग-तीसरा), पृ॰ 212
7. श्री नवल जी, नालंदा विशाल शब्दसागर, न्यू इपीरियल बुक डिपो, नई सड़क, देहली, पृ॰ 235
8. वही, पृ॰ 669
9. वही, पृ॰ 1545
10. सं॰ पं॰ रामचंद्र पाठक, भार्गव हिंदी शब्द कोश, भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, पृ॰ 147
11. सं॰ कालिकाप्रसाद, वृहत् हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, सं॰ 2013, पृ॰ 247
12. वही, पृ॰ 273
13. रमाशंकर शुक्ल रसाल, भाषा शब्दकोश, रामनारायण लाल प्रकाशन तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद, 1951, पृ॰ 385
14. डॉ॰ हरदेव बाहरी, राजपाल संक्षित हिंदी शब्दकोश, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2015, पृ॰ 106
15. श्री नवल जी, नालंदा विशाल शब्दसागर, पृ॰ 196
16. राजस्थानी हिंदी लघु कोश, राजस्थानी बाल साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, लक्ष्मणगढ़ (सीकर), 1986, भाग-एक, पृ॰ 156
17. सं॰ मुहम्मद मुस्तफा खाँ मद्दाह, उर्दू हिंदी शब्दकोश, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1989, पृ॰

175
18. सं॰ अरविंद कुमार, वृहत् समांतर कोश, हिंदी थिसारस, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, 2013, अनुक्रम खंड, पृ॰ 262, संदर्भ खंड, पृ॰ 516
19. वही, अनुक्रम खंड, पृ॰ 318, संदर्भ खंड, पृ॰ 178
20. oxford Englis Englis Hindi Dictionary अँग्रेजी-अँग्रेजी हिंदी शब्दकोश-Ed. Dr. Suresh kumar, Dr. Ramanth saai, Oxford university, pres new Delhi 2013, P. 405
21. लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी, मैं हिजड़ा... मैं लक्ष्मी.., वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ॰ 49-50
22. सं॰ डॉ॰ विमल ग्यानोबाराव सूर्यवंशी, थर्ड जेंडर चर्चित कहानियाँ, रोशनी पब्लिकेशंस, कानपुर, 2018, पृ॰ 7
23. सं॰ अकरम हुसैन, मनीष कुमार गुप्ता, थर्ड जेंडर कथा की हकीकत, अनुसंधान पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स कानपुर, 2018, पृ॰ 103
24. सं॰ डॉ॰ एम॰ फीरोज खान, हम भी इंसान है, वाङमय बुक्स अलीगढ़, 2018, पृ॰ दो शब्द
25. सं॰ महेंद्र भीष्म, अथ किन्नर-कथा संवाद : न दैन्य न पलायनम्, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2019, पृ॰ 17
26. डॉ॰ देव्यानी महिड़ा, किन्नर साहित्य व्यथा, यातना और संघर्ष, रोशनी पब्लिकेशंस, कानपुर, 2019, पृ॰ 142
27. प्रो॰ एस॰पी॰ व्यास, भारतीय इतिहास में थर्ड जेंडर : नाजिर (हिजड़ा) वर्ग, एसोसिएट बुक कंपनी, जोधपुर, 2018, पृ॰ 12-13
28. सं॰ अरविंद कुमार, निरूप्रह (त्रैमा॰) सितंबर-फरवरी, 2016, पृ॰ 13

डॉ॰ विजय कुमार पटीर
राजकीय छात्रावास के सामने, वार्ड नं॰ 16
रावतसर, जिला हनुमानगढ़ 335524
मो॰ 8107123197

विष्णु प्रभाकर के कथासाहित्य में पारिवारिक संबंधों का चित्रण

डॉ॰ विजयदीप सिंह, हिंदी विभाग
कन्या महाविद्यालय, खरखौदा, सोनीपत

विष्णु प्रभाकर हिंदी के एक प्रतिभासंपन्न साहित्यकार हैं। उनकी पहचान है कि उन्होंने जो लिखा उसे कभी दोहराया नहीं। साहित्य की सभी विधाओं पर उनका अधिकार पूर्णत: रहा है। बहुत मात्रा में लिखा यही प्रभाकर जी का लक्ष्य नहीं था। उन्होंने साहित्यिक गुणों और शैली की दृष्टि से अपना नाम प्रख्यात साहित्यकारों में बना लिया था। शैली और कला व अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनकी कहानी विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ जैनेंद्र के निकट सी लगती दिखाई पड़ रही हैं। विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ कला पक्ष और भाव पक्ष की दृष्टि से प्रेमचंद के हृदय निकट सी लगती प्रतीत होती हैं। विष्णु प्रभाकर के साहित्य में उनके जीवन पक्ष की छाप सी दिखाई पड़ती है। उनके कथासाहित्य के पात्रों में भी विष्णु प्रभाकर के जीवन की झलक सी भी दिखाई पड़ती है। विष्णु प्रभाकर जिस मानवता का जिक्र अपने साहित्य में करते हैं। वह मानवता आकाशव्यापी न होकर बस धरती पर स्थिर रहने वाली शाश्वत सत्य की सुंदर मूर्ति है। उनके कथासाहित्य के पात्र किसी कल्पना की उड़ान से गढ़े हुए नहीं है। हमारे और आपके बीच विचरण करने वाले साधारण जन हैं। यही कारण है कि उनके पात्र अपने पाठकों के मन में अथाह भरोसा पैदा करते हैं। वे व्यक्ति की अपेक्षा समाज को ज्यादा महत्त्व देते हैं। वे एक व्यक्ति के सुख-दु:ख की अपेक्षा पूरे समाज का ध्यान अपने साहित्य में रखते हैं। उनका साहित्य मानवीय समाज से जुड़ा हुआ साहित्य है। इसी में उनके व्यक्तित्व को खोजा जा सकता है।

विष्णु प्रभाकर का लक्ष्य मनुष्य को समाज में खोजना रहा है। वे मनुष्य उसको मानते हैं जो समाज के सब अंधविश्वासों से दूर है। वह समाज के छोटे बड़े ऊँच-नीच किसी किसी विचारधारा या बाद तक ही सीमित नहीं रहे। साहित्यिक जीवन की शुरुआत में उनके जीवन पर बहुत से प्रभाव पड़े। इन प्रभावों की स्पष्ट छवि उनके साहित्य में परिलक्षित होती है। विष्णु जी को जीवन तो अच्छा मिला परंतु आलोचकों की दृष्टि में वे आदर्शवादी, सुधारवादी, गांधीवादी, मानवतावादी और भी न जाने क्या-क्या हैं, पर विष्णु जी अपनी दृष्टि में खुद को, 'मुझे कुछ लोगों ने प्रगतिवादी कहा है, कुछ ने उदार सामंतवादी, कुछ ने गांधीवादी, पर मैं कुछ भी नहीं हूँ, मैं तो केवल वादी हूँ तो विष्णुवादी हूँ।[1]

'उनका अहं, वास्तविकता का स्पष्टीकरण है विष्णु जी के साहित्य की मूल आत्मा उनका सहज मानव गुण है।'[2]

विष्णु प्रभाकर ने अपने कथासाहित्य में बहुत सी समस्याओं को दर्शाने का प्रयास किया है। मुख्य रूप से उन्होंने परिवार और नारी की दयनीय स्थिति, पुरानी व नई पीढ़ी का संघर्ष सांप्रदायिकता व वर्ग भेद के कारण समाज में उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याएँ हैं।

भारतीय संस्कृति की पहचान ही परस्पर प्रेम व भाईचारे की भावना है, दुश्मन के प्रति भी प्रेमभाव रखना भारत की पहचान है। युद्ध में भी नियम और शत्रु को भी दु:ख में सहारा देना ही

 ISSN 0975-735X

भारत देश की शान है। 'घृणा पर विजय' कहानी में 'श्रीमती माग्दा यूरस' अपने शत्रु को बचाती है और कहती है–'मैं अपना सुख नहीं चाहती हूँ। मैं शांति चाहती हूँ। मैं इस अत्याचार का, इस शोषण का अंत चाहती हूँ।'[3] इसी प्रकार 'क्षमा' कहानी की डोरा दीदी जो एक नर्स थी, उस युवक की मरहम पट्टी करके सेवा करती है, जिसने उसे (डोरा दीदी) पत्थर मारकर घायल किया था। मानव मन पर शासन करने के लिए अपराध से नफरत करनी चाहिए, अपराधी से नहीं। यह संदेश देती है कहानी 'क्षमा'। अंत में युवक काँपते स्वर में कहता है, 'यह सब जानकर भी आपने मेरी इतनी सेवा की।'[4] 'क्षमा' जैसे महान् जीवन-मूल्य से मानवीयता की मिसाल कायम की जा सकती है। विष्णु प्रभाकर ने 'बड़ा दिल' व 'इंसान' कहानी में यही संदेश दिया है। एक बालक बस के नीचे आने से घायल हो जाता है, बूढ़ा पिता उसे लाचारी से देखने लगता है, तभी वहाँ भीड़ इकट्ठी हो जाती है। सब ड्राईवर का कसूर बताते हुए उसे पुलिस के हवाले करने की सलाह देते हैं, पर एक सज्जन पहले बच्चे को अस्पताल पहुँचाने को कहता है, लंबी बहस के बाद सभी बस में बैठ जाते हैं और बच्चे को अस्पताल ले जाते हैं, पर अस्पताल में पुलिस पहुँच जाती है और पूछताछ आरंभ करती है। एक यात्री बलराज गुस्से से तिलमिलाकर कहता है कि 'इंसान की कीमत। एक इंसान की कीमत क्या कुछ भी नहीं हैं?'[5] आखिर बच्चे का इलाज शुरू होता है और वह ठीक हो जाता है, जब पुलिस बच्चे के बूढ़े पिता से पूछती है कि क्या तुम बस वाले का चालान करवाना चाहते हो तो बूढ़ा कहता है कि 'उसका कोई कसूर नहीं है। मेरा बेटा बच गया। मुझे कुछ नहीं चाहिए।'[6] यहाँ तक कि बूढ़ा व्यक्ति ड्राईवर से कोई आर्थिक सहायता भी नहीं लेता।

इसी प्रकार 'बड़ा दिल' कहानी में पंडित रामदत्त के छोटे बेटे को किसी संबंधी ने नहर में धक्का देकर मार डाला, जब दरोगा जी पूछताछ के लिए आए और पूछा कि 'क्या आपको किसी पर शक है?'

पंडित जी–'शक किस पर होता, दारोगा जी! नहाने घुसा था, पैर रपट गया।'

दारोगा–'पर सुना है ...'

पंडित जी–(बात काटकर), 'सुनने को तो बहुत सी बातें हैं, दारोगा जी।'

दारोगा–'तो लिख दूँ, हादसा हो गया।'

पंडित जी–'हाँ, दारोगा जी! यह मेरे भाग का हादसा है।'[7]

दारोगा जी चले गए, पर पंडित जी की पत्नी नाराज होकर बोली कि तुमने झूठ बोलकर उस हत्यारे को क्यों बचाया, उसे सजा मिलती, तभी मुझे ठंडक मिलती। पंडित जी शांत स्वर में बोले–'पगली! अब तो एक घर में आग लगी है, तब तो दो में लग जाती। उससे क्या लाभ होता।'[8]

विष्णु प्रभाकर की कहानी 'लावा' में एक पुलिसकर्मी द्वारा अपनी पत्नी की हत्या करने के उपरांत भी उस पर पुलिस द्वारा कोई मुकदमा दर्ज नहीं किया जाता। परंतु गौरी जिसकी हत्या हो गई है, मंगला उसकी सहेली वह पड़ोसन भी है। वह दसवीं पास समझदार नारी नागवंशियों की बेटी होने के कारण क्रोध उसको वंश परंपरा से प्राप्त हुआ है। मंगला का क्रोध उस समय स्पष्ट होता है जब गौरी पति के विरुद्ध कोई बयान नहीं देती और भारतीय संस्कारों के अनुसार पति के दोषी होते हुए भी उसे बचा लेती है। गौरी का झूठ उसका क्रोध और अधिक बढ़ा देता है और वह प्रतिक्रिया में गौरी के पति है रामेसुर से कहती है–'निकल जा यहाँ से, अभी निकल जा। गौरी ने तुझे माफ कर दिया पर मैं तुझे माफ नहीं करूँगी मैं नागवंशी की बेटी हूँ अगर तूने अब इस बगड़ी में पैर रखा तो छाती पर गोड़ा रखकर खून पी जाऊँगी। खाकी वर्दी की तरफ क्या देख रहा है उन्हें

तो तूने खरीद लिया है और मुझे क्या खरीदेगा।'[9] इस प्रकार मंगला, गौरी के प्रति रामेसुर के साथ-साथ अपने क्रोध के लावे में खाकी वर्दी वाले अर्थात् पुलिस वाले को भी नहीं छोड़ती।

रामेसुर एक पुलिस कर्मचारी और शराबी व्यक्ति था जो स्वयं तो बदसूरत था लेकिन उसका विवाह एक ऐसी लड़की से हो जाता है जो रूप में उससे कई गुना अधिक सुंदर थी। रामेसुर का व्यवहार क्रोधी व्यक्ति की तरह था। पत्नी के समझाने पर वह क्रोधित होता है–'तू कौन होती है मुझे रोकने वाली मैं कमाता हूँ, पीता हूँ ...पीयूँगा। तेरे बाप के पैसे की नहीं पीता। जरा सा चिट्टा रंग है तो हुकूमत करेगी मुझ पर। हरामजादी।'[10]

सीता, सावित्री, अनुसूया के देश में पत्नी गौरी पति का नाम नहीं लेती वह तो पति के अत्याचारों को सहन करती इस संसार से चली जाती है।

विष्णु प्रभाकर ने 'चैना की पत्नी' कहानी में एक ऐसी नारी के व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है, जो एक औरत होने के साथ-साथ माँ भी है। कहानी पारिवारिक संबंधों व विघटन पर आधारित है। 'पीछे हट जा छूना मत यह ठीक है, मैंने तुझसे करेवा किया है मैं तेरी हूँ। उस वक्त भी तेरी हूँ, लेकिन इसका यह मतलब नहीं हो जाता कि तू मेरे बेटे के मुँह का कौर छीन ले।'[11]

प्रभाकर की कहानी 'भीगी पलक' में एकल परिवार में विघटन को बड़ी गहराई से चित्रित किया गया है। कहानी का प्रमुख पात्र प्रभात अपने पिता के नक्शे कदम पर चलते हुए अपनी पत्नी से पीछा छुड़ाकर दूसरा विवाह करना चाहता है। वह इसे गलत भी नहीं मानता। वह अपने मित्र से कहता है, हर सातवें साल मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है, तब तक कैसे आवश्यक हो सकता है कि 10 वर्ष पूर्व विवाहित स्त्री-पुरुष के विचार एक समान बने रहे।'[12]

माता-पिता के बीच चलने वाली कलह का बच्चों की मानसिक बुनावट पर कितना भयावह असर पड़ता है, यह सच्चाई मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष्य में 'एक अनचीन्हा इरादा में' उद्घाटित हुआ है। मानवीय संबंधों की गरमाहट आधुनिक युग में कैसे कम से कमतर होती जा रही है। यह उनके साहित्य में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती दिखाई पड़ रही है। विष्णु प्रभाकर स्वयं संयुक्त परिवार में रहे हैं, इस प्रकार संयुक्त परिवार की स्थिति से वे भली-भाँति परिचित हैं। वे जानते संयुक्त परिवारों के विघटन के अभिशाप माँ-बाप को झेलना पड़ता है। राग और अनुराग, खिलौने के बेटे, अँधेरे आँगन वाली कहानियों में उन्होंने इस पारिवारिक स्थिति को दर्शाया। 'राग और अनुराग' कहानी महानगर में रह रहे बेटे-बहु की घर-गृहस्थी की झाँकी तो उपस्थित करती ही है।'[13] किंतु कहानी के पिता का बेटे-बहु के एकांतिक क्षणों में उन्हें अव्यवस्थित न करना और स्वयं मकान के बाहर रात काटकर सात घंटे लेट जाने वाली गाड़ी चले जाना बहुत गहरे में कहानी के बेटे-बहु के मन को नहीं, पाठक के मन को गहरे तक छू जाता है।

'अंकुर का अहम्' कहानी में बात समस्याओं को लेकर एस॰ओ॰एस॰ गाँव का परिदृश्य उभारा गया है। मैं नारी हूँ कहानी पुरुष की मानसिकता के कारण एकल परिवार में विघटन हो जाता है। रंजना अपने पति के प्रेम में पागल है, पति के घर ले जाने के संदर्भ में इंकार का पत्र रंजना को अत्यधिक मानसिक पीड़ा देता है। 'दीदी! मेरा मस्तक घूम रहा है, मैं देख नहीं पा रही।'[14]

विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'स्वप्नमयी' में पारिवारिक संबंधों के अंतर्गत देवरानी-जेठानी के संबंधों को अच्छी प्रकार से दर्शाया गया है। इस उपन्यास में अलका जेठानी व नंदिता देवरानी है। देवरानी लक्षिता के व्यवहार द्वारा जेठानी में प्रेम संचार भी होता है। देवरानी-जेठानी के संबंध बहुत ही अच्छे हैं। आपसी संबंधों के अच्छे होने के कारण ही नंदिता अलका की बेटी दीक्षिता को

पालने का भार बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लेती है। अलका की मृत्यु के पश्चात् उसके अनाथ हुए बेटे को भी नंदिता बड़े प्यार से सँभालती है।

प्रभाकर जी के अनुसार दंपति ऐसे कालखंड का प्रतीक है जिसमें स्पंदन तो है पर वह उन्हें समूचे कालखंड से जुड़ने नहीं देता। विष्णु प्रभाकर की कहानी 'शरीर से परे' में सयुंक्त परिवार में विघटन को उजागर किया गया है। प्रभाकर की कहानी संघर्ष के बाद में निर्वाह तथा अतुल की माँ संयुक्त परिवार में रहते हुए भी प्रेम संवेग और प्रतिकूल परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करती हैं। प्रभाकर जी की 'जज का फैसला' प्रेम के प्रगाढ़ संबंधों पर आधारित कहानी है। यह कहानी दांपत्य संबंधों का अनूठा चित्र प्रस्तुत करती है।

विष्णु प्रभाकर की कहानी 'बच्चा माँ का' है। एक माँ के मनोभावों पर आधारित है। इस कहानी की पात्र एक ऐसी माँ है जिसका बच्चा पाप का दुष्परिणाम है। लेकिन फिर भी वह उस बच्चे को पूरी ममता से पालती है। वह सोचती है कि 'इसे मैंने रहने दिया है। मैंने जीवन स्पंदन और चेतना दी है। मैंने प्राण दिए हैं। मैं इसकी माँ हूँ, यह बच्चा मेरा है, बच्चा माँ का है।'[15]

'नागफाश' कहानी में विष्णु प्रभाकर ने एक माँ के विचित्र वात्सल्य प्रेम का चित्रण किया है, जिसमें माँ का स्नेह ही पुत्र का काल बन जाता है। माँ पुत्र दूर जाने से रोकने के लिए कुछ भी उपाय करने के लिए तैयार है, परंतु वह चाहती है कि उसका बेटा उससे दूर न जाए। यही उसका वात्सल्य प्रेम था। विष्णु प्रभाकर की कहानी 'एक माँ, एक देश' में ग्रामीण निर्धन वर्ग की सच्ची तस्वीर उभारकर विषम स्थिति का चित्रण किया गया है।

विष्णु प्रभाकर की कहानी राजम्मा पति-पत्नी के विवाहेत्तर संबंधों पर अविश्वास तथा प्रेम पर आधारित है। इस कहानी में पत्नी का उन्मुक्त व्यवहार पति के घृणा का कारण बन जाता है। पति उसे अपने स्वभाव को बदलने के लिए भी कहता है, लेकिन वह जवाब देती है कि 'स्वभाव पानी पर खींची गई रेखा नहीं और न सहजता ही कोई अपराध है।'[16]

इस प्रकार विष्णु प्रभाकर कथासाहित्य में पारिवारिक संबंधों से जुड़ी समस्याओं का चित्रण स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। नि:संदेह वह एक सफल साहित्यकार है।

संदर्भ

1. विष्णु प्रभाकर, संघर्ष के बाद, पृ॰ 10
2. विष्णु प्रभाकर, क्या वह दोषी था, आमुख, डॉ॰ नगेंद्र, पृ॰ 11
3. विष्णु प्रभाकर, क्षमा, पृ॰ 16
4. वही, इंसान, पृ॰ 33
5. वही, पृ॰ 33
6. वही, बड़ा दिल, पृ॰ 48
7. वही, पृ॰ 49
8. विष्णु प्रभाकर, जिंदगी एक रिहर्सल, चैना की पत्नी, पृ॰ 45
9. विष्णु प्रभाकर, मेरा वतन, भीगी पलकें, पृ॰ 124
10. विष्णु प्रभाकर, जिंदगी एक रिहर्सल, लावा, पृ॰ 107
11. वही, लावा, पृ॰ 105
12. विष्णु प्रभाकर, अँधेरे वाला मकान, पृ॰ 166
13. वही, पृ॰ 168
14. विष्णु प्रभाकर, खिलौने, मैं नारी हूँ, पृ॰ 157
15. विष्णु प्रभाकर, पुल टूटने से पहले, संग्रह से संकलित
16. विष्णु प्रभाकर, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजम्मा, पृ॰ 95

नीत्शे और सार्त्र के दर्शन का तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन : अस्तित्ववाद के परिप्रेक्ष्य में

पूजा, शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ॰ हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म॰प्र॰)

दर्शन की जड़ें अत्यंत प्रगाढ़ हैं। इसमें आस्तिकता के साथ-साथ नास्तिकता को भी स्थान प्रदान किया गया है। आस्तिक दर्शन जहाँ ईश्वरवाद का समर्थक है, वहीं नास्तिक दर्शन हर प्रकार से ईश्वरवाद का खंडन करता है। जैसे पाल सार्त्र तथा फैड्रिक नीत्शे दोनों ही अस्तित्ववादी दार्शनिक तथा अनीश्वरवाद के समर्थक थे। इनके विचारों का केंद्र कोई समाज, ईश्वर, आत्मा नहीं, बल्कि व्यक्ति तथा उसकी समस्याएँ थीं।

'अस्तित्ववादी दर्शन मानवीय वास्तविकता का दर्शन है। अस्तित्व सार का पूर्वगामी है–यह कथन मानवीय वास्तविकता पर ही लागू होता है, वस्तुओं के समुदाय पर नहीं। मानव-वैशिष्ट्य का, जगत् से उसके अलगाव का, किसी सामान्य सूत्र में अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। सिद्धांतों के माध्यम से मानवीय अस्तित्व की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास मताग्रह है, मानवीय वास्तविकता का मिथ्याकरण है। मानवीय अस्तित्व की समस्याएँ, सैद्धांतिक समस्याएँ नहीं हैं। दर्शन का लक्ष्य सामान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन करना नहीं है। उसका उद्देश्य मनुष्य को दार्शनिकता के प्रथम बिंदु पर ले जाकर यह प्रश्न पूछना है कि 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है?'

अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाने का सबसे अधिक श्रेय सार्त्र को जाता है इन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध में भाग लिया था। युद्धबंदी के समय इन्होंने मानवता के हनन को बहुत करीब से अनुभव किया। इसलिए सार्त्र ने दार्शनिक के रूप में मानवीय गरिमा को प्रथम स्थान दिया। वह एडमंड हुसर्ल के घटना-क्रिया-विज्ञान से बहुत प्रभावित थे। बाद में इनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर हो गया। सार्त्र ने अपने विचारों का प्रगटीकरण नाटकों, कहानियों के माध्यम से करके, अपने विचारों को मूर्त रूप में व्यक्त किया। इनकी पुस्तक 'Being - Nothingnes' का उस समय के समाज पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। क्योंकि इन्होंने समाज के विचारों की अभिव्यक्ति अपनी पुस्तक में की। सार्त्र के दर्शन का लक्ष्य मानव अस्तित्व का विश्लेषण करना है न कि किसी ईश्वर की स्थापना करना। सार्त्र को अपने मानव अस्तित्व के विश्लेषण में कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सार्त्र के दर्शन का सार 'अस्तित्व भाव से पहले है।' इसी पर उनका दर्शन आधारित है। सार्त्र चेतना को विषयोन्मुखी मानते हैं अर्थात् चेतना को विषय की अपेक्षा रहती है।

अपनी पुस्तक Being - Nothingnes में सार्त्र पूछते हैं कि 'यदि ईश्वर है, तो जगत की संपूर्णता के साथ उसका किस प्रकार का संबंध संभव है? ईश्वर को जगत दो रूपों में दिखाई दे सकता है–'विषय' के रूप में या 'विषयी' (Subject) के रूप में। यदि जगत की संपूर्णता ईश्वर के लिए विषय (Object) है तो दोनों के द्वैत को स्वीकारना पड़ता है तथा यदि ईश्वर के लिए जगत भी एक विषयी (Subject) है, तो ईश्वर को इस संपूर्णता की उपस्थिति का आभास मात्र

 ISSN 0975-735X

ही हो सकता है, क्योंकि एक द्रष्टा को दूसरे द्रष्टा की उपस्थिति का मात्र आभास ही हो सकता है– पूर्ण ज्ञान नहीं। दोनों ही अवस्था में ईश्वर का ईश्वर रूप सीमित एवं खंडित हो जाता है।'

मानव की 'स्वतंत्रता' सार्त्र के दर्शन का मूल केंद्र है। सार्त्रनुसार सृष्टिकर्ता ईश्वर की धारणा बिल्कुल गलत है। मानव अपने एकाकीपन तथा उत्तरदायित्व से बचने के लिए ईश्वर का सहारा लेता है। इससे मानव की स्वतंत्रता का हनन होता है। क्योंकि सृष्टिकर्ता की रचना में मानव स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। सार्त्र ईश्वर की तुलना एक कलाकार के साथ करते हैं जैसे एक कलाकार कलाकृति का निर्माण करता है। उस कलाकृति का लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? वह लोग उसका जो अर्थ समझते हैं, हो सकता है कि उस कलाकृति को बनाते समय कलाकार की वह मंशा न रही हो। अर्थात् वह कलाकृति अब कलाकार से बिल्कुल स्वतंत्र है। बिल्कुल यही स्थिति ईश्वर पर भी लागू होती है। यदि ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि पर, ईश्वर का संपूर्ण नियंत्रण है, तो सृष्टि और मानव दोनों ही स्वतंत्र नहीं हैं। यदि दोनों स्वतंत्र हैं तो मानव को अपनी सत्ता के लिए किसी भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। सार्त्र इस बात से बिल्कुल सहमत नहीं थे कि मृत्यु का निर्णय ईश्वर करता है। वह इस संदर्भ में ईसाई मत का विरोध करते हैं कि मृत्यु का निर्णायक कोई ईश्वर है।

सार्त्र ने ईश्वर की संभावना को अस्वीकार कर मानव के ईश्वर होने की संभावना को स्वीकार किया है। 'स्वयं मनुष्य की परिभाषा सार्त्र ने 'ईश्वर होने की इच्छा' के रूप में दिया है तथा मनुष्य की मूलभूत योजना या कामना को ईश्वर होने की कामना बताया है।' इस तरह संसार में मानव के अस्तित्व का होना, ईश्वर होने की इच्छा के रूप में उभरकर सामने आता है। मानव की समस्त क्रिया-कलापों और योजनाओं के पीछे इस मूल योजना को अनुभव किया जा सकता है।

सार्त्र ने अपने दर्शन में मानव की स्वतंत्रता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। मानव को अपनी स्वतंत्रता के साथ-साथ अपने दायित्व का भी बोध होता है। मानव के सामने ईश्वर जैसा कोई भी सहारा नहीं है। उसे निर्णय स्वयं ही लेना है। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता एक बोझ बन जाती है। उसके पास दो ही विकल्प है अपना उत्तरदायित्व दूसरों पर छोड़ दे या फिर परिस्थितियों का मुकाबला करे। अंतिम चुनाव तो मानव को स्वयं ही करना है। ऐसा संभव ही नहीं है कि वह चुनाव न करे। यदि वह चुनाव को कुछ समय के लिए स्थगित भी करता है, तो स्थगित करना भी एक प्रकार का चुनाव ही है। वह चुनाव करने से स्वयं को बचा नहीं सकता। ऐसी स्थिति में मानव को स्वतंत्रता विवशता और अभिशाप के रूप में प्रतीत होती है।

मानव हमेशा से ही अपनी चेतना में एक कमी को अनुभव करता रहा है और इस कमी को अपने अनंत प्रयासों से दूर करने का प्रयत्न भी करता है। अपने प्रयासों के संघर्ष से ही वह विकसित होने की प्रक्रिया में आगे बढ़ता है। कमी की अनुभूति मानव को उस चेतन शक्ति का अनुभव करवाती है, जिसके द्वारा मानवीय चेतना, चेतन निर्णय लेती है। इस निर्णय लेने की चेतन शक्ति को ही 'स्वतंत्रता' का नाम दिया गया है।

सार्त्र कहते है कि मानव चेतन सत्ता है, उसे किसी भी साँचे में ढाला नहीं जा सकता। मानव पूर्ण स्वतंत्र है। परंतु इस स्वतंत्रता के साथ ही उस पर उत्तरदायित्व का बोझ भी है। अपने निर्णयों का चुनाव उसने स्वयं ही करना है। मानव स्वयं का तथा इस जगत का भी निर्माणकर्ता है। निर्णय का ये उत्तरदायित्व मानव को दुश्चिंता का शिकार बना देता है। मानव जिन परिस्थितियों में अपने आपको पाता है, वह परिस्थितियाँ उसके अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। मानव इन परिस्थितियों को अपनी योजना अनुरूप परिवर्तित कर सकता है। वह अपनी परिस्थितियों के लिए किसी से भी

शिकायत नहीं कर सकता। उसके पास ऐसा कोई भी सहारा नहीं है जोकि उसकी सहायता कर सके। इन परिस्थितियों के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। मानव को चयन की स्वतंत्रता है लेकिन चयन के रूप में क्या उपलब्धि होगी? इसका निर्णय उसके हाथ में नहीं है? वह सिर्फ चुनाव कर सकता है। परिणाम पर उसका अधिकार नहीं है। वह अपने कार्य व्यवहारों द्वारा अपना निर्माण स्वयं करता है। वह अपने हर कार्य के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसके सामने अनंत संभावनाएँ हैं जिनमें से चुनाव उसी को ही करना है, चुनाव करने और उत्तरदायित्व की स्थिति मानव में दुश्चिंता को पैदा करती है।

दुश्चिंता से बचने के लिए वह स्वयं को ईश्वरीय नियम से संचालित मानने लगता है। ये नियम जगत में उसकी भूमिका को निर्धारित करते हैं। मानव के ये उपाय उसे 'दुरास्था' की ओर धकेल देते हैं। दुरास्था अर्थात् अपनी वास्तविकता को स्वयं से छिपाना। इस अवस्था में मानव सत्य को स्वयं से छिपाने के लिए स्वयं को ही धोखा देता है। मानव को इस बात की पूर्ण रूप से चेतना होती है कि वह अपने उत्तरदायित्वों से बचने के लिए स्वयं को धोखा दे रहा है। 'सार्त्र के नाटक 'द फ्लाइज' में नायक ओरेस्टेस ईश्वर की किसी ऐसी धारणा का विरोध करके मूलभूत मानव-स्वातंत्र्य की घोषणा करता है। यह ठीक है कि ईश्वर विहीन जगत् बेतुका, निरर्थक एवं उबाऊ होगा तथा स्वयं का सामना करता हुआ मनुष्य निरंतर चिंता, त्रास, अकेलेपन का शिकार होगा, पर जैसा कि ओरेस्टेस ज्यूस से कहता है, 'ईश्वर पर्वतों, नदियों, पत्थरों का स्वामी हो सकता है, किंतु मनुष्य का नहीं।' मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य स्वतंत्रता है।'

दुरास्था मानव का अप्रामाणिक जीवन है। मानव का स्वयं के तथा जगत के प्रति सत्य को स्वीकारते हुए तथा अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए प्रामाणिक जीवन की ओर बढ़ना ही दुरास्था से मुक्ति का मार्ग है।

'सार्त्र के अनुसार सारा का सारा मानवीय व्यापार उसकी इच्छाएँ, योजनाएँ, कर्म और ज्ञान तथा उसके समस्त प्रयास के मूल में स्वयं को पूर्ण करने का प्रयास है। यह स्वनिमित्त सत् की एक साथ ही स्वनिष्ठ-स्वनिमित्त सत् होने की इच्छा है—यह स्वयंभू होने की इच्छा है—ईश्वर होने की इच्छा है।'

सार्त्रानुसार मानव मूल्यों के चुनाव में पूर्ण स्वतंत्र है। वह किसी भी तरह के लौकिक तथा पारलौकिक नियमों से संचालित नहीं होता। मानव चाहे तो मूल्यों को परिवर्तित कर सकता है। लेकिन किसी भी समाज या मनुष्य को उसके मूल्यों के औचित्य को निर्धारण करने की स्वतंत्रता नहीं है।

'मेरी चेतना के केंद्र के चारों ओर जो मनुष्य हैं वे सब मेरे लिए वस्तु के समान हैं। इसके विपरीत अन्य व्यक्ति की चेतना के केंद्र के चारों ओर मैं तथा अन्य मनुष्य वस्तु रूप में विद्यमान रहते हैं। इसलिए समाज में सब व्यक्तियों का समान स्तर नहीं रहता है और न उसके आधार पर सामान्य नैतिक नियमों की रचना की जा सकती है।'

चुनाव से पहले कोई भी मूल्य नहीं होता। मानव का चुनाव ही मूल्यों को परिभाषित करने का कार्य करता है। 'प्रामाणिक मनुष्य सामान्य नैतिक नियमों का अस्तित्व नहीं मानता है किंतु वह अपने द्वारा किए गए चयन के प्रति उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक ऐसे संसार की कल्पना करता है जिसमें झूठे लोगों को कहीं स्थान न हो, वह स्वयं झूठ बोलने के लिए स्वतंत्र नहीं है। चयन के पूर्व मनुष्य के सामने कोई सामान्य नैतिक नियम नहीं है, किन्तु चयन के बाद मनुष्य की चेतना का यह

 ISSN 0975-735X

आवश्यक कार्य हो जाता है कि वह मूल्यों की रचना करे। मनुष्य पुराने मूल्यों से अपना संबंध विच्छेद करने के लिए स्वतंत्र है।'

फैड्रिक नीत्शे का जन्म जर्मनी में 15 अक्टूबर 1844 में बहुत ही धार्मिक परिवार में हुआ। परंतु नीत्शे की विचारधारा इससे बिल्कुल विपरीत थी। इन्होंने हर प्रकार से ईसाई धर्म का खंडन किया। नीत्शे के कथन अनुसार मनुष्य अनंत संभावनाओं का भंडार है वह जो दिखाई दे रहा है वास्तव में यह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। मानव को अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान करनी चाहिए। हेराक्लीटस के दर्शन का अध्ययन करने से, नीत्शे में अस्तित्ववादी विचारों का उदय हुआ। नीत्शे का प्रमुख ग्रंथ 'The Spkae Zarathrustra' है। नीत्शे शोपेनहावर के The World as will and Idea से बहुत प्रभावित थे।

नीत्शे के दर्शन में ईश्वर और धर्म के लिए कोई भी स्थान नहीं था। इनके अनुसार मानवता को किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। 'एक दृष्टि से ईसाई मत का ईश्वर मानव का 'शत्रु' है। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यही है कि यह मानव आकांक्षा, जिज्ञासा, अभिलाषा की संतुष्टि नहीं करता, उन्हें कुंठित करता है। उदाहरणत: मानव को सर्वथा ईश्वर पर निर्भर बना देता है, यह दिखलाने की चेष्टा करता है कि मानव के अपने किये कुछ होने का नहीं, सब-कुछ अंतत: ईश्वर पर ही निर्भर है। यहाँ तक कि ईश्वर-भाव का सहारा लेकर धर्म-मानव को मिथ्या-जाल में उलझा देता है तथा उसकी सहज, स्वभाविक कृति को कुचल देता है। वह मनुष्य के हर संशय को, उसकी हर जिज्ञासा को, ईश्वर का नाम लेकर शांत कर देता है। अत: ईश्वर-भाव मानवीय प्रेरणा, मानवीय संकल्प तथा मानवीय प्रयत्न को पनपने ही नहीं देता।'

ईसाई धर्म ने नम्रता, दया, प्रेम, करुणा की स्थापना करके मानव को निर्बल प्राणी बना दिया है। मानव को अधर्मी घोषित करके परलोक के स्वप्न दिखाकर अंधविश्वास की खाई में धकेल दिया। ईश्वर, धर्म और धार्मिक संप्रदायों की स्थापना ने मानव के बौद्धिक तथा दार्शनिक विकास में बाधा की तरह कार्य किया है। नीत्शे ने 'एंटी क्राइस्ट' पुस्तक में ईसाई धर्म की कड़ी आलोचना की है। धर्म पर विश्वास ने मानव गरिमा का अंत कर दिया है। यदि ईश्वर ही सृष्टि में सर्वोत्तम है? तो मानव के इस सृष्टि में होने की क्या उपयोगिता है? ईसाई धर्म में सम्मिलित करुणा, प्रेम, शांति के गुणों ने मानव के संघर्षों तथा विकास पर विराम-चिह्न लगा दिया है। धर्म ने मानव के महत्त्व की उपेक्षा की। नीत्शे धर्म को निम्न वर्ग द्वारा, उच्च वर्ग के प्रति किए गए विरोध के रूप में देखते थे। 'नीत्शे ने ईसाई धर्म को मानव-जाति का एक 'शाप' कहा, क्योंकि इस धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को समान समझा जाता है। ईसाई धर्म में इस बात पर बल दिया जाता है कि मानव-व्यक्तित्व अपने अहंकार एवं स्वतंत्रता को त्याग दे और अपने को हीन समझने लगे।'

नीत्शे का ऐसा विश्वास था कि ईसाई धर्म की विनम्रता ने मानव में साहस, शौर्य, उत्साह के गुणों को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया है। वह अशक्त हो गया है। ईश्वर के अंत के साथ ही मानव में ईश्वर हो जाने की निहित संभावना और प्रबल हो जाएगी। ईसाई धर्म में मानव की स्थिति गुलाम के जैसी है और ईश्वर शासक के रूप में उभरकर सामने आता है। किंतु ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति पर, मानव स्वयं में ईश्वरत्व को पा लेता है। इसलिए नीत्शे ने घोषणा कर डाली कि 'ईश्वर मर गया है।' ईश्वर के अंत के साथ ही उससे संबंधित सभी सिद्धांतों का अंत हो गया है। ऐसी स्थिति में नीत्शे मानव समाज के समक्ष अतिमानव का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

नीत्शे लिखते है कि 'सारे देवता मर गए हैं। अब अतिमानव उन देवताओं की जगह ले रहा

है। उसने ईश्वर-पुरुष की बजाय पुरुषेश्वर की स्थापना की। अतिमानव का अगला कार्य यही है कि वह ईश्वर के राज्य पर अपना अधिकार जमा ले।'

अतिमानव नीत्शे के दर्शन का केंद्र है, वह इसे मानव का परम लक्ष्य भी मानते हैं। अतिमानव की कल्पना एक ऐसी शक्तिरूपी मानव की कल्पना है, जिसमें मानव अस्तित्व संपूर्ण परिवर्तित हो जाएगा। ये विश्व शक्तिशाली तथा साहसी लोगों के लिए है। ये शक्तिशाली लोग अपने अथक प्रयास से अतिमानव बनने की आकांक्षा रखते हैं। मानव का अतिमानव में परिणत होना ही मानव व्यक्तित्व का चरम लक्ष्य है जैसे जीव जगत अपने विकास के लिए प्रयत्नशील है, वैसे ही मानव को भी सर्वश्रेष्ठ होने के लिए सतत् प्रयास करना चाहिए। मानव का श्रेष्ठ प्रयास ही उसे अपनी चरम सत्ता की ओर अग्रसर कर सकता है।

अतिमानव के आगमन पर नई सभ्यता का उदय होगा, पुराने मूल्य ध्वस्त होंगे, नए मूल्यों की स्थापना होगी। जिससे समस्त मानवता में शक्ति का संचार होगा। अस्तित्ववाद में ब्रह्मज्ञान से भी ज्यादा व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण माना गया है। अतिमानव कभी भी इच्छाओं के प्रति नहीं झुकता। क्योंकि इच्छाएँ मानव को दुर्बल बनाती है। नीत्शे का अतिमानव शुभ-अशुभ से परे है। उसके कार्यों को तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

'नीत्शे ने 'दस स्पेक जरतुश्त' में अतिमानव उत्पन्न होने की संभावना व्यक्त की है। अतिमानव का यही काम है कि वह निराशावादी दर्शन पर विजय प्राप्त करे। मनुष्य ऐसा ही प्राणी है जिसका अतिक्रमण होना चाहिए। यह कार्य अतिमानव द्वारा ही सम्भव है। मनुष्य से कोई उच्च प्राणी ही पृथ्वी पर मानव अस्तित्व का तात्पर्य निरूपित कर सकता है। उन लोगों के उपदेशों से हमें सावधान रहना चाहिए जो पृथ्वीतल से परे किसी लोक की बात करते हैं। मनुष्य की मुक्ति अपने हाथों में है और वह इसी संसार में संभव है। मनुष्य को अपनी मानवी स्थिति से ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। नीत्शे ने लिखा है पशु और अतिमानव के बीच शून्य अधर पर मनुष्य रूपी एक रस्सा तना हुआ है। मनुष्य का पूर्णत्व अपने में ही नहीं है। वह तो एक उच्चतर स्थिति पर पहुँचने के लिए सेतु स्वरूप है।'

अतिमानव कोई विशेष जाति का प्राणी नहीं होगा। वह मानव ही होगा। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उसमें सभी कलाओं का विकास हो चुका होगा।

नीत्शे ने नैतिकता को दो प्रकार का बताया है—प्रभुत्व नैतिकता तथा दासत्व नैतिकता। समाज के प्रत्येक वर्ग में ये दोनों नैतिकता पाई जाती है। जिसके पास शौर्य, स्वावलंबन, सामर्थ्य के गुण है। वह उच्च श्रेणी का श्रेष्ठ मानव है। जिस मानव में करुणा, दया, विनम्रता आदि के गुण हैं, वह दासत्व नैतिकता से प्रेरित है।

नीत्शे प्रभुत्व नैतिकता का समर्थन करते हैं। वह दासत्व नैतिकता को झुंड की नैतिकता कहकर संबोधित करते हैं। ऐसे वातावरण में रहने वाले लोग किसी भी परिवर्तन को स्वीकार करने से डरते हैं। ये लोग शक्तिशाली व्यक्तियों को समाज के लिए अशुभ मानते हैं। नीत्शे शुभ-अशुभ की भावना से परे होने की बात करते हैं। क्योंकि ये श्रेष्ठ होने की सभी संभावनाओं को समाप्त कर देता है। ईश्वर पर विचार करना ही मानवता के प्रति घोर अपराध है। ऐसे विचार मानव को अवनति की ओर प्रेरित करते हैं। नीत्शे अनुसार ईसाई धर्म दासत्व नैतिकता का सबसे उत्तम उदाहरण है। 'बियॉड गुड एंड ईविल' में इसका वर्णन मिलता है।

नीत्शे का मानना था कि मानवता को उत्थान की ओर अग्रसर करने के लिए समाज में

प्रतिभाशाली व्यक्तियों का उदय होना अति आवश्यक है। यह तभी संभव हो सकता है, जब मानव में सामान्य बने रहने की इच्छा का अंत हो, समाज को ऐसे महान विचारकों की आवश्यकता है, जो मानवता के विकास को नई दिशा प्रदान करने के लिए नए मूल्यों का निर्माण कर सके। मूल्य किसी भी समाज की शक्ति का प्रतीक होते हैं, इसलिए मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन श्रेष्ठ जीवन के अनुसार ही होना चाहिए।

समीक्षात्मक अध्ययन

अस्तित्ववादी दार्शनिकों में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण सार्त्र का दर्शन माना गया है। लेकिन सार्त्र के दर्शन के अध्ययन से मानव में चिंता और भय का भाव ही उत्पन्न होता है। सार्त्र ने मानव स्वतंत्रता को इतना महत्त्व दिया है कि नैतिकता के सभी पक्ष गौण दिखाई देते हैं। स्वतंत्रता की कहीं भी सामान्य सीमा दिखाई ही नहीं देती। जो सभी मनुष्यों के लिए निर्धारित की जा सके। इस तरह मानव स्वतंत्रता में सकारात्मकता की बजाय नकारात्मकता का पक्ष ज्यादा दिखाई देता है। मानव चुनाव के लिए स्वतंत्र है। लेकिन चुनाव की उपलब्धि के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। उसे उपलब्धि से स्वतंत्रता नहीं। ऐसा कहकर उन्होंने मानव को घोर निराशा में डाल दिया।

सार्त्रानुसार मानव के कर्म, उसकी योजनाएँ, समस्त ज्ञान, उसके समस्त प्रयास ईश्वर होने की इच्छा की ओर प्रेरित है। यदि ईश्वर है ही नहीं तो मानव में इस इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है? सार्त्र इस पर मौन है। जबकि उन्होंने अपने नाटक 'द फ्लाइज' में ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह से नकार दिया है।

सार्त्र स्वयं अपने अस्तित्ववादी विचारों से पूर्णत: सहमत नहीं थे। अंत में उनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर हो गया। जिसका वर्णन Critique of Dialectical Resaon में मिलता है। जिसमें मानव की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। इससे सार्त्र का अस्तित्ववाद पूरी तरह से धाराशायी हो गया। जिस मानव स्वतंत्रता के लिए वह ईश्वर की सत्ता का भी निषेध कर देते है। अंत में स्वयं ही वह मानव स्वतंत्रता के पक्ष में दिखाई नहीं देते।

सार्त्र का दर्शन मानव की समस्याओं का कोई भी गहराई से उपाय नहीं दे पाया। उन्होंने प्रयत्न अवश्य किया किंतु वह इतने सफल नहीं हुए।

नीत्शे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी संगीत, काव्य रचना, अध्यापन में विशेष रुचि थी। लेकिन वह प्रजातंत्र के घोर विरोधी थे। उन्होंने दर्शन के लिए कोई व्यवस्थित पद्धति नहीं अपनाई। उनके विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। उनकी रचनाएँ हमेशा ही अस्त-व्यस्त रहीं जिसका अध्ययन अत्यंत दुष्कर कार्य है। उनका जीवन नितांत अकेले, निराशाजनक तथा बीमारी की अवस्था में बीता। इसलिए उन्होंने एक सशक्त मानव के रूप में अतिमानव की कल्पना की। एक तरफ वह ईश्वर के मरने की घोषणा करते है दूसरी तरफ वह स्वयं ही ईश्वर के रूप में अतिमानव की कल्पना करते है। ये दोनों बातें ही आत्म विरोधी है।

नीत्शे के अतिमानव की अवधारणा में अनेक त्रुटियाँ हैं। उनका अतिमानव मानवता का शत्रु प्रतीत होता है। एक ऐसा शख्स जो असीम शक्तियों का स्वामी होगा। जो मूल्यों का निर्माण स्वयं करेगा तथा शुभ-अशुभ की सीमा से परे होगा। जिस अतिमानव में करुणा, सहानुभूति, अहिंसा, विनम्रता जैसे गुणों का अभाव होगा, ऐसे शक्तिशाली मानव की शक्ति समाज के हित में होगी। इसकी संभावना बहुत कम है।

मानव का अतिमानव में परिवर्तन अचानक से नहीं होगा। इसके लिए बहुत प्रयत्न करना

पड़ेगा। शक्ति प्राप्ति का यत्न वही करेगा, जो निर्बल हो। परंतु नीत्शे ने अपने दर्शन में निर्बल मानव को कोई स्थान ही नहीं दिया। न ही उन्होंने अतिमानव बनने की प्रक्रिया का कहीं वर्णन किया है।

नीत्शे अनुसार अहंकार मानव को साहसी बनाता है। ये शक्तिशाली लोगों का एक आवश्यक गुण है। वह मानव स्वभाव की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उससे यह सिद्ध होता है कि शक्तिशाली मानव निर्बल को कुचलने का हर संभव प्रयास करेगा। ऐसे में हर समय युद्ध तथा अस्थिरता की स्थिति बनी रहेगी।

नीत्शे का दर्शन तानाशाही का समर्थक और कमजोर वर्ग को कुचलने की मानसिकता को बढ़ावा देता है। जिससे मानव स्वतंत्रता का हनन होगा जोकि अस्तित्ववाद के लिए घातक है। अपने सामाजिक जीवन से शायद निराश होकर उन्होंने मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की बात की। लेकिन जिन मूल्यों की बात नीत्शे करते हैं इन मूल्यों में कोई भी नवीनता नहीं है। जैसे कि नीत्शे दासत्व नैतिकता और प्रभुत्व नैतिकता की बात करते हैं और वह प्रभुत्व नैतिकता के पक्षधर हैं और दासत्व नैतिकता का विरोध करते हैं परंतु मानव के जीवन में इन दोनों का ही समन्वय है। इस तरह उनके द्वारा वर्णित दासत्व नैतिकता तथा प्रभुत्व नैतिकता के भेद निरर्थक प्रतीत होते हैं।

दोनों दार्शनिकों के दर्शन में सामान्य स्तर

सार्त्र तथा नीत्शे दोनों ही मानव स्वतंत्रता के पक्षधर थे। दोनों ही मानव में ईश्वर हो जाने की संभावनाओं को तलाशते हैं और दोनों ही दार्शनिक सृष्टि में तथा मानव के जीवन में ईश्वर की संभावना को नकारते हैं।

नीत्शे जहाँ मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की बात करते हैं कि मानव-मूल्यों का निर्माण स्वयं करता है। वह कोई पुर्जा नहीं है जोकि समाज या ईश्वर के द्वारा बनाए मूल्यों से संचालित हो। सार्त्र भी बिल्कुल यही बात कहते हैं कि मानव मूल्यों के चुनाव के लिए पूर्णत: स्वतंत्र है, कोई भी पूर्वनिर्धारित मूल्य उसे बाधित नहीं कर सकते। सार्त्र जहाँ मानव की चिंता, एकाकीपन, त्रास को देखकर मानव में ईश्वर होने की इच्छा को व्यक्त करते है। वहीं नीत्शे भी मानव में अतिमानव की कल्पना करते हैं। दोनों ही दार्शनिक मानव को अप्रामाणिक जीवन से परे जाकर प्रामाणिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करते हैं।

नीत्शे तथा सार्त्र दोनों ही ऐसे दार्शनिक हुए जिन्होंने दर्शन के प्रचलित सिद्धांतों से कुछ हटकर सोचने का साहस किया। इन्होंने नए दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना करने की बजाय मानव के विकास की ओर ध्यान दिया।

अंतत: अस्तित्ववाद आशावाद का एक विलक्षण दर्शन है जिसमें मानव की स्वतंत्रता का महिमामंडन देखने को मिलता है। इसमें मानव की वर्तमान दुर्दशापूर्ण स्थिति को देखते हुए उसकी सभी पूर्वाग्रहों से मुक्ति की बात कही गई है। मानव स्वतंत्र प्राणी है। वह अपने मार्ग और मूल्यों का निर्धारक स्वयं है। अस्तित्ववाद अकर्मण्यता का दर्शन नहीं, बलिक ये मानव के आंतरिक विकास का दर्शन है।

संदर्भ

1. लक्ष्मी सक्सेना तथा अन्य (संपा॰), समकालीन पाश्चात्य दर्शन, द्वितीय संस्करण, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1983, पृ॰ 348
2. बसंतकुमार लाल, समकालीन पाश्चात्य दर्शन, प्रथम संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1990, पृ॰ 497

3. वही, पृ॰ 496
4. आनंद मिश्र, शंकराचार्य एवं सार्त्र के दर्शन में मानव-नियति, प्रथम संस्करण, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ॰ 122
5. वही, पृ॰ 151
6. वही, पृ॰ 195
7. हृदय नारायण मिश्र, प्रतापचंद्र शुक्ल, अस्तित्ववाद, किताब घर, कानपुर, 1968, पृ॰ 292
8. वही, पृ॰ 293
9. दयाकृष्ण, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (खंड-2), प्रथम संस्करण, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984, पृ॰ 418
10. अजितकुमार सिन्हा, समकालीन दर्शन, प्रथम संस्करण, हरियाणा अकादमी, चंडीगढ़, 1973, पृ॰ 217
11. हृदय नारायण मिश्र, प्रतापचंद्र शुक्ल, अस्तित्ववाद, किताब घर, कानपुर, 1968, पृ॰ 30
12. हृदय नारायण मिश्र, समकालीन दार्शनिक चिंतन, तृतीय संस्करण, किताब घर, कानपुर, 1966, पृ॰ 277
13. वही, पृ॰ 276-277

मो॰ 6283791036
sripoojkaumari@gmail.com